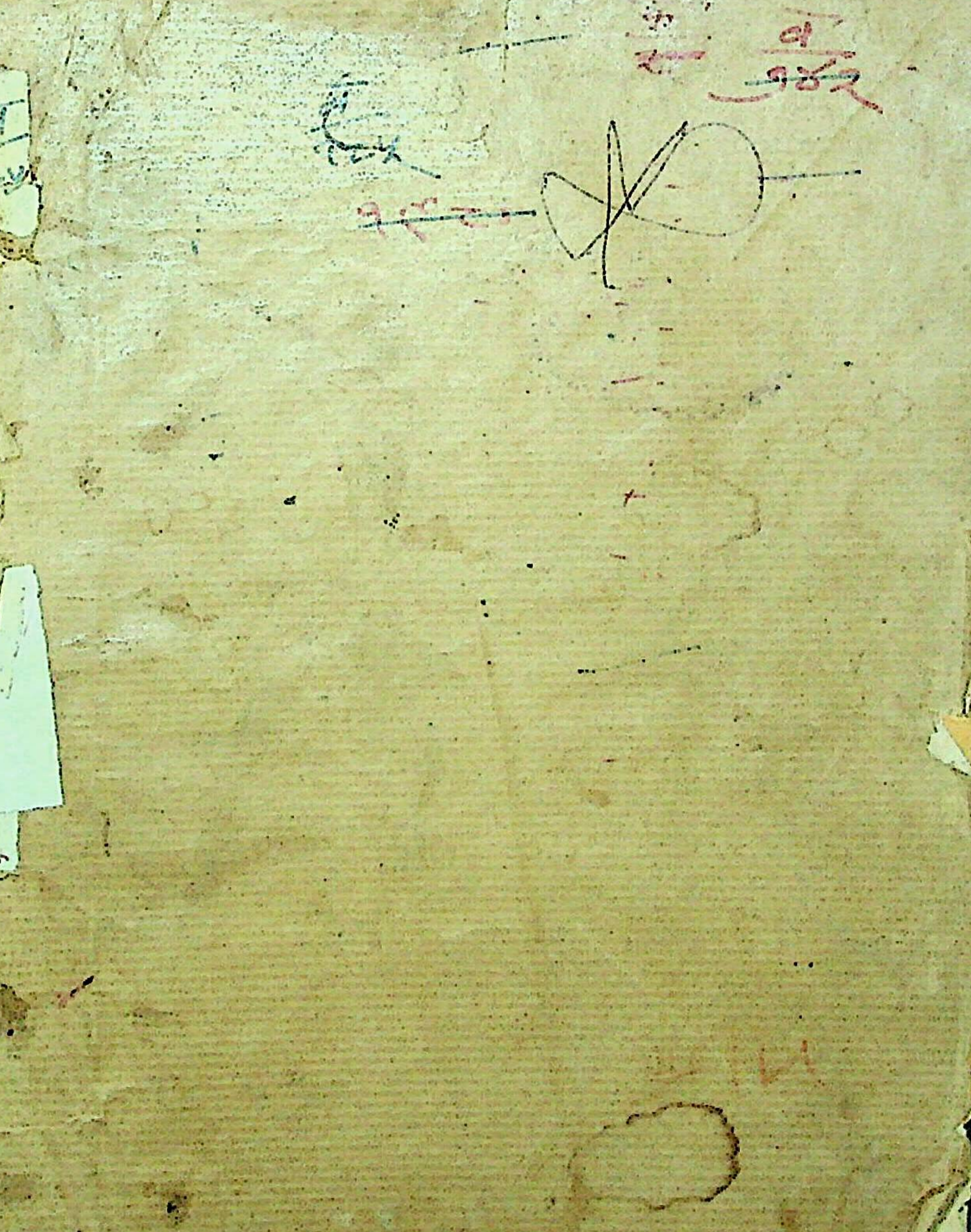




Registered No. A 860



ॐ

वेदान्त केसरी।

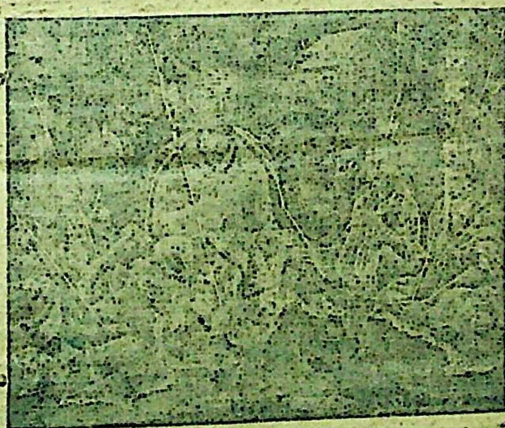


मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } कार्तिक सं० १९८०। नवम्बर १९२३ { अंक १

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
वेलनगंज आगरा।

एक प्रति का मूल्य ।-)

वार्षिक मूल्य ३)

दामोदर मुद्रणालय मदारपुरा आगरा के मैनेजर पं० ब्यालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

सूचना ।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-), प्रत्येक वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीतावली" मूल्य ।-) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक।



॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ सम्वत् १९८०-८१

विषयानुक्रमणिका पुस्तक ६ ।



॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ } कार्तिक सं० १९८० । नवम्बर १९२३ { अङ्क १

नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी !

भुजंगी छन्द ।

(१)

नमूं हूं ! नमूं ! एक अद्वैत साक्षी ।
नमूं हूं ! नमूं ! देव सर्वप्रकाशी ॥
नमूं हूं ! नमूं ! सर्व व्यापी अनामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(२)

अधिष्ठान आधार संसार धर्ता ।
निरालम्ब कर्ता निराधार भर्ता ॥
कहे हैं तुझे सन्त सन्मार्ग गामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(३)

विभू नित्य सर्वज्ञ स्वेच्छानुचारी ।
स्वयं ज्योति स्वच्छन्द सर्वांतकारी ॥
अनंगी असंगी अशोकी अकामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(४)

गिरा ज्ञान गोतीत चिन्मात्र पूर्ण ।
गुणातीत गोविंद कामादि चूर्ण ॥
भजे जो तुझे होय सो आप्तकामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(५)

तुझे जान के मूल से द्वैत नाशे ।
तुझे जान के एक अद्वैत भासे ॥
तुझे जान के हो तुझी में विरामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(६)

तुझे जान के दुःख का अन्त होवे ।
तुझे जानि पापिष्ठ भी सन्त होवे ॥
नहीं जान सके तुझे दुष्ट कामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(७)

तुझे जान के मृत्यु से छूट जावे ।
कभी भी नहीं दूसरा जन्म पावे ॥
नहीं भक्त तेरा करे है गुलामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(८)

सभी रूप तेरे सभी नाम तेरे ।
सभी काल तेरे सभी धाम तेरे ॥
तुही धर्म धर्मी तुही नाम नामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(९)

तुही होय ब्रह्मा जगत् को बनावे ।
तुही विष्णु हो धर्म को है सिखावे ॥
तुही शंभु संहारि नित्याभिरामी ।
नमूं हूं ! नमूं ! सच्चिदानन्द स्वामी ॥

(१०)

तुझे पाय कौशल्य सन्तोष पाया ।
गई छूट काया गई टूट माया ॥
हुआ ठोस पक्का मिटी पोल खामी ।
रहा एक ही सच्चिदानन्द स्वामी ॥

तू कौन है ?

फाल्गुन मास के गुलाबी जाड़े में प्रातःकाल मुम्बई में चोपाटी पर कई मनुष्य हवा खाने को विचर रहे थे। उन में दो मनुष्य समान वय वाले और उच्च जाति के हों ऐसे दीखते थे, दोनों मित्र थे और एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। कई बातों में दोनों की समानता थी इसी लिये उन की मित्रता थी। दोनों एक ही कोलेज में पढ़े थे। एक विषय में उन दोनों की एक दूसरे से भिन्नता थी। एक तत्व रहस्य और शास्त्र का ज्ञाता था और दूसरा इस विषय में अज्ञ था। न तो ईश्वर सम्बन्धी वह कुछ जानता था और न उस ने अपना कोई निश्चय स्थिर किया था। जैसे आज कल के बहुत से पढ़े लिखे नवयुवक होते हैं वैसे ही वह था। वह सब बातों का निर्णय तर्क अथवा बुद्धि से ही करना चाहता था। उस को आर्य शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा नहीं थी। वह ऐसा समझता था कि शास्त्रों में कुछ तत्व है ही नहीं। उस की बुद्धि तीव्र थी और तर्क करने में कुशल थी, साथ ही जब वह किसी के साथ वाद विवाद करने में निरुत्तर हो जाता और उस की बात कट जाती तो वह दूसरे की समझाई हुई निर्णीत बात को मान लेता था, दुराग्रही नहीं था, इस का नाम उमाशंकर था। दूसरा जो शास्त्र का ज्ञाता था, उस का नाम शिवशंकर था। वह भी उमाशंकर के समान युवान और पाश्चात् विद्या से पूर्ण था। उस के घर में वंश परम्परा से वेदान्ताचार्य का पद प्राप्त था। उस का पिता बहुत प्रतिष्ठित शास्त्री और आचार्य था। जैसे का तैसा ही होता है, इस न्याय के अनुसार वह भी पिता के समान छोटी उमर में ही वेदान्त का पूर्ण ज्ञाता था। वेदान्त जानने के लिये उसे विशेष परिश्रम करना नहीं पड़ा था, पूर्व संस्कार और सहवास से वह सहज ही में तत्व का ज्ञाता हो गया था। दोनों मित्र मार्ग में जारहे थे तब शिवशंकर ने उमाशंकर से कहा "मित्र! जगत् की गप सप तो रोज मारते ही रहते हैं, आज मैं तुझ से कुछ ऐसी बात कहना चाहता हूं जिस से तुम्हें बहुत लाभ होगा! मनुष्य का स्वभाव इस प्रकार का पड़ गया है कि वह अनेक पदार्थों को जानना चाहता है, शक्ति अनुसार जानता है, विद्वान् बनता है, ग्रन्थ बनाता है, जल का, जमीन का और आकाश के ग्रहों का अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय करता है, प्रत्येक के गुण, अवगुण देखता है, कोई पूछे अथवा न पूछे तो भी हर बात का न्याय करने वाला—न्यायाधीश बन जाता है और ऐसा समझता है कि मेरी बुद्धि सब से विशेष है, मैं ही जानता हूं, मैं ही जानने वाला हूं, मैं ही ठीक जानता हूं, मेरे समान दूसरा नहीं जानता, ऐसा मानता है परन्तु उसके जानने के सब विषय नाम और रूप वाले ही होते हैं। आश्चर्य यह है कि सब को जानने का अभिमान करने वाला स्वयं अपने आप को नहीं जानता! अज्ञान में अंध होता है! यदि कोई पूछे कि तू कौन है, तो पूछने वाले के सवाल को ही गलत बताता है अथवा पूछने वाले से कहने लगता है 'मूढ़! क्या दीखता नहीं? सामने तो खड़ा हूं!' सामान्य मनुष्यों का यह ही हाल है परन्तु विशेष बुद्धि वाले को यह अवश्य निर्णय करना चाहिये कि मैं कौन हूं। मेरा यह आज का कथन चाहे तुझे प्रिय हो अथवा न हो, मैं तुझ से अवश्य कहूंगा। तू जानता है कि मैं आचार्य पुत्र हूं, शास्त्र रहस्य हमारे घर ही की वस्तु है!" उमाशंकर बोला "मित्र! आर्य फिलोसोफी पर मुझे श्रद्धा नहीं है तो भी मैं तेरे वचन को अवश्य सुनूंगा! शास्त्र के तत्व रहस्य के लंबे २ शब्दों के अर्थ को मैं समझ नहीं सक्ता, मैंने पाश्चात् फिलोसोफी पढ़ी है, उस में मुझ को रस आता है, पूर्व फिलोसोफी उस से विशेष क्या होगी?" शिवशंकर बोला "भाई! तू दोनों फिलोसोफियों का मुकाबला नहीं कर सक्ता क्योंकि तुझ को पूर्व के तत्व ज्ञान की उच्चाभासी भी मालूम नहीं है, मैंने तेरे साथ पश्चिम की फिलोसोफी पढ़ी है और पूर्व की फिलोसोफी मेरे घर की है इस प्रकार मुझे दोनों फिलोसोफियां मालूम हैं इस लिये मैं तटस्थ रह कर उन दोनों का निर्णय कर सक्ता हूं, तू निश्चय समझ कि पूर्व का तत्व ज्ञान पश्चिम के तत्व ज्ञान से बहुत उच्च कक्षा का है और अंतिम है। पश्चिम के तत्व ज्ञान का विवेचन बहुत है, बुद्धि

बहुत दौड़ाई गई है परन्तु उसकी हद बुद्धि में ही है, बुद्धि से बाहर नहीं है। पूर्व का तत्व ज्ञान सूत्र रूप है और बुद्धि से परे अंतिम तत्व में ले जाने वाला है। उस का भी भाष्य, वार्तिक और टीकाओं करके बहुत विस्तार हुआ है। दोनों की शैली में अवश्य अंतर है। पश्चिम वाले विशेष करके तर्क के सहारे चलते हैं। पूर्व का तत्व ज्ञान श्रद्धा संयुक्त तर्क से तर्क के पार ले जाने वाला है। तू मेरे साथ न्याय युक्त वाद कर, तुझे तर्क करने की छूट है, मेरे प्रश्नों का उत्तर देता जा, उसके संबंध में प्रश्न कर, मेरी कही हुई बात को समझ, और मेरे साथ २ अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि में चला आ, मेरा तुझ से प्रश्न है कि तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "मैं तेरा मित्र हूं, तू सब प्रकार से मुझे जानता है, तब तू ऐसा क्यों पूछता है ?" शिवशंकर बोला "मैं तुझे जानता हूं या नहीं, इसका यहां काम नहीं है, मैं जो तुझे जानता हूं सो तो जानता ही हूं, जब मैं तुझ से इस प्रकार का प्रश्न करता हूं तब उस में कोई विशेष महत्व होगा, मेरा यह ख्याल है कि तू अपने को जानता ही नहीं, जैसी तेरी बुद्धि चले वैसा इसका उत्तर दे !" उमाशंकर बोला "मैं उमाशंकर हूं, तेरा मित्र, रतिलाल व्यास का पुत्र, बोम्बे यूनीवर्सिटी का ग्रेजुयेट हूं !" शिवशंकर बोला "नहीं ! नहीं ! यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है, उ, मा, शं, क, र, ये तो लिपि के वर्ण हैं, यह तू नहीं है, वर्ण कोई वस्तु नहीं है, यदि तू कहे कि यह मेरा नाम है तो मैंने तुझ से तेरा नाम नहीं पूछा, मेरा प्रश्न है कि तू कौन है ? तू अपने को दिखलाये विना—सिद्ध किये विना ही मुझे अपना मित्र बताता है, तेरा मित्र कौन है, यह मेरा प्रश्न नहीं है, और मुम्बई की यूनीवर्सिटी से भी सिद्ध नहीं होता, इन सब वाक्यों से तेरी सिद्धि नहीं होती, उमाशंकर बहुत से होंगे, तू अपने को उमाशंकर कैसे कह सकता है, यूनीवर्सिटी के ग्रेजुयेट भी बहुत से हैं, इस शब्द से तू अपने को किस प्रकार सिद्ध करता है ?" उमाशंकर बोला "यह सब मेरी पहिचान है।" शिवशंकर बोला "मैं तुझ से पूछता हूं कि तू कौन है, मैंने तेरी पहिचान नहीं पूछी !" उमाशंकर बोला "क्यों सिर मारता है ? मैं उमाशंकर हूं !" शिवशंकर बोला "मित्र ! नाराज मत हो ! उमाशंकर तो तेरा नाम है, नाम तू नहीं हो सकता, क्योंकि नाम तेरा है, नाम अनित्य है, जब तू पैदा हुआ था तब किसी ने यह नहीं कहा था कि उमाशंकर पैदा हुआ है, यह नाम तो तुझे पीछे से मिला है, यह एक ही तेरा नाम नहीं है, तेरे बहुत से नाम मुझे मालूम हैं, तेरी दादी तुझ से उमा कहती है, तेरी माता तुझ से लल्ला कहती है, तेरा पिता तुझ से लाभ शंकर कहता है क्योंकि प्रेम के कारण तेरे जन्म को वह लाभ मानता है, तेरी बहिन तुझे भाई करके पुकारती है, तेरा पुत्र तुझ से पिता कहता है, जब तेरे इतने नाम हैं तो तू अपने को एक उमाशंकर ही क्यों कहता है ?" उमाशंकर बोला "ये जितने नाम तूने गिनाये हैं वे गुण, संबंध, अथवा क्रिया के हैं, मेरा नाम तो उमाशंकर ही है !" शिवशंकर बोला "नहीं ! तू उमाशंकर नहीं है ! कुछ सोच, विचार, नाम और नामी भिन्न २ होते हैं, जिसका नाम तू उमाशंकर बताता है, वह कौन है ?" उमाशंकर बोला "जो तेरे साथ खड़ा है, जो तुझ से बात कर रहा है, वह मैं हूं !" शिवशंकर बोला "मेरे साथ अनेक हैं, मैं किसे समझूं ? मेरे साथ बात करने वाले भी बहुत से हैं, तब किस को समझूं ?" उमाशंकर बोला "जो तेरे सामने हाथ पैर वाला, वर्तमान काल में शरीरधारी खड़ा है, वह मैं हूं !" शिवशंकर बोला "मेरे सामने तो हाड़ मांस का पुतला खड़ा है, क्या वह तू है ?" उमाशंकर बोला "हां ! हाड़ मांस का पुतला तो तू भी है !" शिवशंकर बोला "यह तेरा कहना अनुचित नहीं है, जब सब हाड़ मांस के पुतले हैं तब तू सिद्ध नहीं हुआ, फिर तू कहता है कि शरीरधारी खड़ा है, मैं यह ही पूछता हूं कि शरीरधारी तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "तब समझले कि मैं हूं !" शिवशंकर बोला "वाह ! यह भी कोई उत्तर है ? 'मैं' प्रथम पुरुष सर्व नाम है 'मैं' को सब अपने में लगाते हैं, इससे तेरी सिद्धि कैसे हुई ? मेरा प्रश्न तो यह है कि तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "मैं समझ गया; तू सूक्ष्मभाव से पूछता है, सुनः—जो बोलता है, वह मैं हूं !" शिवशंकर बोला

"झूंठा है ! कौन बोलता है ? मुख बोलता है, तू कहां बोलता है ?" उमाशंकर बोला "तब कौन बोलता है ?" शिवशंकर बोला "तेरा मुख बोलता है, तू नहीं बोलता !" उमाशंकर बोला "परंतु मुख से मैं ही तो बोलता हूं !" शिवशंकर बोला "ऐसे तो कान से सुनता हूं, सो मैं हूं, पैर से चलता हूं, सो मैं हूं, हाथ से लेता हूं, सो मैं हूं, नेत्र से देखता हूं, सो मैं हूं, इत्यादि सब इन्द्रियों की क्रिया है, यह क्रिया सब में सामान्यता से एक सी है, ऐसी क्रिया और क्रिया का ज्ञान तू नहीं है, मैं तो तुझ से पूछता हूं कि तू कौन है ! क्या तू मेरा हाथ रख कर बता सका है ?" उमाशंकर शिवशंकर का हाथ अपने शरीर पर लगा कर बोला "यह मैं हूं !" शिवशंकर बोला "यह तो तेरा पहना हुआ कोट है !" उमाशंकर बोला "कोट नहीं उसके भीतर !" शिवशंकर कोट हटा कर बोला "यह तो तेरा पेट है ! क्या तू पेट है ? नहीं ! नहीं !" उमाशंकर ने उसके हाथ को अपने हाथ पर रक्खा तब शिवशंकर ने कहा "यह तो हाथ है !" इसी प्रकार उमाशंकर ने शरीर के जिस २ अंग पर हाथ लगाया शिवशंकर ने उसका नाम कहा। तब उमाशंकर विचारने लगा "इसको कैसे समझाऊं ? जिस अंग पर हाथ रखता है उसी का नाम बता देता है !" थोड़ी देर विचार कर बोला "जिस अंग पर तू ने हाथ लगाया उन सब अंगों का समुदाय मैं हूं !" शिवशंकर ने कहा "नहीं ! समुदाय कोई पदार्थ नहीं है ! उनमें से एक टूट जाय तो तू रहे या नहीं ?" उमाशंकर ने कहा "हाथ पैर आदिक में से कोई एक न रहे तो मैं रह सका हूं ! इसलिये मैं शरीर हूं !" शिवशंकर ने कहा "नहीं ! यह भी नहीं हो सक्ता ! तू बारम्बार कहता है कि शरीर मेरा है, तेरा तुझ से भिन्न होता है, यदि तू पुनर्जन्म को मानता हो तो शरीर का नाश होने पर अपना नाश नहीं मानेगा। पुनर्जन्म नहीं मानने वाले भी अपने को शरीर से पृथक् ही मानते हैं, बोल, तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "अब क्या कहूं ? जो कहता हूं, उसे तू काट देता है, तब मैं कहता हूं कि जो मैं अपने को नहीं जानता, सो मैं हूं !" शिवशंकर ने कहा "वाह ! खूब उत्तर दिया ! कोई मूर्ख से मूर्ख भी ऐसा उत्तर नहीं देगा ! तू ने उत्तर देने में बुद्धि तो बहुत चलाई ! 'नहीं जानता' 'सो' ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं ! नहीं जानने वाला बिना जाने यह नहीं कह सका कि मैं नहीं जानता ! क्योंकि नहीं जानने में भी जानना तो है ही ! तू नहीं जानने वाले में मैं का उपयोग करता है, सो यह उत्तर न हुआ !" उमाशंकर बोला "तब क्या कहूं ? जीव हूं—शरीर सहित चेतन हूं !" शिवशंकर बोला "यह भी नहीं ! तेरा मतलब जीव से हो तो जीव शरीर सहित नहीं है, केवल चेतन तेरे देखने में आता नहीं, जीव शरीर को छोड़ कर जाता है, शरीर स्वयं जड़ है, जल कर खाक हो जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि तू शरीर तो नहीं है, तब तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "तब मैं मन हूं !" शिवशंकर ने कहा "फिर उत्तर देने में गड़बड़ी की ! तू मन है कि मन तेरा है ?" उमाशंकर बोला "मन मेरा है, ऐसा ही मैं कहता हूं !" शिवशंकर बोला "तब तू मन कैसे है ? जैसे तू स्थूल शरीर नहीं है, ऐसे ही मन रूप सूक्ष्म शरीर भी नहीं है !" उमाशंकर बोला "यह कैसे समझ में आवे ?" शिवशंकर बोला "जब तेरा मन किसी स्थान पर चला जाय और तू किसी की बात को न सुने, बात कहने वाला तुझ से कहे कि तूने सुना या नहीं तब तू कहेगा कि मेरा मन दूसरी जगह चला गया था इस लिये मैंने कुछ नहीं सुना, मन तेरा औजार है, तू उस से काम लेता है, इस लिये मन तू नहीं है, 'मेरा मन चला गया' ऐसा जानने वाला तू अपने मन से पृथक् है !" उमाशंकर बोला "तब मन के चले जाने को जानने वाला मैं जीव हूं !" शिवशंकर बोला "उत्तर तो खूब दिया ! बता ! जीव का स्वरूप क्या है ? जीव जड़ तो है नहीं, चेतन कहे तो मन से भिन्न उसकी चेतनता तेरे अनुभव में कब आती है ?" उमाशंकर बोला "जो जीता रहे सो जीव !" शिवशंकर बोला "क्या जीव कभी मरता नहीं है ?" उमाशंकर बोला "मरता तो होगा !" शिवशंकर बोला "तब तेरी जीव व्याख्या झूठी हुई !" उमाशंकर बोला "तब जीव नहीं मरता होगा !"

शिवशंकर बोला "जब तू जीव को नहीं मरने वाला कहता है और मरने से डरता है, मरता है तो तू जीव कैसे हुआ? और भी विचार कि कभी २ तू यह भी कहता है कि मेरे जीव को चैन नहीं है, मेरा जीव व्याकुल है, इस से मालुम होता है कि तू जीव से भिन्न है!" उमाशंकर बोला "हां! ऐसा वर्ताव होता है परन्तु यह स्वभाव पड़ गया है, ऐसा कहना रूढ़ हो गया है, यह इस भाव से नहीं कहा जाता कि मैं इन से पृथक् हूं!" शिवशंकर बोला "यह बात नहीं है! जब से बच्चा जन्मता है तब से माता पिता आदिक बड़े बूढ़ों के शब्दों को सीखता जाता है, जिस प्रकार वे लोग बोलते हैं, वैसे ही बोलने लगता है, प्राचीन ऋषि लोग यथार्थ ज्ञाता थे और मन को अपने से पृथक् जानते थे। 'मेरा मन' इस प्रकार की बोल चाल परंपरा से चली आई है। तू मन नहीं है किन्तु मन से पृथक् है!" उमाशंकर बोला "जब मैं मन से भी कोई अन्य हूं तब दीखता क्यों नहीं हूं? और तू भी तो जीव शब्द का उपयोग मनके अर्थ में करता है! यदि मैं मनसे कोई अन्य होता तो अवश्य दीखता इसलिये मनको छोड़कर मैं कोई अन्य नहीं हूं!" शिवशंकर ने कहा "ऐसा कोई नियम नहीं है कि न दीखने वाला पदार्थ हो ही नहीं, देखना नेत्र इन्द्रिय का विषय है, नेत्र इन्द्रिय रूप को ही देख सकी है, आकाश और वायु नेत्र इन्द्रिय का विषय नहीं है, वह उन को नहीं देख सकी इस लिये वे हैं ही नहीं, ऐसा तू नहीं कह सका।" उमाशंकर बोला "आकाश अथवा वायु नहीं दीखते तो न सही परन्तु अवकाश से आकाश का बोध होता है और स्पर्श से वायु का बोध होता है। मैं मन से भिन्न होऊं तो उस का भी किसी प्रकार मुझ को बोध होना चाहिये।" शिवशंकर बोला "इस प्रकार तो तुझे मन से भिन्न अपने का बोध भी होता है परन्तु तुझे इस की खबर नहीं है!" उमाशंकर बोला "किस प्रकार?" शिवशंकर बोला "जब तू गाढ निद्रा में सो जाता है तब तेरा मन वहां नहीं है और तू तो है ही, यदि मन ही तू हो तो मन न रहने से तुझे मर जाना चाहिये। सुषुप्ति में मन नहीं होता तब भी तू अपने को मरा हुआ नहीं मानता!" उमाशंकर बोला "मन होता तो है परन्तु सोया हुआ होता है!" शिवशंकर ने कहा "सोया हुआ मन कुछ जान नहीं सका और तुझे तो खबर है कि मैं सुख से सोया था, मैंने कुछ भी नहीं जाना, यह जानने वाला मन तो नहीं था, मन से पृथक् ही था!" उमाशंकर बोला "वहां क्या जाना? वहां तो कुछ भी नहीं जाना!" शिवशंकर ने कहा "कुछ भी नहीं जाना, इस में भी तो जानना है ही, विचार, जानना और नहीं जानना दोनों जानने से ही होते हैं, वहां कुछ नहीं था, यह तू ने जाना है, वहां शांति थी, इसी को तु ने जाना है!" उमाशंकर बोला "वहां मैं ने कुछ नहीं जाना, यह तो मैं जाग्रत् में आकर कहता हूं? सुषुप्ति में नहीं कहता!" शिवशंकर बोला "हां सच है, तू सुषुप्ति में नहीं कहता परन्तु यदि सुषुप्ति में बोध न किया हो तो जाग्रत् में जो कहता है, वह किस प्रकार कहे? सुषुप्ति में बोध होता है परन्तु व्यक्ति भाव का मन और अहंकार वहां प्रत्यक्ष नहीं है। कहना, सुनना, विचारना अंतःकरण से होता है, सुषुप्ति में अहंकार न होने से वहां कह नहीं सका, उस की स्मृति रहती है, जब जाग्रतावस्था में आता है, मन बुद्धि होते हैं तब बोध की स्मृति मन बुद्धि से कहता है इस लिये मन बुद्धि से परे, जो मन बुद्धि का साक्षी है, वह ही साक्षी तू है!" उमाशंकर बोला "तेरी युक्ति से कुछ कुछ समझ में तो आता है परन्तु अनुमान ही है, क्या मैं जो तत्व हूं, वह अनुमान का ही विषय है या उस का प्रत्यक्ष भी हो सका है?" शिवशंकर बोला "अभी तू समझा नहीं है, यदि तुझे अपने जानने की इच्छा हो तो मैं समझा दूं:-स्थूल शरीर जिस को सब मेरा कहते हुये अभिमान से जिस में 'मैं' का वर्ताव करते हैं, वह अज्ञान से है, शरीर पतला, मोटा, काला, गोरा इत्यादि होता है और लोग अपने को पतला, मोटा इत्यादि मानते हैं, यह शरीराध्यास है। यदि तू कहे कि मैं शरीराध्यास को नहीं समझता तो मैं समझाता हूं:-जैसे तू कपड़ा पहिन कर जारहा हो, मार्ग में भंगी जारहा हो, किसी कारण भंगी का हाथ तेरे कपड़ों से लग जाय तो तू समझता है कि मुझे भंगी ने छूलिया और मैं अशुद्ध

हो गया। थोड़ी देर के लिये समझ कि तू शरीर है, तू ने कपड़े पहिने हैं, तूने-तेरे शरीर ने भंगी को नहीं छुआ, कपड़ों ने ही छुआ है, कपड़ा तुझ से भिन्न है, तू ने—शरीर ने कपड़ा पहिना है, तू—शरीर छू नहीं गया, तू ने कपड़ों सहित जो अपने को मान रक्खा है, वह अध्यास है। इसी प्रकार तू शुद्ध आत्म स्वरूप है, उपाधि रूप स्थूल शरीर का कपड़ा तू ने पहिना है, जैसे कपड़े सहित भंगी के छूने के समय तू ने अध्यास से अपने को छुआ हुआ समझा था इसी प्रकार शुद्ध आत्मा स्थूल शरीर से अध्यास—अज्ञान से एकमेक भाव वाला हुआ है। तू पतला मोटा आदि तीनों काल में नहीं है, शुद्ध रूप से जैसा है वैसा ही रहता है परन्तु अपने स्वरूप को भूल कर उपाधि के शरीर को अपना स्वरूप समझता है, इस का नाम शरीराध्यास है, स्थूल शरीर विकार वाला है, उस के अध्यास से तू अपने में विकार का आरोप करता है, आरोप का अर्थ भी समझः-किसी पदार्थ में किसी का भान होना आरोप है। शरीर मोटा पतला है, मोटे पतले आदि का भाव आत्मा में होना अध्यारोप कहा जाता है, आरोप मिथ्या होता है परन्तु आरोप करने वाले को जब यह बोध नहीं होता कि मैं आरोप कर रहा हूं तब आरोप से हुआ दुःख सच्चा ही प्रतीत होता है। आत्मा अक्रिय, असंग, अविकारी, अव्यक्त और विभु है परन्तु शरीराध्यास-आत्मा में शरीर के आरोप से आत्मा का बोध नहीं रहता। अक्रिय का अर्थ यह है :-जो कोई भी क्रिया न करे, वह अक्रिय है। कर्म रूप कर्मेन्द्रिय की क्रिया, पदार्थ के ज्ञान रूप ज्ञानेन्द्रिय की क्रिया अथवा अंतःकरण की सूक्ष्म क्रिया इनमें से कोई भी आत्मा में नहीं है। इनमें से कोई भी क्रिया जिस में न हो, उसे अक्रिय कहते हैं। आत्मा ऐसा होने से अक्रिय है। एक दूसरे में एक भाव से अथवा अलग रहते हुये मिलने को संग कहते हैं। आत्मा किसी से मिलता नहीं इसलिये असंग है। एक ही देश काल और अवस्था में संग होता है। आत्मा के सामने कोई अन्य पदार्थ है नहीं, देश, काल, अवस्था भी आत्मा में नहीं हैं इसलिये आत्मा असंग है। संग वाला ही विकारी होता है। आत्मा का किसी से संग नहीं है इसलिये आत्मा विकारी भी नहीं है। जो अपने स्वरूप से न्यूनाधिक हो, परिवर्तन वाला हो, वह ही विकारी होता है। आत्मा अपने स्वरूप में सदा ज्यों का त्यों ही रहता है इसलिये विकारी नहीं है। अब अव्यक्त का अर्थ समझः- जो व्यक्तिपने से रहित हो, वह अव्यक्त है, जो प्रकट न दीखे उसे अव्यक्त कहते हैं। व्यक्ति परिच्छिन्न होती है। जो अमुक देश में हो और अमुक देश में न हो, वह देश से परिच्छिन्न कहलाता है। जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो, वह काल से परिच्छिन्न कहलाता है। जो किसी वस्तु में हो और किसी में न हो वह वस्तु से परिच्छिन्न होता है। जो सब स्थानों में हो, वह व्यापक विभु कहलाता है। जो आत्म तत्व है, वहही परमात्म तत्व है, शास्त्रों से जाना जाता है और अनुभव से अपरोक्ष होता है।" उमाशंकर बोला "तू आत्मा को अकर्ता अभोक्ता और व्यापक बताता है, मैं तो ऐसा नहीं हूं!" शिवशंकर बोला "तू ऐसा ही है! परन्तु अध्यास के कारण से सूक्ष्म शरीर के कर्ता भोक्ता आदिक धर्मों को अपने मानता है, इसलिये तुझको ऐसा मालूम होता है कि तू अकर्ता अभोक्ता नहीं है। जैसे स्थूल शरीर का अध्यास है वैसे ही सूक्ष्म शरीर का अध्यास है, इसलिये अज्ञान से ऐसा भान होता है कि तू कर्ता भोक्ता है, वस्तुतः तू कर्ता भोक्ता नहीं है किन्तु अखंडित सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। तू अज्ञान—अभिमान से अपने को व्यक्ति रूप मानता है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो तब तुझे अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति हो। अब भी तू वही स्वरूप है, तुझ में कोई दोष नहीं है परन्तु अज्ञान से स्वरूप का फल न होकर अज्ञान का फल दुःख ही होता है। तू स्थूल, सूक्ष्म अथवा सुषुप्ति के कारण शरीर में ही भरा हुआ नहीं है किन्तु एक रस सब में भरा हुआ है। शरीर की आड़ के कारण अज्ञान से ऐसा भान होता है कि तू शरीर है अथवा शरीर में भरा हुआ है। अज्ञान में भी स्वयं प्रकाश आत्मा का लोप नहीं होता, परदे सहित उस की प्रतीति होती है, जगत् भर में 'है—होना पना' एक ही है। अनेक भिन्न र

उपाधियों में वह एक ही है, उपाधियों के कारण अनेक हो कर दीखता है। इसी प्रकार दीखना रूप चेतन भी एक ही है। 'चेतन' 'है' से भिन्न नहीं है। 'है' में ही भास होता है। जहां 'है' नहीं वहां भास नहीं। है रहित कोई स्थान नहीं, 'है' ही मूल तत्व है। 'है' समान 'भास' भी एक ही है, उपाधियों से अनेक होता है, आनन्द इन दोनों से भिन्न नहीं है, आनन्द भी एक ही है, उपाधियों से अनेक होता है। गमनागमन क्रिया और भिन्न २ ज्ञान उपाधियों में है। उपाधि मिथ्या है। उपाधि का आधार नाम रूप है। मिथ्या नाम रूप ने सच्चिदानन्द को ढांप दिया है इसलिये सच्चिदानंद के सत्, चित् और आनन्द का नाम रूप के साथ टुकड़ा प्रतीत होता है, यह अज्ञान है। अज्ञान, माया मिथ्या ही है। देख, अज्ञान में भी तेरा शुद्ध स्वरूप अपने को विकार रहित ही दिखलाता है। तू शरीर से छोटा था, पढ़ा, बड़ा हुआ, विवाह हुआ, लड़के हुये, यह सब विक्रिया व्यवहार में होती गई, तू अपने हृदय से पूछ कि तू जो छोटेपन में था, वह ही अब है, या कुछ और हो गया। सूक्ष्मता से विचार करेगा तो मालूम होगा कि तुझ में कुछ भी न्यूनता अथवा अधिकता नहीं हुई, शरीर और अंतःकरण में ही बदला बदली हुई है इससे सिद्ध होता है कि सत् जो आस्तत्व रूप है, वह ही तेरा सच्चा स्वरूप है। यह सच्चिदानंद का सत् है, अज्ञान में भी तुझे अपनी चैतन्यता सब से विशेष प्रतीत होती है। अन्य को जो तू तुच्छ समझता है, वह चैतन्य की ही महत्वता है। महान् चैतन्य अज्ञान में से भी निकल कर बाहर झलकता है। यह सच्चिदानन्द का चित् है, वह ही चित् तू है। तू परिपूर्ण है, अखण्डित आनन्द का भंडार है इसीलिये अज्ञान में भी तू सुख—आनन्द की इच्छा करता है और कितना ही सुख-आनन्द क्यों न मिल जाय तो भी अपूर्ण रहता है क्योंकि स्वयं तू पूर्ण आनंद स्वरूप है। भला! मायिक ऐश्वर्य-आनन्द से तेरी तृप्ति किस प्रकार हो! इस प्रकार सच्चिदानन्द में का आनंद तू है। आनन्द सच्चित् से अभिन्न है। तेरा वास्तविक स्वरूप प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है क्योंकि आत्मा और परमात्मा के लक्षण एक ही हैं। तत्व अद्वैत होने से दूसरा है ही नहीं इस लिये सम्पूर्ण अनाद्यंत तत्व तू ही है, तू तुच्छ प्राणी नहीं है। मैं ने जो तुझे समझाया है, उस का वारम्वार विचार कर! ऐसा करने से तेरी अद्वैत निष्ठा पक्व हो जायगी।

'तू कौन है' इस प्रश्न का उत्तर ज्ञान के लक्ष से परब्रह्म है और उससे नीचे दर्जे में जीव है, जीव भी अन्य नहीं है। उपाधि युक्त आत्मा जीव कहलाता है, जीव में भी वास्तविक आत्म स्वरूप तू ही है और अन्य अज्ञान की उपाधि है, जब तक मनुष्य अपने आद्य तत्व को नहीं जानता तब तक सब कुछ जानते हुये भी कुछ नहीं जानता। अपनी सिद्धि विना अन्य की सिद्धि मिथ्या है। अपने को पहिचाने विना 'हम तो हैं ही' 'हमको हम क्या जानें?' ऐसा समझ कर बाहर की वृत्ति में ही प्रवर्त होना अनेक प्रकार के कष्टों से संग करना है। व्यवहार को व्यवहार की कक्षा में और आत्मा को आत्मा की कक्षा में रखने वाला शरीर होते हुये भी परम सुखी होता है, ऊपर जो आरोप दिखलाया है, उसके अपवाद विना यानी उस के भाव को हटायें विना अपने स्वरूप का बोध नहीं होता, और बोध विना परम शांति नहीं होती! तू ने सब कुछ पढ़ा है परन्तु सच पूछो तो कुछ नहीं पढ़ा! आज मैं ने तुझे जो समझाया है, उसका विचार कर!"

उमाशंकर बोला "आज तू ने बहुत सूक्ष्म बात समझाई है। तेरी सब युक्तियां यथार्थ समझ में आती हैं, तेरा कहना सच है! अपने जाने विना अन्य का जानना व्यर्थ है! झूंठे माप से जितना मापा जायगा, सब झूठ ही मापा जायगा! तेरे कहे अनुसार मैं अपने स्वरूप का नित्य प्रति विचार किया करूँगा और वारम्वार पूछ कर पक्का निर्णय करूंगा! मैं तेरा आज बहुत ही आभार मानता हूं! तूने मुझ पर पूरा उपकार किया है।"

प्रमा और अप्रमा ज्ञान।

जानने को ज्ञान कहते हैं और नहीं जानने को अज्ञान कहते हैं किन्तु नहीं जानने का नाम अज्ञान नहीं है क्योंकि अज्ञान में भी ज्ञान है। अज्ञान में अकार विशेष है, अकार का अर्थ विरुद्ध—विपरीत—उलटा है इस लिये यथार्थ ज्ञान का न होना अज्ञान है। यदि अज्ञान में ज्ञान न हो तो अज्ञान की सिद्धि ही न हो। विरुद्ध ज्ञान अथवा अभाव ज्ञान अज्ञान कहलाता है। ज्ञान चैतन्य स्वरूप है इस लिये व्यापक है, सब में होने से अनेक उपाधियों के साथ में भी है, उपाधि की संयुक्तता से चैतन्य का टुकड़ा मालूम होता है। ऐसे उपाधि वाले चैतन्य के टुकड़े से पदार्थों का बोध होता है, उस टुकड़े को व्यवहार में ज्ञान कहते हैं, ज्ञान तीन प्रकार का है:—भ्रम ज्ञान, व्यवहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान, । भ्रम ज्ञान की प्रातिभासिक सत्ता, व्यवहारिक जाग्रत् अवस्था की व्यवहारिक सत्ता और आत्म-बोध की पारमार्थिक सत्ता, कहलाती है, इन तीनों अवस्थाओं में होने वाला ज्ञान उन अवस्थाओं में झूठ प्रतीत नहीं होता। भ्रम ज्ञान जो प्रातिभासिक है, वह व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों अवस्थाओं में झूठा है, व्यवहारिक ज्ञान प्रातिभासिक और पारमार्थिक अवस्थाओं में झूठा हो जाता है परन्तु पारमार्थिक ज्ञान किसी अवस्था में झूठा नहीं होता। पारमार्थिक ज्ञान अज्ञानियों को है नहीं, अज्ञान सिवाय वह कभी झूठा नहीं होता। सामान्यता से तो यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। प्रमा ज्ञान प्रमाता के आश्रय है और अप्रमा ज्ञान प्रमाता को छोड़ कर अविद्या के आश्रय है। व्यवहारिक सब ज्ञान प्रमा ज्ञान होने से प्रमाता का विषय है, व्यवहारिक ज्ञान उपाधिकृत है और उस को ग्रहण करने वाला उपाधियुक्त प्रमाता—जीव है। प्रमाता व्यवहारिक सत्ता में है। जब प्रमाता भ्रम से विशेष अज्ञानयुक्त होता है तब वह प्रातिभासिक ज्ञाता होता है इस लिये उस को शुद्ध प्रमाता नहीं कहते। व्यवहारिक पदार्थ का आवरण अंतःकरण की वृत्ति द्वारा न टूट कर और चिदाभास से प्रकाशित न हो कर जो बोध होता है वह प्रातिभासिक—भ्रम का बोध होता है। जब प्रमाता तिमिर, भय आदिक दोषों से विशेष मलिन होता है तब अन्तःकरण की वृत्ति पदार्थ की तरफ़ नहीं जाती किंतु अविद्या की वृत्ति पदार्थ की तरफ जाती है, अविद्या की वृत्ति से होने वाला ज्ञान मलिन प्रमाता का होने से अप्रमा—प्रातिभासिक—भ्रम है, जब प्रमाता में से व्यवहारिक मलिनता की निवृत्ति हो जाती है, शुद्ध अन्तःकरण की एकाग्र वृत्ति आत्मा से व्याप्त होती है और स्वयं प्रकाश का प्रकाश होता है तब शुद्ध प्रमाता को पारमार्थिक बोध होता है, यह बोध वृत्ति से होते हुये भी वृत्ति का बाध करके होता है। व्यवहारिक ज्ञान जिसे प्रमा ज्ञान कहते हैं, वह इस प्रकार होता है:—अन्तःकरण की वृत्ति पदार्थ में जा कर पदार्थ का आवरण भंग करके पदार्थ के आकार वाली होती है और चिदाभास उसको प्रकाशता है तब व्यवहारिक प्रमा ज्ञान होता है।

जितना जो कुछ ज्ञान होता है सब वृत्ति से होता है, वृत्ति दो प्रकार की है एक प्रमारूप और दूसरी अप्रमारूप। प्रमा ज्ञान आठ प्रकार का है:—१ प्रत्यक्ष प्रमा, २ अनुमिति प्रमा, ३ शाब्दि प्रमा, ४ उपमिति प्रमा, ५ अर्थापत्ति प्रमा, और ६ अनुपलब्धि यानी अभाव प्रमा। ये छः प्रमाण जन्य प्रमा हैं। ७ सुख दुःख आदिक का ज्ञान ८ ईश्वर ज्ञान। पदार्थ विद्यमान हो, उसका साक्षात् अंतःकरण की वृत्ति से अथवा इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हो, उसे प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं, किसी पदार्थ के एक अंग अथवा किंचित् भाग को देख कर, सुन कर पदार्थ का अनुमान कर लेना उसे अनुमिति प्रमा कहते हैं। जैसे दूर से धुयें को देख कर अग्नि होने का अनुमान करना—अग्नि है ऐसा जानना। सुन कर के जो जाना जाता है, वह शाब्दि प्रमा है। उपमा से समझ लेना उपमिति प्रमा है जैसे किसी ने कहा कि जंगल में गौ के समान गवय नाम का पशु होता है, तब जंगल में गौ के समान

पशु को देख कर यह जान लेना कि यह गवय है। शब्दों के अर्थ से जिसमें आपत्ति आती हो और विचार कर के जो समझा जाय उसे अर्थापत्ति कहते हैं, जैसे किसी ने किसी मनुष्य के लिये कहा कि यह पुरुष दिन में भोजन नहीं करता, वह पुरुष देखने में मोटा ताजा है तब विचार से निश्चय किया जाता है कि विना भोजन किये मोटा ताजा नहीं रह सक्ता इस लिये वह रात्रि में भोजन करता होगा। प्राप्ति के न होने का-अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमा है, जैसे किसी ने कहा कि घर में घट है, दूसरे ने जा कर देखा तो घर में घट नहीं था, उसने जाना कि घर में घट नहीं है। किसी भी यथार्थ निश्चय-ज्ञान के लिये शास्त्र में प्रमाण दिये हैं। लोक में भी प्रमाणजन्य बात को सिद्ध मानते हैं, शास्त्र भेद से प्रमाण संख्या तीन से छः तक है, उन्हीं छः प्रमाण की छः प्रमा हैं।

एक राजा निःसन्तान था। एक समय वह अपनी रानी को साथ ले कर शिकार खेलने गया। जंगल में जाते हुये उन्हों ने एक तुरन्त का जन्मा हुआ बालक एक पेड़ के नीचे पड़ा हुआ देखा। वह एक कपड़े में लपेटा हुआ था और उसका मुख खुला हुआ था। निराधार बालक को पड़ा हुआ देख कर निःसन्तान रानी को प्रेम उत्पन्न हुआ और उसे उस बालक को ले लेने की इच्छा हुई। उसने राजा से कहा "महाराज! मैं इस बालक को ले लेना चाहती हूं, मैं उसे अपना बच्चा समझ कर उसका पालन पोषण करूंगी, यहां यह निराधार स्थिति में पड़ा हुआ है, उसका निर्दोष कोमल मुख कैसा शोभा दे रहा है! उस पर मुझ को बहुत ही प्रेम आता है, उस पर लिपटा हुआ वस्त्र भी मूल्यवान् है।" राजा को रानी का वचन अप्रिय लगा, वह कहने लगा "देवी! मैं अभी तक ऐसा समझता था कि तुम्हारा जन्म उच्च कुल में हुआ है, यह बच्चा किसी नीच कुल में उत्पन्न हुआ है, उसके माता पिता का कुछ पता नहीं है, मुझे शंका होती है कि यह किसी चांडाल का पुत्र न हो, अथवा किसी के कुकर्म का फल रूप हो, ऐसे को पुत्र समझ कर पाल कर बड़ा करने की इच्छा कुलीन स्त्री को किस प्रकार हो? होनी न चाहिये!" रानी हठीले स्वभाव की थी, उसने राजा के चरणों में पड़ कर दोनों हाथ जोड़ कर कहा "महाराज! मुझे इस पर दया आती है, कृपा करके उसके पालन पोषण की आज्ञा दीजिये!" राजा ने रानी की बात न मानी और विशेष क्रोधित हो कर रानी के लात मार कर उसको दूर फेंक दिया और कहा "दुष्टा! यदि तू इस बालक को पालने की इच्छा करेगी तो मैं तुझे राज महल में रहने न दूंगा!" रानी को भी क्रोध आ गया। स्त्री हठ और राज हठ दोनों ही ने उस में प्रवेश किया। तुरन्त ही बालक को उठा कर वह दूसरे मार्ग से चल पड़ी! राजा रानी को दिल से चाहता था परन्तु क्रोध के आवेश में राजा ने रानी को जाने से न रोका। वह अकेला ही रथ में बैठ कर राजधानी में आ गया।

रानी खेतों में हो कर जहां २ रस्ता मालूम हुआ चलने लगी, रात्रि जंगल में काटी, सुबह होते ही फिर चलने लगी, शाम को एक ग्राम के पास पहुँची। एक वृक्ष के नीचे खड़ी हो कर उसने अपने सब अलंकारों को उतार कर उन की एक गठरी बांध ली और पहिने हुये वस्त्रों को भी मट्टी में लपेट कर मलिन कर लिया। पश्चात् वह बालक को गोद में लिये हुये ग्राम की तरफ चली। थोड़ी दूर चलने के बाद एक झोंपड़ी के पास एक वृद्ध ब्राह्मणी को देख कर रानी ने कहा "माता जी! क्या आप मुझे अपनी दासी बना कर रख लोगी? मैं घर का सब काम काज करूंगी, संयोग वश मैं आपत्ति में आ पड़ी हूं, उत्तम कुल में जन्मी हूं, आप ब्राह्मणी हो, आप के पास रह कर मैं इस पुत्र का पालन करूँगी, इस का पिता ईश्वर जाने कहां चला गया है, मैं उच्छिष्ट भोजन नहीं खाऊंगी, इसके सिवाय और सब काम करूंगी!" वृद्ध ब्राह्मणी ने समझा कि पुत्र इसी का है, वह अपने जी में कहने लगी "देखने में तो ऐसा मालूम नहीं होता कि यह बाई किसी नीच कुल की और कंगाल हो" प्रत्यक्ष बोली "बाई! तू किसी बड़े घर की गृहणी दीखती है, किसी के भी दिन एक समान

नहीं जाते, काल का प्रभाव ऐसा ही है, कभी राव और कभी रंक! दुखी को देख कर आश्रय देने के समान अन्य कोई विशेष पुण्य नहीं है, बाई! तू खुशी से मेरे पास रह, मेरे यहां कुछ काम करने को नहीं है क्योंकि ईश्वर की कृपा से मेरे पास चार पैसे हैं, मैं अकेली हूं, मैं तुझे पुत्री समान रक्खूंगी!" रानी उस के पास रहने लगी, ब्राह्मणी के मायायुक्त स्वभाव के कारण रानी को राज सुख की स्मृति नहीं होती थी, पुत्र दिन पर दिन बड़ा होता गया। जब वह छः सात साल का हो गया तो बराबर वाले लड़कों के साथ खेलने कूदने लगा। सब लड़के एक दूसरे को 'यह अमुक का पुत्र, यह अमुक का पुत्र' ऐसा कहते थे परन्तु उसके बाप का नाम कोई जानता न था इस लिये कोई २ लड़का पूछने लगता था कि तेरे बाप का क्या नाम है। पालतू पुत्र आप ही नहीं जानता था, तो क्या उत्तर देता, एक दिन उस ने अपनी मा से आकर कहा "अम्मां! सब अपने २ बाप का नाम जानते हैं, मैं नहीं जानता, मेरे बाप का क्या नाम है?" रानी ने कहा "बेटा! अभी तू बच्चा है, जब बड़ा हो जायगा तब सब बात कहूंगी! हाल तो तेरे पिता का नाम मैं स्वयं भी नहीं जानती!" दिन जाते कुछ देर नहीं लगती, वह लड़का पंद्रह वर्ष में एक पहिलवान हो गया, बुद्धिशाली और बलिष्ठ था, सब लड़के उस को चाहते थे। अब उस ने अपनी माता से अपना वृत्तांत पूछा, रानी ने सब बात कह सुनाई। तब लड़के को मालूम हुआ कि जिसे मैं माता कहता हूं, उस के उदर से मेरा जन्म नहीं हुआ, मेरा पोषण करने वाली रानी है और मेरे ही लिये उसे राज सुख छोड़ना पड़ा है! पुत्र बोला "माता जी! जिस राजा ने तुम को निकाल दिया था, वह जीता है या नहीं?" रानी ने कहा "हां! वह जीता ही है, वह मुझ पर क्रूर हुआ है, मैं उसे क्रूर होने की उचित शिक्षा देना चाहती हूं!" लड़के ने कहा "मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि इस राजा को बंदीवान् करके तुम्हारे पास ले आऊंगा, जब तक मैं ऐसा न करूंगा तब तक मुझ को शांति न होगी! माताजी! दूसरे के सहारे पड़ा रहना मुझे ठीक नहीं लगता, यहां से थोड़ी दूर पर एक साधु रहता है, वह भूत भविष्य जानता है, मैं उस के पास जाकर अपने माता पिता का पता लेकर आऊंगा और फिर राजा को शिक्षा देने के प्रयत्न में लगूंगा!" दूसरे दिन सुबह ब्राह्मणी को सोता हुआ छोड़ कर रानी और पुत्र दोनों ही उठ कर चल दिये, रानी को साधु के स्थान से थोड़ी दूर पर एक पेड़ के नीचे बैठा कर लड़का साधु के पास पहुंचा। साधु तुरन्त ही समाधि से सचेत हुआ था। लड़का प्रणाम कर उसके सामने हाथ जोड़ खड़ा रहा। साधु ने कहा "बच्चा! तू क्या चाहता है?" लड़के ने रानी से सुनी हुई बात कह सुनाई और कहा "महाराज! मैं यह जानना चाहता हूं कि मेरे माता पिता कौन हैं" साधु ने लड़के का मुख, हाथ, पैर आदिक देख कर, कुछ विचार कर कहा "जब तू रानी को मिला था, क्या उस समय का कोई वस्त्र तेरे पास है?" लड़का रानी के पास गया। रानी ने एक छोटा सा वस्त्र का टुकड़ा अपनी गठरी में से निकाल कर दिया। लड़का उसको ले कर साधु के पास आया और उसने उसे उसके सामने रख दिया। उस वस्त्र को देख कर साधु ने भी अपने पास से एक वस्त्र निकाला और दोनों को मिलाया तो दोनों एक ही वस्त्र के टुकड़े थे। साधु को निश्चय हो गया, वह प्रेम से कहने लगा "वत्स! तू मेरा ही पुत्र है परन्तु मैं त्यागी होने से तुझे अपने पास रख नहीं सका, तू जिसके पास रहता है, उसी के पास रह!" लड़के ने प्रणाम कर कहा "पिता जी! मेरी माता कौन है?" साधु ने कहा "बच्चा! यह पुरानी बात है, सुनः-मैंने प्रथम भारी तपश्चर्या की थी। उस से इन्द्र को भय लगा। उसने मेरी तपश्चर्या भंग करने को तिलोत्तमा नाम की अप्सरा भेजी। प्रथम तो मैं दृढ़ रहा परन्तु अन्त में मेरा मन चलित हो गया। मैं मोहित हो कर अप्सरा में रत हुआ। अप्सरा गर्भवती हुई, तेरा जन्म हुआ। मुझ से वस्त्र मांग कर तुझे उसमें लपेट कर अप्सरा स्वर्ग को चली गई। तू सामान्य मनुष्य नहीं है! तेरे लिये कोई कार्य असाध्य न होगा। तुझ को जो देखेगा, तेरे वश हो जायगा, यह मेरा

आशीर्वाद है !" लड़के ने रानी के पास आकर सब कथा सुनाई और दोनों रानी के पति के राज्य के मार्ग में चल पड़े।

कुछ दिन बाद दोनों राजधानी में पहुंचे और वहां एक मकान किराये पर लेकर रहने लगे। उस मार्ग से दरबारी लोग आते जाते रहते थे, एक समय राजा का भाई, जो राजा के समान आकृति वाला था, वहां होकर जा रहा था। रानी ने उसे लड़के को दिखला कर कहा "देख! जैसा यह मनुष्य जा रहा है, इस आकृति का ही मुझे निकाल देने वाला राजा है, यह राजा का छोटा भाई है।" लड़के ने ठीक रीति से उसे पहिचान लिया। एक समय राजा शिकार खेलने को अकेला जंगल में गया। उसी जंगल में लड़का भी घूम रहा था। उसने राजा को पहिचान लिया और वह उसके पास गया। राजा उसको देखते ही वशीभूत हो गया और कहने लगा "हे युवान! तू कौन है? और मुझ से क्या चाहता है?" लड़के ने कहा "महाराज! मैं आपके नगर का एक सामान्य जन हूं, मैं आप से नोकरी चाहता हूं।" राजा बोला "हे युवान! तुझे देख कर मुझे प्रसन्नता होती है, मेरे साथ चल, तुझे मैं अपने पास रक्खूंगा और अपना द्वारपाल बनाऊंगा।" लड़का राजा के साथ चला गया और सौंपा हुआ कार्य भली प्रकार करने लगा। राजा की प्रीति उस लड़के पर बहुत थी और जो मनुष्य उसे देखते थे, उसके वश हो जाते थे। थोड़े ही दिनों में कारभारी लोग और सैन्याधिपति आदि सब लोग उसके वश हो गये। राजा राज्य का कार्य ठीक नहीं देखता था और विशेष करके अंतःपुर में पड़ा रहता था। प्रजा का न्याय यथार्थ न होने से प्रजा राजा से विरुद्ध थी। थोड़े ही दिन बाद लड़का राज पोशाक धारण कर, अस्त्र शस्त्र आदि से सज कर राजसभा में आ राज सिंहासन पर बैठ गया। सब उसको चाहते ही थे इसलिये किसी ने विरोध न किया। मुख्य प्रधान को यह अच्छा न लगा, उसने लड़के का तिरस्कार किया। लड़के ने इस पर कुछ ध्यान न दिया। प्रधान ने जाकर राजा से समाचार कहे। राजा राजपोशाक पहिन कर सभा में आया। राजा को आता हुआ देख कर लड़के ने गद्दी पर से उतर कर उस को जोर से पकड़ लिया। वह हिल भी न सका! सब सरदार जो वहां खड़े थे उनमें से किसी ने भी लड़के को न रोका, ऐसा देख कर राजा समझ गया कि मेरे विरुद्ध प्रपंच रचा गया है और ये सब सरदार उसमें शामिल हैं। राजा ने इधर उधर देखा परन्तु कोई भी सहाय करने को न आया! राजा ने आते समय सैन्यापति और सैनिकों को देखा था। उसने उनको बुलाया परन्तु सैन्यापति और सैनिक कोई न था। जो थोड़े से सरदार थे वे भी धीरे २ बाहर खिसक गये। राजा दीन होकर बोला "हे युवान! मैं ही तेरे सौभाग्य का कारण हूं, मैंने तेरा कौन सा अपराध किया है जिससे तू मेरा अपमान कर रहा है और राज्य छीन लेने को तत्पर हुआ है? तू समझता है कि सहज में राज्य मिल जायगा! क्या मेरा सैन्य और सैन्यापति मर गये हैं?" लड़के ने कहा "कहां है तुम्हारा सैन्य और सैन्यापति? तुम्हारे महान् अपराध की यह सजा है! हे सैनिको! बांध लो इस राजा को!" सैनिकों ने तुरंत ही राजा को बांध लिया। अपमानित राजा बोला "हे युवान! बता, मैंने तेरा क्या अपमान किया है?" लड़के ने कहा "महाराज! तुम भयंकर पापी हो, तुमने विना अपराध ही साध्वी सती रानी को अरण्य में छोड़ दिया! क्या यह महापाप नहीं है?" पश्चात् लड़का राजा को पालकी में बैठाकर रानी के पास ले गया और पालकी उतरवाकर कहने लगा "माता जी! आज आप की मनोकामना सिद्ध हुई है! राजा को बंदी करके आपके पास ला कर खड़ा कर दिया है, जैसी आपकी आज्ञा हो वैसी सजा दूंगा!" हाथ पैर में बेड़ी पड़ी हुई पालकी में राजा को बंदीवान् देख कर रानी का रोस उतर गया। उसने राजा की बेड़ियां निकलवा दीं। राजा ने रानी से माफी मांगी, रानी प्रसन्न हुई। लड़के को राज्यआसन पर आरूढ़ करके राजा रानी दोनों जंगल में तपश्चर्या करने चले गये।

तुरन्त के जन्मे हुये बालक को पेड़ के नीचे पड़ा हुआ देख कर राजा रानी को जो ज्ञान हुआ

था, वह प्रत्यक्ष प्रमा है, वृद्ध ब्राह्मणी ने कान नाक आदिक में जेवर पहिने हुये देख कर रानी को कुलीन श्रीमान् की गृहणी जो समझा था, वह अनुमिति प्रमा है। रानी ने राजा से अलग होने का और सन्त ने लड़के की उत्पत्ति का वृत्तांत कहा था, उस से लड़के को जो ज्ञान हुआ, वह शाब्दि प्रमा है। रानी के कहे अनुसार लड़के ने जंगल में राजा को पहिचाना वह उपमिति प्रमा है। लड़के ने राजा को जोर से पकड़ा, कोई सहाय न हुआ, यह बोध जो राजा को हुआ, वह अर्थापत्ति प्रमा है, राजा अनुचर दीखते हुये भी राजा के अनुचर नहीं थे, यह ही अर्थ की आपत्ति रूप अर्थापत्ति थी। सैन्यापति को देखा और वह न मिला, यह बोध अनुपलब्धि-अभाव प्रमा है। इस प्रकार ऊपर के दृष्टांत से छओ प्रमा समझने में आ जायगीं।

प्रमाण करके जो सिद्ध हो, उसे प्रमा ज्ञान कहते हैं, वह छे प्रकार का है। यथार्थ अनुभव होने के कारण सुख दुःख का ज्ञान जो आंतर है, वह भी प्रमा ज्ञान है, ऐसे ही ईश्वर ज्ञान भी प्रमा है, ऐसे आठ प्रकार का प्रमा ज्ञान है। सुख दुःख का यथार्थ ज्ञान व्यवहारिक है और ईश्वर ज्ञान-पारमार्थिक सम्बन्ध वाला है। स्मृति ज्ञान को कोई प्रमा ज्ञान कहते हैं और कोई अप्रमा ज्ञान कहते हैं तो भी स्मृति को दोनों ही यथार्थ कहते हैं। मिथ्या संस्कार से स्मृति अयथार्थ होती है। सुख दुःख के ज्ञान को भी कोई २ यथार्थ ज्ञान वाले अप्रमा कहते हैं। सुख दुःख और स्मृति की यथार्थता में सब का एक समत है, स्वप्न, संशय, विपर्य और भय ज्ञान को सब अप्रमा और अयथार्थ कहते हैं। प्रमाणजन्य ज्ञान की सिद्धि इन्द्रियों से होती है। इन्द्रियां पांच हैं और उनके विषय भी पांच हैं, जिस इन्द्रिय का जो विषय है उस विषय के ज्ञान की सिद्धि उस इन्द्रिय से होती है, नेत्र इन्द्रिय के विषय रूप के लिये और कर्ण इन्द्रिय के विषय शब्द के लिये अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय गोलक से निकल कर बाहर जाती है क्यों कि ये दोनों इन्द्रियां कुछ दूर पर रहे हुये विषय को ग्रहण करती हैं। त्वचा इन्द्रिय के स्पर्श के निमित्त, रसना इन्द्रिय के स्वाद के निमित्त और नासिका इन्द्रिय के गंध के निमित्त अंतःकरण की वृत्ति बाहर नहीं जाती, विषय और इन्द्रिय गोलक के सम्बन्ध से वहां ही विषय को ग्रहण करती हैं, स्पर्शेन्द्रिय त्वचा पदार्थ और पदार्थ के आश्रय को ग्रहण करती है, रसना अपने गोलक में पदार्थ का संयोग होने से स्वाद को ग्रहण करती है और नासिका अपने गोलक में गंध का अथवा गंध के सूक्ष्म अवयवों का संयोग होने से ग्रहण करती है, इस प्रकार बाहर के विषयों का ग्रहण होता है। सुख दुःख का ग्रहण आंतर में है, इन्द्रियां बहिर्मुख हैं इस लिये सुख दुःख के ज्ञान में इन्द्रिय द्वारा अंतःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध नहीं है, जहां अंतःकरण से सुख दुःख का बोध होता है, वहां अंतःकरण की साक्षात् वृत्ति का सम्बन्ध है, इसी प्रकार ईश्वर ज्ञान-आत्म ज्ञान में भी अंतःकरण की वृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध है। बाहर की इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने में पदार्थ का प्रकाशक चिदाभास है और वृत्ति अंतःकरण की है, सुख दुःख के बोध में साक्षात् अंतःकरण की वृत्ति है और प्रकाश साक्षी का है, आत्म बोध, शब्द रूप तत्वमसि महा वाक्य द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति से स्वयं प्रकाश में होता है।

प्रमा ज्ञान का कोष्टक।

		प्रमा	वृत्ति	प्रकाश
१	आंतर	शब्द जनित आत्म ज्ञान	अंतःकरण की वृत्ति शब्द से साक्षात्	स्वयं प्रकाश
२		सुखदुःख	अंतःकरण की वृत्ति से साक्षात्	साक्षी
३	बाह्य	प्रत्यक्ष	अंतःकरण की वृत्ति इन्द्रिय द्वारा	चिदाभास
४		अनुमिति	"	"
५		शाब्दि	"	"
६		उपमिति	"	"
७		अर्थापत्ति	"	"
८		अभाव	"	"

स्मृति से भिन्न यथार्थ ज्ञान को प्रमा ज्ञान कहते हैं, यह ऊपर के कोष्टक में दिखलाया है, आत्म ज्ञान और सुख दुःख का ज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है, परन्तु यथार्थ अनुभवजन्य हैं, अंतःकरण की वृत्ति आत्मा में व्याप्त हो कर स्वयं प्रकाश में आत्मा का बोध होता है। सुख दुःख के ज्ञान में भी अंतःकरण की साक्षात् वृत्ति का सम्बन्ध है और साक्षी के प्रकाश में बोध होता है, शेष रहे छओ प्रमाणजन्य प्रमा में अंतःकरण की वृत्ति इन्द्रिय द्वारा विषय व्यापिनी हो कर चिदाभास से प्रकाशित होती है, ऐसे आठ प्रकार का प्रमा ज्ञान है। कोई २ स्मृति ज्ञान को भी यथार्थ होने के कारण से प्रमा ज्ञान कहते हैं और कोई उसे अप्रमा कहते हैं क्यों कि स्मृति संस्कारजन्य है, प्रत्यक्ष नहीं है। सुख दुःख और ईश्वर ज्ञान को भी कोई अप्रमा कहते हैं तो भी उसे यथार्थ कहते हैं। आत्मज्ञान को तो कर्ण द्वारा वृत्ति का सम्बन्ध होने से सब प्रमा ज्ञान कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा होने वाला ज्ञान चाहे इन्द्रिय जन्य हो, चाहे न हो, चाहे उस का प्रकाश चिदाभास से हो, चाहे साक्षी से हो, चाहे स्वयं प्रकाश हो, यथार्थ होता है। अप्रमा ज्ञान अयथार्थ ही होता है। अप्रमा ज्ञान में अविद्या की वृत्ति होती है और साक्षी के प्रकाश में ज्ञान होता है, चिदाभास अथवा स्वयं प्रकाश में नहीं होता। अन्तः करण की वृत्ति से अविद्या की वृत्ति की अयथार्थता है इसलिये अविद्या की वृत्ति से हुआ बोध भी अयथार्थ होता है।

अप्रमा ज्ञान सामान्यता से तो अयथार्थ ही होता है परन्तु जब अन्तःकरण की वृत्ति से होता है तब यथार्थ होता है। जो प्रमाणजन्य को ही प्रमा ज्ञान मानते हैं वे छः प्रमा होने से छः प्रकार का प्रमा ज्ञान मानते हैं। यथार्थ ज्ञान को प्रमा मानने वाले छः प्रमा, सुख दुःख का ज्ञान, ईश्वर ज्ञान और स्मृति ज्ञान को प्रमा मानते हैं, स्मृति यथार्थ और अयथार्थ दोनों ही प्रकार की होती है और जो स्मृति से भिन्न यथार्थ ज्ञान को प्रमा मानते हैं, उन के मत में ऊपर बताया हुआ आठ प्रकार का प्रमा ज्ञान है, जो मन को इन्द्रिय मानते हैं वे सुख दुःख के ज्ञान और ईश्वर ज्ञान को भी प्रमाणजन्य मानते हैं। वेदान्त के अनुसार आत्म ज्ञान प्रमाणजन्य और यथार्थ है, स्वयं प्रकाश आत्मा सब प्रमाणों का सिद्ध करने वाला है, आत्मा से सब प्रमाणों की सिद्धि होती है इस लिये किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता तो भी मन्द मुमुक्षुओं के लिये शास्त्र में छओ प्रमाणों से भी आत्मा की सिद्धि बताई है। अनुभव रूप होने से आत्मा प्रत्यक्ष है अप्रत्यक्ष नहीं है। जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है, परमात्मा सच्चिदानन्द है, जो सच्चिदानन्द होता है, परमात्मा से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार श्रुति वाक्यों से अनुमान कर के जीव ब्रह्म का अभेद विषय रूप अनुमिति प्रमा ज्ञान होता है। सद्गुरु ने योग्य अधिकारी को भाग त्याग लक्षणा समझाकर 'तत्त्वमसि' (वह तू है) ऐसा जो कहा और उस से अधिकारी को जो बोध हुआ, वह शाब्दि प्रमा है। यद्यपि शाब्दि प्रमा स होते हुये भी यह ज्ञान अन्तर है। शाब्दि प्रमा से अन्तःकरण की शुद्ध वृत्ति आत्माकार होती है और बोध अपरोक्ष होता है। जिस पुरुष ने आकाश का असंगपना और व्यापकपना निश्चय किया है, ऐसा श्रद्धायुक्त अधिकारी सद्गुरु के शरण में जाकर जब प्रश्न करता है कि भगवन्! ब्रह्म का स्वरूप क्या है तब सद्गुरु कहते हैं कि ब्रह्म आकाश के समान व्यापक और असंग है, सब का ही सामान्य प्रकाशक और सत्ता स्फूर्ति दाता है। ऐसा सुन कर शिष्य एकान्त में जाकर विचार करता है और समझता है कि ऐसा मैं ही हूं यह उपमिति प्रमा है क्यों कि उपमा से उस ने ऐसा समझा है। आत्मा असंग, अक्रिय और अव्यय है, ऐसा गुरु और शास्त्र वाक्य सुना है, भौतिक अथवा अभौतिक किसी पदार्थ में ये लक्षण नहीं मिलते इसलिये उन सब को त्य ज्य समझ कर, सबके आधारभूत परब्रह्म का निश्चय करना अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ तत्त्व है। आत्म तत्त्व के प्रत्यक्ष होने में दृश्य ही बाधक यानी अर्थापत्ति रूप है। ज्ञान से बंध की निवृत्ति होने पर बंध का भी मिथ्यापना है। ऐसा 'आत्मवान् शोक को तारता है' इस श्रुति में

सुना है इसलिये श्रुति बंध की मिथ्या कल्पना कराती है, यह श्रुतार्थपत्ति है। श्रुति सब प्रपंच के निषेध को कहती है। निषेध करने से संस्कार युक्त दृष्टि से संसार का अभाव होता है और उस का आधार शेष रहता है, वह ही परब्रह्म है, ऐसा निश्चय करना अभाव प्रमा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दि, अर्थापत्ति और अभाव इन छःओं प्रमा से आवरण शक्ति सहित अज्ञान की निवृत्ति होती है। इन में अनुमिति आदि परोक्ष प्रमा से असत्त्वापादक आवरण शक्ति विशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होती है और अपरोक्ष प्रमा से अभानापादक आवरण शक्ति विशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होती है पीछे घटादि विषय का ज्ञान होता है इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्यों से 'अहं ब्रह्मास्मि' इन प्रकार की अपरोक्ष प्रमा से आवरण रूप मूलाज्ञान की निवृत्ति के बाद अधिकारी पुरुष को ब्रह्म साक्षात्कार होता है। ॥ अपूर्ण ॥

चर्पटपंजरिका।

दिनमपि रजनी सायं प्रातः
शिशिर वसंतौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायु-
स्तदपि न मुंचत्याशा वायुः ॥५॥ भज०

अर्थः—दिन होता है, रात होती है, सांझ होती है, सबेरा होता है, शिशिर वसंतादि ऋतुयें बारंवार आती हैं, इस प्रकार काल क्रीडा करता है और आयु चला जाता है तो भी आशारूप पवन को नहीं छोड़ता। हे! मूढ मते! गोविन्द का भजन करले।

भाषापद्य।

होत दिवस निश सांझ सवेरा।
शिशिर वसंत लगावें फेरा॥
खेलत काल घटत है आयू।
तदपि न त्यागत आशा वायू॥ भज०

विवेचन।

काल एक होते हुये भी व्यवहार में समझने के लिये कल्पना से काल के अनेक टुकड़े किये हैं। ये काल के टुकड़े चक्र के समान हमेशा भ्रमण किया करते हैं। काल के टुकड़ों से ही ग्रहादि की चाल, भूत, भविष्य, वर्तमान, सब का आना जाना, विकार को प्राप्त होना, उत्पत्ति और नाश होता है। एक ही सूर्य जो ब्रह्मांड भर को प्रकाशित कर रहा है, चाल और काल करके दिन और रात करता है। दिन और रात की संधि में सुबह शाम होते हैं। यह प्रत्येक दिन का निश्चय कार्य है। दिन गया, रात आई, रात भागी, दिन हुआ, शाम मिटी दूसरे दिन सुबह हुई और फिर शाम हुई, इसी हिसाब से शिशिर वसंत आदि ऋतुयें कहलाती हैं, आती जाती रहती हैं। एक जाती है, दूसरी आती है। जो चला जाता है फिर नहीं आता। गया हुआ समय फिर नहीं लौटता परन्तु उस समय का चालू प्रवाह पदार्थों को जीर्ण करके नाश कर डालता है। जो अखण्डित काल है, उसका तो कुछ बिगड़ता नहीं है, उस का तो अपने अंगउपांग से खेल है-क्रीडा है परन्तु सब पदार्थ जीर्ण होते चले जाते हैं। काल क्रीडा करने से थकता नहीं है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता परंतु खंडित होने वाले पदार्थों के खंडित होने का हेतु वह ही है। जैसे २ काल व्यतीत होता जाता है तैसे २ मनुष्य की आयु क्षीण होती चली जाती है। मनुष्य उत्तम प्राणी है, उसे अपनी आयु की समाप्ति से पूर्व ही परम पुरुषार्थ साध्य कर लेना चाहिये। काल का अप्रतिबद्ध प्रवाह बहता ही रहता है। जिस काल में जो कुछ कर लिया जाय, वह ही फल है। परम पुरुषार्थ को न करने देने वाली आशा है। आशा की फांसी से बंधा हुआ मनुष्य परम पुरुषार्थ को साध्य नहीं कर सकता। उसको उपदेश देते हैं कि मायिक सब पदार्थों का नाश होता रहता है, यह तू देखता रहता है, तब तू अपने शरीर के नाश को क्यों नहीं देखता? आज तक किसी का भी शरीर रहा हो, ऐसा नहीं है, तेरा शरीर भी रहने वाला नहीं है, इसलिये शरीर के नाश होने से प्रथम

ही परम पुरुषार्थ करले। मुख्य विषय पांच हैं और उनके पदार्थ अनेक हैं। अब तक तेरी आशा उनमें लगी हुई है, आशा रूप वायु को तू नहीं छोड़ता। तेरा आयु जो नित्य प्रति घट रहा है, समाप्त हो जायगा, तुझ से कुछ भी न हो सकेगा! तेरा मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जायगा! इसलिये हे मूढ़! विचार कर, विषयों की आशा रूप वायु को छोड़ और गोविन्द का भजन कर!

पृथिवी के पटपर के मनुष्यों को जितने समय तक सूर्य दीखे यानी सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने पर्यंत के काल को दिवस कहा जाता है और जितने समय तक सूर्य न दीखे यानी सूर्य के अस्त होने के बाद फिर से उदय न हो उतने काल को रात्रि कहते हैं। सूर्य के अस्त होने के समय को सायंकाल कहते हैं। इस का दूसरा नाम सायं-संध्या भी है, शाम की संधि का समय होने से सायं-संध्या कहलाती है। इसी प्रकार सूर्य उदय को प्रातःकाल यानी सुबह कहते हैं। यह प्रातःकाल की प्रातःसंध्या है। दो संधि और एक रात्रि दिन मिल कर एक दिन कहलाता है, ऐसे तीस दिन का एक महीना कहलाता है, दो महीने की एक ऋतु होती है, ऋतु छः कही जाती हैं:- शिशिर, वसंत ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमंत, छः ऋतुओं का वर्ष होता है, इस प्रकार वर्ष का वर्ष चला जाता है, दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का क्रम चालू है, इसी प्रकार सुबह शाम का क्रम है, बारह मास का भी इसी प्रकार क्रम है, शिशिर के बाद वसंत, वसंत के बाद ग्रीष्म, ग्रीष्म के बाद वर्षा, वर्षा के बाद शरद, शरद के बाद हेमंत और हेमंत के बाद फिर शिशिर इस प्रकार क्रम चलता रहता है, ऊपर वाले, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार आते जाते हैं, जैसे चक्र घूमा ही करता है, ऐसे ही वे घूमते रहते हैं, एक ही काल के भीतर यह खेल होता रहता है, खेल होने से यह काल की क्रीड़ा है, क्रीड़ा करने वाला क्रीड़ा करता है और क्रीड़ा में फसने वाले मरते हैं, काल अमर है, मरता नहीं, नया पुराना होता नहीं, काल चक्र के अंग आते हैं और जाते हैं। जो चला जाता है, फिर नहीं आता, किन्तु सब अंग एक से होने से अज्ञान से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ही आते जाते हैं, कहते भी हैं कि जो दिन गया लौट कर नहीं आता, इस चक्र में यह देखा जाता है कि गया समय फिर नहीं आता इसी प्रकार आयु भी गई सो गई फिर नहीं आती और जिस आयु में जो कार्य करने का था, यदि वह न किया तो अंत में पश्चात्ताप ही होता है, दुःख ही होता है, मनुष्य पैदा हुआ तब से ही उस की आयु निर्माण हो चुकी है, ज्यों २ वह बड़ा होता जाता है त्यों २ उस की आयु क्षीण होती चली जाती है, बड़े होने से माता पिता और हम तो प्रसन्न होते हैं और काल विचारता है कि अब यह मूढ़ जल्दी से मेरा ग्रास हो कर मेरे मुख में गिरेगा! गँवारू मसल है, चौपाई:—मात कहे सुत होत बड़ेरो। काल कहे आवत दिन मेरो॥ इस लिये आयु को न गुमा कर गोविन्द का भजन कर लेना चाहिये, जो यथार्थ रीति से गोविन्द का भजन करता है, जिस को अज्ञान नहीं है, उस को भक्षण करने के लिये महा काल भी समर्थ नहीं है। जब बुढ़ापा आता है तब शरीर की शक्ति घट जाती है, बुद्धि भी परम पुरुषार्थ साध्य करने के सामर्थ्य वाली नहीं रहती, बुद्धि और शक्ति तो घटती जाती है परन्तु आशा दिन पर दिन बढ़ती जाती है, मरण के समीप आने पर भी आशा नहीं छूटती। मन की आशाओं की जंजीर लोहे की दृढ़ भारी जंजीर हो जाती है, आशा करने वाला उस जंजीर से बांधा जाता है और अनेक जन्मों तक उस को कष्ट भोगना पड़ता है इस लिये आशा को छोड़ कर ईश्वर भजन करना चाहिये, घर, स्त्री, पुत्र, नाते वाले, सम्बन्धी आदिकों में आशा, धनादिक में ममता, सुख की लालसा और शरीर पर अत्यंत प्रेम करना, ये सब आशा का ही स्वरूप है। आश करना आशा का स्वरूप है, वह ही आश अनेक प्रकार की योनियों में गर्भवास को भुगवाती है, कहा भी जाता है कि जहां आशा, वहां वासा।

भिक्षुक से लेकर क्रोडाधिपति पर्यन्त सब में आशा समान ही है, आशा की गिनती बाहर के पदार्थों से

नहीं होती, आशा अंतःकरण में होती है, छोटे पुरुष को थोड़े पदार्थों की ओर बड़े को विशेष पदार्थों की आशा होती है तो भी आशा दोनों में समान ही है। आशा अनन्त कही जाती है क्योंकि आशा का कभी अंत नहीं आता, बारबार शरीर का नाश होता रहता है, आशा का नहीं। कबीर का एक दोहा भी है, दोहाः—माया मरी न मन मरा, मर मर गये शरीर। आशा तृष्णा ना मरी कह गये दास कबीर॥ परमपद की प्राप्ति में ही आशा की निवृत्ति है क्योंकि आशा व्यक्ति में रहती है, व्यक्तित्व के अभिमान रहित आशा नहीं रह सक्ती इसीलिये आशा सुख का नाश करने वाली, लोहु को सुखाने वाली और आयु को व्यर्थ करने वाली है। आशा को छोड़ कर अपने स्वरूप को पहिचानना चाहिये।

आनन्दपुर नाम का एक बड़ा शहर था। उसमें सब प्रकार से आनन्द ही आनन्द था। जितना कुछ आनन्द हो सक्ता है वह सब ही उस शहर में था। यदि उसे आनन्द का महा सागर कहा जाय तो ठीक ही है, वह सब प्रकार के सुख की खानि थी और विशेषता यह थी कि जो कोई उस शहर में आजाता था वह शहर से बाहर नहीं जाता था और उस का आनन्द भी कभी कम नहीं होता था। उस विशाल शहर के भीतर जाने का एक ही मार्ग था। वह शहर चारों तरफ से बड़े २ पहाड़ और दीवारों से घिरा हुआ था। जिस मार्ग से उस शहर में जाया जाता था, उस मार्ग में दोनों तरफ बहुत ऊंचे दो पहाड़ खड़े थे। जैसे बद्रीनारायण जाने में दोनों तरफ नर और नारायण के दो पहाड़ खड़े हैं इसी प्रकार ये पहाड़ थे। उन पहाड़ों के बीच में का मार्ग पांच कोश का था। उस मार्ग में थोड़ा मैदान था। एक समय उस मैदान में एक तमाशगीर ने अपना तमाशा करने को तम्बू लगाया। उस तंबू में से ही आनन्दपुर जाने का मार्ग था। जो कोई आनन्दपुर जाना चाहता था, उसे तमाशगीर के तम्बू में होकर जाना पड़ता था। तमाशा बहुत विलक्षण था। एक बड़े ऐंजिन की पावर से तमाशा होता था। उस में एक मुख्य चक्र था, मुख्य चक्र के साथ में कई चक्र लगे हुये थे। सब छोटे २ चक्र घूमते हुये बड़ा चक्र घूमता था। उस में घड़ी के समान चक्र लगे हुये थे! सब से जो छोटा चक्र था, वह बहुत तेज़ी से घूमता था। उसके घूमने की चाल पश्चिम से पूर्व की तरफ की थी। उसका एक भाग काला और दूसरा भाग सफेद था। जो काला भाग था, वह बीच में बहुत काला था और आस पास में कम काला था। इसी प्रकार जो सफेद भाग था वह भी मध्य में बहुत सफेद और आस पास कम सफेद था। उस चक्र में अनेक प्रकार के चित्र निकाले गये थे। जिस प्रकार बाइस्कोप का तमाशा सब क्रिया करता दीखता है इसी प्रकार उस चक्र में के चित्र भी क्रिया करते थे और बोलते भी थे यानी पांचों इन्द्रियों के विषय उन चित्रों में थे। वह दो बाजू वाला चक्र एक दूसरी चाल से भी घूमता था, यह चाल उत्तर दक्षिण की थी। जब छोटे तीस चक्र अपनी चाल पर घूम जाते थे तब एक बड़ा चक्र पूर्ण होता था। बड़े चक्रों भी छोटेके समान अनेक प्रकार के जड़ और चैतन्य के चित्र थे जो सब क्रियाओं से देखने वाले को मोहित करते थे, यह चक्र भी स्थिर नहीं था, अपनी चाल से घूमता था, जब वह दो बार घूम जाता था, तब उस के ऊपर वाले चक्र को चाल मिलती थी, ऊपर वाला चक्र भी अनेक प्रकार की शोभा वाले खिलोनों से भरा हुआ था, जब वह एक बार घूम लेता था तब फिर से घूमना आरंभ करता था और ऐसे बारम्बार घूमा ही करता था, उस के साथ लगे हुये सब चक्र भी अपनी अपनी चाल से घूमते रहते थे, जो मनुष्य आनन्दपुर में जाना चाहते थे उन को इस मार्ग में हो कर निकलना पड़ता था, जाने वाले खेल को देख कर मोह को प्राप्त हो जाते थे और खेल देखने में लग जाते थे, 'थोड़ा और देखलें' ऐसी आशा करते २ तंबू में ही मर जाते थे, बहुत कम मनुष्य चक्र और चित्रों के तमाशे के देखने की आशा छोड़ कर, तंबू से बाहर निकल कर आनन्दपुर में पहुंचते थे, बहुत से मनुष्य तो खेल देखने में इतने मस्त हो जाते थे कि उन के होश हवास ही ठिकाने नहीं रहते थे, अभी तक आनन्दपुर के मार्ग में तमाशगीर पड़ा हुआ है, बहुत से

मनुष्य भी वहां फंसे हुये हैं। जिस को इस बात का निश्चय न हो, वह वहां जाकर देख सक्ता है, परन्तु शर्त इतनी है कि यदि खेल की हवा में दब जायगा तो देखने वाले का भी वैसा ही बुरा हाल होगा जैसा कि वहां के मनुष्यों का हो रहा है!

ऊपर जिस चक्र का वर्णन किया है वह संवत्सर-संसार का चक्र है। काल खेल करने वाला है। आनन्दपुर परमपद है, वहां जाने की इच्छा वाला मुमुक्षु है, खेल जगत् है! पांच कोश शरीर के पांच कोश हैं। सब से विशेष घूमने वाला चक्र दिन रात का है जिस की चाल पूर्व पश्चिम है, तीस चक्र वाला मास का चक्र है, दो मास की चाल वाला ऋतु का चक्र है। छः ऋतु रूप छः चाल वाला चक्र वर्ष-संवत्सर है। इस चक्र में, चक्र के चित्रों में, चक्र के विषयों में जिस की आशा लग रही है, वह चक्र से दृष्टि को नहीं हटाता, दृष्टि को न हटाना ही आशा है। विषय लालसा रूप हवा है, वह ही आशा का वायु कहलाता है। जो मुमुक्षु परमपद प्राप्त करना चाहता है, उसको रोकने वाली तमाशे की आशा है। आशा में मनुष्य का जन्म रूप आयु व्यर्थ जाता है, वह ही मृत्यु है इस लिये उस चक्र में से निवारण करने वाले गोविन्द का भजन ही इष्ट है।

जिस प्रकार जल के आवर्त—चक्र में पड़ा हुआ निकलने नहीं पाता, डूब ही जाता है इसी प्रकार इस संसार के काल चक्र में पड़ा हुआ भी विशेष कर के डूब ही जाता है। जो इस चक्र को जानता है, चक्र से अलग रहता है, अलग होने का प्रयत्न करता है, उस का कल्याण होता है। अनित्य ऐसे इस संसार और मनुष्य शरीर को प्राप्त हो कर जगत् की आशाओं को न छोड़ने से अनित्यता के प्रवाह में ही बहता रहना पड़ता है, जैसे मृत्तिका समान तुच्छ पदार्थ में से भी शोधन कर के सुवर्ण निकाल लिया जाता है इसी प्रकार अनित्य संसार में से अदृश्य ऐसे सत्-आत्म स्वरूप को अलग कर के ग्रहण करना चाहिये। जगत् और जगत् के पदार्थों की आशा के सिवाय जगत् में अन्य कोई दुःख दायक नहीं है, ऐसा कहा भी जाता है कि आशा से ही जगत में जीवन है, जब तक जगत् में आशा है तब तक जगत् वास की निवृत्ति नहीं होती। जिस को जगत् दुःख रूप दीखे उसको जगत् की आशा समूल तोड़नी चाहिये और स्व स्वरूप को पहिचानना चाहिये। जिसके शब्द को कर्ण नहीं सुन सक्ता परन्तु जिसकी सत्ता से कर्ण सुन सक्ता है, जिसको चमड़ी का स्पर्श नहीं होता परन्तु जिसकी सत्ता से चमड़ी स्पर्श कर सकी है, जिस को आंख नहीं देख सकी परन्तु जिसकी सत्ता से आंख देख सकी है, जिसको जिह्वा चख नहीं सकी परन्तु जिसकी सत्ता से जिह्वा स्वाद लेने को समर्थ होती है, जिसको नासिका सूंघ नहीं सकी परन्तु जिसकी सत्ता से नासिका सूंघने को समर्थ होती है, जिसको मन पहुँच नहीं सक्ता परन्तु जिसकी सत्ता से मन संकल्प विकल्प करने को समर्थ होता है ऐसे सर्व शक्तिमान् ईश्वर को शास्त्र-संग और सत्संग से पहिचानना चाहिये। ईश्वर को पहिचानने के मार्ग में पड़ने के बाद ईश्वर दूर नहीं है, ईश्वर के पहिचानने के मार्ग में जाने में रोक करने वाला आशा का पवन है। जैसे आंधी का पवन आंखों में धूल डाल कर अन्धा कर देता है इसी प्रकार आशा का वायु अन्धा कर देता है इस लिये आशा की निवृत्ति किये बिना ईश्वर के मार्ग में जा नहीं सकते। आशा संसार में भी दुःख का हेतु है किन्तु संसार में फंसे हुये दुःख पाते हुये भी आशा को दुःख की पैदा करने वाली नहीं समझते। आशा से हानि उठाने का एक लौकिक दृष्टांत इस प्रकार है:—

एक जुलाहे और एक लोहार में मित्रता थी। दोनों एक दूसरे को सच्चे प्रेम से चाहते थे। दैवयोग से दोनों का धन्धा छूट गया। जब गुजारा होने में बाधा पड़ने लगी तब दोनों विचार करके कमाई करने के लिये परदेश जाने को ज्योतिषि से मुहूर्त पूछ कर शुभ मुहूर्त में घर से चल दिये और ग्राम २ घूमने लगे क्योंकि जहां जांय वहां बुनने वाले और लोहार का काम करने वाले देखने में आवें। उन दोनों का विचार था कि जहां ये

दोनों पेशे वाले न हों, वहां रहने से कमाई होगी। परन्तु ऐसा ग्राम, कस्बा अथवा शहर कोई न मिला। जहां वे पहुंचते वहां पूछते थे कि इस ग्राम में कोई जुलाहा और लोहार है या नहीं। जब यह उत्तर मिलता कि हां हैं, तब निराश हो कर आगे बढ़ते थे, ऐसे प्रश्न से कोई २ मसखरी भी करने लगता था तब वे कहते थे "हाय! जगत् के लोगों को हमारी उन्नति की ईर्षा होती है! हमको कोई सीधा मार्ग नहीं बताता! हम को पास के जंगल को पार करके दूसरे देश में जाना चाहिये!" ऐसा विचार कर जो कुछ उन के पास था, उसका खाने का सामान ले कर वे दोनों जंगल में घुसे। यह जंगल सौ डेढ़ सौ कोस बड़ा था, चलते २ उनको शाम हो गई। वन में गाढ़ा अन्धकार छा गया, आगे का मार्ग सूझना बन्द हो गया। दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गये और रात्रि में वहीं सो गये। दोनों नींद में पड़े थे, अचानक चौंक पड़े। जागते ही उन को स्त्रियों के मधुर गाने की आवाज सुनाई दी। उस आवाज को सुन कर दोनों मुग्ध हो गये और अन्धेरे में ही जिस दिशा से आवाज आरही थी उस दिशा को चल दिये। थोड़ी दूर जाने से कुछ प्रकाश मालूम हुआ और कितने ही स्त्री पुरुष एक दूसरे के हाथ में हाथ देकर नाचते और गाते हुये दिखाई दिये। गाने का भावार्थ क्या है, यह उनकी समझ में न आया, किन्तु गाना प्रिय मालूम हुआ।

वे स्त्री पुरुष एक दूसरे को पकड़ कर चक्र में घूम रहे थे। उनके मध्य में एक वृद्ध पुरुष था। उसने दोनों मित्रों को देख कर इशारे से समझा दिया कि तुम भी चक्र में मिल कर नाचने लगो। दोनों उस चक्र में घुस गये और सब के साथ नाचने लगे। थोड़ी देर बाद वृद्ध पुरुष चक्र में से बाहर निकल आया और उस्त्रे को पत्थर पर घिस कर तेज करने लगा। जब उस्त्रा तेज हो गया तब उसने जुलाहे को चक्र में से बाहर निकाला। जुलाहा बहुत घबराया परन्तु कर क्या सकता था। बुड्ढे ने डाढ़ी मूंछें और शिर को उस्त्रे से मूंड डाला। फिर उसने लोहार को चक्र में से खींच कर उसका भी मुंडन किया। इसी समय नाचना गाना बंद हो गया, सब नाचने गाने वाले अदृश्य हो गये। बुड्ढे ने जुलाहे और लोहार को सामने एक कोयलों का ढेर दिखला कर कहा "इनमें से जितने ले सको उतने तुम ले जाओ!" इतना कह कर बुड्ढा भी अदृश्य हो गया! जुलाहे और लोहार ने, जितने कोयले उठा सके उतने उठा कर, उनकी गठरियां बांधलीं। जुलाहे ने, विशेष बोझा बांधना अच्छा न समझ कर थोड़े कोयले बांधे थे। थोड़ी देर में सुबह हो गई। प्रकाश में क्या देखते हैं कि जिनको उन्होंने कोयला समझा था, वे सुवर्ण के ढेले थे, जुलाहा अपने पास थोड़ा और लोहार के पास विशेष सुवर्ण देख कर पश्चात्ताप करने लगा। वृद्ध ने उनके शिर डाढ़ी मूंछ मूंड लिये थे परन्तु दोनों के शिर, डाढ़ी और मूंछ के बाल जैसे के तैसे ही थे और पूर्व से भी अधिक शोभा दे रहे थे। यह देख कर दोनों को बड़ा आश्चर्य हुआ! जुलाहे ने लोहार से कहा "तेरे पास सुवर्ण बहुत है! मैं आज की रात्रि भी इस जंगल में रहना चाहता हूं, आज मैं बहुत सा सुवर्ण लूंगा!" लोहार ने कहा "अब विशेष आशा को छोड़ दे, जो कुछ हम को मिला है, वह हमारे लिये बहुत है, हम दोनों सब सुवर्ण को मिला कर बांट लेंगे!" जुलाहे ने कहा "नहीं! मैं तुझ से लेना नहीं चाहता, आजकी एक रात्रि इस जंगल में रहना इतना ही तो काम है!" रात्रि हुई और पूर्व के समान संगीत ध्वनि सुनाई दी! लोहार ने कहा "मित्र! तुझे जाना हो तो तू जा, मुझ को तो जो मिला है, उसी में संतोष है!" जुलाहे ने लोहार का कहना न माना और लोहार को छोड़ वह अकेला ही नाच करने वालों की तरफ गया और वृद्ध पुरुष के इशारे की राह न देख कर तुरंत ही नाचने वालों के भीतर घुस गया। थोड़ी देर में वृद्ध पुरुष बाहर निकला और पूर्व के समान उस्त्रा तेज करने को घिसने लगा। पश्चात् उसने जुलाहे को चक्र में से खींच कर मूंड डाला। नाच बंद हुआ, सब अदृश्य हो गये। वृद्ध के बिना कहे हुये ही जुलाहे ने कोयलों के ढेर के पास जाकर मुश्किल से उठ सके इतनी भारी कोयलों की गठरी बांध ली। गठरी शिर पर

रख कर वह लोहार के पास आया। लोहार सो रहा था। सुबह होने पर जुलाहे ने कोयलों की गठरी खोली और देखा तो उसमें कोयले ही थे! पूर्व दिन की गठरी में देखा तो उसमें भी कोयले ही थे। यह देख कर जुलाहा रोने लगा! लोहार जागा तो क्या देखता है कि जुलाहे का शिर, डाढ़ी और मूंछ मुंडे हुये हैं! जुलाहे ने सब वृत्तान्त सुनाया, लोहार ने कहा "हाय मित्र! अति आशा से-लोभ से तेरा नाश हुआ है!" जुलाहा पागल हो गया। लोहार ने उसे ठिकाने पर लाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु उसकी बुद्धि ठिकाने न आई। वह आज भी आशा के अरण्य में पागल हो कर घूम रहा है! जिसको निश्चय न हो वह वहां जाकर देख सकता है।

ऊपर के दृष्टान्त से मालूम होता है कि जुलाहे के समान आशा करने वाले की बुरी दशा होती है और लोहार के समान संतोषी सुख में रहता है। आशा राक्षसी का जिसे संग होता है, वह अत्यन्त कष्ट पाता है। जो आशा को स्वर्ग की सुन्दरी समझ कर उस पर मोहित होता है वह स्वरूप से पागल अज्ञानी हो जाता है। इस दृष्टांत को आध्यात्मिक में इस प्रकार समझ सकते हैं:—जिस प्रकार जुलाहे और लोहार की मित्रता थी इसी प्रकार जीव और कूटस्थ में भी मित्रता है। जीव जुलाहा है और कूटस्थ लोहार है। दोनों ही आशारूप जंगल में गये। वहां स्वप्न दृश्य के समान स्वप्न में जाग्रत होकर अपनी अवस्था को भूल गये। नींद में स्वप्न आता है। ऐसे ही आत्म नींद में यह प्रपंचरूप जगत् है। जो जगत् है, वह ही आशा अरण्य का नांच और संगीत है। उसमें रहा हुआ वृद्ध पुरुष वेद—ब्रह्म है। बहुत प्राचीन होने से वृद्ध है। जुलाहा जीव इसलिये है कि वह मेरा तेरा रूप ताने बाने से संसार रूप पट को बुनता है, असंतोषी और आशा वाला है। बूढ़े का बालों को मूंडना कर्म और उपासना है। कोयला रूप सुवर्ण देना, यह उन का फल है, कूटस्थ रूप लोहार संतोषी है इस लिये निर्विकार रहता है, जुलाहा अपनी चतुराई लगाने गया उसने विशेष कोयलों की गठरी बांधी, इस बुद्धि ने उसे फसाया, जीव रूप जुलाहे ने दूसरे दिन की इच्छा की, कूटस्थ रूप लोहार ने आशा न की। जुलाहा विशेष मिलने की इच्छा से दूसरे दिन गया। वेद रूप बुड्ढे की आज्ञा लिये बिना जगत् का नांच नांचा और बिना आज्ञा ही कोयलों की गठरी बांधी। वेद की आज्ञा रहित कर्म और उपासना ने कोयले दिये, सुवर्ण न दिया, इस प्रकार आशा से जुलाहे रूप जीव का नाश होता है, आशा रूप अरण्य में ही यह जगत् है। जुलाहा रूप जीव पागल—भ्रष्ट बुद्धि होकर जगत् में भटकता है, दुःख पाता है, यह प्रत्यक्ष देख लो! कूटस्थ में संसार होते हुये भी कूटस्थ संसारी नहीं है, संतोषी होने से हमेशा एकसा बना रहता है।

'अभी तो बहुत समय है, क्या अभी मरण आया ही जाता है, ईश्वर को भजना है, सो भज लेंगे, अभी कुछ समय चला नहीं गया, अभी तो कच्ची अवस्था है, संसार का सुख भी तो भोगलें, मरने के समय ईश्वर को भज लेंगे!" ऐसा विश्वास करने वाले ईश्वर को विसार संसार को ही भजते हैं, संसार विष रूप है परन्तु उन को मिष्ट दीखता है इस लिये उस के स्वाद में लग जाते हैं, अंत में उन से कुछ नहीं हो सक्ता इस लिये पछताना पड़ता है। काल ने किस को नहीं खाया? बड़े २ ज्ञानी, वीर और ईश्वरावतारादिक भी काल के प्रभाव से मारे गये हैं, जगत् में काल के वश न हुआ हो, या होने वाला न हो, ऐसा कोई भी नहीं है। इस लिये विद्वान् अपने आत्मिक स्वार्थ को सिद्ध करलेना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं, काल ही ईश्वर है, काल सब का ही काल है, काल का काल न होने से ही काल ईश्वर है, जो ईश्वर को भजता है, वह हमेशा के लिये काल से बच जाता है, जब तक आत्मा को नहीं जानते तब तक सब दुःखों की जड़ अज्ञान और अज्ञानका कुटुम्ब राग द्वेष, मोह, ममत्व, काम, क्रोध, लोभ, आशा, तृष्णा, अशांत आदिक दोष हृदय में बने रहते हैं, आशा चली जाने से ईश्वर की पहिचान होती है, ईश्वर के पहिचानने से ईश्वर में रुचि होती है, ज्यों २ ईश्वर में रुचि बढ़ती

जाती है त्यों २ आशा कम होती जाती है, जब ईश्वर का सानिध्य—साक्षात्कार होता है तब आशा निर्मूल हो जाती है। जो आशा को मार डालता है उस को ईश्वर दूर नहीं रहता, अपने आद्य स्वरूप को जानकर उस में स्थिति करना यह ही मनुष्य जन्म का सार्थक है।

गणेशाष्टकम् ।

भुजंगप्रयात वृत्तम् ।

यतोऽनंतशक्तेरनंताश्च जीवा
यतो निर्गुणादप्रमेया गुणास्ते ।
यतो भांति सर्व त्रिधाभेद भिन्नं
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥१॥

अर्थः—जिनकी अनन्त शक्ति से अनन्त जीव हैं, जिस निर्गुण से अनेक गुण हुये हैं, और जिससे सब भासित होता है, तीन प्रकार के भेद से रहित उस गणेश—गणों के ईश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतश्चाविरासीज्जगत्सर्वमेत-
त्तथाब्जासनो विश्वगो विश्व गोप्ता ।
तथेंद्रादयो देव संघा मनुष्याः
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥२॥

अर्थः—जिससे यह सब जगत् तथा कमलासन (ब्रह्मा), विश्व के नेत्र सूर्य चन्द्रमा आदि) विश्व के रक्षा के करने वाले (विष्णु) आदिक तथा इन्द्रादिक देवताओं का समूह और मनुष्य प्रकट हुये हैं, उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतो वह्नि भानू भवो भूर्जलं च
यतः सागराश्चन्द्रमा व्योम वायुः ।
यतः स्थावरा जंगमा वृक्ष संघाः
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥३॥

अर्थः—जिस से अग्नि, सूर्य, पृथिवी, जल हुये हैं, जिससे समुद्र, चन्द्रमा, आकाश, वायु हुये हैं और जिससे स्थावर, जंगम और वृक्ष समूह हुये हैं उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतो दानवाः किन्नरा यक्ष संघा
यतश्चारणा वारणाः श्वापदाश्च ।
यतः पक्षि कीटा यतो वीरुधश्च
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥४॥

अर्थः—जिससे दानव, किन्नर, यक्ष समूह हुये हैं, जिससे चारण, मनुष्य, हाथी और पशु हुये हैं, जिससे पक्षी कीट हुये हैं, जिससे लतायें हुई हैं उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतो बुद्धिरज्ञान नाशो मुमुक्षो-
र्यतःसंपदो भक्त संतोषिकाः स्युः ।
यतो विघ्न नाशो यतः कार्य सिद्धिः
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥५॥

अर्थः—जिस से मुमुक्षु की बुद्धि का अज्ञान नाश होता है, जिस से भक्त को संतोष देने वाली संपत्ति होती है, जिस से विघ्नों का नाश होता है, जिस से कार्य की सिद्धि होती है, उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतःपुत्र संपद्यतो वांछितार्थो
यतोऽभक्त विघ्ना स्तथाऽनेक रूपाः ।
यतःशोक मोहौ यतःकाम एव
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥६॥

अर्थः—जिस से पुत्र, संपत्ति और वांछित अर्थ प्राप्त होता है, जिस से अभक्त के अनेक प्रकार के

विघ्न होते हैं, जिस से शोक और मोह होता है, जिस से काम भी होता है उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतोऽनंत शक्तिः सशेषो बभूव
धराधारणेऽनेक रूपे च शक्तः।
यतोऽनेकधा स्वर्ग लोका हि नाना
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥७॥

अर्थः–जिस से शेष अनंत शक्ति वाला हो कर अनेक रूप से पृथिवी के धारण करने में समर्थ होता है, जिस से अनेक प्रकार से अनेक स्वर्ग लोक होते हैं उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

यतो वेद वाचेति कुंठा मनोभिः
सदा नेति नेतीति यत्ता गृणंति।
परब्रह्म रूपं चिदानन्द भूतं
सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥८॥

अर्थः–जिस में वेद, वाणी, मन कुंठित हो जाते हैं, जिस करके नेति नेति (यह नहीं यह नहीं) इस प्रकार कहते हैं, परब्रह्म रूप, चेतन और आनन्द स्वरूप उस गणेश को हम सदा नमस्कार करते हैं और भजते हैं।

इति गणेशाष्टकं संपूर्णम्।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

यदि कार्य रूप जगत के व्यक्त होने में कारण का अभाव मानेंगे तो पीछे प्रकृत जगत के अवलम्बन करने वाले सः ऐसे सर्व नाम से किस का ग्रहण करना चाहिये कि जिसका कार्य में प्रवेश है। और चेतन रूप आत्मा का प्रवेश ही श्रुति में कहा है क्योंकि श्रुति में कहा है कि जिसने प्रवेश किया है, वह ही चेतन रूप है जैसे कि 'पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो मनः,' (चक्षु को देखता है, श्रोत्र को सुनता है और मन को मनन करता है) जिस प्रकार नाम तथा रूप से विकार को प्राप्त हुआ जगत् इस समय कारण सहित विकार को प्राप्त हुआ है इसी प्रकार पूर्व सर्ग जान लेना। विपरीत कल्पना जो देखने में आती हैं, वे अयोग्य हैं। दूसरी श्रुति में भी कहा है कि 'अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६।३।२] (इस जीव रूप आत्मा द्वारा अनुप्रवेश करके मैं नाम और रूप को प्रकट करूं) इस प्रकार श्रुति जगत् के विकार को कारण युक्त दिखलाती है। 'व्याक्रियते' इसमें भी परमेश्वर ही व्याकर्ता रूप है तो भी सहज हो जाने की अपेक्षा से कर्म कर्ता के अर्थ में अलंकार समझना चाहिये जैसे कि 'लूयते केदारः स्वयमेव' (क्यारी आप ही कट जाती है) ऐसा कहलाता है अथवा यह समझना चाहिये कि कर्ता की अपेक्षा से कर्म के अर्थ में अलंकार का ग्रहण किया है जैसे कि यह कहा जाता है कि 'गम्यते ग्रामः' (ग्राम जाता है) ॥ १५ ॥

(५) जगद्वाचित्वाधिकरण।

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—जगद्वाचित्वात् [एतत्—इस–शब्द के] जगत् के वाचकपने से [उस श्रुति वाक्य में परमात्मा को जानने योग्य कहा है]

टीकाः—कौषीतकि ब्राह्मण में बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में ऐसा कहा है:—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः' [कौ० ब्रा० ४।१६] (हे बालाके! जो इन पुरुषों का कर्ता है अथवा जिस का यह कर्म है, वह वस्तुतः जानने योग्य है) इस श्रुति में यह संशय होता है कि यहां जानने योग्य किसको कहा है? जीव को जानने योग्य कहा है, अथवा मुख्य प्राण को अथवा परमात्मा को कहा है।

प्रतिपक्षीः—यहां प्राण का उपदेश है, ऐसा मालूम होता है क्योंकि 'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा जिस का यह कर्म है) यह श्रुति है। चलने का कर्म प्राण के सहारे होता है इसलिये यहां प्राण का कर्म समझा जाता है और 'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (पीछे यह प्राण में ही एकता को प्राप्त होता है) इस पिछले वाक्य में प्राण शब्द देखने में आता है, और प्राण शब्द मुख्य प्राण के अर्थ में प्रसिद्ध है और 'आदित्ये पुरुषश्चंद्रमसि पुरुषः' (आदित्य में पुरुष है, चन्द्र में पुरुष है) इस प्रकार पूर्व वाक्य में बालाकि ने जिस पुरुष का कथन किया है, उन का कर्ता भी प्राण है क्योंकि आदित्य आदि देवताओं ने भी प्राणावस्था मुख्य कही है। जैसे कि श्रुति में कहा हैः—'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म तदित्याचक्षते' [बृह० ३।९।९] (एक देव कौन है? प्राण है, वह ब्रह्म है, उसको वे ऐसा कहते हैं) इसलिये यहां जानने योग्य प्राण है।

अथवा यहां जानने योग्य जीव का उपदेश है। जीव का धर्माधर्म लक्षण कर्म है, जैसाकि इस श्रुति से जाना जाता हैः—'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा जिसका यह कर्म है) जीव भी भोक्ता होने से भोग के साधन रूप इन पुरुषों का कर्ता हो सकता है और पिछले वाक्य में जीव का लक्षण समझा जाता है क्योंकि जानने योग्य जो पुरुषों का कर्ता है, उसका ज्ञान प्राप्त करने को आये हुए बालाकि को बोध कराने की इच्छा वाला अजातशत्रु सोते हुए पुरुष को बुलाता है और उसने बुलाने का शब्द सुना नहीं, इसलिये ऐसा जान कर कि प्राण आदि भोक्ता नहीं हैं, लकड़ी मार कर उठाने से ऐसा जताता है कि प्राणादि से भिन्न जीव भोक्ता है। इसी प्रकार पिछले वाक्य में भी जीव के लक्षण इस प्रकार समझाये हैंः—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्त एवमेवैत आत्मान एतमात्मनं भुञ्जन्ति' [कौ०ब्रा० ४।२०] (जैसे सेठ अपने मनुष्यों द्वारा उपभोग करता है, अथवा वे मनुष्य उपभोग के लिये सेठ पर आधार रखते हैं इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा इन आत्माओं द्वारा उपभोग करता है और इसी प्रकार ये आत्मा उपभोग के लिये उस आत्मा पर आधार रखते हैं) जीव प्राण धारण करने वाला होने से जीव के लिये प्राण शब्द युक्त है। इसलिये जीव और प्राण इन दोनों में से यहां एक का ग्रहण करना युक्त है, परमेश्वर का ग्रहण करना युक्त नहीं है क्योंकि परमेश्वर के लक्षण ठीक २ नहीं मिलते।

सिद्धान्तीः—नहीं! ऐसा नहीं है, यहां परमेश्वर ही इन पुरुषों का कर्ता है क्योंकि उपक्रम से ऐसा ही सिद्ध होता है। यहां बालाकि ने अजातशत्रु के साथ 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (मैं तुझ से ब्रह्म कहूं) ऐसा संवाद करना शुरू किया और उसने आदित्य आदि में रहने वाले कई पुरुषों को कहा जो अप्रधान ब्रह्म दृष्टि वाले हैं और पीछे चुप हो गया। 'मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' (तू ने मुझ से झूठ ही कहा कि मैं तुझ से ब्रह्म कहूं) इस श्रुति में अप्रधान ब्रह्मवादी के समान अजातशत्रु ने उसका निषेध करके ऐसा कहा कि उनका कर्ता दूसरा ही जानने योग्य है। यदि वह भी अप्रधान ब्रह्म दृष्टि वाला होवे तो उपक्रम का बाध हो जाय। इसलिये उसको परमेश्वर ग्रहण करना ठीक है, और परमेश्वर के सिवाय अन्य कोई उन पुरुषों का स्वतन्त्र कर्ता हो नहीं सका। 'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा जिसका यह कर्म है) यह चलन रूप लक्षण अथवा धर्माधर्म रूप लक्षण वाले कर्म का निरूपण नहीं है क्योंकि इन दोनों प्रकार के कर्मों में से किसी एक प्रकार के कर्म का भी यहां सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार यहां पुरुषों का भी निरूपण नहीं है, यहां तो ऐसा कथन किया है कि यह पुरुषों का कर्ता है। लिंग और वचन का भी विरोध है। एतत् नपुंसक लिंग एक वचन में है और पुरुषाः पुल्लिंग बहु वचन में है इस लिये पुरुषाः के लिये एतत् नहीं लगाया जा सका। इसी प्रकार पुरुष सम्बन्धी किसी क्रिया का अथवा क्रिया के फल का निरूपण नहीं किया है। कर्ता के शब्द से क्रिया और फल दोनों का ग्रहण होता है। अन्त में प्रत्यक्ष तथा समीप वर्ती जगत् का ही सर्व नाम चलन द्वारा निरूपण है। जो करने में आया

है वह जगत् रूप कर्म है यद्यपि यह सत्य है कि जगत भी प्रकृत नहीं है और पूर्व में उसका कहीं वर्णन नहीं किया है तो भी विशेष वस्तु का ग्रहण न होने से और साधारण समीपता के कारण ऐसा समझा जाता है कि समीपवर्ती वस्तु मात्र का यह कथन है, किसी विशेष वस्तु का कथन नहीं है क्योंकि विशेष की समीपता नहीं है, पूर्व वाक्य में जगत् के एक देश भूत पुरुषों का विशेषण ग्रहण किया है इस लिये ऐसा समझा जाता है कि यहां सामान्द जगत् का ही ग्रहण है। मतलब यह है कि जगत् के एक देश भूत इन पुरुषों का ही कर्ता नहीं है किन्तु सामान्य रीति से यह सम्पूर्ण जगत् उसका कर्म है। वा शब्द मूल श्रुति में इस लिये लगाया गया है कि कर्ता एक देश में ही व्याप्त हो, ऐसा नहीं है किन्तु सब में व्याप्त है। बालाकि ने जिनको ब्रह्म रूप मान कर पुरुष कहा है, वे ब्रह्म नहीं हैं, ऐसा कहने के लिये विशेष का ग्रहण किया है। इस प्रकार ब्राह्मण परिव्राजकन्याय-सामान्य विशेष न्याय से जगत् के कर्ता को जानने योग्य बताया है और सर्व वेदान्त वाक्यों में परमेश्वर को सब जगत् का कर्ता रूप निश्चय किया है ॥ १६ ॥

जीवमुख्य प्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—जीवमुख्य-प्राणलिंगात् [पिछले वाक्य में] जीव के और मुख्य प्राण के लिंग से न [उस परमात्मा को जानने योग्य कहा] नहीं इति ऐसा चेत् [जो कहो] तो तद्व्याख्यातम् [ऐसा कहना चाहिये कि] उसका व्याख्यान हो गया है।

टीकाः—प्रतिपक्षीः—पिछले वाक्य में कहे हुये जीव के लिंग और मुख्य प्राण के लिंग से इन दोनों में से एक का ग्रहण करना ठीक है परमेश्वर का ग्रहण करना ठीक नहीं है, ऐसा जो हम ने कहा है इसका भी तो परिहार करना चाहिये।

सिद्धान्तीः—'नोपासात्रै विध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' [ब्र० सू० १।१।३१] (नहीं, क्योंकि उपासना तीन प्रकार की [ब्रह्म] आश्रित है इसलिये और उनका योग है इस लिये) इस सूत्र में उपरोक्त का परिहार किया है क्योंकि ऐसा होने से यहां जीव की उपासना, मुख्य प्राण की उपासना और ब्रह्म की उपासना, इस प्रकार तीन प्रकार की उपासनाओं का प्रसंग आवेगा और यह ठीक नहीं है क्यों कि उपक्रम और उपसंहार से ऐसा समझा जाता है कि यह वाक्य ब्रह्म सम्बन्धी है। उन में उपक्रम ब्रह्म सम्बन्धी है, ऐसा दिखलाया है और उपक्रम में भी निरातिशय फल दिखलाने वाली यह श्रुति हैः—"सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' (जो इस प्रकार जानता है वह सब पापों को नाश कर के सब भूतों में श्रेष्ठत्व स्वाराज्य और आधिपत्य को प्राप्त करता है) इस से ऐसा समझा जाता है कि वह ब्रह्म के सम्बन्ध में है।

प्रतिपक्षीः—यदि ऐसा हो तो प्रतर्दन के वाक्य के निर्णय से ही इस सूत्र का भी निर्णय हो जाय परंतु निर्णय नहीं होता! 'यस्यवैतत्कर्म' (अथवा यह जिसका कर्म है) इसमें ऐसा निश्चय नहीं होता कि यह ब्रह्म के संबंध में ही है इसलिये यहां पर जीव तथा मुख्य प्राण की शंका फिर उत्पन्न होती है, इसका निराकरण करना चाहिये।

सिद्धांतीः—प्राण शब्द ब्रह्म वाचक है क्योंकि श्रुति में कहा हैः—'प्राणबन्धनंहि सोम्य मनः'[छान्दो० ६।८।२] (हे सोम्य ! जीव प्राण पर आधार रखता है) उपक्रम और उपसंहार दोनों ब्रह्म को लागू पड़ते हैं इस लिये जीव और परमेश्वर का अभेद होने से परमात्मा की ही योजना करनी चाहिये ॥१७॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्या नाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् प्रश्न और उत्तर से अन्यार्थं [जीव का ग्रहण]

अन्य (ब्रह्म के लिये [है] तु ऐसा जैमिनिः जैमिनि [मानता है] च और एके एक (वाजसनेयि शाखा वाला) अपि भी एवम् ऐसा [मानता है]।

टीकाः—यहां ऐसा विवाद करना ठीक नहीं है कि यह वाक्य जीव संबन्धी है अथवा ब्रह्म सम्बंधी हैं क्योंकि इस वाक्य में जैमिनि आचार्य जीव के कथन को ब्रह्म की प्रतीति के लिये मानता है क्योंकि प्रश्न और उत्तर से ऐसा ही सिद्ध होता है, सोये हुये पुरुष को उठा कर जीव को प्राणादि से भिन्न बोध कराने के बाद जीव से अन्य को लागू पड़ता हुआ दूसरा प्रश्न देखने में आता हैः—'क्वैष बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूद् कुत एतदागात्' [कौ० ब्रा० ४। १८] (हे बालाके यह पुरुष कहां सोता था ? कहां यह था और कहां से यह आया ?) उत्तर भी इसी प्रकार हैः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (जब सोता है तब कोई स्वप्न नहीं देखता, यह प्राण में ही एक होता है) और 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' [कौ० ब्रा० ४। १९] (इस आत्मा में से प्राण अपने २ स्थान पर जाता है, प्राण में से देव और देवों में से लोक) सुषुप्ति काल में जीव परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होता है, परब्रह्म में से प्राणादि जगत् उत्पन्न होता है, यह वेदान्त की मर्यादा है। सुषुप्ति अवस्था जीव संज्ञा रहित जीव का स्वच्छ स्वरूप है। इस स्वरूप में उपाधि से होने वाला विशेष ज्ञान नहीं होता। इस अवस्था के नाश होने बाद जाग्रतावस्था है इस लिये ऐसा समझा जाता है कि यहां ज्ञान के विषय रूप परमात्मा का ही उपदेश किया है। वाजसनेयि शाखा वाले, बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में विज्ञानमय शब्द से जीव को मानते हैं और ऐसा कहते हैं कि जीव से अन्य परमात्मा है जैसे कि 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात्' [बृह० २।१।१६] (जो वह विज्ञानमय पुरुष है, वह तब कहां था और कहां से आया) यह प्रश्न है, इस के उत्तर में कहा हैः—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (हृदय में जो आकाश है; उसके भीतर सोता है) आकाश शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि श्रुति में कहा हैः—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' [छान्दो० ८। १। १] (इस हृदय के भीतर अल्प आकाश है ; और कहा हैः—'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' (ये सब आत्मा में से निकलते हैं) इस प्रकार उपाधि वाले आत्माओं का अन्य वस्तु में से निकलना होता है। इस से ऐसा सिद्ध होता है कि परमात्मा को ही कारण रूप मानते हैं, प्राण के निराकरण करने का यह कारण है कि सोते हुये पुरुष को उठा कर यह उपदेश है कि प्राण से भिन्न जीव है ॥१८॥

(६) वाक्यान्वयाधिकरण।

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—वाक्यान्वयात् वाक्य के अन्वय से [श्रवणादि करने योग्य परमात्मा है]।

टीकाः—बृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण में यह उपक्रम किया हैः—' न वा अरे पत्युः कामाय' (अरे ! पति की इच्छा के लिये नहीं) । फिर ऐसा कहा हैः— 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' [बृह० ४। ५। ६] (अरे ! सब वस्तुओं की इच्छा के लिये सब वस्तुयें प्रिय नहीं होतीं, आत्मा की इच्छा के लिये सब प्रिय होती हैं। अरे ! आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है, अरे मैत्रेयि ! आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब विदित होता है) इस में यह संशय होता है कि द्रष्टव्य, श्रोतव्य इत्यादि रूप से विज्ञान का उपदेश है अथवा परमात्मा का उपदेश है, संशय होने का कारण यह है कि प्रिय शब्द से दिखलाये हुये भोक्ता आत्मा का निरूपण होने से ऐसा मालूम होता है कि विज्ञानात्मा का ही उपदेश है और आत्मा के विज्ञान से सब विज्ञान का उपदेश होने से ऐसा जान पड़ता है कि परमात्मा का उपदेश है।

अपूर्ण।

सुबालोपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

प्रजापति ने कहा "बालक के समान रहे, बालक का स्वभाव असंग और निर्दोष होता है, मौन से, पंडिताई से, अवधि रहित होकर वेद में कहे हुये कैवल्य को प्राप्त होता है, महान् पद को जान कर, वृक्ष के मूल में, कुचेल (मैले कुचेले वस्त्र धारण किये हुये) असहाय, अकेला, समाधि में स्थित, आत्मकाम, आप्तकाम, निष्काम, जीर्णकाम होकर वास करे, हाथी, सिंह, डांस, मच्छर, नौले, सर्प, राक्षस, गंधर्व को मृत्यु रूप जानकर किसी से न डरे, वृक्ष के समान रहे, छेदन किया हुआ भी कोप न करे, न कांपे, पत्थर के समान रहे, छेदन किया हुआ भी कोप न करे, न कांपे, सत्य होकर रहे, यह आत्मा सत्य है, सब गंधों की पृथ्वी हृदय है, सब रसों का जल हृदय है, सब रूपों का तेज हृदय है, सब स्पर्शों का वायु हृदय है, सब शब्दों का आकाश हृदय है, सब गतियों का अव्यक्त हृदय है, सब सत्त्वों का मृत्यु हृदय है, मृत्यु परदेव के साथ एक रूप होता है, उस से पर न सत् है, न असत् है, न सत् असत् है, यह निर्वाण का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है ॥ इति तेरहवां खण्ड समाप्त ॥ १३ ॥

"ॐ पृथ्वी अन्न है, जल अन्नाद (अन्न को भक्षण करने वाला) है, जल अन्न है, ज्योति अन्नाद है, ज्योति अन्न है, वायु अन्नाद है, वायु अन्न है, आकाश अन्नाद है, आकाश अन्न है, इन्द्रियां अन्नाद हैं, इन्द्रियां अन्न हैं, मन अन्नाद है, मन अन्न है, बुद्धि अन्नाद है, बुद्धि अन्न है, अव्यक्त अन्नाद है, अव्यक्त अन्न है, अक्षर अन्नाद है, अक्षर अन्न है, मृत्यु अन्नाद है, मृत्यु परदेव के साथ एक रूप होता है, उस से पर न सत् है, न असत् है, न सत् असत् है, यह निर्वाण का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है ॥" इति चौदहवां खंड समाप्त ॥ १४ ॥

फिर रैक ने उस से पूछा "हे भगवन्! जो यह विज्ञानघन उत्क्रमण करता है, वह किस कर के कौन २ सी अवस्थाओं को जलाता है?" उसने कहा "जो यह विज्ञानघन उत्क्रमण करता है, प्राण को जलाता है अपान, व्यान, उदान, समान, वैरम्भ, मुख्य, अंतर्यामी, प्रभंजन, कुमार, श्येन, श्वेत, कृष्ण, नाग को जलाता है, पृथिवी जल, तेज, वायु और आकाश को जलाता है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय महत् लोक और पर लोक को जलाता है, लोकालोक को जलाता है, धर्माधर्म को जलाता है, पीछे अभास्कर, अमर्याद, निरालोक को जलाता है महान्त को जलाता है, अव्यक्त को जलाता है, अक्षर को जलाता है, मृत्यु को जलाता है, मृत्यु परदेव के साथ एक रूप होता है, इससे पर न सत् है, न असत् है, न सत् असत् है, यह निर्वाण का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है ॥" इति पन्द्रहवां खण्ड समाप्त ॥ १५ ॥

सौबाल बीज ब्रह्म उपनिषद् प्रसन्नात्मा से रहित को न देना चाहिये, अपुत्र को न देना चाहिये, अशिष्य को न देना चाहिये, एक वर्ष तक साथ रक्खे बिना न देना चाहिये, कुल शील की परीक्षा किये बिना न देना चाहिये, न कहना चाहिये । जिसकी देव में परा भक्ति हो, जैसी देव में हो, वैसी ही गुरु में हो, उसको ही महात्मा इसमें कहे हुये अर्थ को बताते हैं, यह निर्वाण का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है, यह वेद का उपदेश है, इति सोलहवां खंड समाप्त ॥ १६ ॥ इति सुबाल उपनिषद् समाप्ता ॥

कुण्डिकोपनिषद् ।

गुरु की सेवा में प्रीति वाला, जिसने वेदों को पढ़ लिया है और जिस को ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त करने की आज्ञा मिली है वह गुरु आश्रमी कहलाता है ॥ १ ॥ समान स्त्री को लाकर यथा शक्ति अग्नि को धारण कर के ब्रह्मयज्ञ करे और उस का दिन रात पूजन करे ॥ २ ॥ पुत्रों को धन बांट कर, ग्राम सम्बन्धी कामनाओं को त्याग कर वन मार्ग से विचरता हुआ पवित्र देश में भ्रमण करता हुआ ॥ ३ ॥ वायु को भक्षण करता हुआ, या जल का पान करता हुआ अथवा विहित कंद मूल से अपने शरीर का पोषण करे और ऐसे कष्ट से पृथिवी पर आंसू न गिराये ॥ ४ ॥ इतने से ही पुरुष को संन्यास कैसे कहा

जाय ? यह तो नाम मात्र ही है, उसे संन्यास कैसे कहा जाय ? ॥५॥ इस लिये फल की इच्छा से रहित संन्यास में युक्त होकर, अग्नि और वर्ण को छोड़कर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करता है ॥६॥ लोगों के समान स्त्री में आसक्त, संयम से वन में जाकर संसार सुख को छोड़कर वृथा ही क्यों अनुष्ठान करता है॥७॥ अथवा गर्भ वास के भय से और शीत उष्ण से डरा हुआ दुःखों का स्मरण करके उत्तम भोगों को क्यों छोड़ता है ॥८॥ मैं गुह्य, परम उपद्रव रहित पद में प्रवेश करने की इच्छा करता हूं इसलिये अग्नि को छोड़कर मृत्युंजय परब्रह्म को भजता हूं। अब अध्यात्म मन्त्रों को जपे। भगवां वस्त्र धारण कर के दीक्षा लेवे, कांख और उपस्थ के बालों को त्याग करे। ऊंची भुजा वाला मोक्ष मार्ग को प्राप्त होता है। घर रहित, भिक्षा का भोजन करने वाला होकर विचरे। जंतुओं की रक्षा के निमित्त पवित्रता धारण करे। इसके विषय में यह कहा है। कमंडलु, चमस, छींका, त्रिविष्टप, जूती, शीत निवारण करने वाली गुदड़ी तथा कौपीन का पहिनना ॥९॥ पवित्र स्नान करने को धोती और अंगोछा। इनके सिवाय जो कुछ भी हो, उस को यती त्याग देवे ॥१०॥ नदी किनारे शयन करने वाला होवे अथवा देवालय के बाहर रहे। सुख दुःख से शरीर को अत्यन्त न तपावे ॥११॥ स्नान, पान, तथा शौच से पवित्र रहने का आचरण करे। स्तुति किया हुआ संतुष्ट न होवे और निन्दा किया हुआ दूसरों को शाप न देवे ॥१२॥ भिक्षादि का खप्पर, स्नान का जल यथा प्राप्त ग्रहण करे। इस प्रकार की वृत्ति धारण करके यती जप करे ॥१३॥ विद्वान् समाधि के लिये मंत्र के संयोग को मन से भावना करे। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी। इन भूतों में व्यापक को मैं प्राप्त हुआ हूं। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय, को प्राप्त हुआ हूं। मुझ अखंड सुख के समुद्र में बहुत प्रकार की विश्व रूपी लहरें माया रूप वायु से दिखाई हुई उत्पन्न होती हैं और लय होती हैं ॥१४॥ जैसे आकाश का मेघ से संबंध नहीं है इसी प्रकार मेरा देह से संबंध नहीं है। इसलिये इस (देह) के धर्म जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति मुझ में कहां ॥१५॥

आकाश के समान मैं कल्पना से दूर हूं, आदित्य के समान भास्य पदार्थों से विलक्षण हूं। पर्वत के समान मैं नित्य निश्चल हूं। मैं समुद्र के समान पार से रहित हूं ॥१६॥ मैं नारायण हूं, मैं नरकान्तक हूं, मैं पुरान्तक हूं, मैं पुरुष हूं, ईश हूं, मैं अखंड बोध हूं, सब का साक्षी हूं, मैं ईश्वर रहित हूं, अहंकार और ममता से रहित हूं ॥१७॥ प्राण अपान के संयम करने के विषय में यह कहा है। वृषण और गुदा के बीच में दोनों हाथों को रख कर बैठे। दांतों से धीरे से जिह्वा को दबा कर जब मात्र बाहर निकाले ॥१८॥ दृष्टि को श्रोत्र और भूमि पर स्थापित करे। जिससे श्रवण और नासिका में गंध न पहुंचे ॥ १९ ॥ जो ब्रह्म में तत्पर है वह ब्रह्म ही है, वह ही शिवपद है, पूर्व जन्मों में प्राप्त किये पुण्य वाला उस को अभ्यास से प्राप्त करता है ॥२०॥ वायु के वहन का उत्पन्न होना हृदय का तप कहलाता है। देह का भेदन करके ऊपर, अव्यय मूर्धा को प्राप्त होता है ॥२१॥ अपने देह में मूर्धा की प्राप्ति परम गति है। जो उस को प्राप्त होते हैं वे पर अपर के जानने वाले फिर नहीं लौटते ॥२२॥ जैसे घर के धर्म दीपक को स्पर्श नहीं करते इसी प्रकार साक्ष्य के धर्म विलक्षण अविकारी और उदासीन साक्षी को स्पर्श नहीं करते ॥२३॥ यह जड़ शरीर चाहे जल में, चाहे स्थल में लुढ़के मैं उसके धर्मों से लिपायमान नहीं होता। जैसे घट के धर्मों से आकाश लिपायमान नहीं होता ॥२४॥ मैं क्रिया रहित हूं, विकार रहित हूं, कला रहित हूं, आकार रहित हूं, विकल्प रहित हूं, नित्य हूं, आधार रहित अद्वय हूं ॥ २५ ॥ सब का आत्मा हूं, सर्व हूं, सब से अतीत अद्वय हूं, केवल अखंड बोध रूप हूं, निरंतर स्वयं आनन्द रूप हूं ॥२६॥ अपने को ही सर्वज्ञ देखता हुआ, अपने को अद्वय मानता हुआ और अपने आनन्द को भोगता हुआ मैं निर्विकल्प हूं ॥२७॥ जाता हुआ, ठहरा हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ अथवा अन्य प्रकार से भी विद्वान् आत्माराम मुनि इच्छा पूर्वक सदा वास करे ॥२८॥ इति उपनिषद् ॥

इति कुण्डिकोपनिषद् समाप्ता।

Registered No. A 860

ॐ

वेदान्त केसरी ।

मासिक पत्र ।

पुस्तक ६ } मार्गशीर्ष सं० १९८० । दिसम्बर १९२३ { अंक २

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति कामूल्य।=)

दामोदर यन्त्रालय प्रतापपुरा आगरा के मैनेजर पं० प्यालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

प्रमा और अप्रमा ज्ञान।

(गताङ्क से आगे)

प्रत्यक्ष प्रमा को टोपी के दृष्टांत से समझाते हैं:– एक मनुष्य के सामने एक टोपी पड़ी हुई है। जब उसने टोपी को देखा तब उसने उसको जाना यानी उस मनुष्य को टोपी रूप जो पदार्थ पड़ा हुआ है, उसका ज्ञान हुआ, ऐसा कहा जाता है। गोल आकृति वाली सामने पड़ी हुई जो वस्तु है, वह टोपी है, वह वस्तु है। 'टोपी' यह दो वर्णों का बना हुआ शब्द उस वस्तु का नाम है। टोपी शिर पर पहिनी जाती है, ऊंची, नीची गोल अथवा लम्बी आकृति की है, रेशम की, ऊन की, मखमल की अथवा खादि आदि की है, यह जाति है। छोटे लड़के अथवा बड़े मनुष्य के पहिनने की है, इस प्रकार जानना टोपी का विशेष ज्ञान है। टोपी का जानने वाला टोपी का ज्ञाता कहा जाता है। टोपी के ज्ञाता की टोपी रूप वस्तु ज्ञेय है। वृत्ति द्वारा पदार्थ का जो बोध होता है, वह ज्ञान कहा जाता है। सब प्रकार का ज्ञान वृत्ति से होता है, वृत्ति रहित कोई भी ज्ञान नहीं होता। वृत्ति दो प्रकार की है:-अंतःकरण की और अविद्या की। अंतःकरण की वृत्ति से बाहर के पदार्थों का व्यवहारिक यथार्थ ज्ञान प्रमा ज्ञान है और बाहर के पदार्थों का भ्रांति ज्ञान अप्रमा ज्ञान कहा जाता है। जो व्यवहारिक दशा में अयथार्थ ज्ञान होता है, वह अविद्या की वृत्ति से होता है। आंतर प्रमा यानी यथार्थ ज्ञान भी अंतःकरण की वृत्ति से ही होता है। अंतःकरण सतोगुण का कार्य होने से निर्मल है इसलिये उसकी वृत्ति भी निर्मल है। वृत्ति को किरण के समान समझो। अंतःकरण की वृत्ति कहने से साभास अंतःकरण की वृत्ति समझनी चाहिये क्योंकि आभास रहित अंतःकरण का प्रकाशक परिणाम नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य किरण द्वारा प्रकाश को फैलाता है इसी प्रकार साभास अंतःकरण की वृत्ति बाहर के पदार्थों से मिल कर ज्ञान करती है। टोपी रूप वाली होने से नेत्र इन्द्रिय का विषय है। जब अंतःकरण की वृत्ति बाहर निकलती है तब किसी न किसी इन्द्रिय का आश्रय लेकर निकलती है। जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उसके जानने के निमित्त उस इन्द्रिय द्वारा अंतःकरण की वृत्ति बाहर निकलती है। टोपी के ज्ञान के लिये अंतःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर टोपी के देश में जाती है। जहां टोपी पड़ी है, वहां टोपी का देश है। टोपी में स्वाभाविक आवरण है। आवरण परदे को कहते हैं। वृत्ति के संबंध बिना टोपी का ज्ञान न होना ही आवरण है। उस आवरण के दूर हुये बिना टोपी देखने का विषय नहीं होती। जड़ पदार्थ स्वभाव से ही आवर्त हैं। स्वाभाविक आवरण के सिवाय जड़ पदार्थों में उन का प्रकाश न होना रूप एक और आवरण है। अंतःकरण की वृत्ति टोपी देश में जाकर टोपी को छूती है, टोपी का आवरण भंग होता है और टोपी देखने का विषय होती है। व्यष्टि अज्ञान अथवा अंतःकरण में पड़े हुये चैतन्य के आभास को चिदाभास कहते हैं। वृत्ति अंतःकरण की होने से वृत्ति के साथ भी चिदाभास है। वृत्ति चिदाभास युक्त ही होती है। जब अंतःकरण की वृत्ति टोपी को छूकर टोपी के आकार की बनती है और वृत्ति में रहा हुआ चिदाभास टोपी को प्रकाश करता है तब टोपी का बोध होता है। जैसे एक तालाब में जल भरा हुआ है। तालाब में छिद्र करके नाली द्वारा निकला हुआ जल खेत में भर जाता है। खेत की क्यारी की आकृति त्रिकोण, चौकोण अथवा गोल आदिक जिस प्रकार की होती है, जल उसमें भर कर उसी की आकृति का हो जाता है इसी प्रकार अंतःकरण रूप तालाब में से वृत्ति रूप जल नेत्र रूप छिद्र द्वारा, नेत्र से जितनी दूर पर टोपी पड़ी है वहां तक की दूरी रूप नाली द्वारा जाकर टोपी रूप खेत में भर कर उसी की आकृति का हो जाता है। ऐसा होने से अंतःकरण का वृत्ति द्वारा विषयाकार परिणाम होता है। जैसे जल खेत की मेंड़ को तोड़ कर भरा जाता है क्योंकि खेत की मेंड़ खेत में जल भरने में आवरण रूप है इसी प्रकार वृत्ति टोपी का आवरण भंग करती है। जैसे जल खेत की आकृति का स्वरूप धारण करके प्रकाश करता है इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्ति

टोपी की आकृति की होकर वृत्ति में रहे हुये चिदाभास से टोपी रूप पदार्थ का प्रकाश होता है, इस प्रकार टोपी का ज्ञान होता है। वृत्ति में रहे हुये चैतन्य को प्रमाण चैतन्य कहते हैं और टोपी आदि पदार्थों में रहे हुये चैतन्य को विषय चैतन्य कहते हैं, जब दोनों चैतन्यों का भेद नहीं रहता तब जो ज्ञान होता है, उसे प्रमा चैतन्य कहते हैं, उस का जो ज्ञाता है, उसे प्रमाता चैतन्य कहते हैं। इस प्रकार जो जिस इन्द्रिय का विषय होता है, उसी इन्द्रिय से उस का बोध होता है, टोपी व्यवहारिक पदार्थ है इस लिये उस का ज्ञान भी व्यवहारिक यथार्थ ज्ञान है, प्रमा दो प्रकार की है, एक ईश्वराश्रय प्रमा और दूसरी जीव आश्रय प्रमा, सृष्टि के आदि काल में प्रथम उत्पन्न होने वाली और जगत् को विषय करने वाली जो माया की वृत्ति है, उसे श्रुति में ईक्षणा नाम से कहा है, माया में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य ईश्वराश्रय प्रमा है। बाध के विषय से रहित और बाध से रहित ऐसा जो विषय है, उस विषय के आकार वाली वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीवाश्रय प्रमा कहते हैं। जीवाश्रय प्रमा व्यवहारिक और पारमार्थिक दो प्रकार की है, अधिकारी पुरुष को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य जन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रीति की प्रमा पारमार्थिक है और जिस से व्यवहारिक बोध होता है, वह जीवाश्रय व्यवहारिक प्रमा है, अभाव प्रमा को छोड़कर छः ओं प्रमाण जन्य प्रमा प्रत्यक्ष हैं, शाब्दि प्रमा परोक्ष अपरोक्ष दोनों स्वरूप वाली है, अभाव प्रमा में विवाद है परन्तु विचार से तो वह परोक्ष ही है।

अप्रमा वृत्ति यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है, स्मृति रूप अंतःकरण की वृत्ति को यथार्थ अप्रमा कहते हैं, स्मृति भी यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। यथार्थ स्मृति दो प्रकार की है, आत्मस्मृति और अनात्मस्मृति, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न अनुभव आत्मा की यथार्थ स्मृति है और व्यवहारिक पदार्थ की यथार्थ स्मृति अनात्मस्मृति है, अयथार्थ स्मृति भी दो प्रकार की है, आत्मगोचर और अनात्मगोचर। अहंकार में आत्म भ्रम रूप स्मृति अविद्या की वृत्ति है और दूसरी अनुभव रूप अविद्या की वृत्ति है, अनुभव रूप रज्जु में सर्पादिक की भ्रांति और स्वप्न है। संशय विपर्य आदि भी अयथार्थ प्रमा हैं।

अप्रमा का कोष्टक।

	आंतर				बाह्य		
	१		२		३	४	५
अप्रमा	स्मृति		स्वप्न		भ्रांति	संशय	विपर्यय
वृत्ति	अविद्या की	अंतःकरण की	अविद्या की	अंतःकरण की	अविद्या की		
प्रकाश	साक्षी	आभास	ब्रह्मचैतन्य	साक्षी चैतन्य	साक्षी		
ज्ञान	यथार्थ और अयथार्थ		अयथार्थ				

ऊपर जिस प्रमा ज्ञान का विवेचन कर आये हैं इस से जो विपरीत है उस सब का ही समावेश अप्रमा ज्ञान में होता है, स्मृति सच्ची झूंठी दोनों ही प्रकार की अप्रमा है, स्मृति का विषय प्रत्यक्ष नहीं होता, स्मृति में कोई तो अविद्या की वृत्ति और साक्षी का प्रकाश कहते हैं और कोई अंतःकरण की वृत्ति और आभास का प्रकाश कहते हैं, अंतःकरण की वृत्ति से स्मृति को यथार्थ और अविद्या की वृत्ति से अयथार्थ कहते हैं तो भी पूर्व आचार्यों के कथनानुसार स्मृति अप्रमा है, स्वप्न में ब्रह्म चैतन्य और अविद्या की वृत्ति है। कई अंतःकरण का परिणाम और साक्षी चैतन्य कहते हैं तो भी वह व्यवहारिक न होने से अयथार्थ ही है। स्वप्न को सच्चा कहने वाले झूंठे हैं, यद्यपि कोई [illegible] देता है तो

भी यदि स्वप्न की धन प्राप्ति से जाग्रत् में श्रीमान् हो जाय तब ही स्वप्न सच्चा हो सक्ता है किंतु ऐसा नहीं होता इस लिये स्वप्न मिथ्या होने से अप्रमा है, अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी में सर्प आदिक का दीखना, सीपी में रूपा आदिक दीखना, इत्यादि भ्रम हैं। भ्रम अविद्या की वृत्ति से साक्षी के प्रकाश में होता है इस लिये मिथ्या होने से अप्रमा है। ऐसे ही संशय और विपर्य भी साक्षी का प्रकाश और अविद्या की वृत्ति होने से मिथ्या है इस लिये अप्रमा है। जिस का व्यवहार में बाध हो जाय-व्यवहारिक दशा में जो मिथ्या हो, वह सब अप्रमा है, यद्यपि जब उसकी प्रतीति होती है तब वह मिथ्या नहीं दीखता, जिस दोष से उसकी प्रतीति होती थी, उस दोष के निवृत्त होने से ही वह मिथ्या मालूम होता है। सब प्रपंच भी पारमार्थिक में मिथ्या है परन्तु व्यवहार में मिथ्या न होने से उसे प्रमा कहते हैं।

एक ग्राम में एक लोहार रहता था। उसका एक बारह वर्ष का लड़का था। दोनों ही लोहार का काम करते थे। एक दिन एक शिकारी तीर का भाला बनवाने लोहार की दुकान पर आया। वह चतुराई से लक्ष के ऊपर बाण चला सक्ता था। लोहार के पास आ कर उसने कई फल तैयार करा लिये। शिकारी को बाण चलाते हुये देख कर लोहार के लड़के को भी लक्ष वेधने की विद्या सीखने का शौक हुआ। उसने शिकारी से कहा "महाशय! मैं आप का नोकर होकर रहूंगा, आप मुझे निशान ताकना सिखलाओ।" शिकारी ने यह बात स्वीकार कर ली। लड़का पिता की आज्ञा ले कर शिकारी के साथ हो लिया। शिकारी दूर के ग्राम का रहने वाला था। लोहार का लड़का वहां रह कर सब प्रकार से सेवा करता हुआ बाण विद्या-लक्ष भेद विद्या सीखने लगा। जब वह उस विद्या में निपुण हुआ तब उसको अपने घर और पिता की याद आई। उसने शिकारी से कहा "मैं आप की कृपा से आप से विद्या सीख चुका हूं, अब मेरी इच्छा अपने घर जाने की है। आप प्रसन्नता पूर्वक मुझे घर जाने की आज्ञा दीजिये।" शिकारी अच्छा मनुष्य था, लड़के ने अच्छी सेवा की थी, शिकारी उस पर प्रसन्न था, उसने कहा "लड़के! मैं तुझे परसों घर जाने की आज्ञा दूंगा, तू कई वर्ष बाद पिता के पास जा रहा है, इस लिये कल तेरे लिये अच्छे कपड़े बनवा दूं।" लड़के ने यह बात मान ली, घर जाने की उमंग में वह सो गया, रात्रि को उसे स्वप्न आया कि वह बाण विद्या में कुशल हो गया है, सब लोग उसकी प्रशंसा कर रहे हैं और उसकी विद्या से मोहित हुई एक स्वर्ग की सुन्दरी उसके साथ विवाह करना चाहती है। इतने में सुबह हो गई और उसकी आंख खुल गई। तीसरे दिन लड़का वहां से रवाना हुआ, उसका ग्राम दूर होने से मार्ग में ही अन्धेरा हो गया। एक विशाल बड़ का वृक्ष देख कर वह उसके ऊपर चढ़ कर बैठ गया।

थोड़ी देर बाद तीन चोर वहां आ कर बैठ गये। उन लोगों ने चकमक से आंच की, तमाखू पिया, एक ने अपने पास से तीन रोटियां निकालीं और तीनों ने एक २ रोटी खाने को ले ली। ज्यों ही उनमें से एक रोटी का टुकड़ा तोड़ कर खाने के लिये मुख में धरने लगा, त्यों ही टुकड़ा गुम हो गया! अंधेरा तो था ही, उसने समझा कि उसके पास वाले चोर ने उसकी रोटी का टुकड़ा छीन लिया है। उसने पास के चोर की गरदन पकड़ कर एक तमांचा लगाया, और कहा "क्यों दुष्ट! तूने मेरे हाथ में से रोटी का टुकड़ा क्यों छीन लिया?" वह चोर अवाक् हो गया और थोड़ी देर में बोला "भाई! मैं ने तेरे हाथ में से रोटी का टुकड़ा नहीं छीना!" ऐसा कह कर वह भी रोटी का टुकड़ा खाने के लिये मुख में रखने लगा, मुख में रखते ही रोटी का टुकड़ा गुम हो गया! ऐसे ही तीसरे का हुआ। वे पक्के चोर थे तो भी विचार में पड़ गये "अरे! यह क्या होता है? क्या कोई भूत रोटी का टुकड़ा छीन लेता है? लेने वाला दीखता नहीं, टुकड़ा तो उड़ ही जाता है! क्या हम में से तो किसी की कारिस्तानी नहीं है?" तीनों फिर से रोटी का टुकड़ा तोड़ कर मुख में रखने लगे,

फिर भी वैसा ही हुआ ! तीनों बड़े आश्चर्य में पड़े ! एक चोर की निगाह पेड़ पर गई। वहां उसने एक लड़के को बैठा हुआ देखा। चोर ने लड़के को बुलाया। लड़का नीचे उतर आया। चोर ने कहा "हमारी रोटी का टुकड़ा कहां चला जाता था ? तू तो नहीं ले जाता था ?" लड़के ने कहा "देखो ! तुम पेड़ के नीचे बैठे हो, भला ! मैं पेड़ के ऊपर बैठा हुआ तुम्हारे टुकड़ों को किस प्रकार ले सका हूं !" देखा तो सब टुकड़े नीचे गिरे हुये मिले। जब लड़के से टुकड़े चले जाने का कारण पूछा गया तो उसने कहा "मैं लक्ष बेधना जानता हूं, कुछ कंकर ले कर पेड़ पर चढ़ा था, ज्यों ही तुम टुकड़ा हाथ में ले कर मुख में डालते थे त्यों ही मैं एक कंकर डाल कर रोटी के टुकड़े को गिरा देता था !" तीनों को बड़ा आश्चर्य हुआ ! एक चोर बोला "हम तेरी बात कैसे मानें ? तेरे कथन पर हम को संशय होता है, यदि तेरा कथन सच्चा है तो तू हम से दश कदम दूर पर खड़ा रह और हमारे हाथ से रोटी के टुकड़े को गिरा दे !" लड़के ने दूर पर खड़े हो कर पूर्ववत् कंकर फेंककर रोटी के टुकड़े गिरा दिये। तीनों चोर लड़के से बहुत प्रसन्न हुये और उस की विद्या की प्रशंसा करने लगे। एक चोर कहने लगा "भाई ! तू पक्का लक्षवेधी है ! क्या तू हमारे साथ चलेगा ? हम एक सेठ की पुत्री पर मोहित हुये हैं, उसे उठा ले आना चाहते हैं, क्या तू हमारी मदद करेगा ? कन्या को तो हम ले जायेंगे और जो कुछ माल मिलेगा, वह सब तुझे दे देंगे। सेठ के शयनगृह के सामने शेर के समान एक पहाड़ी कुत्ता बैठा रहता है और रात्रि भर जागता रहता है इसलिये हम को मौका नहीं मिलता, यदि तू अपने तीर से उस कुत्ते को दूर से मारडाले तो हमारा कार्य सिद्ध हो जाय !" लड़का चोरों के साथ हो लिया। चोर आधी रात को सेठ के मकान के पास पहुंचे। लड़का बाण से कुत्ते को मार कर किवाड़ खोल कर भीतर घुस गया। वहां एक तलवार टंग रही थी। प्रकाश पूरा था। तलवार की एक तरफ दीवार पर लिखा हुआ था कि जो कोई तलवार के सामने आवेगा, वह जान को खोवेगा। बात यह थी कि तलवार विष युक्त थी, दृष्टि के सामने होते ही दृष्टि में विष प्रवेश कर जाता था। लड़के ने मुख मोड़ कर एक तरफ से तलवार उठाली और अपनी कमर में लटकाली। वहां एक अतुल रूप वाली बाला सो रही थी। उस को देख कर लड़के ने विचार किया "ऐसी सुन्दरी को निर्दय चोरों के हाथ में जाने देना अच्छा नहीं है, यह तो महान् पाप है !" ऐसा विचार कर वह एक साड़ी और लड़की के हाथ में से एक अंगूठी उतार कर बाहर निकल आया और चोरों से बोला "तुम एक २ करके भीतर चले आओ, सब सोये हुये शान्त हैं। चोर एक २ करके भीतर घुसने लगे। जो चोर भीतर घुसता था, लड़का उस का शिर तलवार से काट कर गिरा देता था। तीनों चोरों का शिर काटने के बाद तीनों की जिह्वा काट कर लड़का वहां से अपने ग्राम को चला गया। सुबह होते ही घर वालों को मालूम हुआ कि टंगी हुई तलवार नहीं है, शयनगृह में एक मूल्यवान् साड़ी और कन्या की अंगूठी नहीं है, कुत्ता मरा हुआ बाहर पड़ा है और घर में तीन लाशें पड़ी हुई हैं। सेठ विचारने लगा "रात्रि में कोई चोर अवश्य आये होंगे, घर में से कोई जाग गया होगा, उस ने तीनों चोरों का शिर काटा होगा !" घर के सब मनुष्यों को बुला कर पूछा गया कि चोरों को किस ने मारा है तो सब ने मना की। एक काना बुड्ढा मुनीम बोल उठा "सेठजी ! चोरों को मैंने मारा है ! भला ! मेरे सिवाय और किस की मारने की हिम्मत हो सकती है ?" सेठजी प्रसन्न होकर बोले "मुनीमजी ! पुत्री का तुम्हारे साथ ही विवाह करूंगा !"

सेठ का वचन सुन कर कन्या के हृदय में वज्र समान आघात हुआ क्योंकि मुनीम बुड्ढा, काना, कुरूप था और मात्र बारह पन्द्रह रुपये मासिक का कमाऊ था। कन्या ने कहा "पिताजी ! मैं मुनीम के साथ कभी भी विवाह न करूंगी !" ऐसा वचन सुन कर सेठ क्रोधित होकर बोला "यदि तुझे अपनी इच्छानुसार विवाह करना हो तो निकल मेरे घर से !"

लड़की बहुत रोई परन्तु निर्दय पिता ने उसे घर से निकाल दिया! बड़े घर की लड़की! कहां जाय? वह ग्राम से बाहर जाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर रोने लगी। इतने में लोहार का लड़का जो कहीं जा रहा था, वहां होकर निकला, सेठ की लड़की को पहिचान कर उस के पास आया और कहन लगा "बाई! तू सेठ की लड़की है? यहां क्यों बैठी है?" लड़की ने रात्रि की सब बात कह सुनाई। लड़के ने कहा "बाई! तीनों चोरों को मैंने मारा है, यदि तुझे मेरी बात में शंका हो तो देख! यह तेरी तलवार है, तेरी अंगूठी और साड़ी भी मेरे पास है। यदि मैं रात्रि में तुम सब को जगा कर यह बात कहता तो तेरा पिता मुझे अवश्य चोर समझ कर कोतवाली में भेज देता। तू ऐसा कर कि अपने घर पर जा और अपने पिता से कह कि जिसने चोरों को मारा है, उस के साथ शादी करने को मैं राजी हूं! यदि मुनीम ने चोरों को मारा है तो उस से पूछना चाहिये कि चोरों की जिह्वा कहां है? मुनीम जिह्वा कहां से लायगा। सब भेद खुल जायगा! अंत में तू मेरा पता बताइयो, मैं पास के ग्राम में रहता हूं और शिकारी लोहार के लड़के के नाम से प्रसिद्ध हूं!" लड़की पिता के पास पहुंची। लड़की के कहने से सेठ ने मुनीम से कहा "मुनीमजी! चोरों की जिह्वा कहां है?" मुनीम चुप हो गया और उसने सच्ची बात कहदी। लड़की ने शिकारी का पता दिया। लड़का बुलाया गया। सेठ लड़के की प्रशंसा करके बहुत इनाम देने लगा परन्तु लड़के ने कुछ न लिया और साड़ी, अगूंठी और चोरों की जिह्वा को देकर तलवार ले अपने ग्राम को चला गया। लड़की की किसी अच्छे बड़े सेठ के लड़के के साथ शादी की गई।

जब लोहार का लड़का शिकारी के पास विद्या सीखता था तब उसे घर की और पिता की जो याद आई, यह स्मृति थी और सच्चे संस्कार रूप स्मृति होने से यथार्थ स्मृति थी परन्तु स्मृति का विषय वहां प्रत्यक्ष न होने से वह अप्रमा ज्ञान था। लड़के को रात्रि में जो स्वप्न आया और उसने विवाह का दृश्य देखा, वह मिथ्या ही था क्योंकि स्वप्न का दृश्य जाग्रत् में मिथ्या ही होता है परन्तु स्वप्न में जो उसे अनुभव हुआ था, वह स्मृति न थी, यह भी मिथ्या होने से अप्रमा ज्ञान था। रोटी का टुकड़ा हाथ में से गुम हुआ देख कर प्रथम चोर ने यह समझा था कि दूसरे चोरने ले लिया, यह भ्रांति थी क्योंकि वस्तुतः दूसरे चोर ने उसका टुकड़ा नहीं लिया था, यह भी अप्रमा ज्ञान था। जब लड़के ने ऐसा कहा कि मैंने रोटी का टुकड़ा कंकर मार कर गिराया है तब चोरों को शंका हुई। उन्होंने उस की परीक्षा के लिये फिर से रोटी का टुकड़ा गिरवा कर निश्चय किया, यह शंका का स्वरूप भी अप्रमा ज्ञान था। सेठ ने लुच्चे मुनीम के कहने से मुनीम को चोरों का मारने वाला समझा, यह विपरीत ज्ञान था, यह भी मिथ्या होने से अप्रमा ज्ञान था। इनके सिवाय भी असंभावना आदिक कई मिथ्या ज्ञान होते हैं, उन सब का समावेश अप्रमा ज्ञान में है।

अप्रमा ज्ञान—भ्रांति ज्ञान जिसे प्रातिभासिक कहते हैं, वह इस प्रकार होता है:—किसी स्थान पर रस्सी पड़ी हो, वहां मंद अंधकार आदिक दोष भी हों, उस समय अंतःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा निकलकर रज्जु की तरफ गई, रज्जु से वृत्ति का संबंध भी हुआ परन्तु तिमिरादिक दोष से रज्जु का आवरण भंग न हुआ, अंतःकरण की वृत्ति रज्जु के आकार की न हुई। आवरण का तोड़ना अंतःकरण की वृत्ति का प्रयोजन है, यह न होने से रज्जु चेतन-रज्जु में जो चेतनहै, उसके सहारे रही हुई अविद्या में क्षोभ हुआ वह अविद्या सर्पाकार परिणाम को प्राप्त हुई, अंतःकरण की वृत्ति का वह विषय न हुआ, अविद्या की वृत्ति होकर अविद्या का परिणाम हुआ, उसे देखने वाले का जो साक्षी चेतन है, उसके सहारे रही हुई अविद्या से सर्प का ज्ञान हुआ। मतलब यह है कि रज्जु आश्रित चेतन के आश्रय अविद्या के तमोगुण प्रधान अंश का परिणाम सर्प है और द्रष्टा—साक्षी आश्रित चेतन के आश्रय सतोगुण प्रधान अविद्या के अंश का कार्य सर्प का ज्ञान है। जो सर्प का निमित्त है, वह ही सर्प के ज्ञान का निमित्त है। सर्प

और सर्प का ज्ञान एक ही समय होता है। जहां २ भ्रम होता है, वहां २ इसी प्रकार होता है। अंतःकरण की वृत्ति विषयाकार परिणाम को प्राप्त नहीं होती इसलिये ही वह भ्रांति है। पदार्थ और पदार्थ का ज्ञान दोनों ही भ्रांति हैं। जिस दोष से भ्रांति होती है, व्यवहारिक दशा में जब उस दोष की निवृत्ति हो जाती है तब अंतःकरण की वृत्ति से पदार्थ और पदार्थ के ज्ञान का यथार्थ बोध होता है।

ऊपर आया हुआ अप्रमा का विवेचन आत्म बोध में त्याग के निमित्त उपयोगी होने से उसे भी समझने की आवश्यकता है। असम्भावना और विपरीत भावना, जो अप्रमा के अंतरभूत हैं, आत्म बोध में प्रतिबंध रूप हैं इसलिये अधिकारी पुरुष को श्रवणादि द्वारा उस प्रतिबंध को निवृत्त करना चाहिये। श्रवणादि, प्रतिबंध की निवृत्ति द्वारा ही आत्म ज्ञान के साधन रूप हैं, साक्षात् साधन नहीं हैं। स्मृति दो प्रकार की है, यथार्थ और अयथार्थ। ये दोनों ही आत्म बोध में अयथार्थ रूप हैं। 'मैं जीव हूं' यह स्मृति मिथ्या है। इसकी निवृत्ति के निमित्त 'अहंब्रह्मास्मि' का अभ्यास किया जाता है। जैसे व्यवहार में स्वप्न सर्वथा ही मिथ्या होता है इसी प्रकार यह जाग्रत् और व्यवहार आत्म बोध में एक महा स्वप्न के समान हैं। जिस प्रकार स्वप्न अनिर्वचनीय—मिथ्या है इसी प्रकार जब तक जगत् के मिथ्यात्व का भान नहीं हो तब तक आत्म बोध नहीं होता। जगत् का मिथ्यापना समझने के लिये स्वप्न से अच्छा और कोई दृष्टांत नहीं मिलता। स्वप्नावस्था निद्रा दोष से होती है इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में थोड़े प्रकाश अथवा चंचलता आदिक के दोष से भ्रान्ति होती है। दोष के कारण से कुछ का कुछ प्रतीत होना भ्रांति है। विचार कर के देखा जाय तो जगत् भी भ्रान्ति स्वरूप ही है। जिसमें भ्रांति होती है, वह भ्रांति का अधिष्ठान कहलाता है, भ्रांति से जो पदार्थ प्रतीत हो, वह पदार्थ अधिष्ठान में अध्यस्त कहा जाता है, और भ्रांति का बोध अध्यास कहलाता है। भ्रांति की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से होती है। परब्रह्म रूप तत्व में अविद्या दोष से भ्रांति होती है। जब परब्रह्म का यथार्थ बोध होता है तब जगत् भ्रांति निवृत्त हो जाती है इस लिये जगत रूप भ्रांति का निवृत्त करना परब्रह्म को जानने का विषय रूप है। भ्रांति के अन्तर भेद में ही संशय है, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्य अद्वितीय ब्रह्म में प्रमाण रूप हैं या नहीं, इस प्रकार वाक्य रूप प्रमाण में जो असंभावना है, वह प्रमाण-गत संशय है। इस संशय की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र के गुरु मुख से बारम्बार श्रवण करने से होती है। प्रमाण से जिस का बोध किया जाता है, वह प्रमेय कहा जाता है, वह प्रमेय है या नहीं, है तो कैसा है, गुण वाला है या गुण रहित है, अद्वितीय है या अद्वितीय नहीं है, इस प्रकार का जो संशय है, वह प्रमेय गत संशय है। इसके सम्बन्ध में अनेक शंकायें होती हैं, तत् पदार्थ रूप ब्रह्म में जिस प्रकार संशय है इसी प्रकार त्वं पदार्थ आत्मा में भी अनेक प्रकार के संशय होते हैं। आत्मा देहादिक से भिन्न है या अभिन्न, कर्ता है या अकर्ता, चेतन रूप है या जड़ है, चेतन रूप है तो आनन्द रूप है या नहीं, आनन्द रूप है तो परिणामी है या कूटस्थ, एक है या नाना, इत्यादि। ऐसे ही मोक्ष के साधन में भी संशय होते हैं:—जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान मोक्ष का साधन है या नहीं, ज्ञान कर्म सहित मोक्ष का साधन है या कर्म रहित, यह आत्म गत संशय है। इस संशय की निवृत्ति वेदान्त वाक्य का बारम्बार मनन करने से होती है यानी ऊहापोह सहित मनन से होती है। रात्रि दिन जगत् में व्यवहार हो रहा है, प्रत्येक कर रहा है, इस लिये यह ही सत्य प्रतीत होता है। असत्य होते हुये भी सत्य प्रतीत होता है, यह विपरीतता है। ऐसे ही देह आत्मा न होते हुये, देह ही आत्मा है, ऐसा जो दृढ़ भान हो रहा है, वह विपरीत है, जो आत्मा त्रिकालाबाधित सत्य है, वह प्रतीत नहीं होता और जो अविद्या रूप है, वास्तविक नहीं है, ऐसा माया का प्रपंच सत्य प्रतीत होता है, यह विपरीतता है। देह ही मैं हूं, अथवा देह से संयुक्त मैं हूं, ऐसा जो भान है वह देहाध्यास कहलाता है। इस प्रकार की विपरीतता की निवृत्ति वेदान्त वाक्य के निदिध्यासन से होती

है। आत्मा असंग और अविकारी होने पर भी अज्ञानियों को अज्ञान से विकारी और संग वाला प्रतीत होता है। इस भ्रांति की निवृत्ति दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान विना नहीं हो सकी इस लिये उसकी निवृत्ति करने के लिये अभेद वाक्यों के दृढ़ अभ्यास करने की आवश्यकता है। जो मनुष्य प्रमा और अप्रमा ज्ञान को जानता है, प्रमा ज्ञान के सहारे पारमार्थिक आत्म स्वरूप का बोध कर लेता है और अप्रमा ज्ञान को समझ कर सब प्रकार की प्रातिभासिक और व्यवहारिक प्रतीति के सत्यत्व का क्षय कर देता है और वास्तविक ब्रह्म तत्व को ही अपना स्वरूप निश्चय कर लेता है, वह सब कर्मों का त्याग कर के कर्म जनित जन्म मरण को छोड़ कर परम पद को प्राप्त होता है। जब वह वास्तविक बोध को प्राप्त होता है तब उसको केवल एक परमार्थ सत्ता ही यथार्थ सत्ता प्रतीत होती है। उसके लिये व्यवहारिक सत्ता भी प्रातिभासिक हो जाती है। प्रमा अप्रमा ज्ञान के विवेक का अद्वितीय आत्मा में पर्यवसान है।

अकालमृत्यु।

साधु सन्तों के पास ये प्रश्न वारंवार लाये जाते हैं कि अकालमृत्यु किस को कहते हैं। अकालमृत्यु है या नहीं, और अकालमृत्यु से विरुद्ध काल मृत्यु कैसा होता है। सब का मृत्यु निश्चित समय पर है, काल विना कोई मरता नहीं, फिर विना काल आये कोई किस प्रकार मर जाता है? जिस का काल आ पहुंचा है, उस के बचाने में कोई समर्थ नहीं है, जब ऐसा है तो अकाल मृत्यु कोई न हुआ, परंतु शास्त्र और लोगों के मुख से अकाल मृत्यु सुना जाता है। लोक में यह प्रसिद्ध भी है कि विष खाकर मरने वाले, सर्प के काटने से मरने वाले, नदी कूप में गिर कर मरने वाले का मृत्यु अकाल मृत्यु है और इस प्रकार मरने वालों की गति नहीं होती, इस प्रकार के मृत्यु को अकाल मृत्यु क्यों कहा जाय क्योंकि जब विना काल कोई मरता ही नहीं, सब काल से ही मरते हैं तब इस प्रकार मरने वालों का निमित्त विष, सर्प अथवा नदी तालाब आदिक ही क्यों नहीं, उन का मृत्यु उन के प्रारब्ध में इसी प्रकार लिखा हुआ क्यों न माना जाय?

इस प्रकार के प्रश्न करने वाले ऐसा मानते हैं कि हम बुद्धि में चतुर हैं परन्तु उन की शंका समझ रहित है, समझ रहित को ही शंका होती है, दो इधर उधर के वाक्य अयुक्त रीति से एक में जोड़ देने से शंका खड़ी हो जाती है। शंका करने वाले में शंका के अनुसार शंका का उत्तर—समाधान समझने की योग्यता भी होनी चाहिये। ऐसा न होगा तो उस का समाधान नहीं होगा। बहुत कर के ऐसी शंका करने वालों में उन शंकाओं के यथार्थ उत्तर समझने की शक्ति नहीं होती, ऐसे अबुद्ध लोगों के चित्त का समाधान किस प्रकार किया जाय? ब्रह्मा के समान सामर्थ्य वाला भी अति शठ का समाधान करने में असमर्थ है! हम अकाल मृत्यु समझाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु जो समझ सक्ता है उसी के लिये हमारा कथन है। अकाल मृत्यु का सामान्य शब्दार्थ यह है कि जिस किसी के मृत्यु का काल न आया हो और मृत्यु हो जाय यानी विना काल मृत्यु हो जाय उसे अकाल मृत्यु कहते हैं। शरीर का नाश होना मृत्यु है, जिन २ संयोगों के साथ स्थूल शरीर बना है, उन संयोगों का न रहना-संयोगों का समाप्त हो जाना, इस का नाम मृत्यु है। अथवा सब संयोगों को एकत्र ग्रथित करके रखने वाला, उन को एकत्र ग्रथित रखना छोड़ दे उसे मृत्यु कहते हैं। अथवा शरीर जो जो चेष्टा करता है, उन चेष्टाओं के करने से हमेशा के लिये रहित हो जाय, उसका नाम मृत्यु है। अपने को यथार्थ न जानने वाले शरीर के साथ अपने को एक करके शरीर के बदले अपना मृत्यु मानते हैं, मृत्यु आत्मा का—अपना नहीं होता, स्थूल शरीर का ही होता है। स्थूल शरीर के पदार्थों के संगठन का सम्बन्ध पूर्व में किये हुये कर्मों से है, पूर्व में जो कर्म किये गये हैं, चाहे वे एक जन्म में के हों चाहे बहुत जन्मों में से हों, जिन

कर्मों का विपाक हो चुका है—जो जो कर्म पक्व गये हैं, उन के भोग के निमित्त स्थूल शरीर बनता है, जिन कर्मों से स्थूल भोग के निमित्त स्थूल शरीर बना है, उन कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं, प्रारब्ध कर्म से ही स्थूल शरीर की स्थिति है, प्रारब्ध कर्म के भोग समाप्त होने पर स्थूल शरीर नहीं रहता, इस प्रकार प्रारब्ध कर्म से मृत्यु का सम्बन्ध है, प्रारब्ध की समाप्ति से मृत्यु हो, वह काल मृत्यु है, किसी संयोग वश कुछ शेष प्रारब्ध रहते हुये शरीर का पात हो जाय तो उसे अकाल मृत्यु कहते हैं क्योंकि प्रारब्ध की समाप्ति में काल हेतु है इस लिये प्रारब्ध समाप्त न होते हुये मरण हो जाना अकाल मृत्यु कहा जाता है। किस का प्रारब्ध कितना है, यह खबर नहीं है तब प्रारब्ध शेष रहते हुये मृत्यु हुआ अथवा समाप्त हो कर मृत्यु हुआ, यह जानने में नहीं आ सकता, हां! अनुमान हो सक्ता है और मूढ़ मनुष्यों को जानने का यह विषय भी नहीं है।

'किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म क्रोड़ों जन्म व्यतीत हो जांय तो भी उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। भोग हुये विना किये हुये कर्मों का कभी भी नाश नहीं होता' ऐसा शास्त्र का वचन है। जिन कर्मों के भोग का आरंभ हो जाता है, वह प्रारब्ध कर्म कहा जाता है, प्रारब्ध कर्म अमिट है, ज्ञानी पुरुष के शरीर से भी प्रारब्ध कर्म का भोग अवश्य होता है, प्रारब्ध कर्म अमिट होते हुये भी उस के भोग के काल के क्रम में अंतर पड़ सक्ता है, लोग प्रारब्ध कर्म जिस प्रकार का समझते हैं ऐसा प्रारब्ध कर्म निश्चित नहीं है, प्रारब्ध मिट नहीं सक्ता परन्तु भोग में कुछ आगे पीछे हो सक्ता है, प्रारब्ध तीन प्रकार का है:-निश्चित, मध्यम और मंद, निश्चित प्रारब्ध का देश काल निश्चित होता है, मध्यम और मंद का देश काल पूर्ण निश्चित नहीं होता, सभी कर्म चुप चाप भोग को नहीं देते किन्तु क्रिया आदिक की अपेक्षा रखते हैं, जैसे जब किसी को हजार रुपये मिलने वाले हों तो प्रारब्ध उस से वैसी ही क्रिया कराता है और उसी के अनुसार बुद्धि भी कर देता है इस लिये ऐसा समझा जाता है कि प्रारब्ध कर्म क्रिया आदिक की अपेक्षा सहित होते हैं, जो निश्चित प्रारब्ध है, वह अपने सामर्थ्य से ही क्रिया, ज्ञान आदिक को करा लेता है परन्तु मध्यम और मंद प्रारब्ध में जिन कर्मों आदिक की अपेक्षा है, उनको कराने का पूर्ण सामर्थ्य नहीं होता। मध्यम और मंद प्रारब्ध तीव्र प्रयत्न और संयोग के सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं इस लिये वे प्रारब्ध होते हुये भी किसी दृढ़ आड़के आजाने से कुछ समय के लिये रुक जाते हैं, इस प्रकार कुछ प्रारब्ध शेष रहते हुये भी मृत्यु हो सक्ता है। इस प्रकार के मृत्यु को अकाल मृत्यु कहा जाता है। यह प्रारब्ध मन्द था, यदि उसे मदद न मिलती तो वह बलिष्ठ होकर निश्चित प्रारब्ध न होता और अकाल मृत्यु न होता, ऐसा न होने से और विपरीत संयोग प्राप्त होने से अकाल मृत्यु हो सक्ता है, इसी प्रकार कोई संचित अथवा आगामी कर्म जिस का भोग आने वाले दूसरे शरीर में संभव हो, यदि किसी क्रिया से दृढ़ हो जाय, उस के भोग का देश कालादिक अनुकूल हो और उस को रोकने वाला कोई तीव्र कर्म न हो तो उसका भोग वर्तमान काल में भी होना संभव है परन्तु इस का निर्णय अनुमान पर ही है क्योंकि प्रारब्ध की पूर्ण खबर है नहीं जिस से पक्का निश्चय कर लिया जाय, यदि कोई योगेश्वर योग प्रभाव से निर्णय करले तो यह और बात है, कर्म गति अत्यंत गहन है, ऐसा वारंवार शास्त्रों में देखने में आता है, कर्म की गहराई में पहुंचना सहज बात नहीं है, यह बात अनुभव में भी आती है कि करते हैं कुछ और हो जाता है कुछ! शुभ का अशुभ हो जाता है, अशुभ का शुभ हो जाता है! एक कार्य को एक अच्छा समझता है, दूसरा उस को बुरा समझता है! अच्छा समझने वाले को भी फल होता है और बुरा समझने वाले को भी फल होता है! समझ के अनुसार फल होता है और समझ से विपरीत भी फल होता है! इस का कोई नियम नहीं है!

जमा रहे हुये कर्मों को संचित और आगे होने वाले कर्मों को आगामी कहते हैं, संचित, प्रारब्ध और

आगामी तीन प्रकार के कर्म हैं, काल भेद से उन के भेद हैं, संचित भूत काल के, विशेष करके वर्तमान शरीर से पूर्व के हैं, प्रारब्ध वर्तमान शरीर में भोग देने वाले कर्म हैं और वर्तमान शरीर छूट कर दूसरे शरीर में जिन का भोग होने वाला है, वे आगामी कर्म कहे जाते हैं, यह सामान्य नियम है, प्रयत्न और अनुकूल संयोगों में उन कर्मों में से कुछ कर्मों का काल भेद हो जाता है, शरीर की उत्पत्ति प्रारब्ध कर्म से है परन्तु प्रारब्ध पूर्ण निश्चित नहीं है, जैसे किसी ने मकान बनाने को कुछ रुपये का अन्दाज किया, अपनी इच्छा से तो वह इस अन्दाज से ही काम लेना चाहता है परन्तु जब मकान तैयार होता है तो अन्दाज से कुछ प्रमाण में न्यून अधिक भी हो जाता है, हाल के जमाने में जिस को एस्टीमेट कहते हैं, इसी प्रकार का प्रारब्ध है, प्रारब्ध में न्यूनाधिक अंश होने से अकाल मृत्यु हो सका है, केवल प्रारब्ध का ही मनुष्य से भोग होता हो, प्रारब्ध के सिवाय अन्य कुछ भी मनुष्य न कर सका हो, ऐसा नहीं है। यदि प्रारब्ध में ही जकड़ा हुआ मनुष्य अत्यन्त परतंत्र हो तो शास्त्र और सत्पुरुषों का उपदेश ही व्यर्थ हो जाय, शास्त्र में बहुतसी ऐसी क्रियायें भी बताई हैं जिन का वर्तमान शरीर में ही फल होता है। प्रारब्ध में से किंचित् भी खिसक न सके, ऐसी कोई भी क्रिया मनुष्य शरीर से न होसके तो यज्ञादि क्रिया का व्यर्थपना हो जाय, इस से समझना चाहिये कि मनुष्य प्रारब्ध के वश में होते हुये भी कुछ स्वतन्त्र है और प्रारब्ध के सिवाय भी कुछ कर सका है। जब वह प्रारब्ध के सिवाय भी कुछ कर सक्ता है तो प्रारब्ध रहते हुये भी किसी कारण मृत्यु होना भी संभवित है, उसी को अकाल मृत्यु कहते हैं।

जैसे प्रारब्ध क्रिया आदिक की अपेक्षा वाला है, वैसे ही देश, काल और संयोगों की भी उस में अपेक्षा है। यदि संयोगों में अन्तर पड़ जाय, विरुद्धता हो जाय तो प्रारब्ध में उनका असर अवश्य होता है। जैसे प्रारब्ध का निश्चितपना संयोगों सहित है, संयोग छोड़कर नहीं है इसी प्रकार प्रारब्ध के बने हुये शरीर को भी समझो। मृत्यु निश्चित है परन्तु सब अनुकूल संयोग हों तब ही निश्चित है, विपरीत संयोगों में मृत्यु का होना अनिश्चित हो जाता है। मृत्यु जैसे मृत्यु के काल से प्रथम होना संभवित है इसी प्रकार योगादि क्रियाओं से आयु की वृद्धि होने से मृत्यु के काल के बाद भी मृत्यु हो सक्ता है। शास्त्रों में कई योगियों के ऐसे दृष्टांत भी हैं। जब योग सामर्थ्य से मृत्यु को रोक सके हैं तब अयोग्य संयोगों में मृत्यु जल्दी भी हो सक्ती है। योग की रीति से कहा जाय तो मृत्यु काल-समय पर निर्भर नहीं है किन्तु प्राण की चाल पर है। जिसका प्राण जितना है, उतना समाप्त होने पर मृत्यु होता है। प्राण को न्यूनाधिक भी चला सके हैं, जब प्राण धीरा चलता है तब मृत्यु के अन्दाज के समय में अन्तर पड़ जाता है। योग शास्त्र में इच्छा मरण भी दिखलाया है। उदान वायु के जय से इच्छा मरण होता है। यदि मरण का काल निश्चित हो तो इच्छा मरण होना न चाहिये। जैसे इच्छा मरण है इसी प्रकार अनिच्छा मरण भी होता है। कभी किसी २ शुभ पात्र के वरदान से भी मरण के काल में अन्तर पड़ा हुआ शास्त्रों में देखते हैं, वरदान से आयु बढ़ता है और शाप से बिना समय भी मृत्यु हो जाता है। इस से अकाल मृत्यु भी सिद्ध ही है। वैद्यक के सब से प्राचीन ग्रन्थ चरक, सुश्रुत आदि में आयु का ऐसा निर्णय किया गया है कि औषधि रोग की है, मृत्यु की नहीं परन्तु यदि अनुकूल औषधि न होगी तो जिसका मृत्यु काल नहीं है वह भी मृत्यु को प्राप्त होगा। यदि कोई कहे कि यह कथन औषधि की प्रशंसा के निमित्त ही है तो ऐसा नहीं है क्योंकि यदि मृत्यु के काल के सिवाय मृत्यु न होता हो तो औषधि व्यर्थ है। यदि यह कहा जाय कि औषधि रोग की निवृत्ति के हेतु है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जब मृत्यु और सब भोग के साथ रोग प्रारब्ध का है तो रोग की निवृत्ति क्यों होगी? और रोग की निवृत्ति देखते हैं इससे भी अकाल मृत्यु की सिद्धि है। रोग ईश्वर सृष्टि में होने से ईश्वर कृत है और रोग की निवृत्ति के लिये औषधि भी ईश्वर ने ही

बनाई है। कई मूर्ख रोग होने पर औषधि नहीं करते और अपनी पूर्ण मूर्खता का प्रकाश करने के लिये कहते हैं कि रोग कर्म भोग है, ईश्वर की तरफ से आई हुई सजा है, उसकी औषधि करना ईश्वर की आज्ञा का भंग करना है। इस मूर्ख को खबर नहीं है कि यदि इसमें ईश्वर की आज्ञा का भंग होना होता तो ईश्वर अपनी आज्ञा को भंग करने वाली औषधि क्यों बनाता ? इसी प्रकार काल ईश्वर ने निर्माण किया है और अकाल भी ईश्वर ने ही बनाया है।

जैसे बीज में से वृक्ष अवश्य होता है, परन्तु देश, काल, भूमि, ऋतु, अनुकूल वृष्टि का होना, विशेष धूर का न लगना, विशेष वृष्टि न पड़ना, किसी जीव जन्तु का खा न जाना इत्यादि अनेक संयोगों के साथ ही वृक्ष होता है। इन संयोगों में हानि होने से वृक्ष की हानि होती है अथवा वृक्ष होने ही नहीं पाता, या हो कर थोड़े समय में नाश को प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की आयु है। संयोग रहित काल निश्चित नहीं है इस लिये संयोग की हानि में आयु के प्रवाह को रोकने वाली कोई प्रबल आड़ आ जाने से अकाल मृत्यु हो सक्ता है।

कर्म की गति विचित्र है, विद्वान् और सर्वज्ञ भी कर्म की गहनता को न जानने से भूल करते हैं, जब इस प्रकार का कर्म है और कर्म से प्रारब्ध और मृत्यु है तब मृत्यु की भी गति गहन है, उस का निर्णय सहज में नहीं हो सका। जगत् में सब कुछ बन सक्ता है तब अकाल मृत्यु का होना कोई बड़ी बात नहीं। कर्म की गति गहन होने से ही ज्ञानी उसके निर्णय करने के झगड़े में न पड़ कर अपनी निष्ठा अद्वैत सिद्धांत में स्थिर करते हैं। कर्म अनंत हैं, कर्मों का फल अनंत प्रकार का है। कर्मासक्त के कर्मों की निवृत्ति कभी नहीं होती, कर्म का पूर्ण नियम नहीं है, कर्म माया में है। जब माया का निर्णय नहीं हो सक्ता तब माया के कर्म और कर्म के फल का किस प्रकार हो सके ? नहीं हो सकता। माया अतत्व है, जैसे स्वप्न के पदार्थ हैं ऐसे ही मायिक जगत के पदार्थ हैं, ऐसे ही कर्म और उनका फल है। माया में कोई नियम स्थिर नहीं है। नियम स्थिर है, ऐसा दीखता हुआ भी नियम स्थिर नहीं है। तब उसी माया में के मृत्यु और अकाल मृत्यु के नियम भी पूर्ण रूप से किस प्रकार हों ? इतना ही कह सकते हैं कि माया में काल मृत्यु और अकाल मृत्यु दोनों ही बन सकते हैं।

योगशास्त्र कहता है कि ज्ञान अज्ञान का विरोधी है परन्तु योग प्रारब्ध का भी विरोधी है क्योंकि प्रारब्ध की प्रबलता को तोड़ डालता है, काल को रोक सकता है। जब मुख्य क्रियाओं से काल का रुक जाना संभव है तब बीच में टूट जाना भी संभव है। लोगों में कहावत प्रचलित है कि साधु संत रेख पर भी मेख मार देते हैं। रेख प्रारब्ध को कहते हैं। जब प्रारब्ध टूट सकता है तब अकाल मृत्यु की भी सिद्धि है। प्रारब्धवादी सब बातों में प्रारब्ध मानते हैं, अकाल मृत्यु का होना भी प्रारब्ध मानते हैं, यह बन नहीं सकता क्योंकि जो प्रारब्ध ही है तो अकाल किस प्रकार कहा जाय ? ऐसा होने से तो शास्त्र का अकाल मृत्यु का शब्द ही व्यर्थ होता है। प्रारब्धवादी प्रारब्ध के कथन करने में ही चतुर होते हैं। कथन के अनुसार वर्तने वाला प्रारब्धवादी कोई भी देखने में नहीं आता। 'जो होने वाला होता है, वह ही होता है, मरण भी जब होना होता है, तब ही होता है' ऐसा कहते हुये भी सर्प, सिंहादिक से क्यों डरते हैं ? डर होना ही न चाहिये और यदि किसी प्रकार भी डर अथवा दुःख हो तो प्रारब्ध वादी झूंठा है। उस का डरना ही प्रारब्धवाद को काटता है। कोई २ ऐसी चतुराई लगाते हैं कि डरना भी प्रारब्ध का है परन्तु यह ठीक नहीं है, यह सब न देखे हुये, न जाने हुये प्रारब्ध पर बांधी हुई झूंठी इमारत है। अकाल मृत्यु का एक दृष्टांत श्रीमद्भागवत् के माहात्म्य में इस प्रकार है:—

तुंगभद्रा नदी के तट पर एक उत्तम शहर बसा हुआ था। उसमें आत्मदेव नाम का एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहता था। वह भिक्षावृत्ति से भली प्रकार

अपना निर्वाह करता था। उसकी स्त्री का नाम धुंधली था। वह कुलीन होते हुये भी दुष्ट स्वभाव वाली थी। कृपण और कठोर होने पर भी वह घर के कार्य में चतुर थी। ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनों में प्रेम था। ब्राह्मण के कोई पुत्र अथवा पुत्री नहीं थी इसलिये उसको गृहस्थी का सुख नहीं था। संतान के निमित्त बहुत उपाय करने पर भी संतान न होने से वह बहुत दुखी था। संतान के दुःख से वह एक दिन वन में चला गया। वहां उसे एक सन्यासी मिला। ब्राह्मण ने अपने निःसंतान होने की कथा सुना कर और दुखी हो कर कहा "हे यती! मैं इस दुःख से व्याकुल होकर मरने के लिये यहां आया हूं!" संन्यासी को दया आ गई। उसने आत्मदेव के मस्तक की कितनीक सामुद्रिक रेखा देख कर कहा "हे ब्राह्मण! तू अज्ञान से ही पुत्र न होने का शोक करता है, शोक को छोड़ दे, मैंने तेरा प्रारब्ध देख कर विचार किया है कि तेरे सात जन्म तक भी पुत्र अथवा पुत्री न होगी! राजा सगर और राजा अंग को पुत्र से दुःख ही हुआ है! तू पुत्र की आशा छोड़ दे!" इस प्रकार संन्यासी ने बहुत समझाया परन्तु आत्मदेव ने न माना! तब संन्यासी ने एक फल देकर कहा "इसको अपनी स्त्री को खिला दीजो, पुत्र अवश्य उत्पन्न होगा!" आत्मदेव प्रसन्न हो कर घर लौट आया और उसने वह फल स्त्री को खाने को दे दिया। कर्कशा स्त्री ने गर्भधारण करने के अनेक कष्ट विचार कर फल को न खाया, गौ को खिला दिया और पति से कह दिया कि मैंने खा लिया है। उन्हीं दिनों में स्त्री की छोटी बहिन जब उसके घर पर आई तो बहिन से उसने सब हाल कह दिया और यह भी कहा कि मैं इस कारण से चिंता में हूं। बहिन ने कहा "तू चिन्ता मत कर, मुझे गर्भ है, मैं अपना पुत्र तुझे दे दूंगी!" धुंधली, गर्भिणी हो, इस प्रकार ढोंग करने लगी और अपनी छोटी बहिन को अपने पास रख लिया। उस की बहिन के पुत्र उत्पन्न हुआ। धुंधली ने उसे अपना पुत्र जाहिर किया और कह दिया कि मेरे स्तन में दूध नहीं आता, इसलिये मेरी छोटी बहिन इसे पयपान करावेगी। कुछ ही दिनों में गौ के पुत्र हुआ, सब प्रकार से आनन्द हुआ। गौ के पुत्र का नाम गोकर्ण और धुंधली के माने हुये पुत्र का नाम धुन्धकारी हुआ। धुन्धकारी महादुष्ट निकला। वह ब्राह्मण का कोई कर्म नहीं करता था, स्नान शौच तक भी नहीं करता था, अभक्ष का भक्ष करता था, अगम्या स्त्रियों में गमन करता था, दूसरों के घर में अग्नि लगा देता था, छोटे २ बालकों को गड्ढे अथवा कुंए में पटक देता था, हिंसा में आनन्द मानता था, दीन, दुखी मनुष्यों को सताया करता था, और चांडालों से मित्रता रखता था। उसने वेश्या की संगति में रह कर पिता का सब धन खर्च कर डाला। जब आत्म देव कुलक्षण पुत्र से अत्यंत दुखी होता था तब गोकर्ण उस को वैराग्य का उपदेश दिया करता था। इस उपदेश से आत्म देव को वैराग्य हुआ और वह घर छोड़ कर जंगल में तपश्चर्या करने चला गया। पिता के न रहने पर एक दिन धुंधकारी ने धुंधली को खूब पीटा और गड़ा हुआ सब धन निकाल लिया। पुत्र के दुःख से दुखी हुई धुंधली रात्रि के समय कुंए में गिर कर मर गई। गोकर्ण भी तीर्थ यात्रा करने चला गया। धुंधकारी वेश्या के साथ रहने लगा। एक दिन कुलटा स्त्री ने धुंधकारी से वस्त्राभूषण ले आने को कहा। धुंधकारी काम से अन्ध, घर से और इधर उधर से बहुत सा धन और वस्त्राभूषण चुरा कर वेश्या के घर पहुंचा और वेश्या को बहुत सा सोना और मूल्यवान आभरण दे दिये। रात्रि के समय वेश्या ने विचार किया कि यह हमेशा चोरी करता है, किसी न किसी दिन अवश्य पकड़ा जायगा और अपने साथ मुझे भी घसीटेगा इसलिये इस को मार कर मैं भी किसी अन्य स्थान में चली जाऊं तो अच्छा है। ऐसा विचार कर वेश्या ने धुंधकारी के हाथ पैर बांध कर उस के गले में फांसी डाल दी परन्तु जब वह न मरा तो वेश्या ने जलती हुई लकड़ी उस के मुख में ठूंस दी। इससे वह मर गया। वेश्या ने उसके मृतक शरीर को गड्ढा खोद कर गाड़ दिया और सब धन ले कर वह कहीं चली गई। धुंधकारी अपने कुकर्म के कारण अकाल मृत्यु को प्राप्त हो कर महा प्रेत हुआ। वायु रूप वह प्रेत दशों

दिशाओं में दौड़ता था और भूख, प्यास, गर्मी, जाड़े से कष्ट पा कर बेचैनी से वारम्बार 'हाय दैव, हाय दैव!' कह कर रोता था, कुछ लोगों के मुख से गोकर्ण ने धुंधकारी का प्रेत होना सुन लिया था इसलिये वह तीर्थों में उसको भी पिंड देता हुआ कुछ समय के बाद घर पर लौट कर आया। उसने धुंधकारी का सब उपद्रव देखा और प्रेत योनि से उसे मुक्त करने का विचार कर के श्री मद्भागवत् की सप्ताह सुनाई, जिससे धुंधकारी प्रेत योनि से मुक्त हुआ।

शास्त्र में अकाल मृत्यु का फल रूप प्रेत योनियों का वर्णन है। अथवा सामान्यता से जिसके मरने की अवस्था नहीं है उसका मृत्यु भी बड़ी उमर वाले के सामने अकाल मृत्यु कहा जा सक्ता है। अथवा जिसका मृत्यु यकायक हो जाय उसे भी अकाल मृत्यु कह सक्ते हैं। जिसका मृत्यु मृत्यु होने की संभावना से होता है उसके सब संस्कार क्रमशः निकल जाते हैं परन्तु यकायक मृत्यु वाले का ऐसा नहीं होता इसलिये अनुमान से उसे भी अकाल मृत्यु कह सक्ते हैं, यह व्यवहार वालों के निमित्त समझाया है। अब आत्म लक्ष वाले के भाव में अकाल मृत्यु किस प्रकार का है, उसे भी सुनियेः—

एक मनुष्य ने एक सन्त के पास जा कर कहा "महाराज! आज मेरा साथी मर गया है, उसे आप जानते ही हैं, उसका मृत्यु अकाल मृत्यु हुआ या काल मृत्यु?" सन्त ने कहा "भाविक! जब यह जन्मा था तब क्या ईश्वर की तरफ से ऐसा लिखा कर लाया था कि अमुक समय तक जीता रहेगा? यदि कुछ लिखा कर लाया हो तो मुझे दे, मैं उसे देख कर बता दूंगा कि उसका मृत्यु काल मृत्यु हुआ या अकाल मृत्यु।" मनुष्य बोला "ऐसा लिखा कर कौन लाता है? जो ऐसा लिखा हुआ होता तो मैं ही उसे पढ़ कर इस बात का निर्णय कर लेता, आप से पूछने का अवसर ही नहीं आता!" संत ने कहा "तब ऐसा समझ कि मनुष्य की आयु का प्रमाण सौ वर्ष का है, जो इतनी आयु पूर्ण न करके प्रथम ही मर जाय, उसे अकाल मृत्यु समझ!" मनुष्य ने कहा "नहीं! ऐसा भी नहीं हो सक्ता! सौ वर्ष का आयु कौन भोगता है! क्या लाखों में किसी एक आध के सिवाय सब ही अकाल मृत्यु से मरते हैं?" सन्त ने कहा "हां! जैसी तेरी शंका है, ऐसा ही मेरा उत्तर है, यदि तू मेरे निश्चय को पूछता है तो सुनः—आत्मा सच्चिदानन्द सुख स्वरूप है, उस का कभी भी काल नहीं है, वह मृत्यु रहित—अमर है। जब वह अज्ञान से जीव भाव को प्राप्त होता है तब ही उस का मृत्यु होता है। आत्मा जिसका मृत्यु काल नहीं है, उसमें मृत्यु का भास होना अकाल मृत्यु है। परब्रह्म काल स्वरूप है। काल का भी महा काल है, उसका कभी काल है नहीं, वह ही कूटस्थ रूप से प्रत्येक शरीर में टिका हुआ है, अज्ञान से उसको 'मैं कर्ता भोक्ता जीव हूं' ऐसा भान होना, अपने शुद्ध स्वरूप के बोध से हट जाना, इसको अकाल मृत्यु कहा जाय तो ठीक है!" मनुष्य बोला "मैं आप से शरीर का जो मृत्यु होता है उसे पूछता हूं!" सन्त ने कहा "शरीर का काल मृत्यु अथवा अकाल मृत्यु व्यवहार का विषय है, हम व्यवहार के भाव से हटे हुये हैं, हमने जो निश्चय कर रक्खा है, वह कहते हैं!" मनुष्य बोला "अच्छा! ज्ञान के भाव से ही समझाइये, देखें उस में भी कुछ तत्व है या नहीं!" सन्त ने कहा "तत्व तो तत्व वाले के लिये है, यदि तू समझ सक्ता हो तो कथन करूं!" मनुष्य बोला "महाराज! नाराज मत हूजिये, मैंने भी सन्तों का कुछ संग किया है, मैं समझता हूं कि मैं समझ जाऊंगा, यदि समझने में कुछ कसर रहे तो आप क्या कुछ कम समझाने वाले हैं?" सन्त ने कहा "काल और अकाल सब काल्पनिक है, यह सब जगत् प्रपंच का तमाशा है! जिस का मरना नहीं है, उस का मरण कौन कर सक्ता है? कोई नहीं! आत्मा अजर अमर है, तो भी अज्ञान से वह शरीरधारी हो कर मरता है, इसी का नाम अकाल मृत्यु है, आत्मा के मरने का कोई काल है नहीं, काल न होने पर भी मरना, यह ही अकाल मृत्यु है, इसको भली प्रकार से समझः—अपने

स्वरूप में मृत्यु भ्रांति जन्य है, शरीर का मृत्यु जो वारम्वार हुआ करता है, वह मृत्यु नहीं है क्योंकि एक शरीर का नाश हो कर फिर दूसरा शरीर होता है। अज्ञान पर्यन्त यह क्रम चालू रहता है इस लिये शरीर का काल मृत्यु अथवा अकाल मृत्यु कुछ नहीं है, मात्र अज्ञानियों को उस का भास होता है, मृत्यु तो उसी का नाम है कि जिस में से मरे उस में फिर कभी जन्मे ही नहीं! ऐसा मृत्यु अज्ञान का है, ज्ञान होते ही अज्ञान मर जाता है, मरा हुआ अज्ञान कल्पांत में भी फिर सजीवन नहीं होता! इस लिये सच्चा मृत्यु यह ही है, यह ही अकाल मृत्यु भी कहा जाता है क्योंकि कल्पांत में विकृति का नाश होकर रही हुई प्रकृति परब्रह्म में एकता को प्राप्त होती है, वहां प्रत्येक के व्यक्तिभाव का मृत्यु है, यह काल मृत्यु है यद्यपि यह मृत्यु वास्तविक मृत्यु नहीं है तो भी काल मृत्यु है, ज्ञानी इस से प्रथम ही अज्ञान का नाश करके परब्रह्म से एकता करता है, इस लिये यह ही अज्ञान का अकाल मृत्यु है, जगत् में लोग जिस को अकाल मृत्यु कहते हैं, ऐसे मरने वाले की अवगति होती है और हमने जो अज्ञान का अकाल मृत्यु कहा है, उस में परम गति है, अज्ञान में काल की संख्या है, उस संख्या सहित काल न रहे, काल की जिस में गिनती है, ऐसा व्यक्ति भाव न रहे, वह काल मृत्यु अकाल मृत्यु कहा जाता है, काल का अकाल भाव जिस में हो, वह अकाल मृत्यु है, साधु, संत और शास्त्र उस अकाल मृत्यु को ही पसन्द करते हैं जिस में जीते जी अज्ञान का मृत्यु हो जाय और अपने आत्म स्वरूप में जी जाय!" मनुष्य बोला "वाह! महाराज! आपने तो काल अकाल में ही—थोड़े ही में सब शास्त्र रहस्य को समझा दिया! आप का समझाना तो यह हुआ कि अकाल मृत्यु अकाट्य है, धन्य है आप को! धन्य है उस को जिसने काल न होते हुये भी अज्ञान का मृत्यु कर डाला है, धन्य है उन अकालियों को! वे ही जीते हैं जो अज्ञान को मार कर अपने स्वरूप में जीते हैं!"

चर्पटपंजरिका।

जटिलो मुंडित लुंचित केशः
कापायांबर बहुकृत वेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति लोक
उदर निमित्तं बहुकृत वेषः ॥६॥ भज०

अर्थः—शिर पर जटायें रखने वाला, शिर के संपूर्ण बालों को मुंडाने वाला, नोचे हुये बालों वाला, भगवां वस्त्र वाला, अनेक प्रकार के वेष धारण करने वाला, पेट भरने के लिये ही बहुत वेष धारण करता है, मूढ़ मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता। गोविन्द का भजन करले।

भषापद्य।

मुंडित लुंचित केश जटाधर।
वस्त्र रँगत बहुवेष धरत नर॥
जानत पर नहिं मूढ़ विचारत।
पेट भरन बहुवेष संवारत ॥६॥ भज०

विवेचन।

अपने यहां श्रद्धा का जो लक्ष प्रचलित है उस में बहुत स्थानों पर श्रद्धा में अन्धता घुस गई है। अंध श्रद्धा से बहुधा विपरीत फल ही होता है क्योंकि श्रद्धा करने के योग्य पर ही श्रद्धा करने से श्रद्धा का फल हो सकता है। शास्त्र में त्याग का माहात्म्य बहुत प्रकार से लिखा गया है। हम को विचारना चाहिये कि त्याग किस २ संयोग में और कैसी योग्यता सहित होता है। यदि त्याग करने पर भी त्यागे हुये में राग हो तो वह त्याग नहीं कहा जाता। त्याग आंतरिक त्याग सहित ही शोभा पाता है और तब ही यथार्थ फल को देता है। आंतर त्याग रहित बाहर का त्याग अशोभनीय है और दुःख रूप फल को देने वाला है। ऐसे त्याग के ऊपर श्रद्धा करना, केवल बाह्यदृष्टि से ही परम पूज्य, संत,

महात्मा और पूर्ण सिद्ध मान लेना, उस के साथ उसी प्रकार का वर्ताव करना अयोग्य होने से अंध-श्रद्धा कही जाती है। अथवा जिसकी योग्यता आ-त्रिक अंधेरे में हैं, जो श्रद्धा करने के योग्य नहीं है,उस पर श्रद्धा करना अंध श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा से श्रद्धा करने वाले और जिस पर श्रद्धा की गई है उन दोनों को हानि ही होती है। अंधश्रद्धा वाला योग्य अयोग्य को समझ नहीं सकता इसलिये उसको सत् उपदेश नहीं मिलता। श्रद्धा के पात्र न होते हुये दूसरों से श्रद्धा कराने वाले स्वयं अयोग्य हैं और अविवेकियों के सन्मान करने से वे अपने को पूज्य और सि- मान बैठते हैं इसलिये उनकी अयोग्यता नहीं जाती और न वे योग्य हो सकते हैं, अभिमान के मारे अंध हो जाते हैं, दूसरों की अंध श्रद्धा उनको भी अंध बना देती है। इस प्रकार अंधश्रद्धा से दोनों का ही अहित होता है, हित एक का भी नहीं होता। आज कल लोग साधुओं की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि आर्यवर्त में बावन लाख हरामखोर हराम का खा रहे हैं वे आर्यवर्त के लिये बोझा रूप हैं। इस प्रकार होने का हेतु अंधश्रद्धा ही है। अंधश्रद्धा सज्जनों को भी दुःख का हेतु होती है। शास्त्र में जो भिक्षा की महिमा विशेष वर्णन की गई है, वह महिमा वास्तविक भिक्षा की है, अवास्त-विक की नहीं है। अशुद्ध मनुष्य जो किंचित्मात्र भी श्रद्धा नहीं करता, उसको श्रद्धा में लगने के लिये ऊपर के वेष मात्र पर श्रद्धा करना फल दायक है परन्तु बुद्धि होते हुये, व्यवहार में बुद्धि का उप-योग करते हुये, पात्र की योग्यता में बुद्धि का उप-योग न करना सब को हानिकारक है। केवल ऊपर के वस्त्रादिक देख कर मान करने का यह परिणाम होता है कि वस्त्रधारी, तिलक छापों से अलंकृत अविवेकियों की जमात पर जमात बढ़ती ही चली जाती है। उन से न तो अपना हित होता है न दूसरे का हित होता है इसलिये पात्रापात्र के विचार सहित ही सन्मान करना योग्य है।

जैसा लोगों का हाल है इसी प्रकार वेषधारियों का हाल है। जब कोई भारी रंज हुआ, धन सम्पत्ति का नाश हुआ, स्त्री मरगई, कीर्ति चली गई तुरंत बन गये बाबाजी! कोई अपराध करके जेल में पहुंचे, सजा काट कर लौटे, घर पर जाने में शर्म लगी,बन गये सन्यासी या वैरागी! देखा, मजदूरी करना पड़ती है, माल खाने को नहीं मिलता, तुरन्त ले आये धेले का गेरू, रंग डाले कपड़े! जो जगत् का कार्य करने में ही असमर्थ हैं, भला! वे साधु बनकर अपना या दूसरों का हित क्या करेंगे? परमतत्व को जानना कोई सहज बात नहीं है, बहुत सूक्ष्म और शुद्ध बुद्धि से होने वाला कार्य है तो मोटी बुद्धिवाला, जिसे काला अक्षर भैंस बराबर है, जिस ने शास्त्र का नाम तक नहीं सुना, जिस की अनेक प्रकार की प्रपंच की कामनायें निवृत्त नहीं हुई हैं, ऐसा मूढ़ परम मार्ग में चलने के लिये किस प्रकार समर्थ होगा। जिस के पास कुछ है नहीं, कपड़ा रंग लेने से, वेष बना लेने से त्यागी किस प्रकार कहा जाय? उसने त्यागा क्या है। त्यागने का उस के पास था ही क्या? जिस के पास कुछ व्यवहारिक ऐश्वर्य हो, यदि यह वैराग्य से उस का त्याग करे, और आन्तर में त्याग का भाव बना रहे, फिर प्राप्ति में भी त्याग का भाव पलट न जाय तब ही वह त्यागी कहला सकता है। यदि यह कहा जाय कि बाहर की वस्तुयें-सम्पत्ति उस के पास न थीं इसलिये उस ने भीतर से त्याग किया है तो यह भी बन नहीं सकता क्योंकि मूढ़ मोटी बुद्धि वाला भीतर के त्याग को समझता ही नहीं तो करेगा क्या? जिसने वैराग्य से भीतर का त्याग किया है, उस का बाहर का त्याग हो या न हो तो भी वह त्यागी कहलाने के योग्य है, सूक्ष्म बुद्धि बिना और बुद्धि की शुद्धता बिना आन्तरिक वास्तविक त्याग बहुत दुर्लभ है, परम विवेकी पुरुष ही ऐसा त्याग कर सकता है। ऐसा त्यागी चाहे वेषधारी हो चाहे वेष रहित हो, व्यवहारिक मनुष्यों को पूज्य है, ऐसा करने से उस का और व्यवहारिक मनुष्यों का हित ही होता है। यदि वह पठित हो तो उस से औरों का भी भला होता है और सामान्य हो तो उस का भला तो होता ही है।

कई तो शिर पर भारी जटायें रखते हैं। पंच-केश रखना या न रखना यानी मुण्डन न कराना

और कराना दोनों ही प्रकार के विधान शास्त्र में हैं। जटा रखाने के हेतु हम सिद्ध हैं, हम तपस्वी हैं, हम को सब पूजो, ऐसा नहीं है किन्तु जटा वाले प्राय आज कल एक वेष के रूप से ही जटा रखते हैं। पेट के भरण पोषण और अनेक प्रकार की कामनाओं की तृप्ति का भाव होता है। ऐसे जटाधारी एक प्रकार के ठग ही हैं। जैसे ठग अपना कल्याण नहीं कर सकते तो दूसरों का हित तो उन से होगा ही कहां से। ऐसे ही इन लोगों को भी समझना चाहिये। वास्तविक तो अज्ञान की बढ़ी हुई जटाओं का उतार देना है, उस के बदले अज्ञान की लटें बढ़ाये ही जाते हैं। बट का वृक्ष भी भारी जटायें धारण करता है, इस से उस का कल्याण समझना मूर्खता है। इसी प्रकार जटा धारण करके 'हम सिद्ध हुए हैं, हमारा कल्याण हो चुका है' ऐसा समझना भी पूर्ण मूर्खता है। विना ज्ञान केवल बाल बढ़ाने से मुक्ति नहीं होती। कोई तो बाल छोटे हों तो नकली बाल धारण करते हैं। जो ऐसा नकली जटाधारी है, वह वास्तविक ही नकली है, असली नहीं है। जटा रहने देने का अर्थ यह है कि कुदरती हालत–समानता में रहे। यह भाव नकली अथवा मूढ़ जटाधारियों में नहीं होता। जटा रखने से और भी फायदे हैं:—मस्तक शांत रहता है, वीर्य जल्दी स्खलित नहीं होता, परन्तु आंतर की शुद्धता विना, ज्ञान और ज्ञान के भाव विना केवल जटा रखने से कुछ फल नहीं है। ऐसे ही मुंडन कराने वाला—शिर आदिक के बालों को उतार देने वाला केवल मुंडन से ही यदि अपने को कृत कृत्य समझे तो पूरा मूर्खता है। मुंडन आदि आश्रम के धर्म हैं परंतु केवल बाहर के धर्म से कार्य की सिद्धि नहीं होती। ऐसे ही बालों को नोचवा डालने वालों, भगवां वस्त्र धारण करने वालों का सब ढोंग–वेष केवल उदरपूर्णा के निमित्त है। जैसे बहुत से लोग अनेक प्रकार के स्वांग बना कर कमाई करते हैं इसी प्रकार ये भी धर्म के नाम का स्वांग धारण करके कमाई करने वाले हैं। लोग भी कैसे मूर्ख हैं कि बहुधा ऐसों को देख कर भी विचार विना श्रद्धा कर बैठते हैं। इससे सिद्ध होता है कि लोग देखते हुये भी अंध के समान नहीं देखते। अथवा वेषधारियों की करतुत को जानते हुये भी, यह लोग ठगाई करते हैं, ऐसा समझते हुये भी अज्ञानता से लोग उनमें जा कर मिल जाते हैं, इसी लिये वेष लेते हैं और जो कार्य वेषधारी करते हैं उसको करने लगते हैं, धर्म के नाम से अधर्म में प्रवर्त होते हैं, ऐसा करना भी देखते भालते, जानते बूझते अंधा बनना है। जगत् को छोड़ा तो क्या ठगाई के निमित्त छोड़ा? इससे तो हित के बदले अहित ही होता है, जो ठगाई ही करनी थी तो संसार के स्वरूप से ही हो सकी थी! भोले मनुष्यों को धर्म का–वेष का निमित्त प्रबल समझ कर ठगाई के लिये वेष धारण करने वाले को क्या कहना है! वह तो परिपूर्ण मूढ़ और ठग है ही परन्तु जो अज्ञान से फस जाते हैं और न चाहते हुये भी उसी कार्य में प्रवर्त होते हैं, उन्हीं का शोक है।

भोगीपुरा नाम का एक ग्राम है, सुना है कि वहां के रहने वालों में से कई अनेक प्रकार का साधु का वेष बना कर दूर २ देशों में जाकर लोगों को ठगते हैं, ऐसा ही कोई एक बनावटी परम हंस बन कर विचरता विचरता प्राचीन कुन्दनपुर शहर के पास के ग्राम में पहुंचा, उसने सुन रक्खा था कि कुन्दनपुर के राजा रानी बड़े धार्मिक हैं, साधुसंतों को भक्ति सहित पूजते हैं, धन, माल और जागीरादिक भी भेट करते हैं और जो कोई परमहंस नग्नावस्था में होता है उसे तो साक्षात् ईश्वर ही समझते हैं, उस के ऊपर अपने प्राण और राज्य निछावर करने तक की श्रद्धा रखते हैं। बने हुये ठगने सोचा "मौका अच्छा है, मैं बहुत घूमा हूं, परन्तु आज तक कोई सोने की चिड़िया हाथ में नहीं आई थी! मैंने बहुत सा माल जमा करके अपने स्थान पर भेजा है परन्तु यदि ये राजा रानी वश हो जांय तो मेरा काम पूरा हो जाय," ऐसा विचार कर जो कुछ माल असबाब और अच्छे २ वस्त्र उसके पास थे, उनको उसने अपने देश भिजवा दिया। शिर की जटा और अन्य स्थानों के बाल तो उसने बढ़ा ही रक्खे थे इसलिये परमहंस बन जाने में उसे कुछ विलम्ब

न लगा! लंगोटी फेंक दी, कोई पात्र भी पास न रक्खा और अंधेरी रात्रि में चल कर कुंदनपुर की उत्तर सीमा प्रांत में एक छोटी नदी के किनारे एक पेड़ के नीचे आसन लगा कर बैठ गया, नेत्रों को मूंद कर चुप चाप बैठा रहा। सुबह होते ही लोग आने जाने लगे। राजा रानी भक्ति वाले होने से शहर में भी भक्ति का प्रभाव कुछ बढ़ गया था। लोगों ने दिगम्बर स्वरूप परमहंस को देख कर प्रणाम किया, कोई 'नमो नारायण' कहने लगा परन्तु कुछ उत्तर न मिला! जो कोई आता प्रणाम करता, कोई अनेक प्रकार के प्रश्न करता, जिससे महात्माजी कुछ बोलें परन्तु जब महात्मा ने चूं चां कुछ भी नहीं की तब लोग अनेक कल्पनायें करने लगे। कोई कहने लगा "मौनी हैं, विशप मत छेड़ो!" किसी ने कहा "पूरा संत है!" दूसरा बोला "परमहंस हैं! इनको अपने पराये का बोध नहीं है!" कोई और बोला "ठीक! यह तो विदेह मुक्त दीखते हैं! आजतक बहुत से संत महात्माओं के दर्शन किये हैं परन्तु यह मूर्ति तो अलौकिक है, ऐसी मूर्ति कभी मेरे देखने में नहीं आई!" इस प्रकार जो जिसकी मरजी में आता था, कहता था, किसी को भी यह खयाल नहीं हुआ कि यह कोई पक्का ठग है! जो जो नये साधु शहर में आते थे, उनके आने की खबर राजा के मनुष्य राजदरबार में पहुंचाया करते थे। इन लोगों ने इस के आने की खबर राजदरबार में पहुंचाई। बहुत से और मनुष्यों से भी राजा को यह खबर मिली। राजा रानी दोनों महात्माजी के दर्शन के निमित्त तीसरे दिन इस स्थान पर आये। दो दिन से सैकड़ों मनुष्यों का जमघट वहां बना रहता था। महात्माजी दिन भर कुछ खाते नहीं थे! बरफी, पेड़े, मलाई, रबड़ी, दूध, हलुआ, जलेबी आदिक बहुतसी वस्तुयें महात्माजी के पास आई हुई पड़ी रहती थीं! रात्रि में उठ कर महात्माजी इच्छानुसार खा लेते थे। दिन भर आंखें मूंदे हुये बैठे रहते थे। लोगों ने देखा कि जब राजा रानी दर्शन करने को आये तब भी महात्माजी ने नेत्र न खोले! राजा रानी ने दंडवत् प्रणाम किया। राजा के मनुष्यों ने एक गलीचा बिछा दिया, राजा रानी उस पर बैठ गये। राजा ने प्रथम गलीचे पर बैठने से इनकार किया परन्तु जब रानी ने ऐसा कह कर आग्रह किया कि हम तो महात्मा जी के बाल बच्चे हैं तब रानी के आग्रह करने से राजा गलीचे पर बैठ गया। राजा रानी दोनों सन्त सेवी थे, परन्तु अन्ध श्रद्धा वाले नहीं थे, योग्य को योग्य मान देते थे, दोनों ने महात्मा जी के सर्वांग को निहारा परन्तु किसी प्रकार का निश्चय न कर सके, राजा ने रानी से कहा "हे प्रिये! यह परम हंस सन्त हैं, किसी से बोलते चालते नहीं, अपने पराये का भी इनको मान न होगा, हम लोग उनकी सेवा किस प्रकार करें?" इतना कह कर महात्मा जी की तरफ देख कर हाथ जोड़ कर कहा "महाराज! कृपा कर आप राज महल में पधारिये, हम लोगों का नित्य प्रति ऐसे स्थान पर आना कठिन है, आपने परिश्रम कर के जब हमारे शहर को पवित्र किया है तब महल को भी पवित्र कीजिये, हमारा धन्य भाग है कि आप जैसे पूर्ण महात्मा की टहल हम से कुछ बन जाय!" महात्मा जी कुछ न बोले, मुख की रुचि तक भी न बदली! रानी बोली "महाराज! हमारी सेवा स्वीकार कीजिये, मैं अपने हाथ से आप को भोजन कराऊंगी!" महात्मा जी की तरफ से हां ना, किसी प्रकार का उत्तर न मिला! राजा ने पालकी लाने को नोकरों को आज्ञा दी। पालकी आ गई, दो मनुष्यों ने महात्मा जी को उठा कर पालकी में बैठा दिया। राजा रानी और महात्मा राज महल में पहुंचे।

रानी पूर्ण भक्ति वाली, योग्य अयोग्य को समझने वाली और चतुर थी। महात्मा के दर्शन करने से जो आंतरिक आह्लाद होता है, वह न होने से पूर्ण निश्चय न कर सकी परन्तु सेवा करने में कसर न रक्खी। प्रथम दिन रानी ने अपने हाथ से सब शरीर मल कर गरम जल से महात्मा को स्नान कराया। रानी के हाथ का स्पर्श होने से महात्मा ने नेत्र खोल कर देख लिया। अब तो वह कभी नेत्र खोल देते थे, कभी बन्द कर लेते थे। रानी ने स्नान करा कर, ईश्वर समझ कर, पूर्ण प्रेम से

पूजन किया, चन्दन और पुष्प माला धारण कराई, अनेक प्रकार के व्यंजन जो राजवंशियों का नित्य का ही भोजन है चांदी के थाल में महात्मा जी के सामने रक्खा गया और खाने की प्रार्थना की गई। महात्माजी ने अपने हाथ से न खाया, ऐसा देख कर रानी अपने हाथ में ग्रास ले लेकर खिलाने लगी। महात्मा खाने लगे! जब पेट भर गया तब महात्मा ने ग्रास से मुख हटा लिया, जल पिलाया गया, मुख धोया गया, महात्मा सोचने लगे "अब तक तो सब मामला ठीक ठीक है, एक बात की कसर है, उसमें उत्तीर्ण हो गया तो बेड़ा पार है! परम हंस को टट्टी पेशाब का भी कुछ खयाल नहीं होता, उसकी दूसरी दृष्टि नहीं होती, इस कार्य को भी कर लेना चाहिये!" ऐसा विचार कर महात्मा जी पेशाब करने लगे। पेशाब की धार रानी के ऊपर पड़ी! रानी किंचित् भी खिन्न न हुई, उसी क्षण थोड़ा सा पेशाव हाथ में ले कर फुर्ति से महात्मा जी के मुख की तरफ ले गई! महात्मा ने स्वाभाविकता से तुरन्त ही मुख फेर लिया! यह देख कर रानी ने एक तमांचा लगाया और नोकरों को आज्ञा दी "यह ढोंगी है, इसको मेरे पास से दूर ले जाओ, राजा को इस बात की खबर करो और राजा जैसी आज्ञा दें वैसा करो!" राजा आया और उसे कैद में रखने की आज्ञा दी और यह भी आज्ञा दी कि तीन दिन तक उसे भोजन न दिया जाय! और जेल खाने में वह क्या करता है, यह जानने को राजा ने एक गुप्त चर नियत किया। महात्मा दो दिन तक तो दुःखी होते हुये भी चुप रहे, तीसरे दिन चुप न रहा गया, अपने कर्म को दोष देते हुये कहने लगे "मैं तो अपना हित करने को गया था, चतुर रानी ने मेरा सब छल जान लिया, अब भूखे मरने का ही समय आया है, मैं तो समझता था कि राजा रानी का गुरु बन कर बहुत धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करूंगा परन्तु सब बात उलटी हो गई! अब किसी प्रकार जान बचे तो ही खैर है, किसी प्रकार राजा यहां आ जाय तो अच्छा है!" तीसरे दिन राजा उसे देखने आया और बना हुआ महात्मा हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा "अन्नदाता! मैं गरीब मनुष्य हूं, परम हंस नहीं हूं, मेरी भूल माफ कीजिये, मुझको जीव दान दीजिये, खोराक बिना मेरा बचना कठिन है!" राजा ने कहा "दुष्ट! इस प्रकार तू सब को ठगता है, कुछ धन्धा न सूझते हुये ईश्वर के नाम से ठगबाजी करता है, तुझे पूर्ण शिक्षा मिलनी चाहिये, ठगों को शासन देना मेरा धर्म है, मैं तुझे एक साल की सख्त मजूरी सहित कैदखाने की सजा करता हूं, जो खोराक कैदियों को मिलती है, वह ही तुझे मिलेगी।" ऐसा कह कर राजा चला गया। इस प्रकार ठगाई करने वाले को इस जगत् में और उस जगत् में कष्ट की ही प्राप्ति होती है। ऐसे ठगों से बचते रहना चाहिये।

जगत् एक गडरिया प्रवाह के समान बह रहा है! देखा देखी करने लगते हैं! विचार सहित कार्य करने वाले बहुत कम हैं! जो शास्त्र की रीति के अनुसार वर्णाश्रम धर्म का ठीक २ पालन कर रहे हैं उन के लिये कुछ कहना नहीं है परन्तु केवल पेट के लिये ही जो प्रपंच किया जाता है, वह सब को हानि पहुंचाने वाला है। वेष बना कर प्रपंच करने से मनुष्य जन्म की सिद्धि नहीं होती, दुःख ही होता है। ब्रह्मचारी अथवा वैरागी बन कर पंचकेश रख लिये, इस से क्या हुआ। कुछ नहीं! बाबाजी बन कर मस्तक का मुण्डन करा डाला, तब भी क्या हुआ? कुछ नहीं! शिर से केश के खिंचवा डालने की वेदना सही तब भी क्या हुआ? सफेद वस्त्र निकाल कर भगवां वस्त्र धारण करने से क्या हुआ? कुछ नहीं! जब तक ईश्वर भजन, ईश्वर ज्ञान न हो तब तक सब वृथा है! आंख से देखते हुये इस प्रकार बन जाना अन्धा बनना ही है!

केवल वेष पर श्रद्धा, तिलक छापों पर श्रद्धा, बिना योग्यता भगवां वस्त्रों पर श्रद्धा दोनों को दुःख देने वाली होती है। जब श्रद्धा के योग्य पर श्रद्धा की जाती है तब ही शुभ फल होना सम्भव है। इस का एक दृष्टान्त इस प्रकार है:—

एक साहूकार था, वह अपने व्यवहार में तो बहुत चतुर था परन्तु धर्म के विषय में अन्ध श्रद्धा युक्त था। बिना विचार किये धर्म के नाम से बहुत लम्बी २ दण्डवत् करता था। धर्म के नाम से ठगाई करने वाले उसे ठग लिया करते थे। एक मज़ाक-खोर मनुष्य जो उस के पास रहता था, उस ने एक दिन विचार किया "साहूकार चतुर बहुत है परन्तु श्रद्धा में पूरा अन्ध है, उस को अन्ध श्रद्धा का फल चखाना चाहिये! तिलक छापे वालों को बहुत मानता है, चाहे कोई भी हो, जो तिलक छापे लगा लेता है, उस को वह ईश्वर समझता है, मैंने कई बार समझाया भी है कि सेठजी श्रद्धा अवश्य करो परन्तु योग्यता सहित करो, परन्तु उस का निश्चय है कि तिलक छापे वालों पर श्रद्धा करने से, उन को दण्डवत् करने से, खिलाने पिलाने से ही मुक्ति है! आज मैं कुंभार के यहां जाकर एक खेल करता हूं, देखूं, क्या होता है।" ऐसा विचार कर वह मनुष्य कुछ रोली घोल कर कुंभार के यहां गया। वहां जाकर उस ने एक गधे के लम्बे चौड़े तिलक लगाये। साहूकार नित्य एक मन्दिर में दर्शन करने आया करता था, उस मनुष्य को उस के जाने का समय मालूम था। जब साहूकार दर्शन करने जा रहा था तब वह मनुष्य गधे को लाठी मारता हुआ साहूकार के सामने लेआया! साहूकार ने ज्योंही गधे को तिलक छाप लगाये हुये देखा तो दूर से ही हाथ जोड़ कर नमस्कार करने लगा। गधा पास आता जाता था, साहूकार नमस्कार पर नमस्कार करता जाता था और बोलता जाता था 'आप महा वैष्णव हो' पशुकी जाति में हो कर भी वैष्णव के चिन्ह से अंकित हो, यह आप की विशेषता है! आप श्रीमान् के दर्शन से मैं भी कृतार्थ हो रहा हूं!' इस प्रकार कहता हुआ, हाथ जोड़े हुये गधे के सामने जा रहा था। गधा लाठियां खा कर भागा हुआ आ रहा था। साहूकार को हाथ जोड़े हुये देख कर समझा कि यह भी मुझे मारने को आ रहा है, ऐसा समझ वह घूम गया और साहूकार के दो तीन लातें मार कर भाग गया! साहूकार जमीन पर गिर गया। उस मनुष्य ने आकर साहूकार को उठाया और कहा "क्या हुआ?" साहूकार चुप! क्या बोले? अन्त में कहने लगा "एक वैष्णव को मैं हाथ जोड़ रहा था, उस ने पिछले पैरों की ठोकर से गिरा दिया!" वह मनुष्य खूब हंसा और कहने लगा "वह वैष्णव कौन था? मैं ने तो एक तिलक छापे लगाये हुये गधा देखा था! सेठजी! वैष्णव कोई मनुष्य होता है या गधा भी होता है? गधों में विशेष बुद्धि नहीं होती, यह गधा तो बहुत बुद्धिशाली दीखता है क्योंकि उसने आप को उपदेश दिया है! कहीं तिलक लगाने से गधा भी वैष्णव होता होगा! अब किसी पर श्रद्धा करो तो विचार कर करना, मैं तुम्हें घर पहुंचाये देता हूं!' इतना कह कर वह मनुष्य साहूकार को घर लेगया, कुछ दिनों दवा करने से साहूकार आरोग्य हुआ।

सब का सारांश यह है कि यदि किसी को तीव्र वैराग्य हो और वह उच्च आश्रम ग्रहण करना चाहता हो तो उसे योग्य पुरुष के समागम में आना चाहिये, योग्य से ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, बिना विचार गडरिया प्रवाह में गिरना न चाहिये, इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहते हुये योग्य को ही योग्य सन्मान देना उचित है, अयोग्य को सन्मान देने से दोनों का अहित ही होता है, धर्म का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, उस में शुद्ध बुद्धि से कार्य लेना चाहिये, यद्यपि तुरन्त ही लाभ हानि नहीं दीखती तो भी सज्जन से लाभ ही होता है और दुर्जन, प्रपंची, पेट मात्र भरने वाले से हानि ही होती है, यह कलि काल है, इस कलि काल में कहने मात्र के साधुओं की वृद्धि है, वास्तविक साधु बहुत कम हैं, इसी प्रकार सच्चे पर सच्ची श्रद्धा करने वाले भी कम हैं, झूठों पर लोभ वश श्रद्धा करने वाले बहुत हैं, ऐसे लोग अपना हित नहीं कर सके, आचार्यश्री का कहना है कि सब देखते हुये भी अंधे हो रहे हैं, इसी का हम को शोक है क्योंकि हम सब का हित चाहते हैं और यहां विपरीत दीखता है, अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, ईश्वर की भक्ति से जगत के प्रेम की निवृत्ति होती है, यह मूल सिद्धांत है, इस के सिवाय सब उदर पूर्णा का ही ढंग समझना चाहिये।

शिष्टस्तोत्रम् ।

भज विश्रांतिं त्यज रे भ्रांतिं
निश्चिनु शैवं निज रूपम् ।
हेयादेयातीतं सच्चि-
त्सुखरूपस्त्वं भव शिष्टः ॥१॥

अर्थः–रे! विश्रांति–उपराम को भज, भ्रांति–भ्रम को त्याग, छोड़ने और पकड़ने से रहित सत्–सत्य, चित्–चैतन्य, सुख–आनन्द रूप अपने शिव रूप का निश्चय कर, शिष्ट–सभ्य हो ।

दृश्यमशेषं त्वत्तोऽभिन्नं
मा भैषीकिलभूमानम् ।
विद्धात्मानं वेदन रूपं
वेद शिरस्थं भव शिष्टः ॥ २ ॥

अर्थः–निश्चय संपूर्ण दृश्य–जगत् तुझ से अभिन्न है, (इसलिये) मत डर, उपनिषदों में स्थित अनुभव स्वरूप भूमा को आत्मा जान, शिष्ट हो ।

तृणवत् त्यज धन वनिता पुत्रान्
लोकं शोकं भेद भवम् ।
इदमहमित्थं कलनांहित्वा
पूर्णानन्दो भव शिष्टः ॥ ६ ॥

अर्थः–भेद से उत्पन्न हुये धन, स्त्री, पुत्र, लोक, शोक को तृण के समान त्याग दे 'यह, मैं' इस प्रकार की कलना–मैल को त्याग कर पूर्ण आनन्द स्वरूप शिष्ट हो ।

कृत्याकृत्ये त्यजरे दूरे
विधि गोचरतां मार्गास्त्वम्
मानागोचर रूपं ज्ञात्वा
किं त्वं कर्ता भव शिष्टः ॥ ४ ॥

अर्थः–रे ! कृत्य—विधि कर्म, अकृत्य–निषेध कर्म, और विधि को बताने वाले मार्गों को तू दूर से त्याग दे, प्रमाणों से न जानने योग्य रूप को जान कर क्या तू कर्ता है–नहीं है, शिष्ट हो ।

लोक विलक्षण चरितो भूया
लोकातीतं पदमिच्छन् ।
पावय सकलां पृथिवीमेना
मात्मारामो भव शिष्टः ॥ ५ ॥

अर्थः–लोक से अतीत–बाहर के पद की इच्छा करता हुआ लोक से विलक्षण मार्ग का चलने वाला हो, इस सब पृथिवी को पवित्र करता हुआ आत्माराम—आत्मा में रमण करने वाला शिष्ट हो ।

निंदास्तोत्रे मानामानौ
समदृष्टेस्ते किं कुरुताम् ।
कुरुतां लोकः कामं स्वेष्टं
का ते हानि र्भव शिष्टः ॥ ६ ॥

अर्थः—निन्दा स्तुति और मान अपमान से तुझ समदर्शी को क्या करना है—कुछ नहीं, लोक अपनी इच्छानुसार कामना किया करें, तेरी क्या हानि है-कुछ नहीं, शिष्ट हो ।

शैवः शाक्तो गणपति भक्तो
वैष्णव सौराविति नाना ।
अज्ञात्वायं जाता लोके
सत्वं शंभुर्भव शिष्टः ॥ ७ ॥

अर्थः–शैव–शिव उपासक, शाक्त–शक्ति के उपासक, गणपति के भक्त, वैष्णव–विष्णु उपासक सौर–सूर्य उपासक अनेक जिसको न जान कर लोक में हुये हैं, वह शंभु तू है, शिष्ट हो ।

जलबुद्बुद्वज्जगदिदमखिलं
पश्यन्नात्मनितिष्ठत्वम् ।

कोवा मोहः शोकः कोवा
द्वैत दृशस्तव भव शिष्टः ॥ ८ ॥

अर्थः--इस संपूर्ण जगत् को जल के बबूले के समान जान कर तु आत्मा में टिक, मोह क्या अथवा शोक क्या यह तेरी द्वैत दृष्टि है, शिष्ट हो।

अजपा मंत्रं देशिक वचना
ल्लुब्ध्वा देवं स्वात्मानम्।
ज्ञात्वा सहजावस्थायां वस
भावातीतो भव शिष्टः ॥ ९ ॥

अर्थः--देशिक--सद्गुरु के वचन से अजपा मंत्र में लुब्ध हो कर अपने आत्मा को जान कर सहजा--तुरीयावस्था में वास कर, भाव से अतीत शिष्ट हो।

शिष्ट स्तोत्रं ब्राह्मिष्टानां
तुष्टि करं स्यादिति कलये।
उक्तावस्था सर्वेषांस्याद्
गुरु कृपया किल बुद्धिमताम् ॥१०॥

अर्थः--ब्रह्म की इच्छा करने वालों को यह शिष्ट स्तोत्र कलियुग में संतुष्टि करने वाला हो, और गुरु कृपा से सब बुद्धिमानों को उपरोक्त अवस्था की निश्चय प्राप्ति हो।

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

प्रतिपक्षीः-यहां उपक्रम के बल से ऐसा जान पड़ता है कि विज्ञानात्मा का उपदेश है। पति, जाया, पुत्र, वित्त आदि सब भोग्य रूप जगत आत्मा के निमित्त प्रिय होता है, इस प्रकार प्रिय शब्द से सूचना किये हुये भोक्ता आत्मा का उपक्रम किया है तो पीछे आत्मा के दर्शन आदि द्वारा जो उपदेश किया है, वह आत्मा के सिवाय दूसरे किस का हो सक्ता है? यानी नहीं हो सक्ता, बीच में भी कहा है कि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनं एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय. तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (यह महान्, सत्य, अनन्त, अपार, विज्ञान, एक रस इन भूतों में से उत्पन्न हो कर उन्हीं के पीछे विनाश को प्राप्त होता है, मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता' इस प्रकार प्रकृत रूप महत् रूप तथा द्रष्टव्य रूप भूत का विज्ञानात्मं भाव द्वारा भूतों में से प्रकट होना कहा है, इस से श्रुति यह दर्शाती है कि द्रष्टव्यपना भी विज्ञानात्मा का ही है। श्रुति कहती हैः-"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्', अरे! विज्ञाता को किस करके जाने) इस प्रकार कर्ता शब्द से जो उपदेश किया है, उस से यह ही सिद्ध होता है कि विज्ञानात्मा का ही उपदेश है। इस लिये 'आत्मा के विज्ञान से सर्व का विज्ञान होता है' यह वचन भोक्ता के निमित्त होने से ऐसा समझना चाहिये कि भोग्य समूह औपचारिक-गौण रूप है।

सिद्धान्तीः-नहीं! तेरा कहना ठीक नहीं है, यहां वाक्य के अन्वय से परमात्मा का ही उपदेश है, पूर्वापर सम्बन्ध से ऐसा जान पड़ता है कि ये वचन परमात्मा का ही निरूपण करने वाले हैं क्यों कि श्रुति में कहा है कि 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' (अमृतत्व की तो वित्त द्वारा आशा नहीं है) ऐसा याज्ञवल्क्य से सुन कर मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा है 'येनाहं नामृतस्यां किमहंतेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' (जिस से मैं अमर न होऊं, उस का मैं क्या करूं? हे भगवन्! आप जो जानते हो वह ही मुझ से कहो, इस प्रकार अमरपने की आशा रखने वाली मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने इस आत्मविज्ञान का उपदेश किया है, श्रुति और स्मृति के ऐसे वचन हैं कि परमात्मा के विज्ञान सिवाय अन्य प्रकार से अमरपना नहीं होता, आत्मा के विज्ञान से जो सर्व का विज्ञान कहा है, वह परम कारण के विज्ञान सिवाय अन्य किसी प्रकार मुख्य अर्थ में नहीं हो सक्ता इसी प्रकार यह भी नहीं समझा जाता कि यह औपचारिक--गौण है

क्योंकि आत्मा के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा करके पीछे के ग्रन्थ से यह ही प्रतिपादन किया गया है जैसे कि 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' 'जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न जानता है उसको ब्रह्म श्रेय मार्ग से भ्रष्ट करता है), ब्राह्मण क्षत्रिय आदि इस जगत् को जो आत्मा से भिन्न स्वतंत्र-पने से सत् स्वरूप देखता है, वह मिथ्यादर्शी श्रेय मार्ग से भ्रष्ट होता है क्योंकि वह मिथ्यादर्शी, ब्राह्मण क्षत्रियादि रूप मिथ्या जगत् को सत् स्वरूप देखता है, इस प्रकार भेद दृष्टि का निषेध कर के अंत में कहा है:– 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब जो यह आत्मा है) इस प्रकार यह दर्शाया है कि यह सब वस्तु समूह आत्मा से अभिन्न है। इसी के सम्बन्ध में दुंदुभि आदि का दृष्टांत दिया है। इस प्रकार ऐसा सिद्ध किया है कि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। श्रुति में कहा है:–'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' [वृ० ४।५।११] (जो यह ऋग्वेद है वह इस सत्य ब्रह्म का निःश्वास रूप है) इस प्रकार ऐसा कहा है कि प्रकृत आत्मा ही नाम, रूप तथा कर्म के विस्तार को प्राप्त हुआ है, और प्रकृत आत्मा का ही परमात्मा रूप से निरूपण है। इसी प्रकार एकायन प्रक्रिया में (बृह० ४।५।१०) भी विषय, इन्द्रिय, और अंतःकरण सहित प्रपंच का एक स्थान, जिस का भीतर अथवा बाहर कहीं नहीं है, संपूर्ण प्रज्ञानैकरस है, इस प्रकार समझाता हुआ (याज्ञवल्क्य) परमात्मा को ही समझाता है इस लिये ऐसा समझा जाता है कि यह दर्शनादि उपदेश परमात्मा का ही है ॥ १९ ॥

प्रियपने द्वारा सूचना किये हुये (भोक्ता आत्मा) के उपदेश से यह दर्शनादि उपदेश विज्ञानात्मा का ही है, ऐसा जो कहा था, उस के उत्तर में नीचे का सूत्र कहना चाहिये:–

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः–लिंगम् [प्रियत्व आदि के कथन रूप जो आत्मा के लिंग हैं वे] लिङ्ग **प्रतिज्ञासिद्धेः** प्रतिज्ञा की सिद्धि के [सूचक हैं, ऐसा] **आश्मरथ्यः** आश्मरथ्य [मानता है]।

टीकाः–यहां ऐसी प्रतिज्ञा है कि 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (आत्मा के विज्ञान से इस सब का विज्ञान हो जाता है) और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब जो यह आत्मा है)। यहां ऐसा जो कहा है कि प्रिय रूप से भली प्रकार सूचन किया हुआ जो आत्मा है, उस का दर्शनादि करना योग्य है। यह कथन इस प्रतिज्ञा की सिद्धि सूचन करने वाला लिंग है क्योंकि यदि विज्ञानात्मा परमात्मा से अन्य होवे तो परमात्मा के विज्ञान होने पर भी विज्ञानात्मा का विज्ञान न होवे, ऐसा मानने से यह जो प्रतिज्ञा की है कि एक के विज्ञान से सब का विज्ञान हो जाता है, उस की हानि होवे इस लिये प्रतिज्ञा की सिद्धि के निमित्त विज्ञानात्मा और परमात्मा का अभेद रूप से उपक्रम है। ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानता है ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः–उत्क्रमिष्यतः [देहादि उपाधि के] त्याग से **एवम्** ऐसा ब्रह्माभिन्न) **भावात्** भाव से [श्रुति में अभेद रूप से उपक्रम है] **इति** ऐसा **औडुलोमिः** औडुलोमि [मानता है]।

टीकाः–यह इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघात रूप उपाधि के सम्बन्ध से मलिन हुआ विज्ञानात्मा, जब ज्ञान ध्यान आदि साधनों के अनुष्ठान से शुद्ध होकर देहादि संघात में से निकलने की इच्छा करता है तब परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त होता है, यह ठीक है, इस लिये अभेद रूप से यह उपक्रम है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानता है। श्रुति भी ऐसी है:– 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योति रूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छान्दो० ८।१२।३।] (यह जीव इस शरीर में से उत्थान करके-अपने रूप का साक्षात्कार करके परज्योति को प्राप्त होता है)। कई स्थानों पर नदी के दृष्टान्त से श्रुति ऐसा भी जताती है कि नाम और रूप जीव के आश्रय हैं जैसे कि 'यथा नद्यः

स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मुण्ड० ३।२।८] 'जैसे बहती हुई नदियां नाम और रूप को छोड़ कर समुद्र में मिल जाती हैं इसी प्रकार नाम और रूप से विमुक्त हुआ विद्वान् पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है)। जैसे लोक में नदियां अपने आश्रय रहे हुये नाम और रूप को त्याग कर समुद्र में मिल जाती हैं, ऐसे ही जीव भी अपने ही आश्रय रहे हुये नाम और रूप को त्याग कर पर पुरुष को प्राप्त होता है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की तुल्यता के निमित्त यहां ऐसा अर्थ प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥२२॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अवस्थितेः [परमात्मा की ही जीव रूप से] स्थिति होने से [अत्यन्त अभेद के कारण श्रुति में इस प्रकार का उपक्रम है] इति ऐसा काशकृत्स्नः काशकृत्स्न [मानता है]।

टीकाः—यह परमात्मा ही इस विज्ञानात्मा रूप से रहता है इस लिये अभेद के कारण उपक्रम युक्त है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानता है। श्रुति में कहा हैः—'अनेन जीवेनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६।३।२] (इस जीव द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विस्तार करूंगा) यह श्रुति परमात्मा की ही जीव रूप से स्थिति दर्शाती है और इसी प्रकार मंत्र वर्ण में भी कहा हैः—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो-नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' [तै० आ० ३।१२।७] (सब रूपों को उत्पन्न कर के और नामों को रख कर सर्वज्ञ परमात्मा उनमें प्रवेश करके रहता है) इस आदि सृष्टि से पृथक् जीव की कोई सृष्टि नहीं कही है, कि जिससे परमात्मा के सिवाय उसका विकार रूप जीव हो इस लिये अविकारी परमेश्वर ही जीव है, जीव कोई अन्य नहीं है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य का [illegible] आश्मरथ्य का यह मत है कि यद्यपि परमात्मा से जीव का अभिन्नपना है तो भी प्रतिज्ञा की सिद्धि के निमित्त ऐसा अपेक्षा वाला वचन है जिससे ऐसा सिद्ध होता है कि कोई एक कार्य कारण भाव है। औडुलोमि के मत के अनुसार भिन्न २ अवस्थाओं को लेने से भेद अभेद सिद्ध होता है। इन सब मतों में काशकृत्स्न का मत श्रुतियों के अनुसार है, ऐसा सिद्ध होता है। जीव ईश्वर की एकता का प्रतिपादन तत्वमसि आदि श्रुतियों द्वारा किया गया है। एकता होने पर और आत्म ज्ञान होने पर ही अमृतत्व हो सका है, यदि जीव को विकार वाचक मानें तो विकार का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने से प्रलय होवे और ऐसा होने से आत्म ज्ञान से अमृतत्व की कल्पना मिथ्या ठहरे, नाम और रूप जीव के आश्रय नहीं हो सके इस लिये उपाधि के कारण नाम और रूप का जीव में उपचार—गौणपना होता है इसी कारण से किसी किसी स्थान पर अग्नि की चिंगारी के उदाहरण से जीव की उत्पत्ति जो कही गई है, वह उपाधि के कारण से है ऐसा समझना चाहिये। प्रकृत और द्रष्टव्य स्वरूप महद् ब्रह्म के भूतों में से उत्पन्न होने को श्रुति विज्ञान रूप से दर्शाती है और श्रुति ऐसा भी कहती है कि द्रष्टव्यपना विज्ञानात्मा का ही है। उसमें इन तीन सूत्रों की योजना करनी चाहिये जैसे कि 'प्रतिज्ञा सिद्धे र्लिङ्गमाश्मरथ्यः' [ब्र० सू०२०] यहां यह प्रतिज्ञा की है—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' [बृ० २।४।६] (आत्मा का ज्ञान होने पर सब का ज्ञान हो जाता है) और 'इदं सर्वं यद-यमात्मा' [बृ० २।४।६] (यह सब आत्मा है) यहां दुन्दुभि आदि के दृष्टांत से ऐसा प्रतिपादन किया है कि इन सब नाम, रूप तथा कर्म के विस्तार की उत्पत्ति एक में से है और उनका लय भी एक में ही होता है। इसी प्रकार यह भी प्रतिपादन किया है कि कार्य तथा कारण एक है। द्रष्टव्य रूप परब्रह्म का विज्ञानात्मा रूप से भूतों में से निकलना यह जो वचन है, वह प्रतिज्ञा की सिद्धि का सूचन करता है। इस प्रकार आश्मरथ्य नाम का आचार्य मानता है। अभेद के होने से ऐसा सिद्ध किया है कि एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है 'उत्क्रमिष्यत

एवंभावादित्यौडुलोमिः' [ब्र० सू० २१] उत्क्रमण की इच्छा करते हुए ज्ञान ध्यानादि से पवित्र हुये विज्ञात्मा की परमात्मा के साथ एकता सम्भव होने से यह अभेद का कथन है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानता है। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' [ब्र० सू० २२] यह ही परमात्मा विज्ञातात्मा के रूप से रहता है इसलिये यह अभेद का कथन युक्त है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानता है।

प्रतिपक्षी:-'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति' [बृ० २। ४। १२] (इन भूतों में से उत्थान करके इन के पीछे ही नाश को प्राप्त होता है, मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता) इस श्रुति में आत्मा के नाश का कथन है, तो जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का कथन किस प्रकार हो सकता है ?

सिद्धान्ती:-यह दोष नहीं है, यहां नाश का जो कथन है, वह विशेष विज्ञान के नाश का कथन है, जीवात्मा के नाश का कथन नहीं है क्यों कि श्रुति में कहा है:-'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' (मैत्री ने कहा मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता, ऐसा कहने से भगवान्! आपने मुझे मोह में डाल दिया है) इस प्रकार की योजना कर के श्रुति में भिन्न अर्थ का निरूपण किया है जैसे कि 'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्ति धर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (अरे! मैं ऐसा नहीं कहता कि मोह हो, अरे! यह आत्मा अविनाशी है, अनुच्छेद इस का धर्म है, मात्रा के साथ इस का संसर्ग नहीं है)। मतलब यह है कि यह आत्मा कूटस्थ, नित्य, विज्ञानैकरस है, उस के उच्छेद-नाश का प्रसंग नहीं है, विद्या की प्राप्ति होने पर अविद्या की की हुई भूतेन्द्रिय लक्षण वाली मात्राओं के संसर्ग से वह रहित हो जाता है। संसर्ग के अभाव के कारण उस के किये हुये विशेष विज्ञान का अभाव हो जाता है इसलिये ऐसा कहा है कि मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (अरे! विज्ञाता को किस कर के जाने) इस प्रकार कर्ता वाचक शब्द से जो उपसंहार है, वह विज्ञानात्मा का ही समझना चाहिये, ऐसा जो कहा है, उसका परिहार भी काशकृत्स्न के मत से हो सकता है। 'यत्रतुद्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' [बृ० २।४।१३] (जहां द्वैत के समान होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है) इस प्रकार आरंभ करके अविद्या के विषय में दर्शनादि लक्षण वाले जीव के विशेष ज्ञान का विस्तार किया है और 'यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत्तत् केनकं पश्येत्' (जहां इसको सब आत्मा ही हो जाता है वहां किस से किस को देखे) इत्यादि से विद्या के विषय में दर्शनादि लक्षण वाले उस जीव के विशेष विज्ञान का अभाव कहा है। और विषय के अभाव में भी आत्मा का विज्ञान रहे ऐसी आशंका करके ऐसा कहा है:--'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (अरे! विज्ञाता को किस करके जाने) इस प्रकार पिछला वाक्य विशेष विज्ञान का अभाव प्रतिपादन करता है। यद्यपि आत्मा विज्ञानैकरस केवल है तो भी पूर्व की जो स्थिति थी उस स्थिति से कर्ता वाचक तृच प्रत्यय से कथन किया है, ऐसा समझा जाता है। यह तो पहिले ही कह चुके हैं कि काशकृत्स्न का मत श्रुति प्रतिपादित है इसलिये अविद्या के किये हुये नाम और रूप से रची हुई देहादि उपाधियों से किये हुये विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद है, पारमार्थिक भेद नहीं है, यह बात सब वेदान्त वादियों ने स्वीकार की है जैसे कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छान्दो० ६। २। १] (हे प्रिये! पूर्व में यह सत् स्वरूप ही एक अद्वितीय था) 'आत्मैवेदं सर्वम्' [छान्दो० ७। २५। २] (यह सब आत्मा ही है) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [मुण्ड० २। २ ११] (यह सब ब्रह्म ही है) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृ० २। ४। ६] (जो यह सब है, वह आत्मा है) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' [बृ० ३। ७। २३] (इसके सिवाय दूसरा द्रष्टा नहीं है) 'नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ' [बृ० ३। ८ ११] (इसके सिवाय दूसरा द्रष्टा नहीं है, इस प्रकार श्रुति के वचनों से आत्मा की एकता सिद्ध है।

अपूर्ण।

योगचूडामणि उपनिषद् ।

योगियों के हित की कामना से मैं योगचूडामणि उपनिषद् को कहता हूं। जो योग वेत्ताओं से सेवन किया गया है, गूढ़ है और कैवल्य सिद्धि को देने वाला है ॥ १ ॥ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के छः अंग हैं ॥ २ ॥ एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन कहा गया है। छः चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य और पांच आकाशों को ॥३॥ जो अपने देह में नहीं जानता, उसको सिद्धि किस प्रकार हो। आधार चक्र चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र छः दल वाला है ॥४॥ नाभि में दश दल हैं, हृदय में बारह दल वाला पद्म है। विशुद्ध नाम का चक्र सोलह दल वाला है और भ्रुकुटी के मध्य में दो दल हैं ॥ ५ ॥ महापथ ब्रह्म रन्ध्र में हजार दल की संख्या वाला (चक्र) है। आधार पहिला चक्र है, दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र ॥ ६ ॥ योनि स्थान में है, दोनों के मध्य में काम रूप कहा जाता है। काम नाम का चार दल वाला कमल गुदा के स्थान में है ॥ ७ ॥ उसके मध्य में काम नाम की सिद्धों से वन्दना की गई योनि कहलाती है। उसके मध्य में पश्चिम की तरफ मुख वाला महा लिंग स्थित है ॥ ८ ॥ नाभि में मणि के समान बिम्ब वाले को जो जानता है, वह योगवित् है। तपे हुये सोने के समान प्रकाश वाला, बिजली की रेखा के समान चमकता हुआ ॥९॥ तीन कोण वाला मेढ्र के नीचे स्थित वह्नि का पुर। समाधि में परम ज्योति वाला, अनन्त और विश्वतोमुख है ॥ १०॥ महा योग में उसको देखने से आना जाना नहीं रहता, स्व शब्द से प्राण होता है, स्वाधिष्ठान उसके आश्रय होता है ॥ ११ ॥ वह स्वाधिष्ठान के आश्रय होने से मेढ्र कहा भी जाता है। तंतु से प्रोये हुये मणियों के समान वहां जो कन्द सुषुम्ना से प्रोया हुआ है ॥१२॥ नाभि मण्डल में वह चक्र मणि पूरक कहलाता है। पुण्य पाप से रहित बारह दल वाले महा चक्र में ॥ १३ ॥ जब तक जीव तत्व को नहीं जानता तब तक भ्रमण करता है, मेढ्र से ऊपर नाभि से नीचे कन्द में पक्षी के अन्डे के समान योनि है ॥ १४ ॥ वहां बहत्तर हजार नाड़ियां उत्पन्न हुई हैं, वे बहत्तर हजार नाड़ियां कहलाती हैं, ॥१५॥ उन में से दश प्राण को चलाने वाली मुख्य समझी जाती हैं। इडा, पिंगला और तीसरी सुषुम्ना है। गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्वनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी दशवीं कही गई हैं ॥ १६ ॥ इस नाड़ी महा चक्र को योगियों को सदा जानना चाहिये। इडा वाम भाग में स्थित है, पिंगला दक्षिण भाग में स्थित है ॥ १७ ॥ सुषुम्ना मध्य देश में, गांधारी बायें नेत्र में। हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र में, पूषा दक्षिण कर्ण में॥१८॥ यशस्विनी बांये कर्ण में, अलम्बुसा मुख में, कुहू लिंग देश में और शंखिनी मूल स्थान में है ॥ १९ ॥ इस प्रकार बारह नाड़ियां एक दूसरी का आश्रय करके क्रम से स्थित हैं, इडा, पिंगला और सुषुम्ना प्राण मार्ग में स्थित हैं ॥२० ॥ चन्द्र, सूर्य और अग्नि देवता सदा प्राण को चलाने वाले हैं, प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नाम के वायु हैं ॥२१॥ नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय (उपवायु हैं)। प्राण नित्य हृदय में स्थित है, अपान गुदा मंडल में ॥ २२ ॥ समान नाभि देश में, उदान कण्ठ के मध्य में, व्यान सब शरीर में, ये पांच प्राण ही मुख्य हैं ॥ २४ ॥ डकार लेने में नाग, पलक मुंदने में कूर्म कहा गया है। कृकर छींक लाने वाला, देवदत्त जम्भाई लेने में जानो ॥२४॥ सर्व व्यापी धनंजय मरने पर भी नहीं छोड़ता, इन नाड़ियों में सब जीव जन्तु भ्रमण करते हैं ॥२६॥ जिस प्रकार भुज दण्ड से फेंकी हुई गेंद चलती है इसी प्रकार प्राण अपान से फेंका हुआ जीव नहीं ठहरता ॥२७॥ प्राण अपान के वश हुआ जीव नीचे, ऊपर, वाम और दक्षिण मार्ग से दौड़ता है, चंचल होने से दिखाई नहीं देता। २८ ॥ जिस प्रकार रस्सी से बांधा हुआ श्येन पक्षी गया हुआ भी खिंच आता है इसी प्रकार गुणों में बंधा हुआ जीव प्राण अपान कर के खिंचता है ॥ २९ ॥ प्राण अपान के वश हुआ जीव नीचे ऊपर जाता है, अपान प्राण को खेंचता है और प्राण अपान को खेंचता है ॥ ३० ॥ ऊपर और

नीचे स्थित इन दोनों को जो जानता है वह योग-
वित् है, हकार शब्द द्वारा बाहर आता है और
सकार शब्द द्वारा फिर भीतर घुसता है ॥ ३१ ॥
'हंस हंस,' इस मन्त्र को जीव सदा जपता है । दिन
रात में इक्कीस हजार छः सौ ॥३३॥ इस संख्या
युक्त मंत्र को जीव सदा जपता है । अजपा नामकी
गायत्री योगियों को सदा मोक्ष की देने वाली है इसके
संकल्प मात्र से सब पापों से छुट जाता है । इस के
समान विद्या, इस के समान जप ॥३४॥ इस के समान
ज्ञान न हुआ न होगा, कुंडलिनी में उत्पन्न हुई गायत्री
प्राण को धारण करने वाली है ॥३५॥ प्राण विद्या
महाविद्या है, जो उस को जानने वाला है, वह वेद
का जानने वाला है, कन्द के ऊपर कुंडल के आकार
वाली आठ प्रकार की कुंडली शक्ति ॥३६॥ ब्रह्म
द्वार के मुख को नित्य मुख से ढांप कर स्थित है ।
जिस द्वार में होकर जाना होता है, वह ब्रह्मद्वार
उपद्रव रहित है ॥३७॥ परमेश्वरी उस द्वार को मुख
से ढांप कर सोई हुई है, वह्नियोग से जगाई हुई,
मन और प्राण सहित सुई के समान शरीर को
लेकर सुषुम्ना द्वारा ऊपर जाते हैं । जिस प्रकार
कुंजी से घर को खोलते हैं, इसी प्रकार कुंडलिनी
के किवाड़ों को योगी खोले और मोक्ष के द्वार को
भेदन करे ॥ ३९ ॥ दोनों हाथों को संपुटित कर के,
दृढ रीति से पद्मासन लगा कर और ठोड़ी को
छाती पर दृढ रीति से लगा कर चित्त में वारंवार उस
(ब्रह्म) का ध्यान करता हुआ वायु को ऊपर खींचे,
पूरण किये हुये वायु को छोड़ने से मनुष्य शक्ति के
प्रभाव से अतुल बोध को प्राप्त होता है ॥४०॥ श्रम
से उत्पन्न हुये पसीने से अंगों को मले, कड़वे, खट्टे
और लवण का त्यागने वाला दूध के भोजन करे
॥४१॥ ब्रह्मचारी, सूक्ष्म आहार करने वाला योग
परायण योगी साल भर के बाद सिद्ध हो जाय, इस
में विचार न करे ॥४२॥ चिकना, मधुर आहार चौथा
अंश छोड कर शिव की प्रीति के लिये भोजन करे,
वह मिताहारी कहलाता है ॥४३॥ कन्द के ऊपर
कुंडल के आकार वाली आठ प्रकार की कुंडली
शक्ति मूढों को बंधन करने वाली और योगियों को

सदा मोक्ष की देने वाली है ॥४४॥ महामुद्रा, नभमुद्रा,
ओड्याण, जलंधर और मूलबंध को जो जानता है
वह योगी मुक्ति का पात्र है ॥४५॥ एडी से दृढ दबा
कर योनि को सकोड़े, अपान को ऊपर खेंचे, यह
मूल बंध कहलाता है ॥ ४६ ॥ अपान और प्राण की
एकता और मूत्र पुरीष की न्यूनता होने से मूल
बंध सदा करने से वृद्ध भी जवान हो जाता है ॥४७॥
जिस से थका हुआ महा पक्षी उड्याण करता है
वह उड्याण मृत्यु रूपी हाथी के लिये सिंह है ॥४८॥
उदर से नाभि के नीचे पश्चिम तान कहलाता है
उड्ययाण उदर में बन्द है, वहां बंध कहा जाता है
॥४९॥ नीचे जाने वाले आकाश और जल को शिर में
बांध देता है इस लिये जालंधर बंध कष्ट और दुःख
समूह को नाश करने वाला है ॥५०॥ कंठ संकोच
लक्षण वाले जालंधर बंध के करने से अमृत अग्नि
में नहीं दौड़ता और न वायु दौड़ता है ॥५१॥ जीभ
को उलटी करके कपाल के छिद्रमें प्रवेश की हुई
दृष्टि भ्रकुटी में मध्य में गई हुई खेचरी मुद्रा होती
है ॥५२॥ जो खेचरी मुद्रा को जानता है उस को रोग,
मरण, निद्रा, भूख, प्यास और मूर्छा नहीं होती ॥५३॥
रोग कर के पीड़ा को नहीं प्राप्त होता, न कर्मों से
लिपायमान होता है, किसी से बाधा नहीं पहुंचाया
जाता, जो खेचरी मुद्रा को जानता है ॥५४॥ जिस से
चित्त आकाश में विचरता है और जिह्वा आकाश में
विचरती है, इस लिये वह खेचरी मुद्रा सब सिद्धों
से नमस्कार की गई है ॥५५॥ पैर से लेकर मस्तक
तक के शरीरों को पोषण करने वाली शिरायें बिन्दु
और मूल के शरीरों में स्थित हैं ॥५६॥ जिह्वा के
ऊपर का छिद्र खेचरी द्वारा जिस ने मूंद दिया है
उस का बिन्दु कामिनी के आलिंगन से क्षय नहीं होता
॥५७॥ जब तक बिन्दु देह में स्थित है तब तक मृत्यु का
भय कहां, जब तक खेचरी मुद्रा बांधी हुई है तब
तक बिन्दु नहीं जाता ॥ ५८ ॥ जिस प्रकार निकला
हुआ और अग्नि को प्राप्त हुआ बिन्दु योनि मुद्रा की
शक्ति से रोका हुआ ऊपर जाता है ॥५९॥ वह बिन्दु
सफेद और लाल दो प्रकार का है, सफेद शुक्ल कहा
जाता है और लाल महारज कहलाता है । ॥६०॥ अपूर्ण

Registered No. A 860




ॐ

वेदान्त केसरी ।

मासिक पत्र ।

पुस्तक ६ } पौष सं० १९८० । जनवरी १९२४ { अंक ३

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा ।

वार्षिक मूल्य ३) | एक प्रति का मूल्य ।=)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० दयालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य २) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू
आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-)
वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य २), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्य...
मूल्य ।=) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | पौष सं० १९८० । जनवरी १९२४ | अङ्क ३

एक मुमुक्षु की चिन्ता ।

हरिगीत छन्द ।

(१)
"परमात्म सर्वाधार है, सत्शास्त्र कहते सन्त भी ।
सब से बड़ा अति ही प्रकट नहिं गुप्त होता है कभी ॥
तो भी मुझे नहिं दीखता वह, शोक अचरज है बड़ा ।
रे हाय ! मेरी बुद्धि पर यह कौनसा पत्थर पड़ा ॥

(२)
सब नाम जपते ईश का, सब भक्ति उसकी कर रहे ।
क्या वे बिना जाने हुये ही ध्यान उस का धर रहे ॥
सब शक्तियां हैं ईश में संसार भर यह मानता ।
है क्यों नहीं निश्चय मुझे मैं क्यों उसे नहिं जानता ॥

(३)
चर होय अथवा हो अचर, है ईश सब में एक सा ।
समदर्शि करुणा सिन्धु है सब में रमा सब में बसा ॥
मेरी हि होगी भूल तो भी चाहिये था दीखना ।
जाना न ईश्वर आज तक निष्फल हुआ सब सीखना ॥

(४)
नहिं रूप है नहिं रंग तो कैसे भला देखूं उसे ।
नहिं इन्द्रियों का ही विषय पकडूं उसे किस भांति से ॥
एक बार भी यदि दीख जावे फिर नहीं छुपता कभी ।
झूठी नहीं है बात यह, ऋषि सिद्ध कहते हैं सभी ॥

(५)
क्या आंख पर उनके लगा कोई विलक्षण कांच है ।
पुतली उन्हों की और है या और ही कुछ आंख है ॥
जाना जिन्होंने तत्व को संतुष्ट हैं वे नित्य ही ।
मैं भी रहूं संतुष्ट, ऐसा भाग्य क्या मेरा नहीं ॥

(६)
है ज्योतियों का ज्योति तो आता नहीं क्यों दृष्टि में ।
मैं देख सक्ता हूं सभी जो ज्योतियां हैं सृष्टि में ॥
नहिं दीखता क्या इस लिये तारीफ की भरमार है ।
सब से बड़े को दे छुपा, वह कौन ऐसी आड़ है ॥

(७)
नहिं दीखता तो है नहीं, मिथ्या हि ऐसा है कथन ।
नहिं झूंठ कोई कर सके है शास्त्र संतों के वचन ॥
कहते असत् जिस जगत् को सो सामने है दीखता ।
जिस ब्रह्म को सच्चा कहें, उसका नहीं लगता पता ॥"

(८)
इस भांति मनमें सोचता जिज्ञासु एक भटका किया ।
खाईं बहुत सी ठोकरें, बहु काल शिर पटका किया ॥
अंतःकरण था मलिन तब तक तत्व नहिं भासा इसे ।
दर्पण मलिन में साफ मुख दीखे भला ! किस भांतिसे ॥

(९)
सत्संग से कुछ काल में मन शुद्ध जब होने लगा ।
सद्गुरु कृपा उपदेश उसकी समझ में आने लगा ॥
स्वस्वरूप का ज्ञाता हुआ, परमात्म भासा सृष्टि में ।
हटता नहीं अब एक क्षण, आता न था जो दृष्टि में ॥

(१०)
आतम कृपा बिन गुरु कृपा नहिं काम में कुछ आय है ।
आसक्ति हो निर्मूल तब ही बोध सम्यक् पाय है ॥
चातुर्यता इस जगत् की नाहिं बोध में कुछ काम की ।
कौशल्य ! आतम बोध ही है वस्तु एक आराम की ॥

ब्रह्मोपासना ।

किसी प्रकार की उपासना हो, सहारा लिये बिना नहीं होती । स्थूल, सूक्ष्म और कारण भेद से सहारा तीन प्रकार का होता है । सगुण ऐसी जो साकार उपासना है, उस में सहारा स्थूल है । अमुक आकृति वाले, अमुक गुण वाले इष्टदेव की जो उपासना की जाय, वह सगुण-साकार उपासना है, सगुण और निर्गुण भेद से ब्रह्म की उपासना दो प्रकार की है । सगुण ब्रह्म कार्य ब्रह्म कहलाता है और निर्गुण ब्रह्म कारण ब्रह्म कहलाता है । जिस में गुणों का सहारा हो यानी उपास्य अमुक २ गुण वाला है, इस प्रकार मन की धारणा से जो उपासना की जाय, वह सगुण ब्रह्मोपासना है । साकार इष्टदेव की उपासना से सगुण सूक्ष्म है । सगुण साकार से सगुण निराकार ब्रह्मोपासना कठिन है और जिस में गुणों का प्रवेश न हो, ऐसी जो उपासना है, वह निर्गुण ब्रह्मोपासना है, और सगुण से कठिन और श्रेष्ठ है । निर्गुण उपासना में गुणों का प्रवेश नहीं है तो भी वह गुणों के सहारे से लक्ष कराने वाली है । शास्त्र के कथन किये हुये विधि और निषेध विशेषणों- गुणों से लक्ष बांध कर उपासना की जाती है, सगुण उपासना के अधिकारी से निर्गुण उपासना का अधिकारी उच्च होता है यानी अंतःकरण की विशेष शुद्धि वाला और सूक्ष्म बुद्धि वाला होता है, ऐसा न हो तो निर्गुण ब्रह्मोपासना कर नहीं सका, सब प्रकार की उपासनाओं में निर्गुण ब्रह्मोपासना सब से श्रेष्ठ है और उस का फल भी अंतिम कैवल्य है । जिस का अंतःकरण पूर्ण शुद्ध न हो, जिस की बुद्धि अति तीव्र न हो, श्रद्धा से सद्गुरु के शरण जाने पर और तत्वमसि आदि महा वाक्यों का गुरु मुख से श्रवण करने पर भी जिस को तत्व का बोध न हो, वह पुरुष निर्गुण उपासना का अधिकारी है । जो निर्गुण उपासना न कर सके यानी जिस का चित्त निर्गुण उपासना को न पकड़ सके, ऐसा पुरुष सगुण ब्रह्म की उपासना का अधिकारी है । बोध

और उपासना एक नहीं हैं, इन दोनों में अंतर है:
बोध प्रत्यक्ष है, उपासना अनुमान है, बोध सत्
स्वरूप वस्तु का है, उपासना कल्पना है तो भी क्रम
ज्ञान और मोक्ष का हेतु है । सगुण उपासना से का
ब्रह्म की और निर्गुण उपासना से कारण ब्रह्म
प्राप्ति होती है । सगुण ब्रह्म ब्रह्मलोक है और निर्गु
ब्रह्म कारण ब्रह्म रूप यानी कैवल्य-परम पद है
उपासना संवादी भ्रम है । भ्रम होते हुये
जिस का अनायास होने वाला फल यथार्थ हो,
संवादी भ्रम कहते हैं, उपासना का फल यथार्थ
इस लिये अधिकारी मुमुक्षुओं को अवश्य कर्तव्य है
बोध ज्ञान स्वरूप है, उपासना कर्म स्वरूप है क्योंकि
उपासना मानसिक क्रिया है । उपासना कर्म होते हु
भी ज्ञान स्वरूप की तरफ की श्रद्धा-क्रिया होने
बोध को प्राप्त कराती है । उपासना कर्म है तो
कर्म का अंत करने वाली होने से दोनों प्रकार
ब्रह्मोपासना ज्ञान का साधन कही जाती है । कि
पूर्ण संस्कारी को ही उपासना रहित तत्व बोध
सका है, इस लिये अधिकार के अनुसार उपास
कर्तव्य है । उपासना का फल यथार्थ होने से उप
सना व्यर्थ नहीं जाती इस लिये करने के योग्य
उपासना से कितने समय में ज्ञान—मोक्ष हो
यानी उपासना का फल कब प्राप्त होगा यह निश्चि
नहीं है इस लिये जब तक उपासना का फल अ
बोध प्राप्त न हो तब तक उपासना करते रह
चाहिये । यदि उपासना करते हुये शरीर का
हो जाय तो भी उपासना व्यर्थ नहीं होती,
वह ही उपासना फिर से चालू होती है । उपास
उपासना किये जाय, किसी प्रतिबंध से न रु
अवश्य फल को प्राप्त करलेता है । बोध से उपास
की कक्षा भिन्न है तो भी उपनिषदों में उपास
अनेक विधान ज्ञान के साथ में अथवा ज्ञा
आरंभ में कहे गये हैं क्योंकि वे बोध का हेतु
निर्गुण उपासना एक होते हुयेभी अनेक प्रकार से
है, उन सब का फल एक तत्व बोध ही है । वे
शाखायें बहुत होने से शाखा भेद से उपासना
भेद है परन्तु फल एक ही है, फल में भिन्न
होने से उपासना एक ही है, जैसे अनेक प्रकार

भोजन बनाने की विधि भिन्न २ है परन्तु भोजन से होने वाली तृप्ति रूप फल एक ही है इसी प्रकार सब निर्गुण उपासनाओं का फल एक ही है। सगुण साकार उपासना की विधि बैठक-आसन आदि प्रथम बता चुके हैं। निर्गुण ब्रह्मोपासना में उस विधि की विशेष आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह उपासना मानसिक और श्रद्धा प्रधान है। यदि इस उपासना में उसी प्रकार आसन आदि से बैठें तो कुछ हानि भी नहीं है। चित्त अति चंचल होने के कारण सगुण साकारोपासना में आसनादिक की मदद की आवश्यकता रहती है, ब्रह्मोपासना वाले का चित्त इतना चंचल नहीं होता इस लिये उस को आसनादिक की आवश्यकता नहीं है, सगुण साकारोपासना का विषय मनग्राह्य है और ब्रह्मोपासना का ग्राहक श्रद्धा और निश्चय वाला है, सगुण निर्गुण ब्रह्मोपासना में विचार युक्त एकाग्रता है, उस में बुद्धि वृत्ति उपास्य के समान आकार वाली होनी चाहिये और अन्य व्यवधान को आने न देना चाहिये। अप्रत्यक्ष होने से उपासना श्रद्धा की नींव पर खड़ी की जाती है, यदि नींव दृढ़ न हो तो उपासना रूप महल बन नहीं सक्ता यानी उपासना का फल यथार्थ नहीं हो सक्ता। गुरु वाक्य को अटल समझ कर वाक्यानुसार श्रद्धा से बनाई हुई मूर्ति के साथ बुद्धि वृत्ति की एकता होनी चाहिये। जैसी जिस की बुद्धि होती है, वैसा ही वह पुरुष समझा जाता है। बुद्धि वृत्ति का निश्चय जीव भाव में है। यदि वृत्ति जीवाकार है तो जीव है। वास्तविक जीव है नहीं, ब्रह्म तत्व ही वास्तविक है। तत्व के भाव की वृत्ति को निर्गुण उपासना कहते हैं। अंतः करण की तत्वाकार वृत्ति तत्त्व बोध है और तत्त्व के भाव की वृत्ति निर्गुण उपासना है यानी तत्त्व बोध तत्वाकार वृत्ति है जिस को साक्षात्कार कहते हैं और तत्त्व के भाव की वृत्ति उपासना है। तत्वाकार वृत्ति वस्तु स्वरूप है, और तत्व भाव की वृत्ति कल्पना रूप है, कल्पना रूप होते हुये भी सत्य की कल्पना होने से फलमें यथार्थ है। जिस प्रकार जीव भाव के निश्चय से जीव बन कर सुख दुःख का भोग करता है इसी प्रकार जब ब्रह्म भाव का निश्चय होता है तब जीव भाव टूट जाता है। जीव भाव टूटने तक ब्रह्म भाव रखने की आवश्यकता है, पीछे नहीं है क्योंकि जब जीव भाव टूट जाता है तब ब्रह्म ही शेष रहता है। ब्रह्म वस्तु है इसलिये उसके लिये भाव की आवश्यकता नहीं है।

एक घोड़े सवार मुसाफिर जंगल में पानी के एक झरने के पास घोड़े को पेड़ से बांध कर बैठा था, वह थका हुआ था इसलिये उसको नींद आगई। थोड़ी देर बाद आवाज होने से जागा तो क्या देखता है कि एक भयंकर सिंह घोड़े को पंजों से मार रहा है। सवार तलवार लेकर सिंह की तरफ दौड़ा, सिंह ने भी सामने से हमला किया। बड़ी मुश्किल से सिंह मारा गया। मुसाफिर का प्यारा घोड़ा प्रथम ही मर चुका था इसलिये वह दुखी होता हुआ पैदल ही वहां से आगे चला। चलते २ शाम हो गई परंतु बस्ती न आई। अंधेरा हो गया था, रस्ते चलते किसी कोमल वस्तु का उसे स्पर्श हुआ। दियासलाई सुलगा कर उसने देखा तो एक तुरंत का जन्मा हुआ हरिन का बच्चा दिखाई दिया। उसको देखकर मुसाफिर प्रसन्न हुआ और जी में सोचने लगा "मैं भूखा हूं, जंगल में से घास फूंस एकत्र करके, इसको पका कर भोजन करूंगा!" इतने में सामने एक हरिनी दिखाई दी, जो मुसाफिर की तरफ देख रही थी और दीन दृष्टि से बच्चे को छोड़ देने की याचना कर रही थी, कभी पास आ जाती थी, कभी भय से भाग जाती थी। मुसाफिर ने बच्चे को हरिनी के सामने रख दिया। हरिनी छलांग मार कर मुसाफिर के पास आ गई। मुसाफिर को दया आई, उस ने बच्चा उसको दे दिया। हरिनी बच्चे को मुख से पकड़ कर और मुसाफिर का आभार मानती हो इस प्रकार देखती हुई चली गई। मुसाफिर को इस दृश्य से बहुत आनंद हुआ, उसने समझा कि ईश्वर की कृपा से आज मुझ से एक शुभ कार्य हुआ। इस प्रकार प्रसन्न होता हुआ रात्रि में ही वह आगे चला। थोड़ी दूर जाने के बाद एक झोंपड़ी दिखाई दी! वहां एक मनुष्य बैठा हुआ था, मुसाफिर ने कहा "महाशय! मैं आज की रात तुम्हारे पास रहना चाहता हूं" मनुष्य ने यह बात मानली और उसके खाने को

दिया। मुसाफिर भोजन करके निश्चिंतता से झोंपड़ी में सो गया। थोड़ी देर में उसे एक सुंदर स्वप्न आया—हरिनी को उस का बच्चा सौंपने का दृश्य उसने देखा, इतने में सफेद वस्त्र धारण किये हुये एक दिव्य आकृति सामने आकर खड़ी हुई, उसके शरीर के आस पास वर्तुलाकार तेज फैल रहा था। उस ने कहा "तू ने हरिन के बच्चे पर जो दया की है, आप भूखा रह कर उसकी जान बख्शी है, उस का फल रूप तू गजनी का बादशाह होगा! बोल! मैं गजनी का बादशाह हूं!" मुसाफिर ने कहा "मैं गजनी का बादशाह हूं!" बोलते ही हर्ष के साथ मुसाफिर जाग गया तो क्या देखता है कि कैद में पड़ा हुआ है! रात्रि वाले लोग लुटेरे थे, उन लोगों ने मुसाफिर को लूट कर अपना कैदी बना दिया था। तीन दिन तक उन लोगों ने मुसाफिर को कुछ खाने को न दिया और गुलाम बना कर चौथे दिन कंधार के बाजार में लेजाकर बेच दिया। एक व्यापारी ने दो सौ रुपये में उसे खरीद लिया, दश बारह दिन तक खूब खिला पिला कर मोटा ताज़ा करके बेचने को निकला। इस समय खुरासान का सूबा अलप्तगीन कंधार में आया हुआ था, उसने अच्छा गुलाम समझ कर मुसाफिर को खरीद लिया। अलप्तगीन खोरासान में गया और नोकरों के साथ नये गुलाम से घर का काम लेने लगा। कुछ दिन बाद जब नया गुलाम कमरे में झाड़ू दे रहा था तब उस ने दीवार पर एक तस्वीर देखी, जिसमें कुछ हरिन स्वेच्छा से इधर उधर फिरते हुये घास खा रहे थे। गुलाम उस तस्वीर को झुक २ कर देखने लगा, उसको वह तस्वीर बहुत पसन्द आई। उस को देख कर उसे हरिन के बच्चे को बचाने की स्मृति हो आई। वह चित्र देखने में इतना तल्लीन हो गया कि उसे आस पास की कुछ खबर न रही। उसी समय अलप्तगीन कमरे में आया और गुलाम के पीछे खड़ा हो गया। बेखबरी में गुलाम के मुख में से जंगल, हरिनी के बच्चे को बचाना, हरिनी का आभार दर्शक मुख बनाना, गजनी का बादशाह होना, इत्यादि शब्द निकल पड़े। वे सब शब्द अलप्तगीन ने सुन लिये। उस समय वह कुछ न बोला और चुप चाप बाहर चला गया।

रात्रि के दश बजे जब सब सो गये थे तब अलप्तगीन के सोने के कमरे के बाहर गुलाम जागता हुआ पड़ा था। उसने किसी के पैर का खटका सुना, देखा तो मालूम हुआ कि उसका मालिक अलप्तगीन है। अलप्तगीन ने अपने साथ आने को इशारा किया। गुलाम उसके पीछे २ हो लिया। अलप्तगीन कमरे में जाकर बोला "हे गुलाम! मैं ने तुझे क्यों बुलाया है, क्या तू जानता है? मैं यह जानना चाहता हूं कि तू कौन है, तू किसी आली खानदान में पैदा हुआ मालूम होता है, सच कह!" गुलाम बोला "आप जैसे रहम दिल आकाके रूबरू मैं कुछ पोशीदा नहीं रख सक्ता, मैं ईरान के सब से अखीर के शाह यज़्दीगर्द खानदान में हूं, उस की खराब हालत का हाल आप जानते ही हो! मैं गरीब हालत में पड़ा हुआ हूं, मैं अपनी तारीफ नहीं करता, सच कहता हूं कि मुझे किसी को सताना अच्छा नहीं लगता, खुदावन्द करीम जानता है, मैंने आज तक किसी के दिल दुखाने का गुनाह नहीं किया! ऐसा होने पर भी खुदा की कुदरत है, मुझे दुःख पर दुःख ही सहना पड़ा है!" ऐसा कहते हुये उसके नेत्रों में से आंसू गिरने लगे! जो कुछ छुप कर सुना था उसको सच्चा समझ कर अलप्तगीन हर्षित हो कर बोला "दुखी हरिनी को सुखी करने वाले शाही खानदान के मुसाफिर! आ, मुझ से भेट कर, तू मुझ से ऊंचे खानदान का है, मुझे तुझ से भेट करने में शर्म नहीं है!" ऐसा कह कर अलप्तगीन ने गुलाम से प्रेम पूर्वक भेट की और कहा "क्या तुझे कुछ लिखना पढ़ना आता है?" गुलाम ने हां की, अलप्तगीन ने उसे अपना खानगी मंत्री नियत किया, कुछ दिन बाद सैन्यापति बनाया, राज काज में उसकी राय लेने लगा! सब सरदार भी गुलाम से राजी थे, पश्चात् उसको अमीरुलउमरा का खिताब दिया गया, तब से वह अमीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक दिन अमीर अपने कमरे में बैठा था, सामने उसे कुछ आहट सुनाई दी। देखता क्या है कि खोरासान के सूबे अलप्तगीन की पुत्री जोहरा आरही है। अमीर ने नमन करके कहा "क्या आप को

कुछ चाहिये ?" जोहरा ने कहा "हां !" और कुछ न बोलने से अमीर समझ न सका कि क्या चाहती है इस लिये बोला "अपने घर की आप मुख्त्यार हो, जो आप को चाहिये ले सकी हो !" जोहरा बोली "अमीर ! मुझे आप के पास से कुछ लेना है !" अमीर नमन करके बोला "यह खादिम जान देने तक को भी तैयार है !" जोहरा बोली "बस ! तो दे दो !" अमीर बोला "आप को किस तरह जान दूं, फरमाइये ?" जोहरा चार पांच कदम आगे आई और अमीर को टिक टिकी बांध कर देखती हुई बोली "मेरी जान आप को बचानी चाहिये, कुदरत की आग से बचानी चाहिये, मैं ने इस काम के लिये आप को ही पसन्द किया है, मेरी सहेलियों ने भी संमति दी है !" अमीर जी में सोचने लगा "जोहरा मुझे खाविंद बनाना चाहती है, अगर हां कर दूं तो फसूं और मालिक नाखुश हो तो भी मुश्किल !" अमीर को चुप देख कर जोहरा बोली "अमीर ! बोलते क्यों नहीं ? मुझे जवाब दो, मुझे जाना है !" अमीर बोला "मैं क्या जवाब दूं ? आप को जवाब देने का मुझे अख्त्यार नहीं है ! मैं एक गुलाम हूं !" जोहरा बोली "अपने ऊपर सब को अख्त्यार होता है, तुम अमीरुलउमरा कहे जाते हो, गुलाम से सिपहसालार बने हो, बादशाह भी बन जाओगे !" अमीर बोला "मैं मालिक को दगा दूं, ऐसा नमकहराम नहीं हूं !" जोहरा बोली "बस ! हो चुका ! माफ करना ! अमीर ! मैं जाती हूं ! मैं समझ गई ! मेरी किसमत ! लेकिन आज से याद रखना कि किसी को जान देने का वायदा करने से पहिले गौर कर लेना !" जोहरा चलने लगी । अमीर एक दम दौड़ कर उस के पैरों पर गिर कर बोला "प्यारी ! यह देह तेरी है, जो चाहे सो कर !" दोनों का प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़ता गया । जब अलप्तगीन को खबर हुई तो वह क्रोधित न हुआ किन्तु प्रसन्न हुआ । दोनों की शादी कर दी गई । कई वर्ष बाद वह मुसाफिर, वह गुलाम, वह अमीर वह जोहारा का पति गजनी का बादशाह हुआ ।

मुसाफिर राज वंश का था, आपत्ति में भटकं रहा था, सिंह और लुटेरों ने उसे लूट लिया तो भी उस का उत्तम स्वभाव न गया, गुलाम बना कर दो स्थानों पर बेचा गया, तो भी धीरे २ बढ़ कर सैन्यापति हुआ, राज कन्या से विवाह कर के अंत में राजा हुआ इसी प्रकार जीव मुसाफिर है, अज्ञान की आपत्ति में पड़ा हुआ है, काम रूप सिंह और क्रोध, लोभादि लुटेरों से लूटा गया है, जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में गुलाम बना हुआ है तो भी अपने पूर्व स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है, सद्गुरु 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप अहंग्रह—निर्गुण उपासना का उपदेश करता है, इस से जीव शांति रूप राजकन्या के साथ विवाह करता है और मोक्ष रूप साम्राज्य को प्राप्त होता है, जीव को स्वप्नावस्था में उपदेश मिलता है और उस का फल जाग्रत् में होता है । महावाक्य का उपदेश सांसारिक जाग्रतावस्था में मिलता है । सांसारिक-व्यवहारिक जाग्रतावस्था पारमार्थिक सत्ता में स्वप्न रूप है और पारमार्थिक सत्ता उस की अपेक्षा से जाग्रत् है इस लिये निर्गुण अहंग्रह उपासना कल्पना की अवस्था का उपदेश होते हुये भी उस का फल यथार्थ जाग्रत् यानी पारमार्थिक में होता है । इस दृष्टांत से उपासना करने की अवस्था और फल की अवस्था का अंतर स्पष्ट रीति से समझ में आता है । जिस स्वप्न और स्वप्न के व्यवहार को लोग झूठा कहते हैं, वह ही स्वप्न कभी २ भविष्य सूचक होने से, भविष्य में यथार्थ होता है । जैसा हाल मुसाफिर का हुआ इसी प्रकार अहंग्रह—निर्गुण उपासना करने वाले का अंतिम फल होता है ।

निर्गुण उपासना जब अहंग्रह यानी अभेद रूप की होती है तब ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है । उपासक जब अपने को उपास्य से भिन्न न रख कर उपासना करे, वह अभेद उपासना है, कोई इस प्रकार निर्गुण-अभेद उपासना तो करे परन्तु कामना का प्रतिबंध हो तो परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, अपरब्रह्म-कार्य ब्रह्म-हिरण्यगर्भ की प्राप्ति होती है, वहां के भोग भोग कर जब ज्ञान होता है तब परब्रह्म-कारण ब्रह्म को प्राप्त होता है, यह ही अंतिम कैवल्य है निर्गुण उपासना के फल के प्रारंभ में ही सगुण

उपासना का फल है यानी सगुण ब्रह्मोपासना भी निर्गुण में ले जाने वाली है। निर्गुण उपासना किस २ प्रकार से होती है, यह नीचे दिखलाते हैं:-

सब पदार्थों में नाम और रूप दो होते हैं, रूप नाम से भिन्न नहीं है और नाम रूप से भिन्न नहीं है, नाम और रूप साथ २ रहते हैं, नाम अथवा रूप एक नहीं रहता इस लिये जितने रूप हैं सब नाम स्वरूप ही हैं, नाम रूप से भिन्न नहीं होता, व्यवहार का हेतु नाम है, रूप बदलता रहता है, नाम नहीं बदलता, रूप का नाश होने पर भी नाम रहता है, इस से सिद्ध होता है कि रूप यानी आकार नाम से भिन्न नहीं है, नाम के सामने रूप तुच्छ है। घट अनेक हैं, अनेक आकृति वाले हैं, उन सब का 'घट' ऐसा नाम एक है इस लिये नाम रूप से विशेष व्यापक है, जितने नाम हैं, ॐकार से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि ॐकार से ही सब वर्ण हुये है, ॐकार से ही सब का उच्चारण है, इस लिये नाम ॐकार से बाहर नहीं हैं, लोक और वेद में के सर्व शब्दों की उत्पत्ति ओंकार से है, ऐसा श्रुति में प्रसिद्ध है, कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। ॐकार सब नामों का कारण है, और सब नाम ओंकर के कार्य हैं, सब रूप नाम के भीतर समा जाते हैं, सब नाम ॐकार में समा जाते हैं, ॐकार ही रहता है, इस से सिद्ध होता है कि सर्व रूप ॐकार ही है, ब्रह्मांड में जितना जो कुछ है, सब नाम रूप का फैलावा है, जब ॐकार सिद्ध हुआ तब सब न रहे यानी ॐकार ही सर्व रूप हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म सर्व स्वरूप है इस लिये ॐकार ही ब्रह्म है अथवा ॐकार ब्रह्म का वाचक है और ब्रह्म ॐकार का वाच्य है, वाचक का वाच्य से भेद नहीं है इस लिये वाच्य एक ब्रह्म ही है। दूसरी रीति से विचार किया जाय तो नाम रूपादि सब ब्रह्मांड, माया और माया का फैलावा है, अक्षर ब्रह्म में सब ब्रह्मांड अध्यस्त है, अध्यस्त का अधिष्ठान से वस्तुतः भेद नहीं है, इस प्रकार सब ब्रह्म है। सच्चा पदार्थ अधिष्ठान कहलाता है, सच्चे में भ्रांति से और का और दीखना, ऐसा दिखावा अध्यस्त कहा जाता है, ब्रह्म अधिष्ठान है और सब ब्रह्मांड रूप ॐकार ब्रह्म में अध्यस्त है। अधिष्ठान से अध्यस्त का अभेद है इस लिये ॐकार ब्रह्म स्वरूप ही है, इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ॐकार परब्रह्म स्वरूप है, इस प्रकार अपने को भिन्न न रखते हुये उपासना करे, सारांशः—रूप नाम से भिन्न नहीं, रूप नाम में गुम हुआ, नाम ॐकार से भिन्न नहीं, नाम गया, ॐकार रहा, ॐकार परब्रह्म से भिन्न नहीं, ॐकार गया, परब्रह्म रहा।

दूसरी प्रकार से:—जो कुछ है सो अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूपमय है, इनके सिवाय दृश्य अदृश्य कुछ नहीं है। उन में अस्ति भाति और प्रिय तत्व स्वरूप हैं और नाम रूप उपाधि रूप हैं, जो अस्ति भाति और प्रिय हैं, वह ही सच्चिदानन्द रूप है, वह ही परमात्मा है, नाम और रूप माया है, सच्चिदानन्द तत्व है और उस में भ्रांति से नाम रूप दीखता है। रूप अनेक हैं और नाम एक है जैसे अनेक प्रकार के घट वस्तु है, रूप है, और सब का नाम एक है इस लिये नाम विशेष व्यापक है, सब रूपों का समावेश नाम में है, नाम कारण है रूप कार्य है, कार्य कारण से भिन्न नहीं होता इस लिये नाम से रूप भिन्न नहीं है, रूप तुच्छ है, नाम महत्व वाला है, रूप चले जाने पर नाम शेष रहता है और नाम में रूप लगता है, रूप उड़ गया, नाम रह गया। अपने सहित ऐसा अभेद चिन्तवन करे। शरीर का रूप नाम में गया, रहा नाम, नाम माया का है, सच्चिदानन्द स्वरूप में अध्यस्त है। सच्चे पदार्थ को अधिष्ठान कहते हैं, सच्चे में भ्रांति से दिखावे मात्र जो दीखे, उसे अध्यस्त कहते हैं जिस में भ्रांति का दिखावा होता है, वह वस्तु यथार्थ होती है, अधिष्ठान से अध्यस्त भिन्न नहीं, नाम भी उड़ गया, सच्चिदानन्द रूप शेष रहा, सच्चिदानन्द तीन होते हुये भी तीन नहीं है, एक ही है, एक ही वस्तु को यथार्थ जानने के लिये संज्ञा रूप है। नाम में आनन्द है, नाम भी बहुत हैं, नामों में रहा हुआ आनन्द (किसी प्रकार का भी हो) एक है और विशेष व्यापक है। आनन्द अधिष्ठान है, नाम अध्यस्त है, अध्यस्त की भिन्न सत्ता न होने से अध्यस्त भी अधिष्ठान रूप ही है, नाम न

रहा, आनन्द ही रहा । आनन्द चैतन्य से है, इस लिये चैतन्य आनन्द से सूक्ष्म है और विशेष व्यापक है। चैतन्य का सूक्ष्म स्वरूप सत्-होनापना है। सत्-होने से चैतन्य भिन्न नहीं, इसलिये सत् ही सत् है, सत् का अभेद चिन्तवन परब्रह्म का निर्गुण चिन्तवन है। अस्ति रूप सत् है, भाति रूप चैतन्य है और प्रिय रूप आनन्द है। सत् को असत् की अपेक्षा वाला सत् न समझना चाहिये, यह सत् भी लक्षक है, लक्षण नहीं है, उस से जो अभेद करता है, वह परम पद को प्राप्त होता है, यदि सत् को लक्षण समझ कर उपासना की जायगी तो उपासना सगुण हो जायगी, निर्गुण न होगी। निर्गुण उपासना में यह ही विशेषता है कि उस में विधि निषेध रूप सब गुणों–विशेषणों का उपसंहार कर के यथार्थ का लक्ष पहुंचाया जाता है, सगुण उपासना में ऐसा नहीं होता।

तीसरी प्रकार से:—जितने स्थूल शरीर दीखते हैं, उनमें प्रत्येक के भीतर दो और शरीर हैं और एक एक का कारण है। कार्य का कारण में लय करते हुये अंतिम कारण जिसका और कोई कारण नहीं है, वह ही परब्रह्म है, यद्यपि परब्रह्म किसी का कारण नहीं है, भ्रांति में ही वह सब का कारण है। स्थूल शरीर का कारण सूक्ष्म शरीर है, स्थूल मिथ्या है, स्थूल की अपेक्षा से सूक्ष्म सच्चा है, स्थूल गया, सूक्ष्म रहा। सूक्ष्म शरीर कारण शरीर का कार्य है और कारण शरीर सूक्ष्म शरीर का कारण है, कारण से कार्य की सत्ता भिन्न नहीं है, भिन्नता दीखना भ्रांति है, इसलिये कारण शरीर सत् है और कारण शरीर की अपेक्षा से सूक्ष्म शरीर मिथ्या है, मिथ्या को हटाने से कारण शरीर ही शेष रहा। कारण शरीर मायिक है, इस लिये मिथ्या है, कारण शरीर जिस में अध्यस्त है, वह परब्रह्म ही माया का अधिष्ठान होने से सत्य है। अधिष्ठान से अध्यस्त की भिन्न सत्ता न होने से ही परब्रह्म माया और माया के कारण कारण शरीर का कारण है, कारण शरीर परब्रह्म की अपेक्षा से मिथ्या है, अब कारण शरीर का कारण अधिष्ठान रूप परब्रह्म रहा। माया मिथ्या होने से है नहीं, तब परब्रह्म माया का अधिष्ठान नहीं और माया और माया के कारण शरीर का कारण भी नहीं क्योंकि कारण तो माया में समझा जाता था माया की अपेक्षा से समझा जाता था इसलिये अब परब्रह्म किसी का कारण न रहा और न कोई उस का कार्य रहा, परब्रह्म असत् नहीं है, सत् असत् की अपेक्षा से कहा जाता था, जब असत् न रहा तब अपेक्षा रहित सत् किस प्रकार कहा जाय? इस लिये सत् असत् से विलक्षण, सब का अपना आप, सब का प्रकाशक परब्रह्म है, वह ही मेरा और प्रत्येक का सच्चा स्वरूप है, ऐसी उपासना करे, अथवा शेष रहा हुआ मैं ही हूं इस प्रकार अहंग्रह उपासना है, अभेद चिन्तवन भी यह ही है, ऊपर जिस प्रकार एक व्यष्टि से लेकर परब्रह्म तक पहुंचे थे इसी प्रकार समष्टि और व्यष्टि की एकता करते हुये जो सब का अंतिम कारण है जिस का और कोई कारण नहीं है, जिस में कार्य कारण का भी संभव नहीं है, वह ही मैं हूं, ऐसा चिंतवन करता रहे। (अपूर्ण)

देहाध्यास शिथिल करने का प्रयत्न।

देह को 'मैं हूं' इस प्रकार समझना और ऐसा ही वर्ताव में आना देहाध्यास कहलाता है, स्थूल शरीर को 'मैं' समझना अथवा सूक्ष्म शरीर को 'मैं' समझना देहाध्यास है। अध्यस्त को अधिष्ठान समझने को अध्यास कहते हैं, किसी एक वास्तविक पदार्थ—तत्व को संपूर्ण–विशेष रूप से न जान कर उस का कुछ सहारा ले कर अन्य पदार्थ देखना–जानना भ्रम है। भ्रम से दीखने वाले को मूल पदार्थ में अध्यस्त कहते हैं। जिस में मिथ्या भान हुआ है, वह पदार्थ मिथ्या पदार्थ का अधिष्ठान कहलाता है और अधिष्ठान में अध्यस्त के बोध को अध्यास कहते हैं जैसे रस्सी में सर्प का देखना भ्रांति से होता है, सर्प रस्सी में अध्यस्त है, मिथ्या सर्प का अधिष्ठान रस्सी है और रस्सी में सर्प का ज्ञान सर्पाध्यास है। अधिष्ठान सच्चा है, अध्यस्त और अध्यास भ्रांति में होने से मिथ्या हैं। पूर्ण भ्रांति काल में अधिष्ठान,

अध्यस्त अथवा अध्यास का बोध नहीं होता। उन तीनों का वास्तविक बोध होने से भ्रांति की निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार देहाध्यास है। परब्रह्म में संपूर्ण ब्रह्मांड माया से अध्यस्त है, ऐसे ही प्रत्यगात्मा में देह अध्यस्त है। प्रत्यगात्मा वस्तुस्वरूप है, उस में शरीर भ्रांति का—दिखावा रूप है। शरीर को 'मैं' यानी आत्मा मानना देहाध्यास है। सब अनर्थ अविद्या और विकार आदिक का मुख्य कारण देहाध्यास है। देहाध्यास निवृत्त हुये विना अथवा शिथिल हुये विना अपरोक्ष बोध नहीं होता। जब शास्त्र सुनते हैं अथवा संतों का संग करते हैं तब मालूम होने लगता है कि देहादि से लेकर ब्रह्मांड पर्यन्त सब मिथ्या है परन्तु यह मालूम होना ऊपर का है; कथन मात्र है, परोक्ष है, यथार्थ नहीं है, दूसरे के कथन किये हुये शब्दों का कथन करने से सिद्धि नहीं होती, देहाध्यास की शिथिलता हुये विना शब्दों द्वारा जो जाना है, उस का अपरोक्ष अनुभव नहीं होता, अपरोक्ष बोध विना संपूर्ण दुःखों की अशेष निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती, इस लिये ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर गुरु मुख से महावाक्य का श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया जाता है। देहाध्यास के शिथिल करने का प्रयत्न निदिध्यासन के अंतर में ही है। जिस का जितना देहाध्यास निवृत्त होता है—शिथिल होता है, उतना ही उसका हृदय दुःख निवृत्त होता है और बोध भी उतना ही दृढ होता है, परम पद की प्राप्ति के उपायों में देहाध्यास की शिथिलता मुख्य उपाय है, जीव और परब्रह्म के बीच में जो कोई दृढ परदा है तो वह देहाध्यास का ही है। देहाध्यास से अज्ञान की सिद्धि है इस लिये अज्ञान की निवृत्ति करने को देहाध्यास निवृत्त-शिथिल करने की आवश्यकता है। देहाध्यास की शिथिलता से जीवन्मुक्ति है और देहाध्यास की संपूर्ण निवृत्ति से विदेह कैवल्य है। जब देहाध्यास शिथिल होने लगता है तो धीरे धीरे निवृत्त भी हो जाता है। जिस का प्रारब्ध शेष है उससे देहाध्यास की शिथिलता ही हो सकी है। जिन उपायों से दृढ़ अपरोक्ष बोध होता है, उनमें देहाध्यास का शिथिल करना मुख्य उपाय है। जिस के देहाध्यास की शिथिलता हुई है उस को अपरोक्ष ज्ञान होने में विलम्ब नहीं लगता। यद्यपि दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान से ही देहाध्यास शिथिल होता है तो भी सुलभ यह ही है कि देहाध्यास को शिथिल करे। जिस का देहाध्यास शिथिल हो गया है, उसको बोध बहुत जल्दी दृढ़ होता है। देहाध्यास की निवृत्ति का प्रयत्न और ज्ञान प्राप्ति के अन्य प्रयत्न साथ हों तो और भी उत्तम है। सुने समझे ज्ञान को देहाध्यास ही दृढ़ होने नहीं देता इस लिये मुमुक्षु-जनों को देहाध्यास शिथिल करने का प्रयत्न करना अत्यंत आवश्यक है।

रूप नगर के राजा का वसंतकुमार नाम का एक कुँवर था। राजा का स्वभाव और कुंवर का स्वभाव एक दूसरे से विरुद्ध था। राजा क्रोधी और लोभी था, कुंवर विचारशील और उदार था। कुंवर दुखियों के ऊपर वारम्वार दया करता था, परोपकार की तरफ उस की वृत्ति विशेष थी। राजा को कुंवर का यह स्वभाव अच्छा नहीं लगता था। कुंवर योग्य उमर का हो चुका था, उस की शादी भी हो गई थी। पिता के वारंवार के कलह से वसंत कुमार को पिता और राज्य के ऊपर भी अरुचि हो गई थी। एक दिन राजा ने कहा "पुत्र! तू अपनी उदारता को छोड़ दे। यदि तू अपनी उदारता न छोड़ेगा तो मैं तुझे अपने पास रहने न दूंगा!" वसंतकुमार उदारता कम करने का प्रयत्न करने लगा परंतु वह अपनी स्वाभाविक वृत्ति को रोक न सका। जब कभी वह किसी दुखी को देखता तो अपने जेवर वस्त्र सब उतार कर दे देता था। एक समय वह जंगल में शिकार खेलने जा रहा था। मार्ग में उस को एक बुढ़िया मिली। उसके पास पहिनने को एक भी वस्त्र न था। उसने अपने शरीर पर एक फटा चीथड़ा लपेट रक्खा था। कुंवर के पूछने पर उसने अपने दुःख की कहानी सुनाई। राज कुंवर ने अपने सब वस्त्र और जेवर उतार दिये। जब राजा को इस बात की खबर हुई तो वह अत्यंत क्रोधित हुआ और उसने राजकुंवर को राज में से निकल जाने की आज्ञा दी। राजकुंवर भी पिता से दुःखी हो ही रहा था, अपनी स्त्री को

साथ लेकर मामूली वस्त्र पहिने हुये शहर के बाहर चलदिया। कितनेक दिन तक जंगलों में भटकता हुआ एक दिन एक जल की बहती हुई नदी के किनारे पहुंचा। वहां पार जाने को घाट नहीं था, पानी बहुत था और कोई नाव भी नहीं थी। बसंतकुमार की स्त्री गर्भवती थी, उसके पेट में दर्द होने लगा। वह बहुत चिल्लाई और थोड़ी देर में उसने एक बालक को जन्म दिया। जाड़े के दिन होने से उन दोनों के तपाने के लिये वसंतकुमार ने इधर उधर से लकड़ियां जमा कीं परंतु अग्नि न होने से वह स्त्री से 'अग्नि ले आऊं' ऐसा कह कर अग्निकी खोजमें कुछ दूर निकल गया। जब बहुत देर हो गई और बसन्तकुमार न आया तो स्त्री चिल्ला २ कर रोने लगी, रोते २ थक कर अन्त में सो गई। लड़का गोद में था। संयोग ऐसा बना कि पास के शहर के कोतवाल का लड़का पैदा हो कर तुरन्त ही मर गया था। कोतवाल मरे लड़के को ले कर गाड़ने को नदी किनारे आरहा था। इस समय उसके साथ और कोई मनुष्य न था। कोतवाल ने देखा कि एक सुन्दर स्त्री नींद में बे होश पड़ी है और उस की गोद में लड़का है। कोतवाल ने धीरे से स्त्री की गोद का जीता हुआ बालक उठा लिया और उसके बदले अपना मरा हुआ बालक स्त्री की गोद में रख दिया। बसन्तकुमार की स्त्री को कुछ भी खबर न पड़ी। कोतवाल बच्चे को घर लेगया और अपनी स्त्री को देकर बोला "लड़का मूर्छित हो गया था, मर नहीं गया था, नदी किनारे पहुँचते ही उसका श्वास चलने लगा!" कोतवाल की स्त्री यह सुन कर अति प्रसन्न हुई और बच्चे को ले कर पालने लगी। उसको भी यह खबर न हुई कि यह लड़का दूसरा है, लड़का दिन पर दिन बड़ा होने लगा।

बसन्तकुमार जो अग्नि लेने गया था, बहुत दूर निकल गया, अग्नि न मिली। लौटना चाहता था इतने में उसने एक हाथी और कुछ मनुष्य सामने से आते हुये देखे। हाथी ने सूंड में एक माला पकड़ रक्खी थी। हाथी ने माला बसन्तकुमार को पहिना दी और उसको अपनी सूंड से पकड़ कर अपनी पीठ के ऊपर होदे में बैठा लिया। पश्चात् मनुष्य हाथी को पास के राज स्थान सुवर्णपुर में ले गये। बात यह थी, वहां का राजा कुछ दिन हुये मर गया था। उसकी एक कन्या थी। आज का दिन राज्याभिषेक और कन्या की शादी के लिये नियत किया गया था। बसन्तकुमार की सुन्दर राज कुमारी के साथ शादी हुई और वह सुवर्णपुर का राजा हो कर राज सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। हाथी के वरमाला पहिनाने, राज कुमारी के साथ शादी होने और राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होने, इन सब कार्यों में बसन्तकुमार को इस बात की कुछ भी खबर नहीं रही कि मैं अग्नि लेने आया हूं, और स्त्री पुत्र को जंगल में छोड़ आया हूं! वह राज कुमारी के प्रेम में इतना फंस गया कि कई वर्ष व्यतीत हो गये तो भी उसे पूर्व की स्मृति न आई। अचानक मिले हुये भोग और ऐश्वर्य ने सब कुछ भुला दिया।

बसन्तकुमार की स्त्री जो जंगल में सो गई थी, थोड़ी देर बाद जागी, गोद में मरे हुये लड़के को देख कर फिर रोने लगी। उस के शरीर की सुंदरता बारम्बार दुःख पड़ने, पति के वियोग होने और पुत्र के मृत्यु से चली गई थी। वह बहुत देर तक रोती रही परन्तु उस जंगल में उसका रोना सुनने वाला और उसके ऊपर दया करने वाला कोई न था। कभी रोती, कभी मूर्छित हो जाती, इस प्रकार दिन रात्रि उसने वहां व्यतीत की, दूसरे दिन उस ने निश्चय किया कि अब जीने में सार ही क्या है? कुछ नहीं, सामने नदी बह रही है, नदी में डूब कर मर जाना ही अच्छा है, जब सब चला गया तो शरीर का ममत्व क्यों रखना, किस के लिये रखना! ऐसा निश्चय कर के वह नदी की तरफ गई। वहां एक ब्राह्मण स्नान करने आया था, स्त्री को नदी में उतरता देख कर ब्राह्मण ने यह समझा कि यह बाई स्नान करने को जा रही है परंतु जब वह आगे जाने लगी तो ब्राह्मण ने उसे अपने पास बुलाया। ब्राह्मण बाई को पहिचान गया था क्योंकि यह ब्राह्मण वह ही शहर का कोतवाल था, जिस ने बाई के जीते लड़के से अपने मरे हुये

बालक को बदल लिया था, स्त्री ने कहा "मैं आपघात करने जा रही थी, आपने मेरे कार्य में विघ्न डाल दिया !" कोतवाल बोला "बाई ! इस संसार में किसी को यह अधिकार नहीं है कि अपने जीवन का अंत कर डाले ! तू कौन से कष्ट से आपघात करना चाहती थी ?" स्त्री ने अपना सब हाल कह सुनाया, कोतवाल ऐसा नहीं था कि उसे दया आजाय तो भी उस समय उसे दया आगई ! वह कहने लगा "बाई ! मेरे साथ चल और मेरी पुत्री होकर मेरे यहां रहा कर, सुख दुःख संसार का चक्र है, धैर्य रख, ईश्वर कभी शुभ दिन भी दिखलावेगा !" वसंतकुमार की स्त्री को कोतवाल की अवस्था देख कर और उस के माया भरे वचन सुन कर विश्वास आगया, वह उस के साथ उस के मकान पर रहने लगी। कोतवाल की स्त्री सरल स्वभाव की और उमर की बड़ी थी, वह भी उसे पुत्री के समान प्रेम से रखती थी, कोतवाल के पुत्र को कभी कोतवाल की स्त्री और कभी वसंतकुमार की स्त्री दूध पिलाती थी, उस पुत्र का नाम श्वेतकुंवर रक्खा गया था, उस पर दोनों को प्रेम था, वसंतकुमार की स्त्री उसे कोतवाल का पुत्र समझती थी, कोतवाल की स्त्री उसे अपना पुत्र समझती थी, जब श्वेतकुंवर दश वर्ष का हुआ तब एक दिन कोतवाल उसे राज दरबार में ले गया, राजा के अभी तक कोई संतान नहीं हुई थी इस लिये वह संतान न होने से दुखी था, लड़के को देख कर राजा को बहुत प्रेम आया, कोतवाल से कहा गया कि लड़के को रोज दरबार में ले आया करे, लड़का रोज आने लगा, राजा लड़के को प्यार करता था और लड़का भी राजा के पास रहना पसंद करता था, कुछ दिन बाद ऐसा हुआ कि श्वेतकुंवर विशेष कर के राजा के पास ही रहने लगा, आठ दश रोज में कभी कोतवाल के यहां जाता, जब उस की दोनों मातायें बहुत कहा सुनी करतीं, बुलावे पर बुलावा भेजतीं तब वह कोतवाल के यहां आकर माताओं से मिल जाया करता था, वह राजा वसंतकुमार ही था।

सुवर्णपुर की राज सभा में एक दिन एक ज्योतिषी आया, राजा ने उस से बहुत से प्रश्न किये, ज्योतिषी ने सब प्रश्नों के उत्तर ठीक २ दिये, राजा को उस के ऊपर पूरा विश्वास हो गया, बाद राजा ने कहा "हे ज्योतिषी जी ! मुझे संतान का दुःख है, कृपा कर बताइये, मेरे कब संतान होगी और कौनसा उपाय करने से होगी ?" ज्योतिषी ने कुछ ग्रह देखे और राजा के मस्तक और हस्त की रेखायें देख कर कहा "महाराज ! आप झूठ क्यों बोलते हो ? मेरा मजाक क्यों करते हो ? आप के लड़का है वो सही !" राजा आश्चर्ययुक्त हो कर बोला "कहां है ?" ज्योतिषी बोला "आप के पास ही है !" राजा को विशेष आश्चर्य हुआ, उस को पूर्व की स्मृति हो आई ! कहने लगा "हां ! लड़का हुआ था, उस की मा भी थी, मैं दोनों को जंगल में छोड़ आया था, वह लड़का हो सक्ता है परन्तु मुझे कुछ पता नहीं कि वह और उस की मा कहां है !" ज्योतिषी बोला "महाराज ! मेरा ज्योतिष कभी झूठ नहीं हो सक्ता ! मैं निश्चयता से कहता हूं कि आप का लड़का आप के पास ही है, बारह वर्ष का है और उस की मा भी इसी शहर में है !" राजा बोला "ज्योतिषी महाराज ! आप का कथन सच होगा, परन्तु मेरी समझ में नहीं आता, कौनसा लड़का मेरा है ? आप कहते हो कि मेरे पास है, बारह वर्ष का है, मेरे पास कोई नहीं है, यह कोतवाल का लड़का मेरे पास अवश्य रहता है, मैं उसे अपना लड़का कैसे कहूं ?" ज्योतिषी ने कुछ विचार कर राजा के हाथ के चिन्ह देखे और कोतवाल के लड़के के हाथ के चिन्ह भी देखे, जो चिन्ह राजा के जिस स्थान पर थे वे ही चिन्ह उसी स्थान पर कोतवाल के लड़के के भी थे, ज्योतिषी ने दोनों के चिन्ह राजा को दिखला कर कहा "महाराज ! यह ही आप का पुत्र है ! अग्नि शीतल हो जाय, जल ऊपर को चढ़ने लगे, ये असंभवित बातें हो सकी हैं परंतु मेरा वचन कभी व्यर्थ नहीं हो सक्ता !" राजा को कुछ २ निश्चय हुआ क्योंकि दोनों के चिन्ह एक समान ही थे और उस ने यह भी सोचा कि मेरे लड़के की उमर भी बारह वर्ष की हो सकी है। इस

समय कोतवाल सभा में नहीं था, राजा ने सभा विसर्जन की और ज्योतिषी के कहने से कोतवाल को एकांत में बुला कर कहा "सच २ बता, यह लड़का किस का है ? सच नहीं कहेगा, तो तेरी गरदन मारूंगा !" कोतवाल ने भय के मारे अपना मरा हुआ लड़का लड़के की मा की गोद में रख कर कुँवर को उठा ले आना स्वीकार कर लिया, जब राजा ने रानी के विषय में पूछा तो कोतवाल ने वह भी सब वृत्तांत कह दिया और कहा कि रानी मेरे घर पर मेरी पुत्री होकर रहती है। रानी सन्मान सहित बुलाई गई, श्वेतकुँवर पाटवी पुत्र प्रकट किया गया, राजा, रानी और पुत्र तीनों मिल कर सुखी हुये।

इस दृष्टांत से अध्यास का स्वरूप समझ में आ जायगा। कोतवाल की स्त्री श्वेतकुंवर को अपना पुत्र समझती थी, यह अध्यास था क्योंकि दूसरे के पुत्र में उसे अपने पुत्र का बोध था। वसंतकुमार की स्त्री श्वेतकुंवर को कोतवाल का पुत्र समझती थी, अपना नहीं समझती थी, यह अध्यास था। राजा श्वेतकुंवर को कोतवाल का पुत्र समझता था, यह अध्यास था। श्वेतकुंवर कोतवाल की स्त्री को अपनी माता और कोतवाल को अपना पिता समझता था और राजा को अपना पिता न समझ कर राजा समझता था, यह अध्यास था। ये सब प्रकार के अध्यास अज्ञान से थे। जब ज्योतिषी ने अज्ञान को हटा दिया तब सब का अध्यास दूर हुआ और जो जैसा था वह वैसा समझकर सुखी हुआ।

ऊपर के दृष्टांत में जो अध्यास दिखलाया है, उस के दूर करने को एक समय ज्योतिषी के निश्चय करा देने का काम था। एक बार के निश्चय से-ज्ञान होने से-अज्ञान की निवृत्ति हो गई। अध्यास भी निवृत्त होगया। अधिकार की मंदता के कारण देहाध्यास की निवृत्ति इतनी जल्दी नहीं होती, देहाध्यास को शिथिल करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऊपर के दृष्टांत का अध्यास और उसकी निवृत्ति दोनों व्यवहारिक अवस्थामें थे। देहाध्यास की निवृत्ति पारमार्थिक अवस्था से होती है। व्यवहार में से परमार्थ में लक्ष जाना कठिन है। परमार्थ के केवल अनुमान से अध्यास नहीं मिटता, प्रत्यक्ष से ही मिटता है। देहाध्यास आत्म तत्व का प्रत्यक्ष करने नहीं देता। इसलिये वारंवार अध्यास निवृत्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

शरीर में भूल से अध्यास है, ऐसा समझने से, दृढ़ता पूर्वक निश्चय हो जाने से देहाध्यास निवृत्त होता है। देहाध्यास कई जन्म अथवा अनंत जन्मों का है। संसार सिवाय अन्य कुछ दीखता नहीं, जब तक शरीर है तब तक चौबीस घंटे संसार और संसार के पांचों विषयों का ग्रहण शरीर से होता है इस लिये अध्यास निवृत्त होना कठिन होता है। शरीर जो जीवात्मा का करण है, उससे जीवात्मा सब विषयों का भोग और क्रिया करता है, स्वयं जीव दीखता नहीं इस लिये देहाध्यास को दृढ़ होने का मौका मिलता है। वास्तविक तो 'शरीर मैं नहीं हूं और मेरा भी नहीं है' ऐसा शास्त्र और सद्गुरु से जान कर शुद्ध बुद्धि से विचार करने से तो ऐसी प्रतीति होती है कि शरीर मैं नहीं हूं और शरीर मेरा नहीं, परंतु जब शरीर को अलग करना चाहते हैं तो मैं कौन ? इसकी भिन्न प्रतीति नहीं होती, इस लिये देहाध्यास निवृत्त होना कठिन मालूम होता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन देहाध्यास निवृत्त करने में मदद रूप हैं परंतु यदि सामान्य बोध होने के बाद देहाध्यास की निवृत्ति का प्रयत्न किया जाय तो मंद और मध्यम अधिकारियों को भी दृढ़ बोध जल्दी से हो जाता है।

अभ्यासियों को प्रथम तो साक्षी का स्वरूप समझना चाहिये। यदि यथार्थ अनुभव न भी हो तो भी साक्षी को अनुमान द्वारा स्मृति में रखना चाहिये। साक्षीकी स्मृति से देहाध्यास शिथिल होता है। जब २ विषयों के ग्रहण अथवा क्रिया करने का प्रसंग आवे तब २ यह सोचना चाहिये कि शरीर ही विषयों को ग्रहण करता है और शरीर ही क्रिया करता है, मैं साक्षी रूप विषयों का ग्रहण करने वाला नहीं हूं,

क्योंकि मैं स्वयं अक्रिय हूं, विषय मेरा नहीं है, क्रिया मायिक है, मैं माया से परे हूं। जब किसी भी विषय के प्रति राग अथवा द्वेष हो तब यह विचारना चाहिये कि मैं राग द्वेष करने वाला नहीं हूं, राग द्वेष मेरा विषय नहीं है, मैं साक्षी रूप राग द्वेष से रहित हूं, राग द्वेष दोनों मन की कल्पना है, मन ने ही एक पदार्थ में राग और द्वेष रूप दो कल्पनायें की हैं, ऐसा विचारते ही राग द्वेष का बल चला जाता है। 'मैं साक्षी हूं' 'मैं साक्षी हूं' ऐसा वारंवार विचार करे, साक्षीपने के निश्चय को कभी हटने का अवकाश न दे। अपने को शरीर में रहा हुआ भी न समझे, जैसे दर्पण में हमारा प्रतिबिम्ब दीखता है, प्रतिबिम्ब सहित दर्पण हम नहीं हैं, इसी प्रकार शरीर को दर्पण समझे, और वारंवार ऐसी भावना करे कि मैं शरीर से पृथक् हूं। अपने को शरीर के सामने, शरीर से बाहर खड़े होने की कल्पना करे, और अपने शरीर को देखकर विचारे कि यह एक शरीर है और मुझ से पृथक् है, इस प्रकार वारम्वार अभ्यास करने से अभ्यासी को 'मैं शरीर से पृथक् हूं' ऐसा भाव दृढ होगा, 'मैं साक्षी हूं, किसी की भी अपेक्षा रहित देखने वाला—स्वप्रकाश साक्षी हूं, जैसे मैं अपने शरीर को देखता हुआ, उस शरीर का देखने वाला हूं इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीरों का द्रष्टा हूं, अन्य शरीरों से जैसा मेरा सम्बन्ध है, ऐसा ही सम्बन्ध इस अपने शरीर से भी है, अन्य शरीरों की अपेक्षा मेरा इस अपने शरीर से विशेष सम्बन्ध कुछ भी नहीं है, विशेषता जो दीखती है, मायिक है, माया में है, मुझ में नहीं है, यह मेरा और यह तेरा, यह सब अज्ञान की ग्रंथि रूप चिदाभास की मायिक लीला है, चिदाभास मिथ्या है, माया के सहारे होने से मायिक है, माया का मुझ में प्रवेश नहीं है इसलिये चिदाभास मैं नहीं हूं, मेरा नहीं है, चिदाभास जिसकी हद बांध कर प्रकाश से फैला हुआ है, ऐसे शरीर से मुझे क्या? इस स्थूल पंच महाभूतों के शरीर से मेरा किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा विचारे और जब २ अहं, ममत्व का लेश भी मालूम हो उसी समय शरीर से अपने को दृढता पूर्वक पृथक् देखे।

अभ्यास एक अद्भुत वस्तु है, अभ्यास से स[ब] कुछ हो सक्ता है। जब झूंठा अभ्यास करते २ झूं[ठे] बन जाते हैं तो सच्चे का—अपने स्वरूप का अभ्यास करने से सच्चा बनने--स्वस्वरूप होने में कठिनाई [ही] क्या है? कुछ नहीं! सच्चे दिल से अभ्यास करने की आवश्यकता अवश्य है।

अथवा अपने साक्षी स्वरूप को यथार्थ समझने के बाद अनुभव में आने के निमित्त अपने को साक्षी रूप दृढ करे और सम्पूर्ण जगत् को बाइस्कोप होने की भावना करे, प्रपंच के जो दृश्य दीखें उनको बाइस्कोप का तमाशा और अपने को इस तमाशे का देखने वाला समझे। माया प्रकृति कही जाती है इस लिये क्रिया वाली दीखती है किन्तु वास्तविक क्रिया वाली नहीं है क्योंकि जड़ है, जड़ में क्रिया हो नहीं सक्ती परन्तु साक्षी के प्रकाश में क्रिया न होते हुये भी अज्ञान से क्रिया दीखती है इस लिये सब मिथ्या है। बाइस्कोप में अनेक चित्र होते हैं, वे सब दौड़ते नाचते और क्रिया करते मालूम होते हैं, वस्तुतः उन चित्रों में भिन्न २ प्रकार की कोई क्रिया नहीं होती, एक ही प्रकार के अनेक चित्र थोड़ी २ दूर पर और आकृति में किंचित् भेद सहित चित्रित होते हैं, परदा तेजी से घूमता है, परदा तेजी से घूमने के कारण चित्र क्रिया करते मालूम होते हैं। वस्तुतः चित्रों में क्रिया नहीं होती, इसी प्रकार माया का परदा ईश्वर से घूमने के कारण से अनेक प्रकार की क्रिया दीखती है, क्रिया है नहीं, इस प्रकार सब संसार—ब्रह्मांड को समझे और अपने को दूर खड़े होकर केवल उसका देखने वाला समझे, जिस प्रकार बाइस्कोप के तमाशे के चित्रों से तमाशा देखने वाले का सम्बन्ध नहीं है इसी प्रकार अपने साक्षी को भी किसी से सम्बन्ध नहीं है। मन रूप चितेरे से क्षण २ में निकाले हुये चित्र रूप यह ब्रह्मांड बाइस्कोप है। अपने शरीर को भी बाइस्कोप में का एक चित्र समझे, जिस प्रकार द्रष्टा का किसी भी चित्र से सम्बन्ध नहीं है ऐसे ही जगत् में अपना कहे जाते हुये शरीर से भी साक्षी का किंचित् भी सम्बन्ध

नहीं है, साक्षी शरीर नहीं है, साक्षी का शरीर नहीं है, साक्षी सबका है, सामान्यता ही से साक्षी है, विशेषता से नहीं क्योंकि विशेषता और न्यूनता मायिक चिदाभास की है, साक्षी की कोई नहीं है, न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर है, न इन्द्रियां हैं, न मन है, न क्रिया है, न संसार है, न स्त्री है, न पुत्र है, न ऐश्वर्य है, न मरना है, न जीना है, इस प्रकार की भावना करे। अथवा ऐसा विचार करे कि मैं शरीर में नहीं हूं, परन्तु चैतन्य होने से सब में भरा हुआ हूं, मेरे प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं, माया रूप सब संसार का कार्य मुझसे चलता है, तो भी मैं कर्ता नहीं हूं, न मैं संसार अथवा संसार का पदार्थ हूं, ऐसे प्रति दिन प्रतिक्षण शरीर को अपने से पृथक् समझने से देहाध्यास अवश्य शिथिल होता चला जाता है और अपने स्वरूप के शरीर से भिन्न होने का निश्चय और अनुभव होता जाता है, शरीर से व्यवहार होते हुये भी कर्ता का भाव नहीं होता, राग द्वेष नहीं होता और शरीराध्यास की शिथिलता से शरीर में होने वाले दुःखों का भी विशेष असर नहीं होता। जब तक शरीर में मन से एकमेकपना अथवा सम्बन्ध है तब तक सब दुःख है, शरीर से जितना भाव ढीला पड़ता है, दुःख भी ढीला हो जाता है।

देहाध्यास को शिथिल करने के निमित्त ही संन्यासी दंड धारण कर के कर्तापने का आरोप दंड में धारण करते हैं। संन्यासी का यह भाव होता है कि दंड ही कर्ता है, मैं उससे पृथक् द्रष्टा हूं। गृहस्थ घर में ठाकुर सेवा रख कर भोग लगा कर भोजन करते हैं, इस का भाव यह है कि ईश्वर के निमित्त भोजन तैयार होता है, हमारा उस में कुछ नहीं है। यह भावना भी शरीराध्यास को ढीला करने के लिये चालू हुई है, कोई २ वैरागी राम नाम का उच्चारण करते हुये सब क्रियाओं में प्रवर्त होते हैं। राम जी ने भोजन किया है, राम जी को आज यह भोग चाहिये, राम जी के लिये अमुक २ वस्त्र लाना, रामजी की यह इच्छा है, सब क्रिया स्वयं करते हुये भी वैरागी ये शब्द जो उच्चारण करते हैं और यह दिखलाते हैं कि उन को तो कुछ चाहिये नहीं, रामजी को ही आवश्यकता है। यह भी उच्च भाव, देहाध्यास निवृत्त करने के निमित्त प्रवर्त हुआ है। इस प्रकार देहाध्यास को शिथिल करने का उपाय करते हुये भी उपाय में यथार्थ भाव न होने से देहाध्यास शिथिल नहीं होता, अहंकार कम होने के बदले बढता ही जाता है, केवल शब्द उच्चारण करने और क्रिया में लगाने से देहाध्यास निवृत्त नहीं होता, विचार पूर्वक देहाध्यास के विरुद्ध भाव को ग्रहण करने से और वारम्बार साक्षी के भाव में टिके रहने से ही देहाध्यास शिथिल होना सम्भव है, सब प्रयत्न विचार पूर्वक करने चाहियें, जब विचार पूर्वक प्रयत्न होता है तब ही उसका फल होना संभव है। उलटे भाव से तो एक कांटा निकालने के बदले दूसरा मजबूत कांटा घुसेड़ देना ही होता है। जब देहाध्यास की दृढ़ता विरुद्ध विचार से है-अज्ञान से है तब देहाध्यास की निवृत्ति सत् और अनुकूल विचार और ज्ञान के भाव से ही होती है। जिस को तत्व का परोक्ष बोध अथवा अदृढ अपरोक्ष बोध नहीं है, उस के लिये यह देहाध्यास की निवृत्ति का प्रयत्न उपयोगी नहीं है।

देहाध्यास शिथिल करने का सुलभ उपाय एक यह भी है:-संपूर्ण ब्रह्मांड को नाटक का स्थान थियेटर समझे और जगत् में जितने प्राणी हैं उन सब को उस नाटक शाला का पात्र—एक्टर समझे। जिस २ तमाशे में जिस २ को जो २ बोलना है, जो २ करना है, जो २ वस्त्रादि धारण करने हैं, यह प्रथम से पढ़ाया गया होता है, पात्र उतनी ही क्रिया कर सक्ता है, जितनी उस को सिखाई गई है, अपनी तरफ से उस में विशेष अथवा न्यून कुछ भी नहीं कर सक्ता, कभी राजा बनता है, कभी सिपाही, कभी भंगी, कभी सरदार और कभी सेठ बन जाता है, वस्त्र और क्रिया भी वेष के अनुसार होती हैं। पात्र किसी एक जाति का ही हो, ऐसा नहीं है, सब जाति के, सब उमर के पात्र होते हैं। वे सब क्रिया करते हुये अपने को राजा, भंगी, सेठ अथवा कंगाल नहीं मानते, तमाशे के स्वरूप से

अपने को पृथक् समझते हैं, कभी भी भूल कर वे तमाशे के नहीं हो जाते, तमाशे के शब्दों से उन्हें राग द्वेष अथवा लाभ हानि नहीं होती क्योंकि वे अपनी नहीं मानते, तमाशे की मानते हैं, जैसे वे तमाशे के स्वरूप, खेल चाल, और क्रियाओं को अपने से पृथक् रखते हैं इसी प्रकार जो मुमुक्षु सब संसार को तमाशा समझ कर, उस में खेल करने वालों में से एक अपने को समझ ले और संसार की क्रियाओं से अपने स्वरूप को भिन्न समझे तो अभ्यास करते २ उस का देहाध्यास शिथिल हो जाता है, जैसे तमाशा एक है तो भी उसे अनेक कर रहे हैं ऐसे ही यह संसार एक है। एक में काम करने वाले अनेक हैं, तोते के समान पढ़ाये हुये हैं, प्रारब्ध के भोग से बंधे हुये हैं तो भी 'मैं हूं, मेरा है' इत्यादि भाव लेकर स्वतंत्र कर्ता बनते हैं, यह मिथ्या ही है, इसी प्रकार अपने शरीर को समझे, जिस प्रकार प्रत्येक का नाम, जाति, कार्य झूठे हैं परन्तु बाल्यावस्था से लेकर अब तक के अभ्यास से दृढ हो गये हैं, शरीर की किसी अवस्था में उन को नहीं भूलते, बिना याद किये हुये ही, पूर्ण निश्चय से बने रहते हैं इसी प्रकार अभ्यास द्वारा जब साक्षी का दृढ निश्चय और टिकाव हो जाता है तब देहाध्यास शिथिल हो जाता है।

जब किसी कार्य में प्रवर्त होते हैं तब मन कार्य में संलग्न होने से विशेष अहंभाव की आवश्यकता नहीं होती, कार्य के आगे, पीछे अथवा कार्य में से चित्त हट कर कार्य के मध्य में जब विशेष अहंभाव आता है तब अहंभाव से शरीराध्यास हो जाता है, इस समय साक्षी का भाव रखना चाहिये, 'मैं साक्षी हूं, मैं असंग हूं' यदि बारम्बार ऐसा बोध बना रहेगा तो देहाध्यास शिथिल होगा, जैसे तमाशगीर की सब क्रिया नियत है, ऐसे ही प्रत्येक का कार्य भी प्रारब्ध से नियत है, क्रिया सामान्य है, देहाध्यास से उस क्रिया का भाव विशेष रूप में आ जाता है। इस भाव को साक्षी का भाव रख कर विशेषता में न आने देना चाहिये।

अथवा जैसे मनोराज्य करते २ अपने को भूल जाते हैं और ऐसा भान होने लगता है कि हम मनोराज्य के स्थान पर ही हैं इसी प्रकार एक कम में शरीर रहते हुये हम दूसरे शरीर से कमरे में शरीर को देख रहे हैं, ऐसा भी बारम्बार अभ्या करने से अपनी स्थिरता शरीर के बाहर होने लग है, उस समय देहाध्यास शिथिल होता है। यो की महा विदेहा स्थिति में योगी अपने शरीर अपने भाव को पृथक् कर सक्ता है। यह देहाध्या की ही शिथिलता है, जिस का देहाध्यास शिथि होता है, उस को आत्म बोध दृढ होता है।

ब्रह्म-तरंग।

तत्व ज्ञानियों का जो ब्रह्म तरंग है, अज्ञानी मस्तराम की बड़ कहते हैं! कुछ भी कहो, वह बेरंगी गोला अज्ञान रूप महान् किले के ढा देने मैदान सफा करने को समर्थ है! जो उसे समझ है, वह समझ को भगा देता है, अहंभाव को क्षार कर देता है, व्यक्ति की भक्ति छोड़ देता स्वरूप से स्नेह जोड़ता है, उसके लिये सब ही मंगल होता है, अज्ञान का जंगल जल जाता माया के दंगल में इसकी जीत होती है, धन्य वह मस्त पहलवान्! जिस ने भेद भावना ध्वस्त है और भगवान् के स्वरूप में स्थिति पाई है के साथ वेद का भी अन्त किया है और अनन्त हुआ है! ऐसे ही को सन्त महन्त कहते

अहा! हा! आश्चर्य! महान् आश्चर्य!! की लीला कैसा नीला पीला रंग दिखला रही है स्वरूप का भंग करके अंग बड़ा करती है! मट्टी खिलौना मट्टी में पककर तैयार हुआ, 'मैं हूं' मानता है, जानता है कि मेरी स्थिति है! रीति, भीति को ग्रहण करता है, मट्टी का घट को मरण मानता है! मट्टी मट्टी से ब्याही जाती मट्टी मट्टी से पैदा होती है! संसार, व्यवहा परिवार की गाढी झाड़ी में भूलता है, फूलता राग द्वेष के तीर तरकस से खेलता है! दुःख है! सब कुछ क्या है? कुछ नहीं! मट्टी! मट्टी

मट्टी !!! भूल की टट्टी में भूल का पुतला भूल से जन्म मरण का अनुभव करता है ! दावानल में जलता है ! खूब किया अज्ञान ! तूने ! तेरी प्रभा असत् प्रभा सत् का बोध होने नहीं देती ! यह ही तेरा विरोध है ! अज्ञानियों के लिये तेरा निरोध हाय ! कठिन है ! न छिपने वाले को छिपाया ! ढूंढने वाले ढूंढते २ थक गये परन्तु सत् को न पाया ! तेरा परदा उठे बिना कैसे पावें ?

पृथिवी, जल और अग्नि को देख कर आश्चर्य होता है ! पृथिवी क्या है ? तेरी ही एक चरण रज है ! जल क्या है ? तेरा ही एक बिन्दु है ! अग्नि क्या है ? तेरी ही महाज्योति की एक चिंगारी है ! फिर आश्चर्य क्यों करता है ? क्यों उन से डरता है ? सोच ! विचार ! अज्ञान की अंधेरी युक्त चश्मे को चश्मे (नदी) में बहा दे ! साफ हो, परदा तोड़ दे ! देख ! तेरा ही तेरा प्रकाश जगमगा रहा है ! सिवाय प्रकाश अन्य क्या है ? प्रकाश की लहर प्रकाश से प्रसरतीहुई फैल रही है ! परन्तु है प्रकाश ही ! प्रकाश ही प्रकाश है, न कोई बिलास है, न कोई आश है, न किसी को किसी का त्रास है ! घास के वास को देवड़ी, हवेली क्यों समझ रहा है ? सब कुछ कुछ नहीं ! सब तत्व ही तत्व है ! सब ब्रह्म ही ब्रह्म है ! मैं तू का झगड़ा जगत् का रगड़ा होने से–भ्रम से सच्चा हो प्रतीत हो रहा है ! तू सच्चा है, जब तू कच्चा हुआ तब संसार जो कच्चा था सो सच्चा हुआ–पक्का हुआ, गलती ने तुझे मार डाला है ! गलती गई, न झगड़ा है, न बखेड़ा है, न अज्ञान अन्धकार है, न अविद्या रात्रि है ! चांदनी चमक रही है ! शीतलता दे रही है ! परम शांति रूप पवन वहन कर रहा है !

आकाश विस्तार वाला कहां है ? आकाश को अवकाश किसने दिया है ? तेरी कल्पना में ही अवकाश है ! ठोस परम तत्व में अवकाश कहां ? किसी का भी अवकाश नहीं ! कहां है माया ! कहां है अज्ञान ? कहां है अज्ञानकृत आधि, व्याधि, और उपाधि ? सब कल्पना—सब मिथ्या का अवकाश ही नहीं है ! फिर भी मूढ़ अपने में अवकाश देकर, गूढ़ तत्व को भूल कर चौरासी की चर्खी में घूमते हैं ! अपनी ही कल्पनाओं में घूमते हैं ! दुःख का महल चुन २ कर बंद होते हैं ! दृष्टि का अंतर है ! दृष्टि ने ही सृष्टि कर डाली है ! दृष्टि में ही सृष्टि भरी हुई है ! दूषित दृष्टि को फोड़ डाल ! तत्व की दृष्टि से तत्व को ही देख ! हाजराहजूर है ! प्रत्यक्ष है ! लक्षालक्ष से विलक्षण स्वयं लक्षण है ! इसके बोध से तत्क्षण प्रपंच का भक्षण होता है ! हाय ! अविद्या ! तू हट जाय तो मामला ठीक २ है ! बिगड़ा सुधरा कुछ नहीं है ! तेरे जादू का असर चला जाना ही बस है ! तेरी चालाकी में भी तत्व का कुछ बिगड़ा नहीं है परन्तु तेरे जाल में फँसे हुये को तू शुद्ध का शुद्ध फल होने नहीं देती ! हाय ! दुष्टा ! तू ऐसी सर्पिणी है कि जिस से प्रकट होती है, उसको ही डस लेती है ! तेरा शिर कुचलने वाले वीर पुरुष को धन्य है ! तुझे कुचले बिना अचल शान्ति नहीं है !

पवन का वहन किस में हो ? न वन है, न भुवन है, पवन किसका हो ? किस प्रकार हो ? किसमें बहे ? किसे सुखावे ? किसको बहावे ? कहो तो सही ! कहां आवे ? कहां जावे ? पवन ही पवन में घूमता है ! पवन को ढाता है, बहाता है ! सिवाय संकल्प कहां देखा जाता है ? जादू के चेटक की टिकटिकी से अहंभाव की डुगडुगी में अल्प भी महान् मालूम हो रहा है ! क्यों दुखी होता है ? पटक दे झोली झंडे की उपाधि, लादे क्यों फिरता है ? सफाचट तू ही भरा हुआ है ! बात मान, अपने को पहिचान, ज्ञान, ज्ञान क्या करता है ? कहां खोज रहा है ? तू ही है ज्ञान की खान ! खोल दे अविद्या के कपड़े का परत ! जो तू शेष न रहे तो मेरी तेरी शरत ! दानेश्वर का दानेश्वर होकर क्यों बनता है भिक्षुक क्षुल्लुक ? अरा निगाह से देख ! प्रेम से देख ! कपड़े लत्तों की उपाधि को छोड़कर देख ! क्या दीखता है ? प्रत्यक्ष है प्रत्यक्ष ! परमपद ! अमरपद ! बेड़ा पार है !

नदियों का वहन, तट की शोभा, जल का शब्द, भिन्न २ दीखता है, भला ! उन में कौनसी भिन्नता है ?

नजर की भिन्नता है ! नजर से ही भिन्नता है, नजर से ही प्रसन्नता है ! पृथ्वी में रहने वाले नदी, पहाड़ और प्राणी पृथ्वी से भिन्न कहां हैं ? सब का अस्तित्व पृथ्वी में ही है ! ऐसे ही पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्यक्त में, अव्यक्त परम तत्व में अस्त होता है ; अस्तित्व सब में सब प्रकार से परम तत्व का है। परम तत्व के सिवाय सब काल्पनिक, सब मिथ्या, सब परिवर्तन वाला, सब नाशवन्त, सब दिखावे मात्र है ! उस में चित्त को क्यों लगाऊं ? विपत्ति को क्यों लाऊं ? अनित्य से मिलने से नित्य को भी अनित्य का अनुभव करना पड़ता है ! नित्य में नित्य को रखने से, नित्य बने रहने से सब गुम ! अहा ! हा ! कैसी, शान्ति ! कैसा सुख ! अनुभवी ही जानता है ! अनुभवी के हृदय को सब कुछ होते हुये भी तुच्छ होने से कुछ नहीं ! विकार की दृष्टि से दीखता हुआ भी परम तत्व सिवाय क्या है ? बड़ा आश्चर्य है ! सब समझ की गलती थी ! तिल की ओट पहाड़ था ! तिल हटा ! पहाड़ गया ! पहाड़ का कण हो गया ! ऋण चुका ! गुण भागा ! अधिपति की स्थिति में ही मति आरूढ़ हुई ! मति पिघली ! गति में घुसी ! आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

अहाहा ! तत्व कितना विशाल है ! उस की कोई उपमा नहीं मिलती ! रात, दिन, वर्ष, कल्प अरे ! अबाधित अखण्ड काल तक मशाल—ज्योति जलती है ! तब भी बुझी न थी ! पिशाचिनी घुस गई थी ! गुरु ने गुरु धूनी दी ! चीख मार कर भागी ! दम भर भी न टिकी ! अब क्या कहूं अपनी महिमा ! मैं तो मैं ही हूं ! महान् हूं ! शान्ति का सागर हूं ! सब की सत्ता हूं ! चैतन्य का चैतन्य हूं ! आनन्द का अम्बर हूं ! जो कुछ कहूं सो थोड़ा है ! कल्पना के घोड़े वहां नहीं पहुंचते ! कल्पनातीत न कहूं तो शब्द झूठे होते हैं ! रे ! इस अनूठे को क्या कहा जाय ? चुप ! बस चुप ! सच्चिदानन्द ! न मैं हूं न मेरा है ! कहां है तू, कहां है तेरा ? सब ही है झमेला ! आवागमन का फेरा ! हां ! हां ! सच्चिदानन्द ! आनन्द ही आनन्द है !

कैसा तमाशा नटनी ने फैला रक्खा है ! के कटाक्ष से मोह को प्राप्त हुये बन्दर के समान ना नाच रहे हैं ! नटनी नचा रही है ! अन्दर को देखता नहीं ! कपड़ा ही कपड़ा है ! न नटनी नट ! मोहास्त्र लगने से जीते हुये मर रहे हैं ब्रह्मास्त्र को खेंच मार ! नटनी के लगते ही जय ज कार है ! न संसार है ! न जन्म मरण का झगड़ न सुख दुःख का रगड़ा ! फिर क्या है ? स्वरूप स्वरूप है ! न कुछ कहना है न सुनना है ! न कु करना है न धरना है ! अपने आप में अपना विचार है ! न कहीं चलना है न फिरना है ! निश्चिंत हुआ अज्ञान का भूत उतर गया ! स्वरूप का बोध हुआ अहाहा ! कितना बड़ा !!

वैराग्य रोम २ में भर जाय, उत्साह का उफ ऊपर तक आजाय, श्रद्धा का जामा शिर से तक लग जाय तब क्या है देरी आत्म दर्शन में क्षण भर के कार्य में जन्म जन्मांतर की क्या आव श्यकता ? निशाने पर एक गोला ही ताक कर मार की देरी है ! हां ! सामर्थ्य चाहिये ! आत्मब चाहिये ! स्वार्थ त्यागने से ही पूर्ण स्वार्थ सिद्धि है ! विना मरे जिया तो क्या जिया ? म कर जीने की बलिहारी है ! क्या स्वर्ग दूर है क्या परम पद दूर है ? अपने आप में ही स्व अपने आप में ही अमरता ! फिर क्यों ढूंढता फिर है ? शरीर के जाम को छोड़, मन को तोड़, मेरे मैं को घोंट पीस कर एक कर, अंधे चश्मे को उता दिव्य चश्मा लगा कर देख ! अपने सहित सब संस को—ब्रह्मांड को आनन्दाम्बु में एकमेक हुआ देख देख ! जरा निगाह से देख ! एक पलक मार क देख ! एक ही बार दीखने से कभी हटने वाला है ! फिर देखने का काम नहीं है ! विना देखे दीखेगा ! अंधेरे उजाले, रात दिन, सब में वह दीख रहा है ! अहाहा ! क्या सामर्थ्य ! आश्चर्य ! क्षण भर में सब मामला पलट गया कंगाल का श्रीमान् हो गया ! इतना श्रीमान् ! नहीं सका ! सब का मालिक ! सब का खजाना ! है उस को जिस की यह स्थिति है !

संपूर्ण।

चर्पट पंजरिका ।

वयसि गते कः काम विकारः
शुष्के नीरे कः कासारः ।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥७॥ भज०

अर्थः—अवस्था चली जाने पर काम विकार-
क्ति नहीं रहती, पानी सूखने पर तालाव नहीं
हता, धन चले जाने पर परिवार नहीं रहता यानी
न के कारण से ही परिवार पीछे लगा रहता
, धन न होने से होता हुआ परिवार भी कहां है ?
त्व के जानने से संसार नहीं रहता । गोविन्द का
जन कर ।

भाषा पद्य ।

आयु नशे क्या काम विकारा ।
जल सूखे सर में क्या सारा ॥
द्रव्य नशे पर क्या परिवारा ।
तत्व लखे पर क्या संसारा ॥७॥ भज०

विवेचन ।

जितना जो कुछ कार्य अथवा विकार होता है
सब देश, काल और अवस्था के साथ होता है, उन
में अंतर पड़ने से कार्य अथवा विकार नहीं होता ।
जगत् में अवस्था, विकार, सूक्ष्म, स्थूल आवादिक जितने
पदार्थ हैं, सब ही परिवर्तन वाले हैं, कोई भी हमेशा
एक अवस्था में रहने वाला नहीं है, चाहे वे विकार
को प्राप्त होते हुये मालूम न हों तो भी एक हालत
में नहीं रहते, संसार चला चली का तमाशा है इस
लिये उस में प्रत्येक विकारी ही है । जिस के आरंभ
में ही विकार है, जिस का विकार ही स्वरूप है, ऐसे
अज्ञान—अविद्या में कोई विकार रहित कहां से हो ?
इसी कारण तत्त्व ज्ञानियों ने संसार और तत्त्व का
निर्णय कर के संसार को तुच्छ, असत्य ठहराया है।
जिस में हमेशा विकार और नाश हुआ करता है,
ऐसा संसार जिस में प्रतीत हो रहा है, वह तत्त्व
ही विकार रहित है । जब तक संसार के सत्यपेन
का भान है तब तक अज्ञानियों को प्रत्यक्ष परम
तत्त्व भी अप्रत्यक्ष हो रहा है किंतु तत्त्व ज्ञानियों को
संसार नहीं रहता, इस को समझाने के निमित्त
तीन प्रकार की उपमा देकर समझाया गया है।

काम का विकार सब विकारों में प्रबल है ।
कामना करके ही संसार है । जो शरीर संसार में
पैदा होता है, उस के उत्पत्ति स्थान में काम का
संस्कार ही है इस लिये उस का निवृत्त होना भी
कठिन है । लोभ, मोह, मद आदि बलिष्ठ हैं तो भी
उन सब की मूल तो काम ही है। स्थूल शरीर रहते
हुये काम विकार का निवृत्त होना किसी महापुण्य-
वान् प्रयत्न शील तत्त्व ज्ञानी को ही होता है । जब
तक काम का विकार अंतःकरण में से समूल नाश
न हो तब तक मोक्ष की आशा ही व्यर्थ है क्योंकि
संसार का बीज कामना ही है, कामना रहते हुये
मोक्ष किस प्रकार हो ? काम इतना प्रबल होते हुये
भी देश, काल और अवस्था से सम्बन्ध वाला है,
उन में से भी अवस्था से काम का विशेष सम्बन्ध
है, यदि अवस्था योग्य न हो तो देश काल कुछ कर
नहीं सके । एकांत देश काम विकार का देश है,
रात्रि का काल काम विकार के अनुकूल है और
काम विकार की मुख्य अवस्था युवावस्था है । जब
अति वृद्ध हो जाते हैं तब शरीर की सब धातुयें
क्षीण—निस्तेज हो जाती हैं । इस समय काम
विकार नहीं रहता। यहां काम विकार का न रहना जो
बताया है, वह स्थूल शरीर के साथ संबंध वाला है,
मानसिक काम विकर तो शरीर जीर्ण होने पर भी नहीं
जाता । मानसिक काम विकार की निवृत्ति तत्त्व ज्ञान के
विना नहीं होती । ऊपर कहा है कि अवस्था चली
जाने पर काम विकार की शक्ति नहीं रहती
उस का मतलब यह है कि युवावस्था चली जाने
पर और वृद्धता के बाद अति वृद्ध होने पर शिथिल
शरीर में काम विकार का स्थूल स्वरूप नहीं होता ।
ऐसे ही बाल्यावस्था भी जो पूर्व जन्म की युवा-
वस्था चली जाने के बाद प्राप्त हुई है, अविकसित
अवस्था होने से उस में भी काम विकार नहीं होता।

जैसे अंधे को देखने की इच्छा हो तो भी वह देख नहीं सका, गूंगे को बोलने की इच्छा हो तो भी वह बोल नहीं सका, इसी प्रकार जिस के शरीर की शक्ति क्षीण हो गई है, ऐसे वृद्ध का मानसिक काम विकार भी निष्फल है, काम का विकार मन का धर्म है, मन का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है। जब स्थूल शरीर दृढ नहीं होता तब मन भी दृढ नहीं होता तो मन से होने वाला काम विकार भी किस प्रकार हो ? सब प्रकार की इच्छाओं का समावेश काम विकार में है। जैसे मरणोन्मुख हुये मनुष्य को सुन्दर युवान कन्या के साथ शादी करने का विचार होना असंभवित है इसी प्रकार अति क्षीण वृद्धावस्था में काम का विकार होना भी असंभवित है। अवस्था न होने से काम विकार प्रतीत नहीं होता, इस से ऐसा न समझलेना चाहिये कि उस में से काम विकार समूल निवृत्त हो गया है क्योंकि यद्यपि उस समय प्रतीत नहीं होता किन्तु दबा हुआ है। जैसे अवस्था जाने से काम विकार चला जाता है ऐसे ही परम तत्त्व के बोध से संसार भी चला जाता है।

दूसरी उपमा तालाब में जल नहीं होने की है। जिस करके जिस की स्थिति है, यदि वह न हो तो उस का नाम ही व्यर्थ है, जिस प्रकार चैतन्य की विशेषता रहित मुरदा शरीर नाम मात्र का मनुष्य है इसी प्रकार जिस तालाब में जल नहीं है, वह नाम मात्र का ही तालाब है, वस्तुतः तालाब नहीं हैं, यद्यपि उस की आकृति देख कर कोई उसे तालाब कहे भी तो भी वह तालाब नहीं है क्योंकि जल से ही तालाब होता है, यदि जल नहीं तो तालाब कहां ? नहाना, धोना, जल पीना आदिक कार्य तालाब से होते हैं, जिस से वे कार्य न हों, वह तालाब होते हुये भी तालाब नहीं है, जैसे सूखे वृक्ष को पक्षी त्याग देते हैं ऐसे ही सूखे तालाब को मनुष्य और अन्य प्राणी त्याग देते हैं। सूखा वृक्ष नाम मात्र का वृक्ष है, क्योंकि उस में न तो फल हैं, न पत्ते हैं, न छाया है, और न शीतलता ही है, यह ही हाल सूखे हुये तालाब का है, सूखे हुये तालाब को वास्तविक तालाब कोई भी नहीं कह सका। जब से ता[...] का जल सूख गया है तब से वह मात्र गड्ढे [...] पृथ्वी ही है।

एक बार एक संत के पास पांच विलक्षण म[...] पहुंचे। यद्यपि उन पांचों का पहुंचना असंभवित [...] तो भी किसी प्रकार पहुंच गये, वे पांचों ही ए[...] अंग से खंडित थे और खंडित हुये अंग से उत्[...] हुये विशेष सामर्थ्य का चंचलता और मिथ्या [...] राई में उपयोग करते थे, उन में से एक तो [...] आंख से काना था, दूसरा दोनों आखों से अंधा [...] तीसरा अति वृद्ध था, चौथा दोनों पैरों से पंगु [...] और पांचवां नपुंसक था, ऐसे विचित्र पांचों पु[...] को नमस्कार करते हुये देख कर संत को पंच [...] की विलक्षणता का ख्याल आया। कुछ बात [...] के बाद संत को मालूम हुआ कि ये पांचों ही वाद[...] हैं। संत के पास ज्ञान चर्चा हुआ करती थी, [...] कोई चर्चा वे अपने सामने होने नहीं देते थे। [...] ये पांचों संत के पास बैठे थे तब संत ने कहा "[...] जगत् दो २ भाव से है इस लिये जगत् में अ[...] है, जो समानता से देखता है—एक ही दृष्टि से [...] में एक तत्व को देखता है, वह सम तत्त्व को [...] होने के योग्य होता है !" काना बोल उठा "म[हा]राज ! आपका कथन सत्य है ! मैं जन्म से ही [...] को एक आंख से देखता हूं, किन्तु अभी तक मेरा [...] नहीं हुआ ! कृपा कर के आप कहिये, मुझे सम[...] की प्राप्ति कब होगी ?" संत उसके व्यर्थ वाक्य [...] सुन कर बोले "शुक्राचार्य जी ! सच है परन्तु [...] आंख फूट जाने से कोई एक दृष्टि से देख [...] सका ! जब बाहर की दोनों ही आंखें फूट जाती [...] तब आंतर का तीसरा नेत्र खुल जाता है, उस [...] से सम दृष्टि होती है ! तू तो दोनों नेत्रों से देखना [...] देखना बहुत चाहता है परन्तु तेरे पाप कर्म ने तेरी [...] आंख प्रथम से ही छीन ली है ! तू एक आंख से देख[...] हुआ भी अनेक भावों से देखता है, तेरे लिये [...] दूर है ! प्रथम अपने पापों की निवृत्ति कर !" [...] बोला "महाराज ! मेरी तो दोनों ही फूटी हुई [...] मैंने जन्म से ही संसार को नहीं देखा, मैंने [...]

महात्माओं से सुना है कि संसार माया का है, संसार को देखने से ही विकार उत्पन्न होता है। मैंने कभी संसार को नहीं देखा, अब मेरे लिये परमात्मा के ज्ञान होने में कितनी देरी है?" संत इस विचित्र प्रश्न को सुन कर कुछ विचारने के बाद बोले "सूरदास जी! सच है, आपने संसार को नहीं देखा किन्तु जन्मांध होने से आप का न देखना परवश है। संसार न देखने से परमात्मा नहीं दीखता, संसार न देखते हुये भी आपने अपने संसार को बहुत लम्बा चौड़ा बना रक्खा है! नेत्र इन्द्रिय बाहर देखने में असमर्थ होने से आप हाथ से टटोल कर ही सब संसार को जानते हो, संसार रूप कीचड़ में बारम्बार फंस रहे हो, पाप का फल रूप ही आपकी दोनों आंखें फूट गई हैं, इस पाप के फल को प्रथम भोग लो तब कहीं परमात्मा की तरफ वृत्ति होगी! क्या परमात्मा को भी आपने हाथ से टटोल कर जानने का पदार्थ समझा है? अनेक प्रकार की इच्छायें तुम में भरी हैं और मैं समझता हूं कि काम का विकार भी तुम में बहुत है" तीसरा अति वृद्ध बोला "महाराज! अब मैंने काम को जीत लिया है, काम का विकार अब मुझ में नहीं है, मैंने सुना है कि जिसको काम विकार होता है उसी का जन्म होता है, जिसका काम विकार निवृत्त होजाता है, उसको जन्मने का कोई हेतु नहीं रहता, अब फिर से मेरा जन्म होना न चाहिये, क्या यह ठीक है? आप कृपा कर कहिये!" सन्त बोले "रे मूर्ख! अति आयु वृद्ध! बुढ़ापे में तेरी बुद्धि मारी गई है! स्थूल रूप से काम विकार होने का तेरे शरीर में सामर्थ्य ही कहां है? तेरा मन तो काम विकार से रहित नहीं है, जन्म का हेतु सूक्ष्म कामना है, सब सूक्ष्म कामनायें तुझ में मौजूद हैं, झूंठा बकवाद छोड़ कर जितना तुझ से बने उतना ईश्वर का भजन कर! अब तुझ से योग, उपासना आदिक की विशेष क्रियायें नहीं हो सकीं, ज्ञान का भी तू अधिकारी नहीं है क्योंकि ज्ञान के लिये निर्मल सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है, तेरी बुद्धि वैसी नहीं है, चांडाल चौकड़ी के साथ मिल कर शेष अमूल्य समय को व्यर्थ क्यों खोता है?" पंगु बोला "हां! महाराज! ज्ञान भक्ति बहुत कठिन है! अहिंसा आदिक धर्मों का जितना पालन किया जाय उतना ही अच्छा है, चलने फिरने से अनेक प्रकार के जीव जन्तु मरते हैं, उनकी हिंसा का दोष कम नहीं है, ऐसा समझ कर मैंने पृथ्वी पर चलना छोड़ दिया है, अब मुझे हिंसा का दोष तो लगेगा ही नहीं, ठीक है ना महाराज!" संत बोले "रे मूर्ख! दोनों पैर चले गये, फिर भी तू अपनी कुटिलता को क्यों नहीं छोड़ता? तुझे हिंसा का दोष दूसरों से दूना लगना चाहिये क्यों कि दूसरे तो दो पैरों से ही चलते हैं और तू तो चार और आठ पैरों से चलता है! कभी घोड़े पर चढ़ कर, कभी गाड़ी में बैठ कर दौड़ा फिरता है! जितने पैर विशेष उतनी ही हिंसा विशेष! पशु तेरे लिये चलते हैं, उनमें विशेष बुद्धि नहीं है इसलिये उनके दोष का भागी भी तू ही है! मैंने सुना है कि तू श्रीमान् होने से लम्पट भी है, लम्पटपने का दोष सब दोषों का शिरोमणि है, प्रथम इस दोष की निवृत्ति कर!" फिर पांचवां नपुंसक बोला "महाराज! आपने सच कहा, ब्रह्मचर्य के समान कल्याण करने वाला कोई नहीं है, ब्रह्मचर्य का आचरण करने से परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, इसलिये मैंने अखन्ड ब्रह्मचर्य धारण कर रक्खा है, मेरी इतनी उमर हुई आज तक मेरा बिन्दु पात कभी नहीं हुआ! मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूं! अब मुझे गुरु महाराज के उपदेश की ही देरी है! जहां उपदेश हुआ कि ब्रह्म तत्व करामलकवत् हो जायगा! मैं यह ही प्रार्थना करने को आ रहा था, ये भी मेरे साथ चले आये, पंगुदास की गाड़ी में हम सब आये हैं!" सन्त ने उसकी आकृति से प्रथम ही पहिचान लिया था कि यह जन्म से षंढ-नपुंसक है, कथन से भी वह ही बात उसके मुख से निकली तब संत ने कहा "तू ब्रह्मचारी नहीं हो सका! षंढ ब्रह्मचारी क्या होगा? जिसका वीर्य ही गौण हो उसका पात कैसे हो? तू न पुरुष है न स्त्री है, यह तेरा शरीर तेरे पूर्व के बहुत दोषों को प्रकट करता है, तुझको विषय की कामना बहुत है परन्तु करे क्या! कामना की तृप्ति का साधन ही तेरे पास नहीं है! पुरुषत्व होते हुये जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों काम विकारों को रोकता

है, वह ब्रह्मचारी होता है, तुझमें काम विकार है ही नहीं, तू रोकेगा क्या? पांचों झूठे बकवादी हो, तुम्हारी कल्पना के अनुसार ईश्वर का न्याय नहीं है, तुम पांचों ही झूठे हो, शायद इस प्रकार के झूठे भाव से भोले मनुष्यों को ठगते भी हो, जाओ तुम लोग मेरे साथ बात करने के भी अधिकारी नहीं हो!" पांचों यह सुन कर चल दिये। जिस प्रकार ये पांचों झूठे थे इसी प्रकार जिस तालाब में पानी नहीं है, वह भी मिथ्या ही है, उससे तालाब का काम नहीं निकलता।

धन चले जाने वाले का परिवार कहां है? ऐसी तीसरी उपमा दी है, धन ही जगत् का ईश्वर है! जगत् में धन की जितनी मानता है उतनी प्रतिष्ठा और किसी की नहीं है! धन में ही जादू भरा है! धन से जिस व्यवहारिक पदार्थ की इच्छा हो उस की प्राप्ति हो सकी है। अच्छे २ गुणी भी धन वाले के पास पहुंच जाते हैं। जगत् के कार्यों की सिद्धि का मुख्य साधन धन ही है, धन से अवगुण छुप जाते हैं, कुरूप होने पर भी धन वाले को कोई कुरूप नहीं कह सका। धन के नशे में धनवान् चूर रहता है, धन वाले का कोई कुटुम्बी न हो तो भी बहुत हो जाते हैं। जगत् में धन की ही धन्य २ है! 'वसु (धन) बिना नर पशु' ऐसा कहा जाता है। धन रहित को कोई न हीं पूछता, धनहीन की मान प्रतिष्ठा भी नहीं होती, सब तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। धन रहित के मुख्य कुटुम्बी भी 'हम उसके कुटुम्बी हैं' ऐसा कहने में लज्जा को प्राप्त होते हैं, स्त्री, पुत्र, आदिक निकट के सम्बन्धी सम्बन्ध का यथार्थ व्यवहार नहीं करते। धनहीन तुच्छ होता है। कंगाल हालत बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है, सदाचार से चलित करती है, इत्यादि अनेक कष्टों का हेतु धनका अभाव है। इस उपमा में कहा है कि धन चले जाने से कुटुम्ब नहीं रहता। कुटुम्ब कहीं चला नहीं जाता परन्तु कुटुम्बी धनहीन को कुटुम्बी नहीं मानते इस लिये उसको कुटुम्बियों का कुछ भी सुख नहीं होता। केवल मनुष्यों का ही यह हाल हो, ऐसा नहीं है, पशु पक्षियों का भी यह ही हाल है। जहां चारा मिलता है वहां पहुंच जाते हैं, जहां चारा न मिले वहां नहीं जाते। जगत् परस्पर के स्वार्थ से हुआ है। जहां स्वार्थ की हानि होती है वहां देश नहीं रहता, कुटुम्बी कुटुम्बी नहीं रहते, प्रेमी नहीं रहते, अपने पराये हो जाते हैं, शत्रु हो जाते हैं, चाहे पुत्र हो, चाहे स्त्री हो, सम्बन्ध धन से ही है।

एक पुरुष अपनी युवावस्था में बहुत कमाता था, सब कुटुम्बियों का सब प्रकार से पा[lन] करता था, सबको धन देते हुये सब को चाहता और वे सब भी धन लेते हुये उसको चाहते और अपने प्राण से भी अधिक प्रिय समझते इस प्रकार बात चीत करते थे परन्तु उनका केवल धन की प्राप्ति होती रहने के निमित्त था। माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्र, आदिक उसका परिवार बहुत था। देश परदेश भी उसकी प्रतिष्ठा बहुत थी। बहुत दुकानें, कोठे और कार्यालय होने से मुनीम, गुमाश्ते और नौकर भी बहुत थे। वह उन सबके साथ भाव वर्तता था और अनेक निमित्त से धन दे उनको संतुष्ट रखता था। लक्ष्मी चलित जब वह बूढ़ा होने को आया तब से उसकी गिरने लगी, क्रम २ से धन का नाश होने लगा जब लक्ष्मी जाने लगती है, तब इतनी तेजी दृढ़ता से जाती है कि कोई उसे रोक नहीं सक थोड़े ही दिनों में सब कुछ समाप्त हो गया! घर बर्तन, वस्त्र तक भी बिक बिका गये! रोजगार हीन हो गया! कुटुम्ब बहुत था परन्तु कमाई कर खिलाने वाला कोई न था। ऐसी दशा उसने अपना देश छोड़ दिया परदेश कमाई करने चला गया परन्तु लक्ष्मी देवी अवकृपा प्रथम से ही जाकर वहां खड़ी जैसा कहा जाता है कि प्रारब्ध आगे जाता मनुष्य पीछे जाता है इसी प्रकार उसका हाल परदेश में भी उसका रोजगार न लगा! दो तक वह जान पहिचान वालों के यहां रहा, उन्होंने अपने यहां रहने को मना करदी, जब ठिकाना न मिला तो मजदूरी करने लगा! मज

भी कभी मिले कभी न मिले, कभी बाजार से चना चबेना ले कर खाले और कभी उपवास ही हो जाय। रात्रि को किसी की दुकान के बाहर पड़ा रहे अथवा किसी सड़क के किनारे पर पड़ जाय। शरीर कोमल, मजदूरी कभी की नहीं, भला फिर कैसे हो? बुढ़ापा आ ही चुका था, शरीर दिन पर दिन क्षीण होने लगा। अब मजदूरी करने का किंचित् भी सामर्थ्य न रहा, अन्त में जहां कंगाल पड़े रहते हैं, वहां पड़ा रहने लगा। कई वर्षों तक बिचारा इस प्रकार कष्ट पाता रहा, ऐसी दशा में घर पर तो भेजता ही क्या? घर वालों को भी उसकी दुर्दशा का हाल बारम्बार मालूम होता रहता था, घर वाले उसे छोड़ बैठे थे, वे उसे अपने पास बुलाना भी नहीं चाहते थे। दिन पर दिन शरीर जीर्ण होता जाता था, एक दिन उसने विचार किया "अब शरीर गिरने वाला है, घर के ऊपर ही गिरे तो अच्छा है, कुटुम्बी कुछ न कुछ सेवा करेंगे ही!" ऐसा विचार कर वह पैदल ही चल पड़ा। उसका घर बहुत दूर था किसी सूरत से भी वह पैदल चल कर घर पर नहीं पहुंच सकता था, दिन भर में दो कोस चलता था, अत्यन्त थक जाता था, रात्रि को जंगल में पड़ा रहता था, सुबह होते ही शक्ति न होते हुये भी चल पड़ता था, खाने को कुछ पास न था, मार्ग भूल गया, एक मनुष्य से पूछा तो उसने कहा "पश्चिम के मार्ग से चला जा! मार्ग में रुद्र सागर नाम का एक तालाब मिलेगा, उसके किनारे से एक कोस पर बड़ा स्टेशन आवेगा, वहां बस्ती भी है।" वह उस मार्ग से चल पड़ा। उस ने समझ रक्खा था कि रुद्र सागर पर मनुष्य होंगे, वहां कुछ न कुछ खाने को मिल जायगा, स्नान भी वहां ही करूंगा और जल पान कर, कुछ आराम कर के स्टेशन की तरफ चलूंगा, धूप का दिन था, कठिनाई से चला जाता था, बहुत दूर तक कोई जलाशय न मिला, एक गड्ढा, अवश्य दिखाई दिया, थोड़ी देर के बाद एक मनुष्य मिला, उस ने उस से कहा "भाई! रुद्र सागर कितनी दूर है?" वह मनुष्य हंस कर बोला "तू रुद्र सागर में तो चल ही रहा है! इस गड्ढे वाली जमीन का नाम ही रुद्र सागर है! चौमासे में इस में थोड़ा जल भर जाता है, नहीं तो खाली ही पड़ा रहता है।" बुड्ढे ने कहा "मैं ने तो रुद्र सागर पर बड़ी २ आशायें बांध रक्खी थीं! यहां तो न छाया है, न जल है, न कोई बस्ती है। हाय, रुद्रसागर तू तो रुदन सागर ही है!" उस मनुष्य ने कहा "झूंठ मूंठ का नाम ही नाम है, सागर कुछ नहीं है!" बुड्ढे को प्यास लग रही थी, वहां पानी था नहीं, बुड्ढा बेहोश होगया, दो घंटे तक बेहोश पड़ा रहा, बाद एक मनुष्य उस मार्ग से निकला, उस ने उस पर जल छिड़का, बुड्ढा कुछ होश में आया, मनुष्य ने कुछ खाने को दिया और पानी पिलाया तब बुड्ढा थोड़ा चेतन हुआ और वहां से आगे चला, रस्ते में बहुत से मनुष्य मिले, पूछा गया तो उत्तर मिला कि विश्वव्यापी युद्ध में बहुत से मनुष्य मर गये, बहुत सी स्त्रियां पुरुष रहित हो गई हैं, वे सब इस शहर में आरही हैं, गौरांग और युवान हैं, जो कोई मनुष्य मिलता है, उस के साथ शादी कर लेती हैं, वे बूढा जवान कुछ भी नहीं देखतीं! बुड्ढे ने विचार किया "अब युवा स्त्री मेरे किस काम की? मुझ में काम विकार का सामर्थ्य कहां है"? ऐसा विचार कर उस ने उन लोगों का मार्ग छोड़ दिया और स्टेशन का मार्ग लिया, वहां से जो गाड़ी जाती थी उसी के शहर में पहुंचती थी, स्टेशन पर सब टिकट ले रहे थे, बुड्ढे के पास दाम थे नहीं, स्टेशन-मास्टर को उस पर दया आई, उस ने उसे बिना टिकट ही गाड़ी में बैठा दिया, बुड्ढा शहर में पहुंच कर अपने घर पर आया, कुछ रात्रि हो गई थी, बुड्ढेने बहुत आवाज लगाई परन्तु किसी ने किवाड़ न खोले, बिचारा रस्ते ही में सो रहा, जब सुबह हुई, बुड्ढा घर में घुसने लगा तो घर वालों ने उसे घर में घुसने न दिया और कह दिया "हम तुझे नहीं जानते कि तू कौन है, पति, पिता, भाई का कब का ही स्वर्गवास हो गया है, तू हम को ठगने को आया है!" बुड्ढेने बहुत प्रकार से पूर्व का वृत्तांत कहा तो भी किसी ने घर में घुसने न दिया क्योंकि अब उस से किसी प्रकार का स्वार्थ होता नहीं दीखता था, अंत में बिचारा शहर के बाहर

नदी किनारे पहुंचा, वहां एक संत रहते थे, जब वे भोजन करते थे तब आस पास जो कोई भूखा होता, उसे बुला कर भोजन करा देते थे, बुड्ढा वहां ही भोजन करने लगा और पड़ा रहने लगा, पांच सात रोज नियमित अच्छा भोजन मिलने से बुड्ढे के शरीर और मन में कुछ शक्ति आगई, संत के यहां शाम को प्रति दिन शास्त्रोपदेश हुआ करता था, बुड्ढा भी वहां बैठा २ सुना करता, बुड्ढेने धन के तमाशे देख लिये थे, जगत् में राव से रंक तक सब का अनुभव कर लिया था, जगत् के ऊपर उस को वैराग्य हो ही रहा था, संत के पास के निवास से, संत के पवित्र भोजन से और नित्य के शास्त्रोपदेश से वह बहुत जल्दी शुद्ध हो गया और उपदेश का उस पर असर होने लगा, थोड़े ही दिनों में, जो बहुत परिश्रम से भी सामान्य मनुष्यों को प्राप्त होना कठिन है, ऐसा ब्रह्म तत्त्व उसे प्राप्त हुआ, जब वैराग्य से अंतःकरण शुद्ध हो गया तो उपदेश का रंग चढ़ने में देरी ही क्या थी ? कुटुम्ब, धन और शरीरासक्ति निवृत्त हो ही चुकी थी, उसके पूर्व पुण्य ने भी मदद दी, थोड़े समय में ही वह ब्रह्म ज्ञानी हो गया, बुड्ढे का अंतिम समय बहुत अच्छे प्रकार से व्यतीत हुआ, शरीरांत में वह मोक्ष को प्राप्त हुआ ।

ऊपर के दृष्टांत से सब स्पष्ट हो गया होगा, एक उपमेय के लिये तीन उपमा दिखाई हैं, तत्त्व ज्ञान हो जाने के बाद संसार नहीं रहता, उस को समझाया है कि जैसे अवस्था चली जाने से काम विकार नहीं रहता, जैसे जल चले जाने से तालाव नहीं रहता, जैसे धन चले जाने से परिवार नहीं रहता इसी प्रकार तत्त्व ज्ञान हो जाने से संसार नहीं रहता। यह हीनोपमा है क्योंकि प्रथम के तीनों का फिर होना संभवित है परन्तु तत्त्व ज्ञान होने के पश्चात् संसार का होना कभी भी संभवित नहीं है—संसरना चलना संसार है, जब तक तत्त्व का बोध नहीं होता तब तक संसार की सत्यता है। सत्य समझे हुये संसार में ही चलना होता है। जब आत्म तत्त्व—ब्रह्म तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है तब संसार तुच्छ—झूठा हो जाता है। तब ज्ञानी के लिये संसार नहीं रहता। जैसे दिन होते ही रात्रि का अंधेरा टिक नहीं सका इसी प्रकार तत्त्व बोध होते ही संसार नहीं टिकता। अविवेक से संसार की सिद्धि है, जब तत्त्व बोध रूप विवेक होता है, तब अविवेक और अविवेक का बना हुआ संसार भाग जाता है। जो दीखता है, वह संसार नहीं है किंतु अहंभाव सहित-मन का अनेक इच्छाओं में घूमना, राग द्वेष सहित पदार्थों का ग्रहण करना, यह ही संसार है। यह संसार अज्ञान से है, जिस को ज्ञान हो जाता है, उसको उपरोक्त संसार नहीं रहता। बाहर का संसार तो केवल उस की छाया है, सुख दुःख का हेतु भी नहीं है तो उसे संसार किस प्रकार कहा जाय ? तत्त्व ज्ञान होने से अपने आद्य, व्यापक स्वरूप का बोध होता है, उस बोध से व्यक्ति भाव के बने हुये जीव भाव, अहं, ममत्व, और उनके स्थान रूप तीनों शरीरों के स्थान रूप संसार-अज्ञान सब की ही निवृत्ति हो जाती है। परंतु आश्चर्य यह है कि संसार की निवृत्ति तत्त्व ज्ञानी के सिवाय अन्य के जानने का विषय नहीं है। धन्य भाग्य उस बुड्ढे का ! अनन्त कष्ट सहते हुए भी सत्संग के प्रभाव से उसे अपने आद्य स्वरूप का बोध हुआ। जैसा संग वैसा रंग ! जो अपना कल्याण करना चाहे उसको चाहिये कि जिस से तत्त्व ज्ञान का बोध हो सक्ता हो, उसी का संग करे।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका ।

(गताङ्क से आगे)

और 'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७। १९] (सब वासुदेव है),'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' [गी०१३।२] (हे भारत ! सब क्षेत्रों में मुझको क्षेत्रज्ञ जान), ' समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' [गी०१३।२७] (सब भूतों में समान रहा हुआ परमेश्वर) इस प्रकार की स्मृतियों से भी आत्मा की एकता सिद्ध है। और 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' [वृह० १।४।१०] (यह अन्य है, मैं

अन्य है, इस प्रकार पशु के समान वह नहीं जानता) और 'मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [बृह० ४।४।१६] (जो यहां भिन्न हो, ऐसा समझता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है) इस प्रकार भेद ज्ञान का निषेध है, और 'स वा एषा महानज आत्मा-जरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृह०४।४।२५] (वह यह महान्, जन्म रहित, आत्मा, जरा रहित, अमर, अमृत, अभय ब्रह्म है) इस प्रकार आत्मा में सब विकारों का प्रतिषेध किया है, ऐसा न हो तो मुमुक्षुओं को अपवाद रहित विज्ञान युक्त न होवे और सुनिश्चित अर्थ भी युक्त न होवे क्योंकि अपवाद रहित आत्मा सम्बन्धी विज्ञान सब आकांक्षाओं को निवृत्त करने वाला है। श्रुति में कहा है:-'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः' [मुण्ड० ३।२।६] (वेदान्त के विज्ञान से जिसका अर्थ सुनिश्चित हुआ है) और 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ई०७] (उसमें एकत्व के देखने वालों को क्या मोह और क्या शोक है) ऐसी श्रुति है और [गीता० २।५४] में स्थितप्रज्ञ के लक्षण ऐसे ही कहे हैं, क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक ही हैं, यह सम्यक् ज्ञान का विषय है, उन में क्षेत्रज्ञ और परमात्मा ऐसा नाम मात्र का भेद है। यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा से भिन्न है अथवा यह परमात्मा क्षेत्रज्ञ से भिन्न है, इस प्रकार आत्मा के भेद का आग्रह करना अर्थ रहित है क्यों कि यह आत्मा एक ही है किन्तु नाम मात्र के भेद से बहुत प्रकार से उसका कथन होता है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायाम्' [तै० २।१] (जो सत्य, ज्ञान स्वरूप अनन्त ब्रह्म को गुहा में रहा हुआ जानता है) ऐसा जो कहा है वह किसी एक गुहा के उद्देश से नहीं कहा है क्योंकि ब्रह्म से अन्य कोई गुहा में नहीं रहता। श्रुति में कहा है:-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तै० २।६] (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) यहां स्रष्टा का ही प्रवेश कहा है, जो ऐसा आग्रह करते हैं, कि ऐसा नहीं है, वे वेदान्त के अर्थ का बाध करने से श्रेयमात्र का द्वार जो सम्यग्ज्ञान है, उसका ही बाध करते हैं, और यह कल्पना करते हैं कि मोक्ष कृत्रिम-उत्पन्न की हुई और अनित्य है, वे लोग न्याय नहीं करते ॥२२॥

(७) प्रकृत्यधिकरण।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः-प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का रोध न होने से प्रकृतिः [ब्रह्म इस प्रपंच का] उपादान कारण च और [निमित्त कारण है]

टीकाः-शंकाः-जैसे अभ्युदय का हेतु होनेसे धर्म जिज्ञासा करने योग्य है ऐसे ही मोक्ष का हेतु होने से ब्रह्म जिज्ञासा करने योग्य है, ऐसा कहा है। 'जन्माद्यस्ययतः' [ब्र० सू० १।१।२] (जन्मादि इन का जिस में से) इस सूत्र से ब्रह्म के लक्षण कहे हैं। जिस प्रकार घट का लय मिट्टी में और माला आदि का लय सुवर्ण में होता है वैसे ही उन लक्षणों का लय ब्रह्म में होने से वे लक्षण उपादान कारण हैं और वे ही लक्षण कुंभार तथा सुनार के समान निमित्त कारण रूप हैं, इस प्रकार समानता होने से संशय होता है कि ब्रह्म अपना आप कारण किस प्रकार हो सक्ता है? ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्म निमित्त कारण रूप तो है क्यों कि श्रुति में ईक्षण पूर्वक ब्रह्म को कर्ता कहा है जैसे कि 'स ईक्षांचक्रे' [प्रश्न० ६।३] (उस ने ईक्षण किया) 'स प्राणम-सृजत' [प्रश्न० ६।४] (उसने प्राण को उत्पन्न किया) इत्यादि श्रुतियों से ऐसा समझा जाता है कि ईक्षण पूर्वक ब्रह्म कर्ता है। ईक्षण पूर्वक कर्तापना कुंभार आदि निमित्त कारणों में ही देखने में आता है। लोक में ऐसा समझा जाता है कि क्रिया के फलकी सिद्धि के पहिले अनेक कारक होने चाहियें, इसी प्रकार का न्याय आदि कर्ता में भी घट सक्ता है। और ईश्वर की प्रसिद्धि से भी यह ही सिद्ध होता है कि ब्रह्म निमित्त कारण है। जिस प्रकार वैवस्वतादि राजा निमित्त कारण हैं इसी प्रकार परमेश्वर को भी निमित्त कारण ही समझना ठीक है। कार्यरूप यह जगत् अवयव युक्त, अचेतन और अशुद्ध प्रतीत होता है, उस का कारण भी वैसा ही होना चाहिये क्यों कि कार्य और कारण समान देखने में आते हैं।

और 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' [श्वेता० ६ । १६] (अवयव रहित, क्रिया शून्य, शान्त, दोष रहित और तम रहित) इत्यादि श्रुतियों से ऐसे लक्षण वाला ब्रह्म समझा नहीं जाता। इस लिये ब्रह्म से अन्य, सत्त्वादि आदि गुणों वाला, स्मृति में प्रसिद्ध उपादान कारण मानना चाहिये। ब्रह्म को कारण बताने वाली श्रुति तो निमित्त कारण रूप मात्र ही हैं।

समाधानः—इसके उत्तर में कहना चाहिये कि ऐसा नहीं है, प्रतिज्ञा और दृष्टांत के विरोध आने से ब्रह्म को प्रकृति यानी उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही मानना चाहिये, मात्र निमित्त कारण ही मानना ठीक नहीं है, ऐसा करने से श्रुति की प्रतिज्ञा और दृष्टांत में बाध नहीं आता, प्रतिज्ञा यह है:—'उत तमादेशम् प्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' [छान्दो० ६।१।२-३] (तू मुझ से उस का उपदेश पूछता है कि जिस से नहीं सुना हुआ, सुना हुआ हो जाता है, नहीं मनन किया हुआ, मनन किया हुआ हो जाता है और नहीं जाना हुआ, जाना हुआ हो जाता है) इस में ऐसा समझा जाता है कि एक के जानने से, अन्य सब जो जाना हुआ नहीं है, उस का भी ज्ञान हो जाता है। यह सर्व विज्ञान उपादान कारण के जानने से होना संभव है क्योंकि कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है, निमित्त कारण से कार्य अभिन्न नहीं होता क्योंकि कारीगर से मकान भिन्न देखने में आता है, दृष्टांत यह है:—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छान्दो० ६।१।४] (हे सोम्य! जैसे एक मिट्टी के पिंड से मिट्टी का सब विकार जाना जाता है, विकार नाम मात्र है क्योंकि मात्र वाणी से कहने में आता है, मिट्टी ही सच्ची है) श्रुति में का दृष्टान्त भी उपादान कारण को ही लागू पड़ता है। इसी प्रकार और भी कई दृष्टान्त हैं, जैसे कि 'एकेन लोह मणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' [छान्दो० ६।१।५] (एक सुवर्णमय मणि से सब सुवर्ण विकार जाना जाता है) और 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' [छान्दो० ६।१।६] (एक नख काटने वाली नरहनी से सब लोहे का विकार जाना जाता है) इसी प्रकार अन्य स्थल पर भी यह प्रतिज्ञा है:—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मुण्ड० १। १। ३] (हे भगवन्! किसके जानने से इन सब का ज्ञान हो जाता है) और दृष्टान्त यह है:—'यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति' [मुण्ड० १। १। ७] (जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं) इसी प्रकार दूसरे स्थान पर यह प्रतिज्ञा है:—'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (अरे! वस्तुतः आत्मा के देखने, सुनने, विचारने और जानने से यह सब जाना हुआ हो जाता है) इसके संबंध में दृष्टान्त यह है:—'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' [बृह० ४।५।६,८] (जिस प्रकार बजते हुये दुन्दुभि के बाहर के शब्दों को ग्रहण करने में वह शक्तिमान् नहीं होता परन्तु दुन्दुभि के ग्रहण करने से दुन्दुभि के आघात से उत्पन्न हुआ शब्दविशेष ग्रहण करने में आता है) इस प्रकार प्रत्येक वेदान्त में उपादान कारण को बताने वाली प्रतिज्ञा और दृष्टांत समझना ठीक है इसी कारण नीचे की श्रुति में पंचमी का प्रयोग किया है जैसे कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिस ब्रह्म में से ये भूत उत्पन्न होते हैं) इस स्थान पर 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' [पा० सू० १.४।३०]. इस सूत्र से विशेष का निरूपण होने से ब्रह्म का लक्षण उपादान कारण रूप जानना चाहिये, निमित्त कारण तो ब्रह्म से भिन्न अधिष्ठाता न होने से ब्रह्म को ही निमित्त कारण रूप जानना चाहिये, जिस प्रकार लोक में मिट्टी तथा सुवर्ण आदि उपादान कारण कुम्हार और सुनार आदि अधिष्ठाता की अपेक्षा रखते हैं इस प्रकार ब्रह्म उपादान कारण होते हुये भी अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि उत्पत्ति से पहिले सब अद्वितीय रूप था, ऐसा निश्चय होता है, दूसरे अधिष्ठाता का अभाव भी कहने में आया है यह श्रुति की प्रतिज्ञा तथा दृष्टांत के अनुसार ही है, ऐसा जानना चाहिये। अपूर्ण

योग चूडामणि उपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

सिन्दूर समूह के समान चमकने वाले सूर्य के स्थान में रज स्थित है, चन्द्रमा के स्थान पर शुक्ल स्थित है, दोनों की एकता दुर्लभ है ॥६१॥ विन्दु ब्रह्मा है, रज शक्ति है, विन्दु चन्द्रमा है, रज सूर्य है, दोनों के संगम से ही परम पद प्राप्त होता है ॥६२॥ जब वायु कर के शक्ति को चलाने से प्रेरित हुआ रज बिन्दु के साथ सदा एकता को प्राप्त होता है तब दिव्य शरीर हो जाता है ॥६३॥ शुक्ल चन्द्र से संयुक्त और रज सूर्य से संयुक्त है, उन दोनों की समान रस वाली एकता को जो जानता है, वह योगवित् है ॥ ६४ ॥ नाडी जाल का शोधन, चन्द्र सूर्य का चलाना और रसों का सुखाना महा-मुद्रा कहलाती है ॥६५॥ छाती पर ठोड़ी रख कर और योनि को बायें चरण से देर तक दबाकर और फैलाये हुये दक्षिण पाद को दोनों हाथों से पकड़ कर, दोनों बांधी हुई कांखों को श्वास से भर कर धीरे २ रेचन करे। यह मनुष्यों की व्याधि को नाश करने वाली महा मुद्रा कहलाती है ॥६६॥ चंद्र अंश से अभ्यास कर के फिर सूर्य अंश से अभ्यास करे, जब संख्या बराबर हो जावे तब मुद्रा को छोड़ देवे ॥ ६७ ॥ अपथ्य ही पथ्य नहीं हो जाता किन्तु सब निरस भी रस हो जाते हैं और खाया हुआ घोर विष भी अमृत के समान पच जाता है ॥६८॥ जो महा मुद्रा का अभ्यास करे उसके क्षय, कुष्ठ, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण, और आगे होने वाले रोग क्षय हो जाते हैं ॥६९॥ मनुष्यों को महा सिद्धि की देने वाली यह महा मुद्रा कही है, यह प्रयत्न से गुप्त रखनी चाहिये और हर किसी को देनी न चाहिये॥७०॥ पद्मासन लगा कर, शरीर और शिर को समान करके, नासिका के अग्र भाग में दृष्टि कर के अव्यय ॐकार का एकांत में जप करे॥७१॥ ॐ नित्य, शुद्ध, बुद्ध निर्विकल्प, निरञ्जन, नाम रहित, अनादि, मृत्यु रूप, एक, तुरीय, जो भूत, भविष्य और वर्तमान में सदा अव-च्छेद रहित परब्रह्म है, इस से ज्योति रूप परा शक्ति उत्पन्न हुई, आत्मा से आकाश हुआ, आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुआ, अग्नि से जल हुआ, जलसे पृथ्वी हुई, इन पांच भूतों के पांच पति सदा शिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा हैं, उन में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पत्ति स्थिति और लय करने वाले हैं, ब्रह्मा राजस है, विष्णु सात्विक है और रुद्र तामस है, इस प्रकार ये तीनों गुण युक्त हैं, ब्रह्मा देवताओं में प्रथम हुआ, ब्रह्मा उत्पन्न करने के लिये, विष्णु स्थिति के लिये, रुद्र नाश करने के लिये, चन्द्रमा भोग के लिये, इस प्रकार प्रथम उत्पन्न होने वाले हुये, इन में से ब्रह्मा से लोक, देवता, तिर्यक्, नर और स्थावर उत्पन्न होते हैं, उन मनुष्य आदि का शरीर पांच भूत समूह का है, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान और विषय, प्राणादि पांच वायु, मन बुद्धि चित्त और अहंकार स्थूल कल्पे हुये हैं। वह (शरीर) ही स्थूल प्रकृति कहलाता है, ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय ज्ञान और विषय, प्राणादि पांच वायु, मन और बुद्धि सूक्ष्म में स्थित लिंग कहलाता है, तीन गुणों से युक्त कारण है, इस प्रकार सब के तीन शरीर वर्तते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय ये चार अवस्थायें हैं, उन अवस्थाओं के अधिपति विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा चार पुरुष हैं, विश्व स्थूल का भोक्ता है, तैजस एकांत का भोक्ता है, आनन्द का भोक्ता प्राज्ञ है, इस से पर सब का साक्षी है ॥७२॥ सब जीवों में प्रणव सदा भोग में स्थित है, सब अवस्थाओं में अधोमुख आनन्द रूप है ॥७३॥ अकार, उकार, और मकार तीन वर्णों को, तीन वेदों को, तीन लोकों को, तीन गुणों को, तीन अक्षरों को, तीन स्वरों को प्रणव प्रकाशता है। अकार सब जंतुओं में जाग्रत् में नेत्रों में वर्तता है, उकार स्वप्न में कंठ में, मकार सुषुप्ति में हृदय में ॥ ७४ ॥ अकार स्थूल, विराट, विश्व है । उकार सूक्ष्म, हिरण्यगर्भ तैजस है। मकार कारण अव्याकृत प्राज्ञ है । अकार राजस, रक्त, ब्रह्मा चेतन कहलाता है । उकार सात्विक, शुक्ल, विष्णु कहलाता है ॥७५॥ मकार तामस, कृष्ण, रुद्र कहलाता है । प्रणव से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, प्रणव से विष्णु उत्पन्न हुआ ॥७६॥ प्रणव से रुद्र उत्पन्न हुआ,प्रणव ही पर हुआ। अकार

में ब्रह्मा लय होता है, उकार में विष्णु लय होता है ॥७७॥ मकार में रुद्र लय होता है, प्रणव ही प्रकाशता है। ज्ञानियों में ऊपर जाने वाला होता है, अज्ञान में नीचे मुख वाला होता है ॥७८॥ इस प्रकार निश्चय प्रणव स्थित है, जो उसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है। अनाहत स्वरूप से ज्ञानियों में ऊपर जाने वाला होता है ॥७९॥ तेल की अवच्छिन्न धारा और लम्बे घंटों के नाद के समान प्रणव की ध्वनि है, उसके अग्र में ब्रह्म कहलाता है ॥८०॥ वह अग्र ज्योतिमय और अवाच्य है, सूक्ष्म बुद्धि से महात्मा उसको देखते हैं, जो उस को जानता है, वह वेद का जानने वाला है ॥८१॥ जाग्रत् में दोनों नेत्रों के बीच में हंस ही प्रकाशता है। सकार खेचरी कहलाता है, यह त्वं पद निश्चित है ॥८२॥ हकार परमेश्वर है, यह तत्पद निश्चित है। जो जंतु सकार का ध्यान करता है, निश्चय हकार ही हो जाता है ॥८३॥ इन्द्रियों कर के जीव बांधा जाता है, आत्मा नहीं बांधा जाता। ममता से जीव होता है, ममता रहित केवल होता है ॥८४॥ भूः भुवः स्वः ये लोक, चंद्र सूर्य और अग्नि देवता। जिसकी मात्राओं में स्थित हैं, वह परम ज्योति ॐ है ॥८५॥ क्रिया, इच्छा और ज्ञान, ब्राह्मी, रौद्री औ वैष्णवी ' तीन प्रकार की मात्रा जिसमें स्थित हैं, वह परम ज्योति ॐ है ॥८६॥ वचन से उसे नित्य जपे, शरीर से उस का अभ्यास करे। मनसे उसे नित्य जपे, वह परम ज्योति ॐ है ॥८७॥ पवित्र अपवित्र जो प्रणव को सदा जपता है। वह कमल पत्र के समान पापों से लिपायमान नहीं होता ॥८८॥ वायु चलने पर बिन्दु चलित होता है और निश्चल होने पर निश्चल होता है। योगी निश्चलता को प्राप्त होता है इस लिये वायु का निरोध करे ॥८९॥ जब तक वायु देह में स्थित है तब तक जीव नहीं मरता। उस का निकल जाना मरण है इस लिये वायु का निरोध करे ॥९०॥ जब तक वायु देह में स्थित है तब तक जीव नहीं जाता। जब तक दृष्टि भ्रकुटियों के मध्य में है तब तक काल का भय कहां ॥९१॥ अल्प काल के भय से ब्रह्मा प्राणायाम परायण हुआ इस लिये योगी और मुनि भी प्राणों का निरोध करें ॥९२॥ हंस छब्बीस अंगुल बाहर जाता है। वाम और दक्षिण मार्ग से प्राणायाम किया जाता है ॥९३॥ जब सब मलयुक्त नाड़ी चक्र शुद्ध हो जाता है। तबही योगी प्राण को रोकने में समर्थ होता है ॥९४॥ योगी पद्मासन लगाकर चन्द्र से प्राण को पूर्ण करे। यथा शक्ति धारण करे और फिर सूर्य द्वारा निकाल देवे ॥९५॥ अमृत के समुद्र के समान, गौ के सफेद दूध की उपमा वाले चन्द्रमा के बिम्ब का ध्यान करता हुआ प्राणायाम करने में सुखी होवे ॥९६॥ ककड़ते हुये प्रज्वलित अग्नि रूप, हृदय में स्थित पुज्य आदित्य मंडल का ध्यान करता हुआ योगी प्राणायाम करने में सुखी होवे ॥९७॥ इडा नाड़ी से प्राण को पिये फिर रोककर दूसरी (पिंगला) से निकाल देवे फिर पिंगलासे वायु को पीकर और रोक कर बाईं (इडा) से निकाल देवे। इस प्रकार से सूर्य और चन्द्रमा दोनों बिन्दुओं के ध्यान करने से योगी की नाड़ियां दो मास के बाद शुद्ध हो जाती हैं ॥९८॥ इच्छानुसार वायु का धारण करना, अग्नि का प्रज्वलित करना, नाद का प्रकट करना और आरोग्यता नाड़ी शोधन करने से होती है ॥९९॥ जब तक प्राण देह में स्थित है तब तक अपान को रोके। आकाश में ऊपर और नीचे गति वाली एक श्वास वाली मात्रा है ॥१००॥ रेचक, पूरक और कुंभक प्रणव स्वरूप हैं। प्राणायाम बारह मात्रा युक्त होता है ॥१०१॥ बारह मात्रा संयुक्त सूर्य, चन्द्रमा। दोष समूह को नाश करने वाले योगियों को जानने चाहियें ॥१०२॥ बारह पूरक करे, कुंभक सोलह हो। रेचक दश हों, वह ओंकार प्राणायाम कहलाता है ॥१०३॥ हलकी में बारह मात्रा और मध्यम में दुनी मानी गई हैं, उत्तम में तीन गुणी कही हैं, यह प्राणायाम का निर्णय है ॥ १०४ ॥ हलकी में पसीना उत्पन्न होता है, मध्यम में कम्प होता है, उत्तम में स्थान को प्राप्त होता है इस लिये वायु का निरोध करे ॥१०५॥ योगी पद्मासन लगा कर गुरु रूप शिव को नमस्कार कर के, नासिका के अग्र भाग में दृष्टि लगा कर एकांत में प्राणायाम का अभ्यास करे ॥ १०६ ॥

अपूर्ण

Registered No. A 360



ॐ

वेदान्त केसरी।



मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } माघ सं० १९८० । फरवरी १९२४ { अंक ३

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।=)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० प्यारेलाल के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता ।
(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये
(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू [illegible] आरम्भ से सब अंक लेने होंगे ।

सूचना ।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की साजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-), [illegible] वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीता[illegible]" मूल्य ।=) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा ।

प्रकाशक ।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ माघ सं० १९८० । फरवरी १९२४ अङ्क ४

संसार बाजीगर का तमाशा !

इन्द्रवज्रा छन्द ।

(१)

कोई चढ़े है गिर जाय कोई ।
कोई सड़े है मर जाय कोई ॥
कोई करें आ सुरलोक वासा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(२)

है लग्न कोई नर नग्न कोई ।
है मग्न कोई मन भग्न कोई ॥
कोई क्षुधा पीड़ित अन्य प्यासा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(३)

क्वारा सहे कष्ट विना लुगाई ।
व्याहा दुखी होय विना कमाई ॥
बाजें कहीं ढोल मृदंग ताशा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(४)

है राव कोई अति रंक कोई ।
कोई लहे कीर्ति कलंक कोई ॥
है एक ज्ञानी यक मूर्ख खासा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(५)

कोई करे है गज की सवारी ।
कोई चले पैदल हो दुखारी ॥
है एक तो मालिक एक दासा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(६)

है एक टोंटा पद हीन कोई ।
है एक मोटा तनु क्षीण कोई ॥
कोई विचारा विन कान नासा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(७)

कोई यहां लूट रहा मजा है ।
कोई पड़ा भोग रहा सजा है ॥
खांसी किसी को ज्वर वाय सांसा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(८)

था कल्ह सोगी वहि आज योगी ।
जो आज भोगी कल सोहि रोगी ॥
तारे छुपे सूर्य किया प्रकाशा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(९)

छोटे युवा वृद्ध सभी भुलानें ।
रोवें हँसे हैं सुख दुःख मानें ॥
जाते वृथा ही दिन पक्ष मासा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

(१०)

कौशल्य ! ज्ञानी सब खेल जाने ।
जो आत्म में ही सुख शांति माने ॥
मिथ्या सभी जान करे न आशा ।
संसार बाजीगर का तमाशा ॥

त्याग का उफान।

त्याग को कोई न जानता हो, ऐसा नहीं है। सामान्यता से सब लोग छोड़ देने को त्याग समझते हैं। त्याग की सूक्ष्मता बहुत है, और यथार्थ और अयथार्थ भेद वाली है। निश्चय से भी त्याग का सम्बन्ध है। यदि त्याग सूक्ष्म भाव सहित सूक्ष्मता में न हो तो वह यथार्थ त्याग नहीं है। जिस त्याग में पूर्ण निश्चय न हो, वह त्याग भी त्याग नहीं है क्योंकि वह त्याग के फल को नहीं दे सक्ता। त्याग के हेतु अनेक हैं। लौकिक हेतु को सामने रख कर जो त्याग किया जाता है, वह क्वचित् ही पूर्ण होता है, जगत् में किसी प्रकार का दुःख देखकर, दुःख निवृत्त न होता हुआ देख कर जो त्याग होता है, वह जिस कारण से होता है, उस कारण के निवृत्त हो जाने पर नहीं रहता।। जिस लक्ष से त्याग किया जाता है, वह लक्ष जितना उच्च होगा और जितना निश्चय रूप से होगा, उतना ही त्याग श्रेष्ठ होगा। दुःख के कारण से सब ही त्याग करना चाहते हैं परन्तु जब तक यह दृढ निश्चय न होगा कि सांसारिक सुख में भी दुःख रहा हुआ है तब तक दुःखके सहारे रहा हुआ त्याग टिक नहीं सका। संसार की कोई विशेष विपत्ति न होते हुए जिसको स्वाभाविकता से ही संसार में दुःख प्रतीत हो और संसार दुःख रूप है, ऐसा पूर्ण निश्चय हो, उसका ही त्याग टिक सक्ता है। त्याग का भाव क्षणिक, श्मशानी, कुछ विशेष काल का, और आपत्ति की निवृत्ति का, ऐसे अनेक प्रकार का होता है परन्तु जब तक त्याग से त्याग का फल रूप स्वरूप बोध न हो तब तक विद्वान् उसे यथार्थ त्याग नहीं कहते।

जब किसी जवान या सज्जन मनुष्य की मुरदनी में जाते हैं तब 'संसार कुछ नहीं है' 'सब झूठा झगड़ा है' 'आज है कल नहीं' इत्यादि भाव विशेष करके होते हैं, ऐसे भावों से संसार के त्याग करने की जो दृष्टि है, उसे श्मशानी वैराग्य कहते हैं। यह वैराग्य मुरदनी में जाने तक ही टिकता है। जब स्नान किया जाता है तब स्नान के साथ वैराग्य का भी स्नान हो जाता है। जैसे यह श्मशानी त्याग है वैसे ही कि[सी] खास प्रसंग में 'संसार कुछ नहीं है' ऐसा भाव होता है, वह क्षण भर का होने से क्षणिक त्याग [है]। किसी एक मनुष्य का एक ही पुत्र हो, वह मृत्यु प्राप्त हो जाय तो पुत्र के विना संसार बुरा मा[लूम] होने लगता है और पुत्र के न रहने के दुःख से [वि]... पागल हो जाता है। 'जंगल में चला जाऊंगा! आ[त्म]घात करके मर जाऊंगा! मैं निराधार हो गया, संसार बुरा है!' ऐसी भावना पिता को कुछ दि[न] तक रहती है। जैसे २ दिन बीतते जाते हैं वैसे संसार की तरफ की त्याग वृत्ति भी धीरे २ उसमें निकल जाती है। धन नाश में भी इसी प्रकार त्याग भाव होता है, अंतःकरण के ऊपर भारी चो[ट] पड़ती है, यह भी दिन जाते २ कम हो जाता और कहीं धन प्राप्त हो जाय तो त्याग का ना[म] निशान भी नहीं रहता। इतनी बात अवश्य है कि कैसा भी अज्ञानी हो, कठोर हृदय का हो, उसक[ो] भी दुःख में त्याग का भाव अवश्य आता है पर टिकता नहीं। जगत् परिवर्तन वाला है, इस प्रका[र] के भाव में रहते हुये जो त्याग का भाव आता है वह भाव भी जगत् के सम्बन्ध वाला होने से परिवर्तन वाला ही होता है इस लिये टिकता नहीं है। जब तक आंतर के राग सहित ऊपर का त्याग होता है तब तक वह कच्चे रंग के समान उड़ जाता है। [वह] त्याग गिलट वाले सुवर्ण के समान होता है। आंतर और बाहर दोनों तरफ से ठोस हो, वह पूर्ण त्याग है, चाहे बाहर का दिखाऊ त्याग न हो परन्तु आंतर में पूर्ण ठोस भरा हुआ हो तो वह त्याग अन्य पुरुषार्थ की सहायता सहित फलदायक होता है। जब तक सर्वोत्कृष्ट स्वस्वरूप के बोध की तरफ दृढ़ वृत्ति नहीं होती तब तक सब प्रकार का त्याग वंध्या समान ही होता है। वह अपना अथवा दूसरे किसी का भी हित नहीं कर सक्ता। जगत के राग सहित त्याग निष्फल है।

जिसको यथार्थ त्याग कहते हैं, वह चाहे स्वाभाविक हो, चाहे किसी कारण से हुआ हो, इस प्रकार का होता है: जगत की तरफ तिरस्कार वृत्ति ...

आत्मबोध की तरफ तीव्र इच्छा से प्रवृत्ति, इसका नाम त्याग है। इस त्याग का एक ही प्रवाह से बहते रहना कठिन है। इसका प्रवाह खंडित न हो और इष्ट प्राप्ति तक न्यूनाधिक भी न होना चाहिये। इष्ट प्राप्ति से जब उसमें विशेष दिव्यता आजाती है तब वह त्याग का त्याग कहलाता है। उसका स्वरूप त्याग से विलक्षण है, यथार्थ त्याग होते हुये भी यदि ठीक प्रवाह से न बहेगा तो मध्य में अनेक प्रकार के विघ्न आना संभव हैं, झूंठी समझ से, दुःख से, स्नेही के वियोग आदिक लौकिक आपत्तियों से किया हुआ त्याग सम्पूर्ण फल नहीं देता। इतना ही नहीं किन्तु समय पर विशेष दुःख का हेतु भी होता है। प्रथम कुछ त्याग हो, पुरुषार्थ की तरफ वृत्ति हो परंतु अयथार्थ अनुभव को यथार्थ अनुभव मान कर त्याग का जो थोड़ासा भाव हुआ है, उसे भी जो छोड़ देता है तो उभय लोकों से भ्रष्ट होता है। उसे स्वरूप का बोध नहीं होता। स्वरूप का बोध अति गहन है, शुभ संस्कार, तीव्र बुद्धि और निर्मल अंतःकरण से ही होना संभव है। सब संयोगों में त्याग भी एक मुख्य वस्तु है, सब भूल में पड़े हुये हैं। वैराग्य विना जो ज्ञान मार्ग में चलते हैं, वे बहुधा भूल ही करते हैं। मिथ्या ज्ञानी, ज्ञान बद्ध, वाचक ज्ञानी, आदिक का यह ही हाल है। उन का आरम्भ का त्याग भी त्याग नहीं होता, कथन मात्र ही होता है। जिस का फल सुख और सुख स्वरूप न हो, ऐसा त्याग त्याग नहीं है, दुराग्रह ही है। त्याग स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदि भेद से क्रमशः सूक्ष्म होता जाता है। जो सूक्ष्म न होते हुये, स्थूल ही रहे, वह उच्च फल को नहीं देता। त्याग का स्थूल सूक्ष्म आदि क्रम है। जो स्थूल को ही अंतिम त्याग समझता है, वह बहिर्मुख है। क्रम रहित होने से अपना उत्कर्ष नहीं कर सक्ता। 'राग में दुःख है, त्याग में सुख है' ये शब्द जिसके अंतःकरण में प्रत्यक्ष अखंडित चित्रित होते हैं, साथ ही राग और त्याग के स्वरूप को समझ कर पुरुषार्थ के योग्य बन कर जो श्रेय मार्ग में प्रवर्त होता है; उसको ही त्याग से तत्व बोध और शान्ति होना संभव है।

राग संसार की जड़ है, त्याग परम पद की जड़ है। राग से संसार बढ़ता है, त्याग से परम पद प्राप्त होता है। संसार के राग से स्वरूप का त्याग होता है, और संसार के त्याग से स्वरूप का राग होता है अथवा स्वरूप के राग से संसार का त्याग होता है और स्वरूप के त्याग से—भूल से संसार का राग होता है। ऊपर जो त्याग कहा है, वह संसार का है। संसार और परम पद—स्वरूप बोध एक दूसरे से विरुद्ध हैं। दोनों एक देश काल में नहीं रहते। जिस देश काल—अवस्था में संसार है, वहां परम पद नहीं है और जहां परम पद है वहां संसार नहीं है। परम पद को देश, काल, अवस्था की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि जीवन्मुक्त में लौकिक दृष्टि से अन्य लोगों को संसार दीखता है। ऐसे लोग संसार और परम पद—आत्म बोध को एक देश काल में कहें तो वे झूंठे हैं क्यों कि जीवन्मुक्त में लौकिक दृष्टि वालों को ही संसार दीखता है। जीवन्मुक्त को तो परम पद ही है, संसार का अभाव है। यदि जीवन्मुक्त भी संसार को देखे तो उस का देखना गौण है। जैसे विवेक और अविवेक एक काल में, एक पदार्थ में नहीं रहते ऐसे ही बंध और मोक्ष एक काल में एक में नहीं रहते। इसी प्रकार संसार का राग और आत्मा का राग भी एक काल में एक में नहीं रहते। अभ्यास काल में दोनों भिन्न हैं और बोध में तो संसार का अभाव—गौण भाव—मिथ्या भाव ही है।

जैसे दूध में उफान आता है ऐसे ही त्याग में भी उफान आता है। चूल्हे पर गरम करने को रखा हुआ दूध उफन जाता है। जब नीचे आंच तेज हो, दूध का पात्र छोटे मुख का अथवा छोटा हो तो दूध में उफान आता है और कोई सभांलने वाला न हो तो बर्तन से बाहर निकल जाता है और जब कढ़ाई में दूध गरम किया जाता है तब यदि चौड़ी और दूध के प्रमाण से कढ़ाई बड़ी होती है तो उफान आने पर भी दूध बाहर नहीं निकलता, खदबदाने लगता है। यदि आंच अंदाज की हो, उफान आवे और सभांलने वाला पास हो तो दूध निकलकर फैलता नहीं है। त्याग अथवा वैराग्य भी दूध के समान है। जैसे दूध प्रसूत

कहा जाता है ऐसे ही त्याग का फल भी अमृत ही है। दूध में उफान आने का कारण दूध की चिकनाई है। जब चिकनाई ऊपर आजाती है, बाफ का मार्ग रुक जाता है तब नीचे की आंच से तेज हुई बाफ दूध को मलाई रूप बना कर बाहर फेंकती है। त्याग में भी चिकनाई है। जैसे राग में चिकनाई है ऐसे ही त्याग में भी चिकनाई है क्यों कि किसी न किसी प्रकार की आसक्ति को लेकर ही त्याग किया जाता है। जैसे पकाने के लिये दूध को गरम करते हैं ऐसे ही त्याग भी पकाने के लिये अंतर की तेजी रूप आंच पर चढ़ाया जाता है। त्याग करने वाला दूध के पात्र के समान है। यदि वह छोटा होगा यानी त्याग और त्याग की तेजी से प्रमाण में छोटा होगा तो उस पात्र में त्याग ठहर न सकेगा। दूध के समान त्याग में भी उफान आकर त्याग बाहर गिर जाता है। यदि त्याग के उफान के समय में कोई सत्पुरुष संभालने वाला तो हो परन्तु आरंभ के त्याग की तेजी वाला सत्पुरुष के वचन न माने तो वह अपने कार्य को बिगाड़ता है, उसका त्याग बाहर बिखर जाता है, उस में नहीं रहता। जब त्याग की तेजी आती है तब त्याग वाला इन बातों को नहीं विचारता कि मेरा त्याग किस प्रकार का है, कितनी तेजी वाला है, मैं कितने निश्चय वाला हूं, यह त्याग मुझ से निभ सक्ता है या नहीं, इस त्याग के योग्य मैं हूं या नहीं, इत्यादि विचार नहीं करता तो योग्य पात्र न होने से अंत में गिर ही जाता है। त्याग का ऐसा उफान विशेष करके अयथार्थ त्याग में ही आता है। यद्यपि त्याग वाला भ्रष्ट नहीं होता तो भी कभी २ अपूर्ण रह जाता है अथवा पागल हो जाता है अथवा उसके शरीर का जल्दी से पात हो जाता है। विशेष हानि न हो तो भी उफान से जो अधिकारियों का हित होना चाहिये, वह नहीं होता। जैसे छोटा पात्र विशेष हवा भर जाने से फट जाता है इस प्रकार का अनहित यथार्थ त्याग वाले का नहीं होता। अयथार्थ त्याग तो सब प्रकार से हानि ही करता है।

एक संत के पास जब कई मनुष्य बैठे थे तब प्रसंगोपात संतने कहा "भाविको! जब कोई अच्छी वस्तु सुनने में आती है तब उसके प्राप्त करने लालच आ जाता है और कई झट पट से प्राप्ति उपाय में भी लग जाते हैं, थोड़े दिन उपाय कर कर उसे छोड़ देते हैं, आरंभ में ऐसा उत्साह करने वा की आज कल कमी नहीं है परंतु यह ठीक नहीं जो कोई कार्य करना हो, पूर्ण विचार और यो ता सहित करना चाहिये। त्याग के विषय में भी ऐसा ही अनुभव है। लोग प्रथम तो विना वि और योग्यता त्याग में प्रवर्त हो जाते हैं और थोड़े ही दिनों में निवृत्त हो जाते हैं। कभी त भाव की तीव्रता से त्याग कर बैठते हैं परंतु नि नहीं है। दूध के समान त्याग का उफान आकर च चला जाता है!" इतना सुन कर वहां बैठे हुये मनु में से एक बोल उठा "महाराज! त्याग करना अच्छा ही है! आपके ही मुख से मैंने सुना है कि त्याग भगवत् प्राप्ति होती है। तेजी वाले त्याग को उफान बताते हो, तब क्या मंद त्याग से सिद्धि होती तीव्र त्याग से ही सिद्धि होती है! आप के विचार अनुसार तीव्र त्याग त्याग नहीं है तब कैसा त्याग क चाहिये?" संतने कहा "भागवत्! मेरे वचन का अ अर्थ मत करे! योग्यता रहित त्याग में जो तेजी है की मैंने मना की है, पात्र के अनुसार त्याग भाव की अवश्य होनी चाहिये, जो तेजी निभ सकी हो, ऐसी चाहिये, जो जल्दी २ दौड़ता है वह जल्दी थक बैठ जाता है। जो सफर बहुत लम्बा है, उस में सा रहित अधिक दौड़ने से बीच में ही रुक जाता है जिल पर पहुंच नहीं सक्ता। जिस का जठराग्नि जि खीर हजम करने के योग्य हो, उसे उसी प्रमाण खीर खानी चाहिये। यदि बिल्ली को खीर खिलाई तो अच्छी लगने से वह विशेष खा जायगी परंतु उसे हजम न कर सकेगी, अवश्य कै करके निकाले इसी प्रकार त्याग को भी समझ। त्याग के योग्य कर त्याग करे क्यों कि योग्य न बन कर किया हुआ निभ नहीं सक्ता। तेजी वाले अयथार्थ त्याग में ए निश्चय नहीं होता। ऐसे कितने ही मनुष्य मेरे दे में आये हैं जो त्याग की धुन में योग्यता न होने पर त्याग कर बैठे हैं, पीछे से उन के त्याग का फ हुआ है। बहु ... त्याग को छोड़ कर गृहस्थी में

घुसे हैं और कई मूढ ऐसा न करने से अत्यंत कष्ट पाकर संसार और परमार्थ दोनों से भ्रष्ट हुये हैं और दुखी होकर अमूल्य मनुष्य जन्म को व्यतीत कर रहे हैं।" एक मनुष्य बोला "महाराज! आप ने जिन दो चार मनुष्यों का अनुभव किया हो, उन का वृत्तांत कह कर सुनाइये।"

संतने कहा "थोड़े दिनकी बात है, इस शहर के नये गंज में एक बनिया अन्न तोलने का काम करता था। एक दिन वह मेरे पास आकर कहने लगा 'महाराज! मैं आपका नाम सुनकर आया हूं, मेरी उमर पचास वर्ष की है, मेरे आगे पीछे कोई है नहीं, न स्त्री है, न पुत्र पुत्री है, न कोई भाई भतीजा है, अंत का समय समीप है, इसलिये मैं साधु बनना चाहता हूं, अब तो ईश्वर भजन ही करूंगा, आप मुझे शिष्य कर लीजिये, वेष दे दीजिये' मैं ने कहा 'क्या तू ने कभी कुछ भजन किया है? क्या कुछ किया करता है? या अब ही करने का विचार कर रहा है?' उसने कहा "हां! करता हूं, जो कुछ बनता है, किया करता हूं! परंतु अब तो सब छोड़ छाड़ कर भजन करना चाहता हूं!' मैंने कहा 'जब तेरा कोई है ही नहीं तो किसे छोड़ता है? भजन करना अच्छी बात है!' बनिये ने कहा 'महाराज! काम धंधा करते हुये भजन नहीं होता!' मैं ने कहा 'जो तू काम धंधा छाड़ कर भजन करना चाहता है तो क्या खाने को तूने कुछ जमा कर रक्खा है?' उसने कहा 'जब ईश्वर का भजन करूं-गा तो वह ही खाने को भी देगा! जब भजन में ही लग जाना है तो खाने की क्या चिंता है? पेट तो कुत्ता भी भर लेता है! मैं आपसे भेख लेना चाहता हूं, आप मुझे आप का बाना दे दीजिये!' मैं ने कहा 'ऐसे शिष्य हो कर वेष धारण नहीं किया जाता, दो चार रोज मेरे पास आ, शामको शास्त्र का प्रवचन होता है, उसे आकर सुना कर, तेरी योग्यता देखकर जिस प्रकार तेरा हित होगा, ऐसा भजन का मार्ग दिखला दूंगा, तेरी योग्यता जाने विना अभी मैं तुझ से कुछ कह नहीं सकता।' यह सुनते ही उस का मुख उतर गया, अपने दिल में निराश होता हुआ उठकर चल दिया। फिर वह मेरे पास आया ही नहीं। उसे तो वेष धारण करने की जल्दी थी, उसे यह निश्चय न हुआ कि पांच सात रोज आने से मैं उसे वेष दे दूंगा। मेरे पास से जाने के बाद वह जमुना किनारे के कई एक साधुओं के पास वेष धारण करने को गया। जो साधु थोड़े अच्छे थे, उन्होंने तो मना करदी, किसी २ ने कह दिया कि अमुक २ क्रिया और भंडारा कराने पर वेष धारण कराया जायगा, पास पल्ले कुछ था नहीं, वहां से भी निराश हो कर स्वामी, गोसाईं, वैरागी आदि कई साधुओं के पास घूमा परंतु लक्ष्मी की प्राप्ति विन' उस अयोग्य को किसी ने भी साधु न बनाया, अंत में एक गोसाईं ने पांच रुपये लेकर उसे साधु-चेला बनाने को और आप गुरु बनने को स्वीकार किया। जैसे को तैसा मिल गया! दूसरे दिनही कपड़े रंग कर पहिना दिये गये! क्या मंत्र दिया, क्या उपदेश दिया, किस योग्यता के साथ में शिष्य बनाया और किस प्रकार का शिष्य बना, यह तो उसकी वह ही जाने। जिन लोगों ने उसे मेरे पास आते हुये देखा था, उन लोगों ने उसे जमुना किनारे घाट पर साधु बनकर बैठा हुआ देखा था। इससे मुझे मालूम हुआ कि उसने वेष धारण कर लिया है। नये बने हुये साधुका दो चार रोज तक घाट पर आने जाने वालों ने सन्मान किया। गुरु महाराज को शिष्य बनाने में पांच रुपये मिल गये थे, कुछ तो उन्होंने भंग सुलफे में फूंक दिये और कुछ लेकर चम्पत हो गये। भला! पांच रुपये में बने हुए शिष्य की कीमत ही कितनी! कोई पांच रुपये का खाना लोगों ने खिला दिया होगा। पश्चात् उन्हों ने खाना खिलाना बंद कर दिया। नये साधुजी रंगे हुये कपड़ों से माल खाना और पुजना चाहते थे परंतु आज कल के चतुर लोग भला! ऐसा कब करने वाले हैं! किसी ने उसकी बात तक न पूछी। टुकड़े मांग कर खा लिया करता तो बन सक्ता था परंतु वह था बनिया, साधु बनने पर भी बनियेपने की बू नहीं गई थी, विचारे को दो दिन तो उपवास करना पड़ा, तीसरे दिन पेट में चूहे लोटने लगे, किसी से भोजन कराने की प्रार्थना की तो उत्तर मिला 'बाबाजी महाराज! शहर पड़ा हुआ है, चाहो जहां याचना कर सके हो!' बनिया घबरा गया! वेष धारण करने में उसने एक प्रकार का अभिमान ग्रहण कर रक्खा था। यह

उससे उलटा अनुभव हुआ ! बिचारा सोचने लगा 'इस प्रकार भूखे मरने से तो मजुरी करके खाना ही अच्छा है ! शहर के शहर में मुझ से भीख कैसे मांगी जाय ? कहा भी है, देश चोरी परदेश भीख ! परदेश जाने का मुझ में सामर्थ्य नहीं है, चोरी मुझ से हो नहीं सकी !' ऐसा विचार कर चौथे दिन रंगे हुय कपड़े उतार कर फेंक दिये, सफेद वस्त्र पहिन लिये और गंज में जाकर 'एकांजी एकां, दोआंजी दोआं' अपना पूर्व का तुलाई का काम करने लगा ! क्या इसे त्याग कह सक्ते हैं ? नहीं ! यह तो बिना विचार का साहस था ! बाहर से त्याग दीखता हुआ भी यथार्थ त्याग नहीं था ! तेजी में आकर वस्त्र बदल डाले थे, जितनी तेजी से पहिने थे, उतनी तेजी से उतार डाले ! इसी का नाम त्याग का उफान है ! न कुछ हुआ न हवाया, जान पहिचान वालों में अपनी हंसी कराई ! अयोग्यता का साहस हानि ही करता है ! यदि वह दो चार दिन मेरे पास आता तो उसकी योग्यता और श्रद्धा मालुम हो जाती और वस्त्र न बदलवा कर, जो उस से हो सका, ऐसा थोड़ा भजन ही बताया जाता परंतु उफान वाला रुकता कब है ? झटसे दौड़ कर फट से गिर जाता है !

और एक दूसरा दृष्टांत भी सुनोः-जिस का यह दृष्टांत है, उसे तो तुमने भी देखा होगा । जम्मु की रियासत का रहने वाला करतारसिंह नाम का एक राजपूत था । उस का पिता पलटन में नोकर था, माता पिता दोनों छोटपन में ही मरगये थे, करतारसिंह अपनी बहिन के पास रहता था । किसी कारण से नाखुश होकर वहां से भाग कर वह अपने किसी जान पहिचान वाले के यहां जाकर रहने लगा । वह जिमींदार था और किसी सरकारी ओहदे पर नोकर था । करतारसिंह थोड़ा बहुत उर्दू पढ़ा हुआ था क्यों कि माता पिता रहित होने से किसी का दबाव तो उस पर रहा नहीं था इस लिये माता पिता के मरते ही उसने स्कूल छोड़ दिया था । अब भी पढ़ने पर उसकी रुचि न थी, ऐसा देख कर उस जान पहिचान वाले ने किसी औफिसर से कुछ कह सुन कर करतार सिंह को शफाखानेमें चपरासी की जगह पर नोकर करा दिया । कुछ दिन तो उसने वहां पर काम किया, से भी उसका मन उचाट हुआ । एक पंडित से ना अक्षर सीख कर गीता के श्लोकों का अस्पष्ट सा पाठ करना सीख गया । नोकरी में भी वह उधर घूमा करता था । कई साधुओं के पास जाया करता था, उन की बातों से उसे जच कि संसार में सुख नहीं है, साधु बन कर भजन करना चाहिये । अब तक जो उसको त मिलती थी उसे अपने जेब खर्च और साधुओं खर्च कर देता था । जिसके यहां रहता था, उसके यहां खाता था । एक दिन उसने एक साधु पास जाकर कहा 'महाराज ! मुझे दिक्षा दीजि मैं साधु होना चाहता हूं !' साधु बोला 'मैं तुझे दि नहीं दे सक्ता, अभी तेरी उमर कच्ची है, युवावस्था का संभालना कठिन है, यदि तुझे वेष धारण क की इच्छा हो तो ऋषीकेष आदि स्थानों पर जा, वहां कोई योग्य पुरुष मिल जायगा, वह तु शिष्य बना लेगा ।' करतारसिंह इधर उधर से सौ रुपये लेकर साधु के कहे अनुसार ऋषी पहुंचा, वहां बहुत से साधुओं के पास घूमने कहीं तो उसका चित्त न लगता और कोई वेष धा कराने को मने कर देता था । अन्त में वह स्वर्गा में भारथीनामा एक साधु के पास पहुंचा । रुपये खर्च करने से वह शिष्य बना लिया गया उसका वेष का नाम शिवचरनलाल भारथी र गया । कोई साल भर तक भारथी ऋषीकेष स्वर्गा में रहा, वहां ही भोजन करता रहा, दिन पर दिन पर से प्रेम हटता गया, थोड़ा जो पढ़ा हुआ था, पु तो गुरु से उसका समाधान न होता । गुरु कह दि कहते कि हम तो तपस्वी हैं, तु भी तपश्चर्या क शास्त्र के प्रश्नों के शंका समाधान से हम को क्या कुछ दिन बाद भारथी वहां से भी चल पड़ा, वृन्दा वन, मथुरा घूमता हुआ काशी पहुंचा, जैसा वह चाहता था वैसे आराम से खाना, पीना और र उसे कहीं नहीं मिला ! घूमता २ एक बार वह मेरे पास आया, उसको छोटी उमर देख कर मैंने क 'अभी तेरी उमर पढ़ने लिखने योग्य है, यदि तु त्याग को ही निभाना हो तो कुछ पढ़ लिख,

अभ्यास कर !' यह सुन कर वह प्रसन्न हुआ और कहने लगा 'महाराज ! आप मेरे ऊपर बड़ी कृपा कर रहे हो, जब से मैंने वेप धारण किया है, कई स्थानों पर भटकता रहा हूं, किसी ने आज तक मुझे ऐसा उपदेश नहीं दिया ! ' मैंने कहा ' बाहर हनुमान के पास कुटिया है, उसमें रहा कर, बड़ा शहर है, एक समय जाकर भोजन कर आया कर, दिन में कुछ पढ़ा लिखा कर, सुबह शाम एकांत में अभ्यास किया कर !' भारती राजी हो गया, एक दिन शहर में भोजन करने गया, दूसरे दिन न गया ! कहने लगा 'मुझे मांगने में शरम आती है, आप के पास कुछ काम हो तो मुझ से ले लिया कीजिये !' मुझे दया आगई, कुछ काम कराने को था नहीं, उसे खाने को देने लगा, और कुछ सिखाने लगा, थोड़े दिनों में मालूम हुआ कि पढ़ने लिखने और अभ्यास करने में उसका मन नहीं लगता तब मैं ने कहा 'ऐसे वेप से क्या होगा ? इस से तो यह ही अच्छा है कि तू अपने देश को चला जा और वहां कुछ नौकरी कर ले !' उसने कहा 'महाराज ! अब तो मैं लिये वेप को कभी बदलने वाला नहीं हूं ! कष्ट पाकर मरजाना कबूल है परन्तु वेप बदलना मंजूर नहीं है !' मेरे पास एक आदमी पेड़ पत्तों में पानी देने को रहा करता था, उस आदमी का काम मैं भारथी से लेने लगा। भारथी की तृष्णा दिन पर दिन बढ़ती गई, साल भर बाद वह यहां से चल दिया। सुना है कि उसने भगवां वस्त्र उतार दिये हैं और एक एकाउन्टेन्ट की अरदली में रहने लगा है और कुछ पैसा कमा कर देश में जाकर शादी करने वाला है, देखा ! त्याग का फजीता !

फिर भी उसने अच्छा ही किया ! लाखों ऐसे वेप धारी भीख मांग २ कर खा रहे हैं, भटक रहे हैं, और दोनों लोकों से भ्रष्ट हुए हैं। वास्तविक त्याग का होना और निभाना कठिन है ! वास्तविक त्याग ही पुरुषार्थ है, जगत् से त्याग किया फिर जगत् में राग रहा तब तो जगत और ईश्वर को ठगना हुआ ! बिना योग्यता जो किसी से लेकर उदर पूर्ण कर रहे हैं, दूसरों का दाम अधर्म में [illegible]

वालों पर कर्जा चढ़ रहा है, वे सब के देन दार बन रहे है, ऐसे धर्म भ्रष्टों की सहायता ईश्वर कभी नहीं करता ! लोगों ने त्याग को मामूली समझ रक्खा है ! त्याग महा कठिन है और त्याग को ग्रहण कर के निभाना महा शूरवीर का काम है ! जगत् में पर पैर पर काम क्रोध, लाभ, मोह, लालसा, अधर्म की भावना इत्यादि हुआ करते हैं, उन सब से बचते रहने का सामर्थ्य धेले के गेरू में रंगे हुये कपड़ों में नहीं है । त्याग हो कर त्याग का टूट जाना त्याग का उफान है, इस प्रकार त्याग को ग्रहण कर के जो छोड़ देता है, उस से फिर सच्चा त्याग होना कठिन है !

जो द्रव्य तेज होता है, उसका नशा चढ़ जाता है। त्याग भी बहुत तेज द्रव्य है, उस के नशे को संभालना चाहिये, यदि संभाला न जाय तो अहंकार बढ़ जाता है। अहंकार त्यागने के निमित्त ही त्याग करने की आवश्यकता है । अहंकार घटने के बदले यदि अहंकार बढ़ जाय तो त्याग निष्फल हुआ समझो। परब्रह्म की झांकी होने में भी नशा चढ़ जाता है, अपूर्ण और तुच्छ पात्र में ब्रह्म भाव तेजी के साथ भर जाने से भी पात्र की हानि होती है। बुद्धि में विशेष भाव भर जाने से कई तो पागल हो जाते हैं, कई शरीर का नाश कर बैठते हैं ! ऐसा त्याग यथार्थ त्याग नहीं है, उफान रूप है। तत्व ज्ञानी पागल नहीं होता, ज्ञान को हजम करने वाला होता है। जब ज्ञान के भाव में पागलपना आजाता है तो जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का भान नहीं होता। तत्व बोध परम पदार्थ है, उस को ग्रहण करने वाला पात्र भी जब परम बनता है तब ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार सिंहनी का दूध सुवर्ण के पात्र में ही टिकता है, इसी प्रकार तत्व बोध के लिये भी योग्य पात्र होना चाहिये। परब्रह्म समान है, समान हो कर ही समान को प्राप्त कर सक्ता है, विषमता में समान का भाव नहीं हो सक्ता। त्याग चाहे युक्त हो, चाहे अयुक्त हो, जब पात्र के अनुकूल हो तब ही ठीक है। जगत् के भाव को क्षीण करने के निमित्त ब्रह्म भाव की विशेषता है, जगत् का मिथ्यात्व भाव सिद्ध होने [illegible] जाय तो

तत्व बोध नहीं है, तत्व की उपासना है, यदि त्याग एक क्रम ही हो जाता हो और पूर्ण तेजी से होने से ही फल दायक हो तो शास्त्रकारों का चारों आश्रमों का वर्णन करना व्यर्थ हो जाय, योग्यता बढ़ने से आश्रम बढ़ता है, इस लिये क्रम २ से त्याग बतलाया है, पूर्व संस्कार वाले योग्य अधिकारी को आश्रम के क्रम की भी कैद नहीं रक्खी है। सब को त्याग के अंतिम दर्जे पर बैठ जाना युक्त नहीं है, योग्य के लिये कुछ कहन नहीं है, अयोग्य को योग्य होने के लिये क्रम की आवश्यकता है, वास्तविक त्याग तो अंतर का ही है, परंतु आंतर त्याग सब कर नहीं सके, बाहर का त्याग भी अंतर त्याग में मदद रूप है, बाहर का त्याग आंतर त्याग को मदद देता है और आंतर त्याग बाहर के त्याग को मदद देता है और जिस पूर्ण संस्कारी को योग्यता से आंतर त्याग में बाहर के त्याग की आवश्यकता न हो, ऐसा पुरुष दुर्लभ है, जो यथार्थ त्याग करके त्याग के उफान को आने न दे, ऐसे पुरुष को धन्य है! ऐसा त्याग विशेष करके इस पूर्ण ज्ञानी को ही होता है, जिस का अंतिम जन्म होता है, त्याग को प्रथम पूर्ण रीति से समझना चाहिये, यथार्थ और अयथार्थ को जान कर यथार्थ में आना चाहिये और शक्ति के अनुसार योग्य होकर बढना चाहिये, पूर्ण त्याग में भी त्याग के उफान से बचना चाहिये, जिस से सब स्थानों पर मंगल ही मंगल हो।

ब्रह्मोपासना।

(गताङ्क से आगे)

चौथी रीति से इस प्रकार उपासना होती है:- स्थूल शरीर पांच कोशमय है, एक एक के भीतर एक २ कोश है, इस प्रकार पांच कोश हैं, पांच कोश शरीर के हैं, शरीर माया का है, माया ब्रह्म में भासती है, माया त्रिगुणात्म है, माया के तीन गुण और पांच तत्वों से ब्रह्मांड का सब फैलावा है। तीन गुण और पांच तत्वों से ही तीनों शरीर और उन में रहे हुए पांच कोश हैं, स्थूल शरीर में अन्न-मय कोश है, यह स्थूल सब का स्थूल है। अन्नमय प्राणमय कोश से चलता है, अन्नमय कोश का प्राणमय कोश है, प्राण न हो तो अन्नमय कोश जीता इस लिये अन्नमय कोश ठीक नहीं, प्रा कोश ही ठीक है, ऐसे ही प्राणमय कोश का मनोमय कोश है क्योंकि मनोमय कोश के आ पर प्राणमय कोश चलता है इस लिये प्राणमय ठीक नहीं है, मनोमय कोश ही ठीक है, अब मय कोश भी स्वतंत्र नहीं है, विज्ञानमय को आधार पर चलता है इस लिये मनोमय कोश नहीं है, विज्ञानमय कोश ही ठीक है, विज्ञा कोश आनन्दमय कोश से हुआ है इस लिये वि मय कोश भी ठीक नहीं है, आनन्दमय कोश ठीक है, आनंदमय कोश नाम मात्र कारणमय है। कारणमय कोश माया से बना है इस कारणमय कोश भी ठीक नहीं है, माया ही ठी जैसे मेरे पांच कोशों का हाल है इसी प्रकार ब्रह्मांड के पांचों कोशों का हाल है। उन स कारण एक माया है। जब आद्य माया में आद्य न मैं हूं, न तू है, न जगत है, न बन्धन है ज आद्य माया में द्वैत भाव नहीं है, अब रही मा माया भूल है, झूंठी है, भ्रांति है, व्यर्थ है, व माया कुछ है नहीं, तब उस माया-भूल का आधार है और भूल के बने हुये सब का जो आ है, वह ही अबाधित सत्य है, जिसमें कभी वि नहीं होता, वह ही परब्रह्म है वह मैं। और का सच्चा स्वरूप है! मैं जीव नहीं हूं, क्योंकि विकारी है, मैं विकार रहित हूं, विकार रहि बन्धन नहीं होता, मैं बन्धन रहित हूं! अज्ञान से माया आदि बन्धन दीखता था, उस तक की मुझ में सिद्धि नहीं होती! सर्वा अचिंत्य, अखण्ड आदि विशेषणों से अधि जिसका लक्ष करते हैं, वह मैं हूं! मुझ एक ही माया से सब का भास होता है! मुझ में माया न मैं ही सबके हृदय में विराजमान हूं! मुझसे सब है ही सब हूं! कथन नाम मात्र है! वस्तुतः मेरा क नहीं हो सका! मैं सदा ही मोक्ष स्वरूप हूं! बोधस्व हूं! सबका अधिपति हूं! साक्षी हूं! श्याम मैं

हुआ सच्चिदानंद मुझ से अन्य कोई नहीं! मुझ में मेरे तेरे का व्यवहार नहीं है! मैं आनंद का समुद्र, तेज की राशि और सत्य का भी सत्य हूं! मैं नमस्कार, स्तुति से रहित हूं! मैं ही मैं हूं! अन्य कोई नहीं! व्यापक, प्रकाशक, व्यष्टि, समष्टि, है और नहीं, सब मेरे ही स्वरूप हैं! इस प्रकार अभेद चिंतवन अहंग्रह निर्गुण उपासना होती है।

अथवा स्वप्न में जैसे एक ही अनेक होकर प्रतीत होता है। वहां द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी दीखती है परंतु त्रिपुटी का अभाव है। जिसे स्वप्न आया है, उसके सिवाय वहां कोई नहीं है, निद्रा के दोष से एक का अनेक दीखता है, भोक्ता, भोग्य और भोग बनता है, राग द्वेष करता है। स्वप्न का सच्चा भेद स्वप्नावस्था में मालूम नहीं होता, जागते ही स्वप्न का भांडा फूट जाता है इसी प्रकार जाग्रत् भी है क्यों कि शास्त्र और संत जाग्रत् जगत् को स्वप्न तुल्य कहते हैं। ज्ञान रूपी जाग्रत् होते ही जाग्रत् रूपी स्वप्न का भी भांडा फूट जाता है। जो जो मैं देखता हूं, वह सब मेरे सिवाय कुछ नहीं रहता, मुझ से ही सब की सिद्धि है, मैं विकार को प्राप्त नहीं होता, भूल से अपने को विकारी समझता था; भूल मुझ में है नहीं, न मुझे विकारी कर सकी है, अखंड ब्रह्मांड मेरा ही विलास है! मैं ही सच्चिदानंद और अबाधित तत्व हूं! मेरा शरीर नहीं! मेरे पांच कोश नहीं! मुझ में तीन गुण नहीं! भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं! मैं तू का झगड़ा नहीं! बंध मोक्ष की कल्पना नहीं! रात्रि दिन का अंधेरा उजाला नहीं! मैं जैसा हूं, वैसा ही हूं! सब कुछ मैं ही हूं! सब रचना मुझ से होते हुये भी मैं विकार को प्राप्त नहीं होता! जैसे जादू की दृष्टि में तमाशा दीखे, वैसे ही जगत् दृष्टि से दीखता हुआ जगत् भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है! दृष्टि के द्रष्टा का कभी लोप नहीं होता! भेद भाव भूल का है! जिस में है, उसमें है! मुझे कुछ लेन देन नहीं है! मेरे पास माया नहीं, माया का महत्व नहीं, तब मुझ में माया के विकार कहां! मेरे समान कोई वस्तु नहीं, मुझ से अन्य वस्तु नहीं! जो कहो सो सब मैं ही हूं! ब्रह्मा, विष्णु और महेश जो महान देव कहलाते हैं, वे मुझ से भिन्न कहां हैं? अरे! वे मेरे नेत्र की एक पलक मात्र हैं! वेद, वेद्य सभी मैं हूं! और विचार से तो वेद, वेद्य अथवा अवेद्य भी नहीं हूं! मुझ में लोग, सगुण, निर्गुण और लोकालोक की भले कल्पना किया करें! मैं तो मैं ही हूं! बस! चुप!!

अथवा ॐकार की अभेद उपासना इस प्रकार करे:— जैसे ॐ कार का ब्रह्म से अभेद है, वैसे ही आत्मा से भी अभेद है, इस लिये अभेद चिंतवन करे। ब्रह्म के चार पाद हैं:–विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तत्पद का लक्ष्यार्थ ईश्वर साक्षी, वैसे ही आत्मा के चार पाद हैं:–विश्व, तैजस, प्राज्ञ और त्वंपद का लक्ष्यार्थ जीव साक्षी–कूटस्थ। स्थूल व्यष्टि का अभिमानी विश्व है और स्थूल समष्टि का अभिमानी विराट है इस लिये विश्व विराट से भिन्न नहीं है। दोनों की जाग्रतावस्था है। व्यष्टि और समष्टि दोनों के सातों अंग और उन्नीस मुख भी समान हैं इस लिये विश्व ही विराट है। वैसे ही अकार से भी विश्व और विराट का अभेद है, ब्रह्म के चार पादों में प्रथम विराट है, आत्मा के प्रथम पाद में विश्व है, वैसे ही ॐकार के प्रथम पाद में अकार है। तीनों में समान धर्म होने से विश्व, विराट और अकार का अभेद चिंतवन करे। जैसे विश्व से विराट का भेद नहीं है, वैसे ही तैजस से हिरण्यगर्भ का भेद नहीं है। दोनों की उपाधि सूक्ष्म है, दोनों एक ही हैं, ऐसा जान कर ॐकार की दूसरी मात्रा जो उकार है, उसे भी उन से अभेद जान कर चिंतवन करे क्यों कि आत्मा के चार पादों में दूसरा पाद तैजस है और ब्रह्म के चार पादों में दूसरा पाद हिरण्यगर्भ है और ॐकार की दूसरी मात्रा उकार है, इस प्रकार तीनों में समान धर्म होने से तीनों को एक समझे। प्राज्ञ को ईश्वर रूप जाने, प्राज्ञ की उपाधि कारण है, ईश्वर की उपाधि भी कारण है। ईश्वर और प्राज्ञ ब्रह्म और आत्मा के तीसरे पाद हैं और ॐकार की तीसरी मात्रा मकार है, इन तीनों को एक समझे, प्राज्ञ प्रज्ञान घन है क्यों कि उस में जाग्रत् और स्वप्न के सब ज्ञान अविद्या रूप घन भाव को प्राप्त होते हैं। श्रुति प्राज्ञ को आनंद-भुक् कहती है। अविद्या से ढके हुये आनन्द को प्राज्ञ भोगता है इस लिये आनंदभुक् ...

विश्व और तैजस का भोग त्रिपुटी में होता है ऐसे ही प्राज्ञ का भोग भी त्रिपुटी में ही होता है परंतु वह त्रिपुटी घन भाव में दबी हुई होने से प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होती, विश्व की स्थूल, सूक्ष्म और अज्ञान तीन उपाधियां हैं, तैजस की सूक्ष्म और अज्ञान दो उपाधियां हैं और प्राज्ञ की एक अज्ञान उपाधि है, इस प्रकार उपाधियों की न्यूनता से विश्व, तैजस और प्राज्ञ में भेद है, पारमार्थिक स्वरूपसे तीनों में भेद नहीं है। तीनों में रहा हुआ चैतन्य पारमार्थिक में उन से संबंध रहित, उन का अधिष्ठान है। उसको तुरीय कहते हैं। वह तुरीय बाहर भीतर से जानने वाला अथवा प्रज्ञानघन नहीं है, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है, और बुद्धि का भी विषय नहीं है। ऐसे तुरीय को परमात्मा का चौथा पाद ईश्वर समझे। इस प्रकार लौकिक और पारमार्थिक आत्मा के दो स्वरूप कहे, तीन लौकिक अपरमार्थिक हैं और चौथा पाद पारमार्थिक है। ऐसे ही ॐकार के भी दो स्वरूप हैं, अकार, उकार, मकार अपरमार्थिक स्वरूप हैं और तीनों में व्यापक अस्ति, भाति और प्रिय रूप अधिष्ठान चैतन्य पारमार्थिक स्वरूप है, उसको ही श्रुति में अमात्र स्वरूप कहा है। उस परमार्थ स्वरूप में मात्रा का विभाग नहीं है। ऐसे दोनों प्रकार के ॐकार का दोनों प्रकार के आत्मा से अभेद है। व्यष्टि समष्टि सहित जो स्थूल प्रपंच है, उसके सहित विश्व और विराट का अकार से अभेद जाने। आत्मा के पादों में विश्व आदि है, ॐकार की मात्राओं में अकार आदि है। सूक्ष्म प्रपंच सहित हिरण्यगर्भ रूप तैजस है, उसको उकार समझे क्यों कि तैजस भी दूसरा है और उकार भी दूसरा है। कारण उपाधि सहित प्राज्ञ ईश्वर है, उस को मकार रूप समझे क्यों कि जैसे ईश्वर प्राज्ञ तीसरा है, ऐसे ही मकार भी तीसरा है, तीनों में अनुगत परमार्थ रूप तुरीय को ॐकार की तीन मात्राओं में अनुगत समझे और परमार्थ से उन तीनों से उस को भिन्न जाने, जैसे विश्वादि तुरीय में अनुगत हैं ऐसे ही अकार आदि तीनों मात्राओं में अमात्र अनुगत है, इस प्रकार ॐकार के अमात्र को और तुरीय को एक समझे। इस प्रकार सब को एक करते हुये पारमार्थिक अद्वय तत्व की अ... उपासना करे, यह निर्गुण उपासना है, जिन... एकता करने को कहा है, उन को एक करके ... एक को छोड़ कर परमार्थ को ग्रहण करे।

लयचिंतवनः—विश्व रूप अकार तैजस उकार में से हुआ है, जो जिस में से हुआ होता उसी में उस का लय होता है, विश्व रूप अका... तैजस रूप उकार में लय होने से तैजस रू... ही रहा। इसी प्रकार तैजस रूप उकार प्राज्ञ मकार में से हुआ है, तैजस रूप उकार ... रूप मकार में लय किया तो प्राज्ञ रूप मकार... प्राज्ञ रूप मकार तुरीय रूप अमात्र में से हु... प्राज्ञ रूप मकार का तुरीय रूप अमात्र में लय ... तो तुरीय रूप अमात्र ही शेष रहा, तुरीय रूप ... परमार्थ स्वरूप है, उस की सत्ता से सब प्र... होते हैं, वह ही मैं हूं, इस प्रकार चिंतवन करे,... का लय सूक्ष्म में होता है, सूक्ष्म का लय का... होता है और कारण का तुरीय में होता है। स्थूल है, तैजस सूक्ष्म है, प्राज्ञ कारण है, तुरीय... मार्थ स्वरूप है, इस प्रकार विश्व का लय तैज... तैजस का लय प्राज्ञ में और प्राज्ञ का लय तुरी... होता है। यहां समष्टि व्यष्टि सब का लय है... प्रकार ॐकार के अमात्र रूप परमार्थ स्वरूप में... का लय हुआ, शेष जो रहा, सो मैं हूं, इस... शरीर के भान को हटाते हुये एकाग्र चित्त से चिं... करे। इस को लय चिंतवन कहते हैं।

स्थावर, जंगम रूप जो कुछ है, हुआ है... होगा, उस सब का पारमार्थिक स्वरूप असंग,... असंसारी, नित्य मुक्त, निर्भय और ब्रह्म रूप सच्चि... नन्द जो ॐकार का पारमार्थिक स्वरूप है, ... मैं हूं, ऐसा वारंवार चिंतवन करे, ऐसा चिंतवन... से ज्ञान होता है और ज्ञान से मोक्ष होता है।... उपासनाओं में ॐकार-ब्रह्म की निर्गुण उपासना... से श्रेष्ठ है, चिंतवन करते २ जीव भाव छो... और वर्ण, आश्रम, नाम, योग्यता आदिक भी ... चिंतवन-मनन करने से हुये हैं, जब ...

करते २ झूठा भाव दृढ़ हो गया है तो त्रिकाला-बाधित सत्य का प्रति दिन चिंतवन करने से जो प्रथम से ही प्राप्त है ऐसा पारमार्थिक स्वरूप प्राप्त होने में क्या आश्चर्य है ? यद्यपि ब्रह्म–ॐकार का चिंतवन ब्रह्म—ॐकार रूप नहीं है तो भी यथार्थ फल देने वाला है क्योंकि यह चिंतवन मिथ्या ऐसे जीव भाव का विरोधी होने से जीव भाव का निवर्त्तक है, ब्रह्म चिंतवन से बोध होता है और बोध से स्वस्वरूप की प्राप्ति होती है।

उपासना अनेक प्रकार से होती है। उपासक की एकता के अनुसार उपासना का फल होता है, यदि उपासना भेद हो तो कर्म का फल देती है, सगुण हो तो भेद उपासना से श्रेष्ठ है, और अभेद रूप हो तो उपासना का फल देती है, और अति श्रेष्ठ अहंग्रह अभेद निर्गुण उपासना हो तो ज्ञान के फल को देने वाली होती है।

कामना युक्त उपासना का फल परलोक यानी स्वर्ग प्राप्त होना है। यह उपासना कर्म स्वरूप है, शास्त्र की विधि और ज्ञान के अनुसार इस का फल होता है, ऐसी उपासना भेद उपासना है, वह, प्रतीक (तटस्थ) अथवा अंगांगी होती है। एक में दूसरे का भाव हो, उसे प्रतीक कहते हैं और जिस में अंग का अवलम्बन यानी सहारा लिया जाता है, वह अंगाश्रित उपासना है, ये सब भेद उपासनायें हैं और आकार वाली हैं, उन का फल स्वर्ग में बुद्धि के अनुसार इष्ट प्राप्ति रूप होता है, यह फल चार प्रकार का है, उस को चार प्रकार की मुक्ति भी कहते हैं:–सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सार्ष्टि, सालोक्य में इष्ट के लोक में वास करना, सारूप्य में इष्ट के रूप के समान रूप का होना, सामीप्य में इष्ट के समीप रहना और सार्ष्टि में इष्ट के समान भोगों की प्राप्ति होना, इस प्रकार फल होता है, यह मुक्ति व्यक्ति भाव सहित होती है इस लिये यथार्थ मुक्ति नहीं है, आपेक्षिक है क्योंकि उसकी उत्पत्ति कर्म से है, जिसकी उत्पत्ति कर्म से होती है, वह नाश रहित नहीं होती। ब्रह्म लोक की कामना से जो उपासना की जाती है, वह कर्म से ऊंचे दर्जे की है। परलोक के ज्ञान सहित कर्म उपासना कही जाती है। ब्रह्म लोक अपरब्रह्म है। कुछ ज्ञान लिये हुये पुण्य कर्म करने वाले ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं-ब्रह्म लोक में जाना होता है, जाने की क्रिया कर्म बिना नहीं होती, उपरोक्त उपासना में कर्म होता है और ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान के संस्कार होते हैं इस लिये वह कर्म से बढ़ कर उपासना की श्रेणी में है, यह उपासना अभेद भाव से करने की है। यदि अभेद भाव से न की जायगी तो स्वर्ग प्राप्ति के फल वाली हो जायगी। अपरब्रह्म के जो २ गुण शास्त्र में सुने हैं, उनके अनुसार उपासना होने से सगुण उपासना है। ब्रह्म की निर्गुण उपासना में परब्रह्म के गुण लक्षक हैं और सगुण उपासना में ब्रह्म विशिष्ट-ब्रह्म इन्हीं गुण वाला है इसका-लक्षक है, ऐसी उपासना सगुण उपासना कही जाती है। इसके उपासक को उत्तरायण मार्ग से ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है। ईश्वर से अभेद होने से ईश्वर से कुछ कम सामर्थ्य प्राप्त होता है और ब्रह्म से अभेद होने में परम पद प्राप्त होता है, परब्रह्म की उपासना ज्ञान द्वारा मोक्ष का हेतु है इस लिये वह ज्ञान की श्रेणी में है, जो फल ज्ञानी को होता है, वह ही फल उस उपासक को होता है, यह उपासना अभेद, अहंग्रह और निर्गुण है। मुमुक्षुओं को समझने के लिये शास्त्र में विधि और निषेध रूप से परब्रह्म के जो गुण बताये हैं, उन गुणों से परब्रह्म का लक्ष कर के उपासना की जाती है। उसका फल कैवल्य–ब्रह्म प्राप्ति है, ऐसा उपासक जब तक शरीर रहता है तब तक जीवन्मुक्त है यानी ईश्वर से अभेद रूप से होता है–शरीर रहते हुए भी ब्रह्म के सुख का अनुभव करता है और प्रारब्ध समाप्त होने पर निर्वाण को प्राप्त होता है। यह सद्योमुक्ति है और ब्रह्म लोक में जाकर ब्रह्म लोक की स्थिति पर्यन्त ऐश्वर्य का भोग करके ब्रह्मा के साथ निर्वाण को प्राप्त होना क्रम मुक्ति कही जाती है। उत्तरायण मार्ग से जा कर मुक्त होना क्रम मुक्ति है और सीधा व्यापकपने को प्राप्त होना सद्योमुक्ति है।

उपासना का कोष्टक।

कामना	ऐश्वर्य की				ब्रह्म लोक की	ब्रह्म की
स्वरूप	कर्म				उपासना	ज्ञान
उपासना	भेद				अभेद	
अवलम्बन	प्रतीक-अंगाश्रित				अहंग्रह	
कैसी	साकार				सगुण	निर्गुण
फल	सालोक्य	सारूप्य	सामीप्य	सार्ष्टि	ब्रह्मलोक	ब्रह्म

सगुण ब्रह्मोपासक भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना के समान ही उपासना करता है परन्तु बुद्धि की मंदता से जो गुण लक्ष पहुंचाने के लिये हैं, उन गुणों को यह ब्रह्म का स्वरूप समझ कर उपासना करता है इस लिये उसकी उपासना सगुण हो जाती है। जब जीव "मैं वैश्वानर हूं" इस प्रकार वैश्वानर की अभेद उपासना करता है तब उसे वैश्वानर भाव की प्राप्ति रूप फल होता है, जब जीव 'मैं हिरण्यगर्भ हूं' इस प्रकार से अभेद उपासना करता है तब उसे हिरण्यगर्भ भाव की प्राप्ति रूप फल होता है, और जब जीव 'मैं ईश्वर हूं' इस प्रकार अभेद उपासना करता है तब ईश्वर भाव की प्राप्ति रूप फल होता है, श्रुति और स्मृतियों में ॐकार के प्रथम और दूसरे पाद रूप वैश्वानर और हिरण्यगर्भ को ईश्वर रूपता कही गई है इस लिये वे दोनों उपास्य हैं, श्रुति में कहा है:—"अधिकारी पुरुष वैश्वानर आदि जिस २ रूप विशिष्ठ की उपासना करता है, उस २ भाव को प्राप्त होता है" पूर्ण उपासना से पूर्ण फल होता है और भाव की मंदता से ब्रह्म लोक की प्राप्ति रूप फल न होकर, कर्म रूप फल होता है, जो साकार उपासना में दिखलाया है। ऐसे ही नि ब्रह्म की उपासना करने वाले भी बुद्धि की मंदता कारण निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त न होकर सगुण ब्र ही प्राप्त होते हैं। यदि निर्गुण उपासक को लोक आदि की थोड़ी सी भी कामना शेष रह जाती तो उस प्रतिबन्ध के कारण वह अपरब्रह्म लोक को ही प्राप्त होता है।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनों ही ॐकार रू जो जैसा विवेकी होता है, वह उसी के अनु दोनों में किसी एक का आश्रय ग्रहण करता ॐकार की अ उ और म तीनों मात्राओं में से अकार का चिंतवन करता है, वह उस से संस्कार हो कर जगत् में जल्दी से जन्म धारण करता ऋग्वेद के मंत्र उसको मनुष्य लोक में ले आते यहां वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो अपनी महिमा का अनुभव करता है। इस उपा में अकार मात्रा है, ऋग्वेद है, अग्नि ऋषि है, देवता है, भूः अधिदेव है और जाग्रतावस्था अध्या रूप है। जो अधिकारी अकार, उकार रूप मात्राओं का चिंतवन करता है, वह यजुर्वेद के से अंतरिक्ष में गमन करता है, चन्द्र लोक को होता है, चन्द्र लोक यानी स्वर्ग में विभूतियों अनुभव करके मनुष्य लोक में फिर से जन्म लेता इस उपासना में ॐकार की दूसरी मात्रा उकार यजुर्वेद है, वायु ऋषि है, विष्णु देवता है, भुवः अधि देव है और स्वप्नावस्था अध्यात्म है, जो कोई ॐ की तीनों मात्राओं से परमात्मा का चिंतवन करता वह तेज रूप सूर्य लोक में उत्पन्न होता है, जै कंचुकी को छोड़ मुक्त होता है ऐसे ही पाप मुक्त होता है। साम के मंत्रों से वह ब्रह्म लोक प्राप्त होता है, वहां जाकर जीवों के सूक्ष्म महान् सूक्ष्म सब शरीरों में रहे हुये पुरुष को देख है और वहां से चन्द्र लोक गये हुये पुरुष के सम पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होता। इस उपासना ॐकार की तीसरी मात्रा मकार है, सामवेद है, ऋषि है, महेश देवता है, स्वः अधिदेव है सुषुप्ति अवस्था अध्यात्म रूप है। इस प्रकार

मात्राओं की उपासना से अपरब्रह्म-ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

एक ग्राम में कई वर्षों से अनुकूल वर्षा नहीं होती थी इस लिये खेती न होने से वहां के लोग दुखी थे। उस ग्राम में पांच मित्र रहते थे, वे भी अन्न, पानी और वस्त्रादि से दुखी थे, वे पांचों कुटुम्ब वाले थे और कुटुम्ब में उन का प्रेम भी था परन्तु आप जानते हैं कि जब शरीर पर आपत्ति आती है, भूखा मरना पड़ता है तब कुटुम्ब आदि का प्रेम भी उड़ जाता है और यह ही सूझती है कि किसी प्रकार अपना पेट भरे! पांचों मित्र ग्राम छोड़ कर कहीं परदेश जाने का विचार करने लगे, सबने निश्चय किया कि परदेश में ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, इस भुक्कड़ ग्राम में रहना ठीक नहीं है, फल रहित वृक्ष को त्याग कर ही पक्षी सुखी होते हैं, गड्ढे के मेंढक के समान हम को गड्ढे में पड़े रहना उचित नहीं है, प्रयत्न करने पर ईश्वर की कृपा से भूख के दुःख की निवृत्ति होगी। इन पांचों में दो क्षत्रिय, दो वैश्य और एक शूद्र था, प्रथम क्षत्रिय बोला "मित्रो! मेरा क्षत्रियपना इस ग्राम में काम नहीं आता! यहां शस्त्रादिक नहीं हैं और युद्ध का मौका भी नहीं है! अब तो मैं भूख के दुःख से ही लड़ूंगा! उस के साथ ही युद्ध कर के मैं अपना क्षत्रिय रक्त दिखलाऊंगा!" दूसरा क्षत्रिय बोला "भाई! तेरा कहना सच्चा ही है, इस ग्राम में से निकले बिना कुछ हो नहीं सका! जो इस ग्राम में और अपने कुटुम्बियों में रहना न चाहो तो किसी अच्छे शहर में चलना चाहिये, और वहां शूरवीरता दिखला कर सुखी होना चाहिये!" प्रथम वैश्य बोला "मित्रो! तुमने ठीक बात कही! न यहां धन है, न कुछ रोजगार है, खेती की जमीन भी अच्छी नहीं!" दूसरा वैश्य बोला "भाई! सच कहा! मूल्यवान् बीज को भी यहां की जमीन हजम कर जाती है! घास फूंस बिना गैया भैंस भी दूध नहीं देतीं, ऐसी दुष्ट भूमि को तो छोड़ना ही भला है!" शूद्र बोला "यहां कोई श्रीमान् ही नहीं है! श्रीमान् बिना नौकर कौन रक्खे? बिना नौकरी हम जैसों का पोषण कैसे हो? किसी समृद्धि वाले शहर में चलना चाहिये। जहां किसी सज्जन की नौकरी करके सुख की प्राप्ति हो!" ऐसा कह पांचों निश्चित किये हुये समय पर अपने २ कुटुम्ब को छोड़ कर बिना कहे सुने ही शहर से चल दिये, एक थोड़े पानी की नदी को पार करने के बाद थोड़ी दूर चलने पर एक शहर आया। उस शहर का नाम रूपनगर था। उस में व्यापार रोजगार अच्छा था, बाजार में रुपयों का झन झनाहट हमेशा हुआ करता था! पांचों मित्र उस शहर में पहुंच कर एक धर्म शाला में टिके। उस शहर की प्रजा सुखी थी, खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने का आराम था। सब लोग सुखी होने से वहां नौकरों का टोटा था, सब लोग नौकर ढूंढते थे परन्तु इच्छानुसार नौकर नहीं मिलता था। धर्मशाला में पांच परदेशी आकर टिके हैं, श्रीमानों को यह खबर मिली, नौकर ढूंढते हुए वे लोग वहां पहुंचे और कहने लगे "तुम में से जिस किसी को नौकर रहने की इच्छा हो तो हम नौकर रख सक्ते हैं।" दोनों क्षत्रिय बोले "हम राजपूत हैं, दासत्व नहीं कर सक्ते, दासत्व करने को हम नहीं आये हैं!" एक वैश्य ने कहा "मैं तो व्यापार करूंगा! यदि इस शहर में अनुकूलता प्राप्त न होगी तो दूसरे शहर में जाकर धन्धा करूंगा!" दूसरा वैश्य बोला "मैं वैश्य हूं, शूद्र का कार्य मुझ से नहीं हो सक्ता!" शूद्र ने कहा "मैं नौकरी कर सका हूं!" ऐसा सुनते ही एक साहूकार ने हाथ पकड़ लिया! दूसरे साहूकार ने दूसरा हाथ पकड़ लिया! दोनों अपनी २ तरफ खेंचने लगे! एक ने कहा "पच्चीस रुपये दूंगा!" दूसरे ने कहा "चालीस दूंगा!" तीसरा जो कुछ दूर खड़ा था, बोल उठा "चल मेरे साथ! मेरे यहां नौकर रह! मैं पचास रुपये माहवारी तनखा दूंगा!" शूद्र खुशी हो गया और उसके साथ जाने को तैयार हो अपने चारों साथियों से बोला "मित्रो! मेरा ठिकाना लग गया है, अब मैं सुखी होऊंगा, आप अपनी इच्छानुसार रहो या जाओ, मैं तो नौकरी पर जाता हूं!" एक साहूकार ने दूसरे वैश्य से कहा "मेरे यहां मुनीमगीरी की नौकरी है, मुनीमगीरी करने में वैश्य को कोई आपत्ति नहीं है, मुनीमगीरी कोई नीच कार्य नहीं है!" दूसरा वैश्य

तैयार हो गया। साहूकार ने कहा "मैं पचास रुपये तनखा दूंगा!" दूसरा साहूकार हाथ पकड़ कर खैंचता हुआ बोला "चलो! मेरे यहां, मैं पचत्तर दूंगा!" तीसरे ने कहा "करना हो तो मेरे यहां मुनीमगीरी करो, मैं सौ रुपये दूंगा!" दूसरा वैश्य राजी हो गया और तीनों साथियों को छोड़ता हुआ बोला "मेरा रोजगार लग गया, अब मैं जाता हूं!" प्रथम वैश्य ने कहा "भाई! तू मेरे साथ धंधा करने निकला है, अपनी तकदीर को बेच कर नोकरी क्यों करता है?" दूसरे वैश्य ने अपने ग्राम में साल भर में भी कभी सौ रुपये नहीं कमाये थे इस लिये सौ रुपये की नोकरी से बहुत ही खुश था, कहने लगा "मिलते हुए लाभ को जो न ले, उसके शिर में जूतियां! क्या खबर धंधा मिले या न मिले, मिल भी जाय तो भी क्या पता है कि उसमें फायदा ही हो, मेरे पास पूंजी है नहीं, धंधा होगा कैसे? मैं तो मुनीमगीरी में ही मस्त हूं! राम! राम! जाता हूं!"

अपूर्व।

ब्रह्म तरंग।

(गताङ्क से आगे)

तन मैं नहीं, तन मेरा नहीं, मन मैं नहीं, मन मेरा नहीं, इन्द्रियां मैं नहीं, इन्द्रियां मेरी नहीं! न तन का काम है, न मन का काम है, न इन्द्रियों से कुछ काम है! जब सब ही शरीर मेरे हैं तो एक को मैं अपना शरीर क्यों कहूं? जिस को काम हो, वह अपने एक शरीर को माने, मेरे सब ही शरीर हैं! सब का मन मेरा ही मन है! ब्रह्मांड मेरा शरीर है! ब्रह्मांड से बाहर भी मैं ही हूं! मेरा माप आज तक किसी ने नहीं निकाला, न कभी कोई निकाल सक्ता है! अमाप के मापने को कौन समर्थ है? मापने वाला मैं हूं, माप मैं हूं और मापे जाने वाला मैं हूं! आप ही अपनी बलिहारी! आप में ही आप रहा हुआ है, आप से आप दूर दीखता है! आप से आप समीप है! सब कथन है! समझने को कथन है! निर्मल घी में से मथन करके क्या निकालेगा? वह ही है! जैसे का तैसा है! न हुआ है, न होगा, व[ह] सब से है विलक्षण! मैं ही हूं!

चाहे ग्राम में रहे, चाहे परदेश जाय, च[ाहे] जागता रहे, चाहे सोता रहे, कहां जा सक्ता [है] जाने को स्थान ही कहां है? सच्चा भान नहीं है, [य]ही तेरी भूल है! भूल गई, शूल मिटा! ज्यों का त्यों जैसे का तैसा! न कुछ बिगड़ा न कुछ सुधरा! [...] का जल! चाहे बिन्दु हो! चाहे सिंधु हो! न तरंग न चक्र है, न बुद्बुदे हैं! जल ही जल भर पूर [...] है! रे! कहीं जल से जल सक्ता है! गरम ज[ल से] मकान जल सक्ता है? छोड़ भूल! आ होश में! [...] दीन बनता है? क्यों गोते खाता है? सोच, वि[चार] क्या सूखी नदी तुझे डुबा सक्ती है? नदी कहते है, संसार समुद्र कथन मात्र है! कहां है व[ह] जल? कहां से आया जल? एक में दूसरे की गम [नहीं] तब कौन डूबे? कौन डुबावे? सब है भानमति का [खेल] बुद्धि की अल्पता का तमाशा! शरीरासक्ति के जल [...] हलवा पूरी के स्वाद ने ही कंगाल बना डाला [...] चित्र के चन्द्र से क्या शीतलता हो सक्ती है! [...] बालु के लड्डुओं से तृप्त होना चाहता है! [...] घुमा! मेरे सामने देख, मेरी दृष्टि से दृष्टि मिला, देख, तेरे आंख के पडल खुल जायंगे! उजाला हो जायगा! उठ! उठ!! उठ!!

सब कुछ सच्चा हो रहा है! जब तक सच्चे [की] प्राप्ति न हो तब तक सच्चा है! क्या सच्चा है? [...] पुराण है, कुरान है! सब सांसारिक हैं! सं[सार] भरे हुये हैं! उन में के गुप्त को ढूंढ! गुप्त में गुप्त हो! स्वभाव को प्राप्त हो! स्वभाव को प्राप्त हो! [...] चावल नोन मिरच की तुझे क्या फिकर? [तू] हमेश तृप्त है! सब का तृप्त करने वाला है! [...] भूल ने तुझ पर जप्ति कर डाली है! तेरा माल [...] लिया है! एक क्षण भर भी जो तू अपने स्वरूप [को] जाने, सब चोर चकार उड़ जांयगे! तेरे लि[ये न] सरकार रहेगी, न दरबार रहेगा, न घर बार [...] झंझट रहेगी! सब ही तेरा स्वरूप हो जायगा! [...] तेरे चरण की रज हो जांयगे! जो तुझे सर्वोत्कृष्ट [...]

की इच्छा हो तो मेरा कहा मानः—सब इच्छाओं को तिलांजलि दे, मनुष्य, पितृ और देवता सब का एक साथ तर्पण कर डाल! तुझे साम्राज्य की प्राप्ति न हो तो मेरी जिह्वा को काट डाल! उत्साह से उठ! ले अखंडित शांति—साम्राज्य!

क्यों चिल्लाता है? मन चंचल है! छोड़ मन को, देख, मन की चंचलता क्या कर सकी है? रे मूर्ख! तू ही मन बनाता है! मन को क्यों दोष देता है? तेरे ही जोश से मन में होश आता है, विषयों के संग से अपना होश गुमाता है! तुझे न मन दुःख देता है न तन दुःख देता है! तू ही अपने आप को दुःख देता है! तुझे दुःख देने वाला कोई जन्मा ही नहीं है! दर्पण में दीखते हुए मुख को 'मैं हूं' मान कर तू भ्रमण कर रहा है! दर्पण को छोड़! वृत्ति को लौटा कर अपने में जोड़! देख कैसा सुख स्वरूप है! कैसा चैतन्य स्वरूप है! कैसा आनन्द स्वरूप है! तुझे संसार से क्या है? तू अपने आप में परिपूर्ण है! महाराजाधिराज है! शाहंशाह का शाहंशाह है!

कागज़ के अनेक प्रकार के रंगीन चित्रों को क्या कोई समझ कर दौड़ता है? चित्र ही हैं! चित्रों में जान कहां है? चित्रों में जो स्थिति, भास और आनन्द दीखता है, कागज का है! ऐसे ही जगत के भगत को जगत सच्चा दीखता है! जिस में स्वगत आदि कोई भेद नहीं, वह ही सब का आधार है! आधेय आधार से भिन्न नहीं है! चित्रित चित्र की सिद्धि कागज बिना नहीं होती चित्र भी कागज रूप ही है! ऐसे ही मित्र! सब जगत को चित्र समझ! विचित्रता में विचित्र मत हो! पवित्र में पवित्र! तू अपवित्रता के संग से क्यों बने अपवित्र? क्यों बने चित्र? संसारी आंख को फोड़ कर आत्मिक दृष्टि से निहार! सब दुःख रूप सृष्टि तेरे लिये सुख रूप हो जायगी, व्यष्टि समष्टि एक हो जायगी! न तुझे व्यष्टि की आवश्यकता न समष्टि की! आनंद की वृष्टि में भीज! सब दिशाओं में आनंद ही आनंद! पूर्ण परमानंद!!

जन्मा हुआ मरता है, मरा हुआ जन्मता है, न मैं जन्मता हूं, न मरता हूं! मरने वाला मरो, जन्मने वाला जन्मो, मुझे उन से क्या? मैं तो ज्यों का त्यों अपने आप में ही हूं! न मुझ में आप है, न मुझ में पाप है! मैं तो सबका प्रकाशक हूं! सब से भिन्न हूं! आहा! फिर भी सब में ही मैं हूं! मेरी महिमा का पार नहीं! कौड़ी कौड़ी के शब्दों में मेरा वर्णन करने का सामर्थ्य कहां है? शब्द में और मुझ में तो जमीन आसमान का अंतर है! मैं शब्दातीत शब्दों का प्रकाशक हूं! मुझ को मैं ही जान सका हूं! मुझ को जानने की न ऋषियों की ताकत है, न देव की, न युग की, न युगांतर की! सैकड़ों ब्रह्मा और ब्रह्मांड, सैकड़ों इन्द्र, सैकड़ों यमराज मुझ में दीखते रहते हैं, बदलते रहते हैं! बंदा, खुदा से रहित मेरा स्वरूप न बिगड़े, न सुधरे! सब के उत्पत्ति, नाश, बिगाड़, सुधार की प्रतीति मुझ से है! मेरी प्रतीति किसी से नहीं! मैं तो मैं ही मैं हूं! तब सब क्या? विलास! विलास!! केवल संकल्प का विस्तार!!! केवल नेत्र की एक माधुरी पलक!!!

जगत् झूंठा! जगत् का ज्ञान झूंठा! जगत् का ज्ञान बताने वाले झूंठे! जगत् में जन्म झूंठा! जगत् में मरण झूंठा! झूठ की बाजी में राजी होना ही झूठ है! झूठ में मूठ लगी, झूंठ में मूठ गई, झूठ का खेल! झूंठ का खिलाड़ी! आ हा, हा! क्या फैलावा है झूंठ का! एक दो चार नहीं, सभी फंसे हैं! फंस कर भी हंस रहे हैं! कैसा आश्चर्य है! अपने आप हंस को भूल गये! हंस के काग बन गये! लगे कांव कांव करने! एक आंख सच्ची, एक आंख झूंठी, बनी आंख दो! ऐसे दो की दुनियां! कोई कुछ बना, कोई कुछ बना! हिसाब ज्यों का त्यों! कुनबा डूबा क्यों? अज्ञान! अज्ञान!! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! फंसे हुये अज्ञान में भी ज्ञान! उस विकार रहित, संसार रहित ज्ञान को कौन पकड़ता है? ज्ञानी ही ज्ञान को जानता है! अज्ञानी न ज्ञान को, न अज्ञान को! खूब तमाशा है!!!

क्या यह दृश्य लड़कों का तमाशा तो नहीं है? एक राजा बना, एक दीवान, एक कारभारी, एक दरबारी! सेठ, साहूकार, प्रजा, नौकर, चाकर, अहा! हा! यह भेद क्यों? तमाशे का! तब तो उसे तमाशा

ही रहने दो ! हमारा ही तो तमाशा है, ने तमाशे के बनाये हुये हम ! हां ! तमाशा ही तो तम–आशा है ! जो उस में घुसा, उसी का हुआ ! यह सब दृश्य है, मैं आबाधित द्रष्टा हूं ! द्रष्टा के लिये दृश्य है, न दृश्यके लिये द्रष्टा ! दृश्य मिथ्या है, द्रष्टा अबाधित, अनपेक्षित सत्य है ! मौज से कभी द्रष्टा बनूं, कभी द्रष्टा का भाव भी न रक्खूं, मेरी मौज है ! मेरी स्वतंत्रता है ! मैं चाहे जैसे रहूं, चाहे जैसे बोलूं, मुझे किसी का भय नहीं है ! निर्भय को भय कहां ? भय वाले को निर्भयता कहां ? न भय है, न भय है ? एक भगवान ही भगवान है ? यह ही ज्ञान है, यह ही विज्ञान है ! इस के सिवाय क्या होगा ? अन्य ज्ञान ध्यान भान सब ही भ्रम खान मान !!! अपूर्णा ।

चर्पट पंजरिका ।

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू
रात्रौ चिवुक समर्पित जानुः ।
करतल भिक्षा तरुतल वास–
स्तदपि न मुंचत्याशा पाशः ॥८॥ भज०

अर्थः—आगे अग्नि जलता है, पीछे धूप पड़ती है, रात को घोंटुओं के बीच में डाढ़ी रख कर सोना पड़ता है, भिक्षा करने का पात्र न होने से हाथ ही भिक्षा पात्र हैं, पेड़ के नीचे सोना पड़ता है तो भी आशा की फांसी को नहीं छोड़ता ! गोविन्द का भजन कर !

भाषा पद्य ।

अग्नि अगाड़ी धूप पिछाड़ी ।
रात करे घोंटुन बिच डाढ़ी ॥
कर धरि खाता तरुतर बसता ।
तो भी आशा पाश न तजता ॥ भज०

विवेचन ।

जगत् में आशा ही अत्यन्त दुःख देने वाली जहां आशा है, वहां वास होता है, थोड़े में कहा तो सब अनर्थ का कारण, जगत् का सब प्रकार आशा से ही है, इसी कारण आचार्य वारम्वार युक्तियों से आशा छोड़ने का ही उपदेश दे प्रथम, तीसरे और पांचवें पद्य में आशा का क्रिया है और अब भी आशा का ही वर्णन करते जगत् में मनुष्यों की स्थिति एक समान नहीं है जो आशा को न छोड़ सके ऐसी स्थिति वाले को प्रयत्न पूर्वक आशा छोड़नी चाहिये, जिसके आशा करने योग्य कुछ नहीं है, ऐसी दीन अवस्था में भी आशा न छोड़ना शोचनीय है । जिनके कुछ है वे तो आशा के प्रवाह में बहे ही जा और जिनके पास नहीं है, होने का संभव भी दीखता, वे भी आशा के भंवर में पड़े हुए हैं । के पद्य में जिनके पास कुछ नहीं, क्या क्या शरीर व्यवहार कितनी आपत्ति से चलता है दिखाते हुए कहते हैं कि ऐसा होने पर भी को नहीं छोड़ता, जब कोई भी फांसी नहीं है अपने आप ही आशा की फांसी डाले हुए रहता

ऊपर जो वर्णन किया है, वह कंगालपने किया है। कई मनुष्य वर्णाश्रम के अनुकूल व्यव करते हैं, कई वर्णाश्रम में रहते हुए सब व्यवहार रीति से नहीं करते, और कई मनुष्य वर्णाश्रम से रहित भी हैं। जिनके पास कुछ नहीं है, मांग कर खाना ही जिनका एक रोजगार है बहुत से कंगले हैं। ऊपर का वर्णन उन्हीं को पड़ता है और ऐसा ही वर्ताव किसी २ ज्ञानी मह का भी होता है। यदि वह ज्ञानी है तब तो आशा नहीं है इस लिये ऊपर का कथन उसको नहीं पड़ता। चाहे कंगाल हों, चाहे वेषधारी ऊपर के समान वर्ताव होते हुये जो आशा की से बंधे हुये हैं, उन के लिये ऊपर का कथन जिसके रहने को घर नहीं, पहिनने को वस्त्र

ऐसे अग्नि सुलगा कर जाड़े के दिन व्यतीत करते हैं। गरमी के दिनों में चलते फिरते गरमी सताती है, धूप सहनी पड़ती है, भिक्षा के लिये घूमना पड़ता है अथवा निर्वाह न होने से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है तब धूप लगती है क्योंकि शरीर ढकने को वस्त्र और शिर पर रखने को छाता पास नहीं है, जाड़े में जब बहुत ठंडे लगती है तब दोनों घोंटुओं को एकत्र कर उनके बीच में शिर दबा कर रात्रि व्यतीत करता है, इस प्रकार गठरी के समान हो जाने से जाड़ा कम लगता है। जाड़ा गरमी दोनों ऋतुओं में ही जिसको क्लेश होता है, आगे अग्नि और पीछे धूप ऐसे दोनों तरफ से बीच में रह कर जो जलता है। भोजन का पात्र पास न होने से हाथ में ले कर ही भोजन करना पड़ता है। निवास के लिये मकान नहीं है, किसी वृक्ष के नीचे रहना पड़ता है। ऊपर बताये हुये सब आपत्ति के चिन्ह हैं, ये चिन्ह महा कंगालपने को दिखलाते हैं अथवा कोई कोई दुराग्रही बैरागी, तपस्वी, नाम धारण करने वाला नागा, गोसाईं तप समझ कर भी पंचाग्नि रूप अग्नि जला कर धूप में बैठते हैं। कई धूनी लगाते हैं, कई अनेक धूनियों के बीच में बैठते हैं, पीठ के ऊपर धूप पड़ती है, ऐसे कष्ट सहते हुये भी आशा को नहीं छोड़ते, यदि ऐसी क्रिया शास्त्र विहित हो तो भी यथार्थ भाव रहित होने से फल देने वाली नहीं होती, प्रायः देखा गया है कि बहुत से ऐसे तपस्वी कहलाने वाले क्रोधी और अनेक आशाओं के पाश में जकड़े हुये ही होते हैं, बाहर की जलन सहते हुये भी यदि आशा की जलन को निवृत्त करने का उपाय न हुआ तो कुछ भी न हुआ! शरीर तो अग्नि में जलने वाला है ही, उसे जलाने से क्या फल हुआ? आशा को जलाने में ही फल है परन्तु मति के मूढ, जिन की दृष्टि स्थूल पर ही है, आशा को समझते ही नहीं! आशा को समझने और तोड़ने की जिन में बुद्धि नहीं है, वे चमड़ा जलाने और लोगों को अपना तप दिखलाने में ही अपनी बड़ाई-सिद्धाई समझते हैं। वास्तविक पंचाग्नि क्या है, इस का उन्हें पता भी नहीं है, पांचों विषय रूप पंचेन्द्रिय अग्नि ही पंचाग्नि है, उन से विकार को प्राप्त न होना पंचाग्नि का तप है, स्थूल अग्नि सहन शक्ति होने में मदद रूप है परन्तु उस को ही अंतिम समझना मूर्खता है।

बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त स्त्री और पुरुष भोगों की आशा से भरे हुये हैं। आशा, तृष्णा, इच्छा, कामना, वासना आशा के ही रूप हैं, थोड़ा २ भाव में फरक करते हुये उन का उपयोग होता है, आशा भोग के लिये अथवा भोग के साधन के लिये होती है, भोग पांच विषयों में होता है इस लिये आशा भी पांच प्रकार की है। विषय पांच होते हुये भी उन के पदार्थ अनेक हैं इस लिये आशायें भी अनेक हैं। वर्तमान और भविष्य काल के भेद से भी आशा का भेद है, आशा का होना क्षण २ में होता है, आशा का उत्पत्ति स्थान अंतःकरण है। जितनी आशायें उत्पन्न होती जाती हैं, उतना ही अंतःकरण मलिन और तुच्छ होता जाता है। आशा उत्पत्ति में ही अंतःकरण को मलिन करती हो, ऐसा नहीं है किन्तु आशा की स्थिति और बीज रहते हुये आशा का भंग भी अंतःकरण को मलिन करता है, आशा अमर-बेल के समान न घटते हुये दिन पर दिन बढती ही जाती है, एक में से अनेक होती हैं और जैसे अमर-बेल जड़ रहित होती है ऐसे ही आशा की भी जड़ नहीं होती। जब ब्रह्मांड भर में आशा के योग्य कोई भोग का विषय नहीं है तो ऐसे विषयों में होने वाली आशा की जड़ कहां? मनुष्य उमर में, बुद्धि में और ऐश्वर्य में ज्यों २ बढता जाता है त्यों त्यों उस की आशायें भी बढ़ती जाती हैं। मनुष्य का आयु, बुद्धि और ऐश्वर्य आदि क्षीण हो जाता है परन्तु आशा क्षीण नहीं होती! जैसी आशा की वृद्धि होती है, ऐसी वृद्धि किसी पदार्थ की भी नहीं होती। आशा से दुःख होता है और आशा के त्याग से सुख होता है परन्तु आश्चर्य यह है कि ऐसा जानते हुये भी आशा को छोड़ नहीं सके। आशा का बंधन इतना बलिष्ट है कि लोहे का बंधन भी उसके सामने तुच्छ है। जब ईश्वर की तरफ रुचि हो तब ही आशा छूटना संभव है, निराशा हुये बिना न तो भक्ति होती है, न ज्ञान मार्ग में प्रवृत्ति होती है। आशा को छोड़े

विना इस संसार में भी किसी को सुख नहीं मिलता तब परलोक में सुख कहां से हो? कितनों ही को आशा ने दरिद्र कर डाला है! किसी को शिर मूंड कर बावाजी वना दिया है! किसी से कुकर्म कराया है! किसी को धर्म से भ्रष्ट कर दिया है! कितनों ही को जंगल में भटकाया है! कितनों ही से घर घर टुकड़े मंगवाये हैं! कितनों ही को नरक का अधिकारी बना-दिया है! ऐसी यह दुष्ट आशा किसी को ईश्वर का नाम किस प्रकार लेने दे! सब कुछ नाश होते हुये भी आशा का नाश नहीं होता! पतिव्रता स्त्री के समान आशा साथ ही रहती है! मरने पर भी साथ ही सती होती है! आशा से जीवन ठीक रीति से व्यतीत होता है, ऐसा समझना भूल है! जीवन प्रारब्ध के आधार पर है, आशा के आधार पर नहीं है, आशा से आयु दुःख रूप होता है, यह यथार्थ ही है। अज्ञान में पड़ा हुआ कोई भी मनुष्य आशा रहित नहीं है। कोई धन की आशा से दुखी है, कोई शरीर आरोग्य रहने की आशा से दुखी है, कोई पुत्र पुत्री की आशा से दुखी है, सब को सब प्राप्त नहीं हो सक्ता। अपूर्ण को पूर्ण होने की आशा अवश्य रहती है इस लिये किसी भी स्थिति में हो, ईश्वर से प्रेम करते हुये आशा को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये, जो आशा को छोड़ता है, वह ही सुखी होता है। कई प्रसंगों में ऐसा होता है कि अनेक प्रकार के दुःख पड़ने पर किसी को पूर्व के सुकृत के योग से वैराग्य हो कर निराशा की प्राप्ति हो जाय तो उस का जन्म सुधर जाता है। इस का एक दृष्टांत इस प्रकार है:—

एक समय पर मालवा देश में लोभी शंकर नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह खेती, व्यापार, लेन देन आदि अनेक प्रकार का व्यवहार किया करता था। ज्यों २ उसके पास धन बढ़ता गया त्यों २ उसकी आशा भी बढ़ती गई, यानी वह विशेष लोभी होता गया। लोभी के सिवाय वह कामी और क्रोधी भी था। छल, फरेब, प्रपंच, दंगा, फसाद किसी प्रकार से भी धन हरण करना, यह ही उस का मुख्य व्यापार था। वह ब्राह्मण था तो भी उस का घर कसाइयों के घर के समान संस्कार वाला था। वह जाति वाले और आये हुये अतिथियों का वचन से भी सत्कार नहीं क[रता] था, उलटा तिरस्कार करता था, समय और समृद्धि [के] अनुकूल शरीर-मन को भोग से प्रसन्न करता [था।] उसके पुत्र, स्त्री, बहिन, भाई अथवा नोकर, गुमा[श्ते] कोई उसे नहीं चाहता था, सब द्रोह रखते थे। [इस] प्रकार यक्ष के समान धन का संचय करने वा[ले] दोनों लोकों से भ्रष्ट हुये, धर्म रहित उस ब्राह्मण [के] गृहस्थ का पंच यज्ञ आदि नित्य कर्म न होने से [उस पर] देवताने कोप किया। देवता के अनादर से पूर्व पु[ण्य] का क्षय हुआ और धन जाने लगा। कई कुटुम्बी [उस] का धन चुरा २ कर ले जाने लगे, कुछ न्याति के [ले गये] और कुछ चोर ले गये, घर में कई बार अग्नि लगी [और] बहुत सा माल जल गया। बहुत से लेने वालों [से] समय बीत जाने से रुपया डूब गया, कई मुकद्द[मे] लग गये इस लिये बहुत सा धन कचहरी दरबा[र में] खर्च हो गया। इस प्रकार धन रहित होने से सब [जगह] में उस का निरादर होने लगा। अब तो लोभी शं[कर] चिंता में पड़ा! धन के नाश से रात्रि दिन नेत्रों [से] आंसुओं की धारा बहा करती थी! मुख तक में आं[सू] घुस जाते थे! धन और जनके संबंध में उसने ब[हुत] कुछ विचार किया परंतु जब कोई भी विचार का[म] होने की सूरत न दीखी तब जैसे कोई बहिरा अ[धिक] चोट लगने से बहरेपन को खो देता है इसी प्र[कार] धन की चोट से उसे वैराग्य का विचार आया, [और] विचारने लगा "अहो! मैं ने बहुत बुरा किया! [मैंने] शरीर को वृथा ही कष्ट दिया! धन के निमित्त [किया] हुआ मेरा इतना भारी परिश्रम धर्म करने और [सुख] भोगने में कुछ काम न आया! सच है कि [धन] लोभी मनुष्य का धन जीने तक उसके देह और [मन] को पीड़ा ही देता है और मरने के बाद नरक [का] दाता होता है! जैसे थोड़ा सा श्वेत कुष्ठ सुन्दर श[रीर] को कलंकित करता है वैसे ही यशस्वी पुरुषों [के] पवित्र यश का और गुणवानों के प्रशंसनीय गुणों [को] थोड़ा सा लोभ नष्ट कर डालता है। धन प्राप्त करने [में,] प्राप्त होने के बाद बढ़ाने में, रक्षण करने में, खर्च [करने] में, नाश होने में और भोगने में मनुष्यों को परि[श्रम,] चिंता और भ्रम ही होता है। चोरी, हिंसा, [झूठ,] माया, दंभ, काम, क्रोध, विस्मय, मद, भेद,

अविश्वास, स्पर्धा, स्त्रियों का व्यसन, जुये का व्यसन और मद्य का व्यसन, ये पन्द्रह अनर्थ धन से होते हैं! इस लिये कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष को अनर्थ करने वाले धन को दूर से ही त्याग देना चाहिये। भाई, स्त्रियां, माता, पिता और संबंधी जो स्नेह से एकत्र रहते हैं वे भी धन से अलग हो जाते हैं, कौड़ी २ के लिये एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं! बड़े बड़े राजा धन के लालच से ही विष देकर मारे गये हैं! यह लोक और परलोक दोनों ही धन से बिगड़ जाते हैं! क्यों कि धन में ही जिस की निष्ठा है ऐसा जो पुरुष, देवताओं को भी दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्म को प्राप्त हो कर, ब्राह्मण हो कर, मनुष्यत्व और ब्राह्मणपने का अनादर करके आत्मा का कल्याण नहीं करता, वह अधोगति को ही प्राप्त होता है। यह शरीर स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है, उसे प्राप्त करके जिसके शिर पर मृत्यु घूमा करती है ऐसा मनुष्य धन में क्यों आसक्ति रक्खे? देव, ऋषि, पितृ, भृत्य, ज्ञाति और बंधु जो भाग देने के योग्य हैं, उन को और अपने को जो अन्नादि से तृप्त न करके यक्ष के समान धन की चौकीदारी करता है, वह पुरुष नीच योनि में पड़ता है। मैं जो धन की व्यर्थ तृष्णा से प्रमाद को प्राप्त हुआ था, उसका धन, अवस्था और बल जिस करके विवेकी पुरुष संसार सागर को तर जाता है, वे सब चले गये, अब बूढ़ा हुआ हूं, क्या कर सकूंगा? लोग इस प्रकार अनर्थ को जानते हुये भी धन की व्यर्थ तृष्णा करके क्लेश को क्यों प्राप्त होते हैं? धन और भोग से सुख मिलता है, ऐसा समझ भी लिया जाय तो भी जिसका मृत्यु नित्य समीप आता जाता है, ऐसे मनुष्य को धन से, धन देने वाले से, सुख से, सुख देने वाले से, और फिर जन्म देने वाले कर्मों से क्या होगा? मैं समझता हूं कि मुझ पर प्रभु की कृपा हुई है जिस से मैं इस दशा को प्राप्त हुआ हूं, यदि मेरा धन न जाता तो मुझे सद् बुद्धि न प्राप्त होती। मुझे धन्य है कि अब भी मुझे वैराग्य हुआ है! आत्मा का संसार से उद्धार करने वाला जहाज मिला है! अब जो आयुष्य शेष रहा है, उसमें मैं स्वस्वरूप में संतोष रक्खूंगा, और धर्मादि साधनों में प्रवर्त होकर ब्रह्म विद्या से अपने शरीर का क्षय करूंगा। खट्वांग राजा का आयुष्य एक मुहूर्त ही शेष रहा था, उतने ही समय में वह चेतन हो कर ब्रह्म लोक को प्राप्त हुआ था। मेरा आयुष्य तो अभी कुछ शेष है, ऐसा मालूम होता है। मैं जो अब चेता हूं तो मुझे अवश्य सद्गति प्राप्त होगी! ऐसा मेरा निश्चय है।"

इस प्रकार का निश्चय करके लोभीशंकर ने अहंता, ममता को त्यागकर सद्गुरु के शरण में जा, सन्यासी हो, मौन व्रत ग्रहण किया, इन्द्रिय और प्राण को वश किया। इस प्रकार वह भिक्षुक होकर पृथ्वी पर विचरने लगा, आसक्ति रहित, अपनी श्रेष्ठता प्रकट न करता हुआ नगर और ग्राम में भिक्षा के लिये जाता था। इस बूढ़े अवधूत भिक्षुक को देख कर उस के ग्राम के और अन्य ग्रामों के नीच लोग दुःख देने लगे। कोई उस के हाथ में से कमण्डलु छीन लेता था, कोई त्रिदण्ड को लेकर भाग जाता था, कोई पात्र ले भागता था, कोई बैठने के आसन को फेंक देता था, कोई माला चुरा ले जाता था, कोई कंथा को उठा कर चल देता था अथवा फाड़ डालता था, कोई कुछ खाने की वस्तु लाकर हाथ पर रख कर कहता था "महाराज! लो!" जब अवधूत लेने को आता तो बिना दिये भाग जाता था, जब भिक्षुक मिले हुए अन्न को जल में धोकर खाने लगता था तो कोई ढेला मारता, कोई गालियां देता और कोई कोई दुष्ट तो हाथ में लिये हुए रोटी के टुकड़े को ही छीन भाग जाता था! भिक्षुक सब समय में मौन ही रखता था, न तो कुछ बोलता था और क्रोध भी नहीं करता था! उसे न बोलता देख कर दुष्ट लोग उसे बुलाने का प्रयत्न करते थे और जब देखते थे कि किसी प्रकार नहीं बोलता तो मारते भी थे! कोई कहता 'चोर है!' कोई कहता 'बांधो!' ऐसा कह कर रस्सी से बांध देते थे! कोई पूर्व का जानने वाला कहता था "बड़ा अधर्मी है! पापी है! इसने लोगों का खूब गला काटा है, अब सिद्ध बना है! धर्म के नाम से ढोंग कर रहा है! धन चला गया! सम्बन्धियों ने छोड़ दिया! खाने के लिये ढोंग कर रहा है!" इस प्रकार दुष्ट लोग अवज्ञा करते थे। कोई कहता "यह तो पर्वत के समान दृढ और धैर्यवान दीखता है! बड़ा महात्मा है!" कोई

मसखरे इस प्रकार हंसी भी करते थे ! कितनेक तो उसके पास जाकर अपान वायु को छोड़ देते थे ! खेलने के पक्षी समान रस्सी से बांध रखते थे ! कभी कोठरी में बन्द कर देते थे ! इस प्रकार दुर्जनों के ताड़न से जो दुःख होता था, क्षुधा और ज्वरादि में जो कष्ट भोगना पड़ता था अथवा शीतोष्ण आदि से जो वेदना होती थी, उसको भिक्षुक अपना प्रारब्ध मान कर भोग लेता था और किसी प्रकार भी अपने निश्चय से चलित नहीं होता था ! धैर्य धारण करके इस प्रकार विचारा करता थाः—

"देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म और काल जिन से दुःख होता है वे मुझे दुःख देने में कारण रूप नहीं हैं ! सुख दुःख का कारण तो मन ही है। मने ही संसार रूप चक्र को घुमाता रहता है, अत्यन्त बल वाला मन गुणों की प्रवृत्तियों को उत्पन्न करता है, गुणों से सात्विक, राजस और तामस ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म होते हैं, और कर्मों से सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी अवतार होते हैं, इस प्रकार मन संसार रूपी चक्र को घुमाया करता है। ईश्वर अक्रिय होने से मन के साथ नियंतापने से रहते हुये भी क्रिया के संग से रहित है, ज्ञानमय और जीवों का नियंता है। वह अखन्ड ज्ञान से देखता है, मैं जीव तो अपने में संसार को देखने वाला मानने से ही हूं, कर्मों और गुणों के संग से, विषयों का सेवन करने से बंध गया हूं, इस से सिद्ध होता है कि अविद्या से होने वाले मन के अभ्यास से ही जीव को यह संसार हुआ है, वास्तविक नहीं है क्यों कि अविद्या के सिवाय ईश्वर को संसार है नहीं, और अविद्या वाले जीव को ही है—दीखता है। नित्य नैमित्तिक स्वधर्म, यम, नियम, व्रत, ध्यान और अन्य सब प्रकार के सत्कर्म का फल मन का निग्रह ही है, मन का निग्रह होना महा योग है, जिसका मन शांत और वश हुआ है, उसे दान करने से क्या प्रयोजन है? और जिसका मन वश में नहीं है, भटकता रहता है, उसे दानादिक से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अन्य इन्द्रियों को जीतने से कुछ विशेष फल नहीं है क्योंकि सब देव मन के वश में हैं। मन किसी इन्द्रिय के वश नहीं होता, मन बलिष्ठ में भी बलिष्ठ है ! मन भयंकर देव है। जो पुरुष मन को वश करले वह देवों का भी देव [illegible] जिससे रागादि वेग का सहन नहीं हो सकता, [illegible] जो सब को पीड़ा देने वाला है, जिसका जय [illegible] कठिन है, ऐसे मन को वश में न करके कि[illegible] मूढ मनुष्य संसार में अन्य मनुष्यों के साथ [illegible] कलह करते हैं और उनमें शत्रु, मित्र और उदा[illegible] की कल्पना करते हैं। इस प्रकार मन से कल्पि[illegible] अपने देह की अहंता और पुत्रादि के देह की मम[illegible] को स्वीकार करके मंदबुद्धि वाले मनुष्य, 'यह [illegible] यह दूसरा' ऐसी भ्रांति से इस अनंत और अ[illegible] संसार रूप अंधेरे में भटका करते हैं। इस प्रकार [illegible] ही सुख दुःख का कारण है। लोक, देवता, आत्मा, [illegible] और काल इनमें से कोई भी सुख दुःख का का[illegible] नहीं है। यदि लोक सुख दुःख का कारण हो [illegible] उससे आत्मा का क्या? सुख दुःख का भोक्तापना [illegible] कर्तापना आत्मा में नहीं है। एक शरीर दूसरे [illegible] को सुख दुःख दे कर सुखी दुखी होता है, आत्मा [illegible] होता है क्यों कि निराकार और क्रिया रहित [illegible] किसी पदार्थ का भोक्ता अथवा कर्ता नहीं हो सक[illegible] कदाच शरीर का सुख दुःख आत्मा में लगता हो [illegible] आत्मा सब में एक है, फिर किस पर कोप क[illegible] अपनी जीभ दांतों के नीचे दब जाती है तो क्या दांत [illegible] उखाड़ डालते हैं? देवता दुःख के कारण [illegible] हों तो भले हों, आत्मा को इस से क्या [illegible] एक मनुष्य के मुख पर दूसरे का हाथ थप्पड़ [illegible] तो मुख के देवता अग्नि और हाथ के देवता [illegible] में कलह हुआ, इस से आत्मा को क्या? निर्वि[illegible] और अहंकार रहित आत्मा में कुछ भी होना संभ[illegible] नहीं है इस लिये किसी पर भी क्रोध करना ठी[illegible] नहीं है, अपने ही शरीर में एक अंग पर दूसरे [illegible] का प्रहार हो तो किस के ऊपर कोप करे? ग्रह [illegible] दुःख का कारण हों तो वे जन्म लेने वाले देह [illegible] सुख दुःख के कारण हो सके हैं, जन्म लग्न से [illegible] आठवीं, बारहवीं राशि पर आया हुआ ग्रह देह [illegible] ही दुःख दे सका है, आत्मा को नहीं क्योंकि [illegible] जन्मता नहीं है इस लिये उस को कोई दुःख [illegible] नहीं सका, ज्योतिषी कहते हैं कि ग्रहों की [illegible] पड़ने से पीड़ा होती है, अंतरिक्ष में रहे हुये [illegible]

ग्रहों की दृष्टि घर के कोने में रहने वाले ग्रहों पर पड़ती है मैं तो ग्रह और लग्न संयोग से रहित हूं, मैं किस के ऊपर क्रोध करूं? आत्मा से कोई कर्म होता नहीं, और विचार से देखा जाय तो शरीर से भी कोई कर्म नहीं होता। एक ही पदार्थ में जड़पने और अजड़पने से कर्म होना संभव है क्योंकि कर्म करने वाले में विकार और हिताहित का ज्ञान दोनों ही देखने में आते हैं। जड़ देह कर्म करता है, ऐसा माने तो उस में बोध नहीं है। चेतन आत्मा कर्म करता है, ऐसा कहा जाय तो आत्मा में विकार नहीं है क्योंकि आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। इस प्रकार कर्म की सिद्धि ही नहीं होती तो क्रोध किस के ऊपर किया जाय? जो काल सुख दुःख का कारण हो तो इस से भी आत्मा को क्या? काल भी आत्मा का अंश है। जैसे ज्वाला को ताप-अग्नि नहीं लगता, जैसे हिम के कणके को शीतलता नहीं लगती इसी प्रकार काल से होने वाले सुख दुःख आत्मा को नहीं लगते। लोग देवता आदि में अथवा अन्य पुरुषों में सुख दुःख के कारणपने की कल्पना करें तो यह मिथ्या ही है। आत्मा प्रकृति से पर है। देश, काल, वस्तु, सुख दुःख आदि का सम्बन्ध आत्मा में नहीं है, झूंठे प्रपंच को खड़े करने वाले अहंकार से ही सुख दुःख आदिक प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं है," इस प्रकार विचार कर वह ब्राह्मण किसी पर भी क्रोध नहीं करता था और प्राचीन ऋषियों ने जिस का सेवन किया है ऐसी ब्रह्म निष्ठा का आश्रय उस ने लिया था, इस प्रकार जिस का पार होना कठिन है ऐसे संसार रूपी अंधकार को छोड़कर परमपद को प्राप्त हुआ लोभी शंकर लोभी शंकर न रह कर पूर्णशंकर हो गया!

ऊपर के दृष्टांत में बताया हुआ लोभी शंकर सद् विचार करता हुआ मुक्त हुआ परन्तु लाखों मनुष्य अनेक आपत्तियां आने पर भी नहीं चेतते, आशा की फांसी को नहीं तोड़ते, ऐसे मनुष्य स्वयं और अन्य को दुःख रूप हो कर नरकगामी ही होते हैं, ऐसे सैकड़ों दृष्टांत जगत् में देखने में आते हैं। दुःख चेतने के निमित्त ही होता है। सुख मिथ्या है, ऐसा समझने को ही दुःख आता है परंतु मूढ़ अज्ञान रूपी कीचड़ में फंस कर कुछ भी विचार नहीं करते।

घर में संपत्ति न रही, बुद्धि है नहीं, शास्त्र पठन किया नहीं, महनत होती नहीं, आशा टूटी नहीं, तो भी अपने निर्वाह निमित्त घर बार छोड़ कर भटकते हैं! कभी किसी को प्रथम कुछ वैराग्य हो तो भी वह ऐसे संग और संयोग में फंस जाता है कि किया हुआ वैराग्य उड़ जाता है और वेष धारण करने पर भी पुरा कंगाल बना रहता है! घर, ऐश्वर्य आदि शरीर सिवाय अन्य कुछ रहता नहीं, दूसरे की दया के ऊपर ही ऐसों का जीवन होता है! अग्नि के सहारे अथवा धूप के सहारे शीत का निवारण करते हैं। अपात्र होने से मांगते हुये सैकड़ों तिरस्कार सहने पड़ते हैं! रात्रि को पेड़ के सहारे शरीर की गठरी बनाकर सोना पड़ता है! खाने को कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता, कभी बासी, दुर्गंधि युक्त और सड़ा हुआ खाना पड़ता है! इस प्रकार सब प्रकार से दीन हुआ है तो भी आशा में दीन नहीं! अनेक प्रकार की व्यर्थ आशायें बांधता है! मद्य मांस से अपवित्र होता है! जब नहीं मिलता तब चोरी करता है! जुआ खेलता है, पकड़ा जाता है, कैद भोगता है, अनेक प्रकार कष्ट पाता है! कैद से छूटकर भी अपनी आदत को नहीं सुधारता! उसी चोरी जुये में लगता है! वेष को बदनाम करता है! स्वयं दुखी होता है, साथियों को भी दुःख देता है! इस सब का कारण आशा ही है! आशा करने वाला यहां भी नरक भोगता है और आगे भी नरक का कीड़ा ही बनता है। जैसे लडियल कुत्ता असमर्थ होने पर भी आशा से कुत्ती के पीछे दौड़ना नहीं छोड़ता, कुत्ते काटते हैं, लोहू लुहान हो जाता है तब भी पीछा नहीं छोड़ता इसी प्रकार उस का हाल है! वह प्रत्यक्ष ही राक्षस है, ऐसा समझना चाहिये! आचार्य ऐसों को उपदेश दे रहे हैं परंतु हम को शंका है कि ऐसों को उपदेश लगेगा ही। कब? कभी नहीं लग सका!



अवधूत अक्षरार्थ।

श्लोक।

आशापाश विनिर्मुक्त आदि मध्यांत निर्मलः।
आनंदो वर्तते नित्य मकारस्तस्य लक्षणम् ॥१॥

अर्थः—जो आशा की फांसी से अत्यंत छुटा हुआ है, आदि, मध्य और अंत में निर्मल है, हमेशा आनंद में वर्तता है, ऐसा अकार का अर्थ है।

भावार्थः—आशा रूप फांसी में सब जीव बंधे हुये हैं, आशा में ही जन्मते हैं, आशा में ही रहते हैं और आशा में ही मरते हैं, ऐसी प्रपंच की सब आशाओं को काटकर मुक्ति की आशा को भी छोड़ कर संत पुरुष आदि, मध्य और अंत रहित निर्मल ब्रह्म में टिकते हैं और मन बुद्धि चित्त और अहंकार से परे जो निजानंद है, उसको ही अखंड आनंद जानते हैं। अवधूत में के चार अक्षरों में से प्रथम अकार का इतना अर्थ है।

वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारस्तस्य लक्षणम् ॥२॥

अर्थः—जिसने वासना त्याग दी है, जिसके लिये उपद्रव रहित ब्रह्म कथन के योग्य है, वर्तमान में ही जो वर्तता है, यह वकार का अर्थ है।

भावार्थः—इस लोक और पर लोक की वासना और उनका सब भोग रोग रूप है, ऐसा जान कर जिसने सब वासनाओं को छोड़ दिया है—जो वासनातीत हुआ है और जितना कहने सुनने और देखने में आता है, उसको जो माया समझता है और उस से परे स्वच्छ उपद्रव रहित आत्मा को जान कर उसी में वर्तता है, और वर्तमान शरीरादिक के व्यवहार में जिसका विशेष चित्त नहीं है, जिसमें ज्ञान का प्रकाश है और जो आत्मस्वरूप में ही टिका हुआ हुआ है ऐसे लक्षण वाला अवधूत है, यह वकार का अर्थ है।

धूलि धूसर गात्राणि धूत चित्तो निरामयः।
धारणा ध्यान निर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥३॥

अर्थः—धूल से लिपटे हुये शरीर वाला, चित्त धुला हुआ, उपद्रव रहित, धारणा ध्यान से छुटा हुआ यह धूकार का अर्थ है।

भावार्थः—भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच महा भूतों करके जिसका शरीर मलिन रहा है और पंच कोशों करके जिसका शरीर वि[illegible] को प्राप्त हुआ है ऐसा होते हुये भी जिसने अविद्या और अविद्या के विकारों को छोड़ दिया है [illegible] निरामय परब्रह्म में टिकाव होने से जिसका चित्त निर्मल हो गया है, ब्रह्म में टिकाव होने से जिसको धारणा और ध्यान की आवश्यकता न होने से धारणा ध्यान से भी रहित है, वह अवधूत है, यह धूकार का अर्थ है।

तत्वचिंता धृता येन चिंता चेष्टा विवर्जितः।
तमोहंकार निर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम् ॥४॥

अर्थः—जो तत्व का ही चिंतवन करता है, अन्य चिंता और चेष्टाओं के भाव से रहित और जो तमोगुण और अहंकार से मुक्त है, तकार का अर्थ है,

भावार्थः—जिस का चित्त तत्व चिंतवन में लगा रहता है, अन्य व्यवहार में नहीं लगता, [illegible] विचार से ज्ञान नेत्र द्वारा जो अपने ही स्वरूप देखता है, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों की चिंता और चेष्टा से रहित जो जड़ समान है, जो तीनों शरीरों की जड़ काट कर आत्म स्वरूप हुआ है, और जो तमोगुण और अहंकार से रहित है, वह अवधूत है, यह तकार का अर्थ है।



ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

यदि उपादान कारण से अधिष्ठाता रूप कारण भिन्न मानेंगे तो पीछे एक के जानने से सब का ज्ञान होना असंभव होगा और ऐसा होने से प्रतिज्ञा और दृष्टांत का बाध आवेगा। इस लिये अन्य अधिष्ठाता के अभाव से आत्मा कर्ता है तथा अन्य उपादान का अभाव होने से आत्मा प्रकृति है ॥ २३ ॥

आत्मा कर्ता और प्रकृति किस प्रकार है ?

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और अभिध्योपदेशात् सृष्टि संकल्प के उपदेश से [परमात्मा इस जगत् का कर्ता-निमित्त कारण और प्रकृति-उपादान कारण है]

टीकाः—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (उसने इच्छा की कि मैं बहुत होऊं तथा जन्म लूं) और 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (उसने इच्छा की कि मैं बहुत होऊं और जन्म धारण करूं इस प्रकार सृष्टि संकल्प का उपदेश यह बतलाता है कि आत्मा कर्ता और प्रकृति है। संकल्प पूर्वक स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति से तो ऐसा समझा जाता है कि आत्मा कर्ता है और बहुत होने का संकल्प प्रत्यगात्मा को लागू पड़ता है, इस से यह समझा जाता है कि आत्मा प्रकृति है ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नात् ॥२५ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और साक्षात् साक्षात् (अन्य उपादान बिना) उभयाम्नात् [ब्रह्म से] दोनों के (उत्पत्ति और प्रलय के) कथन से [निश्चय होता है कि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है]।

टीकाः-ब्रह्म प्रकृति-उपादान कारण है क्योंकि साक्षात् ब्रह्म को ही कारण मान कर प्रभव और प्रलय दोनों श्रुति में कहे हैं जैसे कि 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति ॥' [छान्दो १।९।१] (ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लय होते हैं) जो जिस में से उत्पन्न होता है और जिस में लय होता है, वह उस का उपादान है, यह प्रसिद्ध है जैसे कि व्रीहि, यवादि का उपादान कारण पृथिवी है, साक्षात् शब्द द्वारा ब्रह्म निमित्त कारण है और 'आकाशात्' शब्द से ऐसा सिद्ध होता है कि यहां अन्य उपादान का ग्रहण नहीं है,यह तो निश्चित ही है कि कार्य का लय उपादान के सिवाय अन्य किसी में कभी नहीं होता ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ।.२६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः-आत्मकृतेः [ब्रह्मके] अपने कर्म द्वारा परिणामात् [प्रपंच रूप] परिणाम से [ऐसा निश्चय होता है कि ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण है]।

टीकाः—ब्रह्म प्रकृति-उपादान कारण रूप है क्योंकि ब्रह्म की प्रक्रिया में श्रुति में इस प्रकार कहा है:- 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै०।२।७] (पीछे अविकारी ब्रह्म ने अपने आत्मा को जगत् रूप किया) इस प्रकार श्रुति आत्मा का कर्मपना और कर्तापना दर्शाती है। यहां 'आत्मानं ' यह कर्म रूप है और 'स्वयं अकुरुत ' यह कर्ता रूप है, यदि कहो कि जो वस्तु पूर्व सिद्ध है और जो कर्ता रूप से निरूपण की गई है, वह वस्तु क्रियमाण का रूप कैसे हो सकती है ? तो उस का उत्तर यह है कि विकार के कारण से ऐसा होता है। यद्यपि आत्मा आप पूर्व सिद्ध है तो भी वह विशेष विकार वाचक होने से जगत् रूप परिणाम को यानी विकार को प्राप्त हुआ, जैसे मिट्टी का आदि प्रकृति के विकारपने से घट रूप परिणाम देखने में आता है, यहां पर 'स्वयं' ऐसा जो विशेषण लगाया है वह ऐसी प्रतीति कराता है कि उस में

अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं है, अथवा 'परिणामात्' ऐसा भिन्न सूत्र लिया जाय तो उस का अर्थ इस प्रकार हो:-प्रकृति ब्रह्म रूप है क्योंकि ब्रह्म के ही प्रपंच भूत रूप विकार द्वारा जगत् रूप परिणाम है, इस प्रकार जगत् और ब्रह्म का सामानाधिकरण होने से ब्रह्म उपादान कारण रूप है, श्रुति में कहा है:-'सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च' [तैत्ति० २।६] (प्रत्यक्ष और परोक्ष निर्वाचन हो सके ऐसा और न हो सके ऐसा ब्रह्म ही हुआ) इस प्रकार सामानाधिकरण से ब्रह्म का ही जगत् रूप परिणाम होना श्रुति दर्शाती है ॥२६॥

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ:—च और हि जिस से योनि: [ब्रह्म जगत् का] कारण [है ऐसा श्रुति] गीयते कहती है [इस से भी निश्चय होता है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है]

टीका:—और ब्रह्म इस कारण से प्रकृति-उपादान कारण है कि वेदान्त में ब्रह्म को 'योनि' कहा है, जैसे कि 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' [मुण्ड० ३।१।३] (कर्ता, ईश, पुरुष, ब्रह्म योनि को (धीर पुरुष ध्यान से देखता है) और 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' [मुण्ड०१।१।६] (जिसको विद्वान् भूत योनि जानते हैं), योनि शब्द लोक में प्रकृति वाचक समझा जाता है जैसे कि 'पृथिवी योनिरोषधि वनस्पतीनाम्' (ओषधि और वनस्पति का पृथिवी योनि है) स्त्री योनि भी अवयव द्वारा गर्भ की उपादान कारण है ही। कहीं २ योनि शब्द स्थान वाचक भी है जैसे कि 'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' [ऋ० सं० १।१०४।१] (हे इन्द्र! तेरी बैठक के लिये मैं स्थान करूं) और 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' [मुण्ड० १।१।७] (जैसे मकड़ी उत्पन्न करती है, और ग्रहण करती है, इस प्रकार के वाक्यों से ऐसा समझना चाहिये कि योनि शब्द प्रकृति वाचक है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म प्रकृति है। और इच्छा पूर्वक कर्तापना लोक में कुंभार आदि निमित्त कारणों में ही देखा जाता है उपादान में नहीं, इसलिये जो कहा है उसका निराकरण हुआ प्रकार करना चाहिये कि यहां लोक के सम समझना चाहिये क्यों कि यह अर्थ अनुमा नहीं है किंतु शब्द गम्य होने से शब्द के अनुस यहां अर्थ होना चाहिये। शब्द तो ऐसा प्रति करता है कि इच्छा करने वाला ईश्वर प्रकृति है, हमने कहा है और विस्तार से आगे कहेंगे ॥२७॥

(८) सर्वव्याख्यानाधिकरण।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ:—ए इस से (प्रधान कारण वाद के निषेध से) सर्वे (परमाणु आदि सब कारण वाद) (व्याख्या [निषेध रूप से] व्याख्यान किये गये व्याख्या व्याख्यान किये गये।

टीका:—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [ब्र० सू० १।१ (प्रधान जगत् कारण नहीं [क्योंकि वह] अ (है) ईक्षति से) इस सूत्र से आरम्भ कर के द्वारा वारम्वार आशंका करके प्रधान कारण का निराकरण किया क्योंकि सांख्य वाद के कितनेक वेदान्त में आये हुए वाक्य कितनेक मन्द वालों को सच्चे हों, ऐसे भासते हैं, वे वाद तथा कारण वाद की एकता मानते हैं और इन वाक्यों का निराकरण सिद्ध करते हैं। आदि कितने ही धर्म सूत्रकारों ने अपने ग्र उन का आश्रय किया है इस लिये उनके प्रति लिये घना यत्न किया है परन्तु अणु आदि वाद के लिये यत्न नहीं किया। ब्रह्म कारण प्रतिपक्षी होने से उन का भी प्रतिषेध करना क्योंकि मन्द मति वालों को कई एक वैदि प्रथम दृष्टि से उन वादों का पोषण करने वाले होते हैं, इस लिये प्रधान मल्ल निबर्हण न्याय से देश करते हैं, यानी प्रधान कारण वाद के षेध करने से अणु आदि सब वादों का प्रतिषेध किया हुआ समझना चाहिये वे भी प्रधान के समान अशब्द और शब्द विरु 'व्याख्याता व्याख्याताः' दो बार कहना अध्या समाप्ति को सूचन करता है ॥ २८॥

इति ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका चतुर्थ पाद सम्पूर्ण

इति प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

योग चूडामणि उपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

नव द्वारों को रोक कर, वायु को बांध कर, अपान वह्नि सहित कुछ काल तक चलाई हुई शक्ति से दृढ धारणा करके, विधि पूर्वक शिर में स्थिर कर के जब तक आत्म ध्यान से युक्त हो कर ठहरता है तब तक ही महान् के संग की स्तुति नहीं की जाती ॥१०७॥ यह प्राणायाम पातक रूपी इन्धन के लिये अग्नि है, संसार रूपी समुद्र का सेतु सदा योगियों से कहा जाता है ॥ १०८ ॥ आसन से रोग को और प्राणायाम से पातक को नाश करते हैं, योगी मन के विकारों, का प्रत्याहार से त्याग करता है ॥ १०९ ॥ धारणा से मन के धैर्य को प्राप्त करता है, समाधि में अद्भुत चैतन्य को प्राप्त करता है और शुभाशुभ कर्मों का त्याग करके मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ११० ॥ बारह प्राणायाम का प्रत्याहार कहलाता है, बारह प्रत्याहार से शुभ धारणा उत्पन्न होती है ॥१११॥ योग वेत्ताओं ने बारह धारणा को ध्यान कहा है, बारह ध्यान की समाधि कहलाती है ॥ ११२ ॥ समाधि में जो परम ज्योति, अनन्त और विश्वतोमुख है। उस के देखने से भूत भविष्य क्रिया कर्म नहीं रहता ॥ ११३ ॥ दोनों चरण मेढ़ू पर लगा आसन बांध कर, कर्ण, नेत्र और नासिका के द्वारों को अंगुलियों से रोक कर पवन को मुख से पूर्ण करे, कुहनियों को छाती पर रख कर मूर्धा में स्थिर धारण करे, इस प्रकार योगीश्वर उस में मन लगा कर तत्व की विशेष समता को प्राप्त करते हैं ॥ ११४ ॥ पवन में आकाश के प्राप्त होने पर घंटादि बाजों की महान् ध्वनि उत्पन्न होती है, यह नाद सिद्धि कही गई है ॥ ११५ ॥ प्राणायाम से युक्त होने से, सब रोग नाश हो जाते हैं, प्राणायाम से रहित के सब रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ११६ ॥ हुचकी, खांसी, श्वास, शिर, कर्ण, आखों की पीडा अनेक प्रकार के रोग पवन के विकार से होते हैं ॥११७॥ जिस प्रकार सिंह, हाथी, व्याघ्र धीरे २ वश हो जाते हैं, इसी प्रकार सेवन किया हुआ वायु वश हो जाता है, नहीं तो साधक को मारता है ॥ ११८ ॥ नियम पूर्वक वायु को छोड़े, नियम पूर्वक भरे, नियम पूर्वक रोके, इस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करे ॥ ११९ ॥ विषयों में यथा क्रम से चक्षु आदि का जो चलना है, उनका जो रोकना है, वह प्रत्याहार कहलाता है ॥ १२० ॥ जिस प्रकार तीसरे काल में सूर्य का प्रकाश कम हो जाता है इसी प्रकार योगी तीसरे अंग में स्थित मन के विकार को दूर करे, यह उपनिषद् है ॐ शांति को प्राप्त करे ॥ इति योग चूडामणि उपनिषद् ॥

शारीरकोपनिषद् ।

शरीर पृथिवी आदि महाभूतों का समुदाय है। जो कड़ी है, सो पृथिवी है, जो बहने वाला है, वह जल है, जो उष्ण है, वह तेज है, जो संचार करता है, वह वायु है, और जो पोला है, वह आकाश है। श्रोत्रादि ज्ञान इन्द्रियां हैं। आकाश में श्रोत्र, वायु में त्वचा, अग्नि में नेत्र, जल में जिह्वा और पृथिवी में घ्राण है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन्द्रियों के यथा क्रम से विषय हैं ये पृथिवी आदि महा भूतों से क्रम से उत्पन्न हुये हैं। वाणी, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियां कही जाती हैं। उनके क्रम से वचन, ग्रहण करना, चलना, त्यागना और आनन्द ये विषय पृथ्वी आदि महाभूतों से क्रम से उत्पन्न हुये हैं। मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये चार अंतः करण हैं। उनके क्रम से संकल्प विकल्प, निश्चय, अभिमान और विचार स्वरूप ये विषय हैं। मन का स्थान कंठ, बुद्धि का मुख, अहंकार का हृदय और चित्त का नाभि है। हड्डी, चमड़ी, नाड़ी, रोंगटे और मांस ये पृथिवी के अंश हैं। मूत्र, कफ, लोहू, वीर्य और पसीना ये जल के अंश हैं। भूख, प्यास आलस्य, मोह और मैथुन अग्नि के अंश हैं। फैलना, दौड़ना स्थूलादि (मुड़ना, सकोड़ना, चलना) पलक खोलना, बन्द करना आदि (डकार, छींक, जंभाई और मृतक शरीर को फुलाना) वायु के अंश हैं।

काम, क्रोध, लोभ मोह, और भय आकाश के अंश हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पृथ्वी के गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस जल के गुण हैं। शब्द, स्पर्श और रूप अग्नि के गुण हैं। शब्द और स्पर्श वायु के दो गुण हैं। शब्द एक गुण आकाश का है। सात्विक, राजस और तामस तीनों गुणों के लक्षण हैं। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना, शौच, संतोष, सीधापन ॥ १ ॥ मान रहितपना, पाखंड रहितपना, आस्तिकपना, आहिंसकपना, इतने गुण विशेष करके सात्विक के जानने चाहियें ॥२॥ मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं अभिमान वाला वक्ता हूं। ब्रह्म वेत्ताओंने ये गुण राजस के कहे हैं ॥३॥ निद्रा आलस्य, मोह, राग मैथुन और चोरी। ब्रह्म वादियों ने ये गुण तामस के कहे हैं ॥४॥ सात्विक ऊपर है, मध्य में राजस है और नीचे तामस है। सत्य ज्ञान सात्विक है। धर्म ज्ञानें राजस है। तिमिरांध तामस है। जाग्रत्, स्वप्न,

सुषुप्ति और तुर्य ये चार प्रकार की अवस्थायें हैं। ज्ञा
न्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और चार अंतःकरण, इन चौ
इंद्रियों युक्त जाग्रत् है। चार अंतः करण से युक्त स्व
है, एक चित्त इन्द्रिय वाली सुषुप्ति है। तुरीय केवल
युक्त ही है। खुले हुये पलक और मुंदे हुये प
के बीच में टिका हुआ जीव परमात्मा के म
में जीवात्मा तेजस है, इस प्रकार जाना जात
ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेंद्रिय, पांच प्राण और बुद्धि इन सत्र
का सूक्ष्म शरीर लिङ्ग कहलाता है ॥५॥ मन, बु
अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथिवी
प्रकृति के आठ विकार हैं, सोलह और हैं ॥६॥ श्रो
त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण यह पांच। गुदा,उप
हाथ, पैर और वाणी दशमी है ॥७॥ शब्द, स्प
रूप, रस और गंध, ये तेईस तत्व प्रकृतियां है
चौबीसवां अव्यक्त प्रधान है, पुरुष उस से पर

॥ इति उपनिषद् ॥



Registered No. A 860




ॐ

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } फाल्गुन सं० १९८० । मार्च १९२४ { अंक ५

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० प्यालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषयों का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चा

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू
आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-), वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीता मूल्य ।=)" "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | फाल्गुन सं० १९८० । मार्च १९२४ | अङ्क ५

साधू हुआ तो क्या हुआ ?

(१)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? साधन किया नहिं एक भी।
नाहिं इन्द्रियां ही वश करीं, मन भी न कीन्हा स्थिर कभी॥
नाहिं वेग तृष्णा का हटा, नहिं भाव भक्ती का हुआ।
नहिं जप किया नहिं तप किया, मांगा किया मोटा भया॥

(२)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? शिर को मुँडा कपड़े रँगे।
या ली रमा तनु में भभूती सिद्ध कहलाने लगे॥
गांजे चरस के दम लगा दम मुफ्त में हि घुला रहे।
धूनी तपें करि लाल आंखें खाल व्यर्थ जला रहे॥

(३)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? अभिमान नहिं कमती भया।
आई न समता नम्रता अपना न पर का हित किया॥
जीता न तुमने क्रोध को कुश्ती लड़े नहिं काम से।
बनते भगत ठगते जगत को ठाकुरों के नाम से॥

(४)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? चेलीं करीं चेले किये।
पूजा कराई भेंट लीन्ही पूर्ण ज्ञानी बन गये॥
की चाल बाजी जाल साजी साधुओं के वेष में।
तन रूप गाड़ी को घुमाया देश में पर देश में॥

(५)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? नहिं चिंतवन हरि का किया।
चर्चा करी तो खान की या पान में ही चित दिया॥
दिन दोपहर में धूल तुम ने झोंक दीन्ही आंख में।
भोली मजा का लूट धन तन मन मिलाया खाक में॥

(६)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? ईश्वर ठगा नहिं जायगा।
साधन करो सच्चे बनो, यहि काम आखिर आयगा॥
जब त्याग सच्चा हो जगत् का ईश में तब राग हो।
जब राग होवे ईश में साधू बने जग त्याग हो॥

(७)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? अंतर नहीं यदि साधुता।
बोझा उठाता पाप का जो वेष केवल धारता॥
पड़ता भयानक नरक में बहु भांति कष्ट उठावता।
नहिं देह में है साधुता, मन में रहे है साधुता॥

(८)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? कीन्ही नहीं जो साधना।
इस से गृहस्थी ही भला क्यों शिर मुँडा त्यागी बना॥
देवे गृहस्थी दान हलका होय ऊँचा जाय है।
ले दान कपटी साधु भारी होय नीचे आय है॥

(९)

साधू हुआ तो क्या हुआ ? छल बल कपट त्यागा नहीं।
'केवल बनाओ वेष' ऐसा लेख नहिं मिलता कहीं॥
कपटी मुनी का वेष धरि उद्धार होना दूर है।
कौवा कभी नाहिं हंस हो, ऐसी मसल मशहूर है॥

(१०)

साधू हुआ तब जानिये अंतःकरण जब हो अमल।
संसार से रहवे अलग जल में रहे जैसे कमल॥
ज्ञानाग्नि ज्वाला हो प्रबल, सब कर्म इन्धन जाय जल।
कौशल्य! हो विज्ञान दृढ़, पावे परम पद हो अचल॥

दरिद्रता की निवृत्ति ।

दरिद्रता से बढ़ कर जगत् में और कोई महान् दुःख नहीं है, ऐसी लोकोक्ति है। लोग धन रहित को दरिद्री और कंगाल कहते हैं। इस दुनियां के सब प्रकार के व्यवहार और भोग का साधन धन है। जिस के पास धन नहीं है, उस को भोग आदि यथार्थ नहीं मिल सके इस लिये वह कंगाल कहा जाता है। धन से मान, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी आदि प्राप्त होते हैं। धन वाले धन रहित को तुच्छ समझते हैं, धन वाला चतुर समझा जाता है, गुण वाला भी धन रहित होने से गुण रहित समझा जाता है और धन वाला गुण रहित हो तो भी गुणी समझा जाता है। धन वाले का दोष छिप जाता है और धन रहित का थोड़ा सा दोष भी भारी दोष समझा जाता है। धन वाले के पास गुण वाले भी धन की लालसा से दौड़ २ कर आते हैं। धन वाले को राज दरबार और पंचों में मान मिलता है। धन में क्या मोहनी है? सब ही दब जाते हैं! मार्ग में चलते हुये सलाम, राम राम, नमस्कार हुआ करते हैं! कहीं किसी गरीब को धनवान् ने प्रेम दृष्टि से देख लिया तो गरीब अपना अहोभाग्य समझता है! खुशामद करने वाले धन वालों के पास हाजिर रहते हैं, और लाला जी, सेठ जी, सरकार, हुजूर आदि शब्दों सहित 'आपकी क्या बात है!' ऐसा कहते हैं! इस जगत् में धन ईश्वर से भी विशेष पूज्य है! ईश्वर और पूज्य की प्रतिष्ठा धन से ही की जाती है! उत्तम स्थान हो, उत्तम बगीचा हो, विशाल मंदिर बना हुआ हो, मंदिर में सुवर्ण जड़ा हो, अथवा प्रतिमा में हीरा पन्ना आदि नगीने लगे हुये हों, भोगराग में बहुतसा रुपया लगता हो, पुजारी, भण्डारी, जल भरिया, चपरासी, कारभारी, गुमाश्ते जिस देव मंदिर में नोकर हों, ऐसे मंदिर के देव की पूजा होती है और जो देवस्थान अरण्य में हो, प्राचीन हो, टूट फूट गया हो, जहां धन का ऐश्वर्य न दीखता हो, ऐसे देव को लोग तुच्छ कंगाल समझते हैं, ऐसा देव विशेष करके अपूज्य ही रहता है! धन का प्रभाव देवताओं तक में घुस हुआ है! लोलुप की दृष्टि में इस सृष्टि का प्रत्यक्ष तुरन्त कार्य करने वाला, सत्ता चलाने वाला धन ही है! धन के सामने दूसरे किसी में देवत्व नहीं जाता! ऐसे धन की जिस पर अकृपा हो, उस सबकी ही अकृपा होती है! ऐसे महान् प्रभ की स्थापना जिस मंदिर, गृह में नहीं होती, शून्य समझा जाता है और ऐसा माना जाता। ऐसी दरिद्रावस्था में महान् दुःख है!

जिसके पास धन नहीं, उसका जीवन व्य धन से ही इस लोक और परलोक के भोगों की होती है, धन रहित को यह जगत् ही प्रत्यक्ष न क्यों कि धन रहित पर उसकी स्त्री प्रेम नहीं पुत्र कहा नहीं मानता, जाति में अपमान होता सत्कार नहीं करता, खाना, पीना, पहिनना, वर्तमान समय के अनुकूल नहीं होता, इस लिये के सामने लज्जित हो कर अपने दिल में महान् होता है, कभी कभी दुःख के आवेश में जगत् ईश्वर को भी गालियां सुनाने लगता है परन्तु नहीं होता। कभी ऐसा भी समझता है कि महिमा अपूर्व है! स्वयं विष्णु भी लक्ष्मी के वश जब विष्णु पर लक्ष्मी की कृपा हुई है तब ही पूज्य और ऐश्वर्य वाले हुये हैं! यदि लक्ष्मी की होती तो शंकर के समान विष्णु को भी भूत प्रेतों नग्न, अमंगल स्वरूप धारण कर के श्मशान में करना पड़ता! इस प्रकार धन रहित अपने को दुःखमय मानता है।

केवल पैसा रुपया ही धन नहीं है किन्तु जिस से पैसा रुपया आता है, वह सब ही धन जाता है। खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने के पैसा रुपया प्रत्यक्ष नहीं आता, पैसे से वस्तु से ही उदर निर्वाह आदि होता है, जवाहरात, गौ, खेती, जमीन, खानि आदि कहा जाता है। ऐसे सब प्रकार के धन से और है, वह ही दरिद्री है, विद्या धन, गुण धन कहे जाते हैं परन्तु उन की प्रतिष्ठा चांदी टुकड़ों के समान नहीं है, जैसे चांदी सोने के

को भुना कर बाजार से पदार्थ ले आते हैं, ऐसे विद्या धन अथवा गुण धन से नहीं होता। विद्या अथवा गुण का तो जब ग्राहक मिलता है तब ही उन से लाभ होता है, चांदी सोने के टुकड़ों के तो सब ही ग्राहक हैं, चाहे जहां उन से लेन देन कर सके हैं।

धन प्राप्त करने को धन रहित और धन वाले जितना जिस से बने सभी प्रयत्न करते हैं परन्तु प्रयत्न करते हुये भी धन की प्राप्ति नियम से हो ही जाय, ऐसा नहीं है, प्राप्त होने का प्रयत्न करते हैं और प्राप्त नहीं होता और कई प्रसंगों में प्रयत्न न करने पर भी प्राप्त हो जाता है। किसी संयोग में धन प्राप्ति के लिये परिश्रम कम होता है और फल विशेष होता है और कहीं फल थोड़ा और परिश्रम बहुत होता है। कभी परिश्रम व्यर्थ जाता है और लगाये हुए धन का भी नाश हो जाता है। कोई कोई तो थोड़े परिश्रम अथवा बिना परिश्रम ही बहुत धन मिल जाय, ऐसा चाहते हैं। जुआ, चोरी, अथवा सट्टा ऐसी मानता वालों का धन्धा है। धन का मिलना, न मिलना, विशेष मिलना अथवा थोड़ा मिलना पुरुष के अधिकार की बात नहीं है, पुरुष का अधिकार प्रयत्न में ही है, जिसमें अधिकार नहीं है, उसमें अधिकार समझने वाला दुखी ही होता है, और जो जिसमें उनका अधिकार है, उसका उद्योग भी अज्ञानता से नहीं करते वे भी दुखी होते हैं, । धन की प्राप्ति भोग के निमित्त है, भोग प्रारब्धाधीन है तब उसके लिये जो विशेष चिन्ता करना और दुखी होना है, यह अज्ञान और मूर्खता के सिवाय और क्या है ? प्रत्येक मनुष्य जगत् में कुछ करने के लिये ही आया है। यदि उसे कुछ करना न होता तो जिस प्रकार का शरीर, हाथ, पैर और बुद्धि प्राप्त हुई है, प्राप्त न होती, जो एक स्थान पर ही रहना होता तो अजगर का जन्म धारण करने से ही काम चल जाता, मनुष्य बनने की आवश्यकता ही क्या थी? इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य जन्म बुद्धि पूर्वक कर्म करने के लिये ही हुआ है। विषय भोग तो धन रहित पशु आदि योनियों में प्राप्त ही थे। मनुष्य जन्म बुद्धि पूर्वक व्यवहार सहित परमार्थ का पुरुषार्थ करने को हुआ है, इस प्रकार जो नहीं समझते और वर्तते उनका मनुष्य जन्म और जीवन व्यर्थ है ! मनुष्य जन्म भोग के लिये मानना मूर्खता है, भोग की विशेषता के लिये धन की चाहना है। धन खाने का पदार्थ नहीं है । धन धरा रहे और खाने का पदार्थ न मिले तो मनुष्य मर जायगा और धन सहित अथवा धन रहित खाने के पदार्थ से जीता रहेगा। प्राणी का प्राण अन्न में है, धन में नहीं है। कोई कहे कि धन बिना तो कोई कार्य ही नहीं होता तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि धन की कल्पना मनुष्यों ने की है। मनुष्य और खोराक आदि के बीच में लेन देन का साधन रूप धन दलाल है, धन खोराक नहीं है, इसी से पशु पक्षी आदिकों को धन प्यारा नहीं है। कुत्ते अथवा गधे के सामने धन को रक्खो तो सूंघ कर हट जायगा, कुत्ता रोटी के टुकड़े पर दौड़ेगा और गधा भूसे को खायगा, कुत्ते और गधे की दृष्टि में जिनकी कीमत नहीं है, ऐसे धातु के टुकड़ों पर मनुष्य मर मिटता है! इसपर लोलुप इस प्रकार का उत्तर देंगे कि कुत्ते और गधे में तो बुद्धि नहीं है, वे रुपये पैसे की कीमत नहीं समझते ! हम मनुष्य हैं, हम में विशेष बुद्धि है, हम रुपये गिन्नी की कीमत को समझते हैं, एक ही रुपये से बहुत सी रोटियां आसक्ती हैं-बन सक्ती हैं। यह ठीक है, जब तुम में विशेष बुद्धि है तो विशेष बुद्धि का सदुपयोग करो ! प्रत्यक्ष रूप से खाने, पीने, पहिनने ओढने में न आने वाले धातु के टुकड़ों के पीछे इच्छा कर के बावले बन रहे हो ! क्या यह ही तुम्हारी बुद्धि की विशेषता है ? यदि ऐसा कहो कि खाने पीने विना काम नहीं चलता, धन से खाने पीने के बहुत से पदार्थ आजाते हैं, इस लिये हम खाने के लिये इच्छा करते हैं तो यह भी तुम्हारा कथन ऊपर २ का है,तुम खाने की चिंता में नहीं हो किन्तु अनेक प्रकार की भोग लालसा रूप राक्षसी वृत्तियां तुम में घुसी हुई हैं। तुम रात्रि दिन देखते हो कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्राणी को प्रयत्न पूर्वक आहार मिलता रहता है। तुम भी प्रयत्न करते रहो, आहार अवश्य मिलेगा ! कार्य न करने वाले को भी आहार मिलता है तो कार्य करने वाले को रोटी का टोटा ही क्या है ? परन्तु तुम में तो विशेष २ भोग की लालसा,

मान, प्रतिष्ठा आदि का घुन लग रहा है! वह ही तुम को दुःख दे दे कर पोला कर डालता है, जितनी २ धन की विशेष इच्छा करोगे उतने ही विशेष दुखी होगे! धन न होने से कंगाल को जो दुःख है, सो तो है ही, परन्तु धन वालों को भी धन की इच्छा करने से कंगाल से कम दुःख नहीं है, भले, दुःख के कारण में भेद हो! शुद्ध बुद्धि से विचार करोगे तो इस कथन की यथार्थता मालूम हो जायगी, तुम को अपने काम से काम! धन से क्या? आओ, जाओ, बढो, घटो, जो कुछ हो सो हो, तुम्हारा कार्य कभी रुका नहीं है और रुकेगा भी नहीं! इज्जत आदिक के भाव से दुखी हो, उसका कोई उपाय नहीं है, प्रारब्ध अनिवार्य है। शुद्ध बुद्धि से विचारने से मालूम होगा कि धन की आशा में, धन रहितता में, धन के संचय में, धन के नाश में दुःख ही दुःख है! धन जगत् का है, जगत् में रहता है, तुम को तो संयोग और वियोग दोनों से दुःख ही देने वाला है!

एक ब्राह्मण था जो धन रहित होने से अपने को दुखी मानता था और व्यवहार की दृष्टि से दरिद्री और कंगाल था। विशेष बुद्धि न होने से वह अपने को अत्यंत दुखी मानता था। दरिद्री होने से कुटुम्बी उस के शत्रु हो रहे थे, घर में और बाहर उस की मान प्रतिष्ठा न थी। सब स्थानों पर वह अपमान को प्राप्त होता था। पहिननेको पूरे वस्त्र उसके पास न थे, जो थोड़े से थे वे भी मैले और फटे हुये थे। दरिद्रता का अग्नि रात्रि दिन उस के अंतःकरण में प्रज्वलित रहता था, अत्यन्त दुखी होने से वह कभी २ जीता रहने से मर जाना अच्छा समझता था, कभी तो घर वाले कुत्ते के समान तिरस्कार सहित खाने का टुकड़ा डाल देते थे और कभी अपमान सहित भी टुकड़ा नहीं मिलता था। धन प्राप्त करने का उसे कोई उपाय नहीं सूझता था और यह भी उस को निश्चय था कि धन बिना मैं किसी प्र[कार] सुखी नहीं हो सक्ता। बुद्धि मोटी होने से किसी प्रकार की चतुराई-चालाकी उस में नहीं थी, जब वह बहुत दुखी हुआ तो मरने का निश्चय कर के जंगल में भाग गया। उस का विचार था कि जंगल में भटकते२ मर जाना अच्छा है अथवा जंगली हिंसक प्राणि[यों] का भक्ष्य होने से भी मैं दुःख से छुट जाऊं [ऐसा] विचारा जंगल में भटकने लगा, कभी खाना मि[लता] कभी न मिलता, कभी फल फूल मिल जाते थे, [कभी] पत्तियां चबाकर ही पेट के अग्नि को शांत करता [था,] जाड़ा धूप भी सहना पड़ता था, ऐसे कष्ट में भी [उस] का मृत्यु न हुआ! कभी २ कुंए, तालाब में डू[ब] मर जाने का निश्चय करता था, कभी नदी में [डूबने] को जाता था परन्तु भावी दुःख उस का हाथ [पकड़] कर खेंच लेता था, डूबने नहीं देता था! वि[चारा] ब्राह्मण मर कर भी सुखी होना चाहता था [परन्तु] दुःख उस को मरने नहीं देता था। इस प्रका[र] वर्ष तक भटकते २ एक बार एक जलाशय के [किनारे] एक साधु के एकांत स्थान पर ब्राह्मण पहुंचा, [साधु] ब्रह्मनिष्ठ और प्रतिष्ठित था, उस के पास पांच [सात] और मनुष्य भी रहते थे। वहां से तीन कोस [पर] एक बड़ा शहर था। वहां का राजा और कई [बड़े] लोग और अन्य प्रजा भी समय २ पर सा[धु के] दर्शन, सेवा और सत्संग के लिये आया करते थे। स्थान के पास एक वट का विशाल वृक्ष था, [उस] वृक्ष के पोल में इतनी जगह थी कि एक मनुष्य बैठ सक्ता था। उस में कंगाल ब्राह्मणने विश्राम कि[या।] साधु के स्थान में लोग भोजन कर के जो [जूठन] फेंक देते थे उस को कंगाल खालेता था, थोड़ा [बहुत] जो कुछ मिल जाता, उसी में संतोष कर लेता [था।] घूमने की पीड़ा निवृत्त हुई । किसी [प्रकार] की चिंता न रहने से थोड़े दिनों में शरीर ठेक [हुआ।] साधु आने जाने वालों से जो बात चीत [किया] करता था, और जो उपदेश दिया करता था, [वह] पोल में बैठा हुआ ब्राह्मण सुना करता था। [सत्पुरुषों] का झूठन खाने से और सत्संग के शब्द प्रति[दिन] कान में पड़ने से उस की बुद्धि शुद्ध होने ल[गी।]

एक दिन गरमी की दोपहरी में जब सा[धु के] स्थान पर सब लोग सो गये थे तब ब्राह्मण [इस] प्रकार विचारने लगा "आज तक मैं ऐसा सम[झता] था कि जो कुछ है, वह सब धन ही है, ध[न से] विशेष कोई अन्य वस्तु नहीं है, यहां [...]

निश्चय से विपरीत ही अनुभव होता है। मैंने सुना है कि जिस स्थान पर साधु रहते हैं, वह स्थान साधुओं का नहीं है, साधुओं का बनाया हुआ नहीं है, तो भी साधु उन ही का स्थान हो, इस प्रकार वर्तते हैं, साधु मांगने नहीं जाते, कोई रोजगार नहीं करते, जमीन लगी हुई नहीं है, मुख्य साधु के पास पैसा भी नहीं है, पैसा होते हुये भी ये लोग अच्छा भोजन करते हैं, वस्त्र भी अच्छे ही पहिनते हैं। उन लोगों के पास कौनसी ऐसी वस्तु है, जिस से वे प्रसन्न रहते हैं। मेरा निश्चय इस स्थान पर गलत हुआ है, मैंने सोच रक्खा था कि धन वाले को इस प्रकार की प्रसन्नता होती है, उस के पास सब पहुंच जाते हैं, यहां तो धनवान, राजा, दीवान आदिक भी धन रहित ऐसे साधु के पैरों पर शिर झुकाते हैं और अपने को दीन, दुखी और तुच्छ समझते हैं और ऐसा चाहा करते हैं कि साधु महाराज हम को किसी पदार्थ के लाने की आज्ञा करें, तो भी साधु कुछ मांगता नहीं है, किसी पदार्थ के लाने की आज्ञा नहीं करता, खाने पीने को वस्तुयें और वस्त्र आदिक विना मांगे ही लोग ले आते हैं, किसी २ की लाई हुई वस्तु को भी साधु लौटा देता है! बड़ा आश्चर्य है! इस प्रकार से तो राजा, दीवान, धनवान् आदिक सब ही दुखी दीखते हैं! क्या धन से भी कोई उत्तम वस्तु है? अहा! हा! वह कौनसी वस्तु है जिस के लिये धन वाले भी हाथ जोड़े खड़े रहते हैं! अब मैं साधु महाराज से इस शंका को निवारण करने की अवश्य प्रार्थना करूंगा! धन तुच्छ है! स्त्री, पुत्र, घर, इज्जत सब जगत् भ्रांति का है! जगत् में—अज्ञान में सुख कुछ भी नहीं है! ऐसा मैं ने साधु महाराज से वारंवार सुना है! साधु महाराज की प्रतिष्ठा के सामने वे सब तुच्छ हैं! ऐसा ही मुझे मालूम होने लगा है।" इतने ही में एक बग्घी दूर से आती हुई दिखाई दी, वह साधु के स्थान पर आकर खड़ी हो गई, उस में से चार मनुष्य उतर कर भीतर गये और साधु महाराज के पास जाकर के बैठ गये, उनमें जो बात चीत हुई, वह दरिद्री ने इस प्रकार सुनीः—

चारों के नमो नारायण कर के बैठने की आहट जब मालूम हुई तब साधु एक की तरफ देख कर बोले "भाविक! मैं तुझ को तो जानता हूं परन्तु तेरे तीनों साथियों को मैं नहीं जानता, मेरा ख्याल है कि वे प्रथम ही यहां आये हैं!" प्रथम मनुष्य ने कहा "जी हां! प्रथम ही आये हैं (एक की तरफ इशारा करके) यह मेरे बहनोई हैं और ये दोनों उन के गुमाश्ते हैं, ये कलकत्ते रहते हैं, आप जैसे संतों की कृपा और ईश्वर की शुभ दृष्टि से धन, जन और ऐश्वर्य वाले हैं, हिन्दुस्तान में इन की इक्यावन दुकानें चलती हैं, और यूरुप, अमेरिका में भी कई दुकानें हैं, राजदरबार में प्रतिष्ठा है, राजा बहादुर का खिताब मिला हुआ है।" साधु बोले "अहा! हा! इतना बड़ा आदमी! हम दरिद्री के पास क्यों आया?" साहूकार बोला "महाराज! आप दरिद्री कहां हो? आप तो सब का दरिद्र निवारण करने को कटिबद्ध-लंगोटी लगाये बैठे हुये हो! आप को दरिद्री कौन कह सका है? आप तो शाहनशाह के भी शाहनशाह हो!" साधु बोले "मुझे मक्खन मिश्री लगाई हुई बातें अच्छी नहीं लगतीं! जगत् का नियम है कि कोई विना स्वार्थ कभी किसी से नहीं मिलता, मैं समझता हूं कि तुम लोग भी विना स्वार्थ नहीं आये हो! जो बात हो सो कहो, ज्ञान, ध्यान, भक्ति की तीव्र इच्छा तो तुम लोगों को दीखती नहीं है, और मैं तुम लोगों के व्यवहार की पूर्ति का उपाय बतलाने के झगड़े में पड़ता नहीं, फिर तुम क्या चाहते हो?" प्रथम पुरुष बोला "महाराज! क्षमा कीजिये!, हम अज्ञानी जीव हैं, कच्चा दूध पिया है, मेरे अनुचित कथन पर लक्ष न दीजिये, बात यह है कि ये लोग मुझसे मिलने को आये थे, मैंने आप की ख्याति सुनाई इस लिये ये आप के दर्शन करने आये हैं। सब प्रकार से व्यवहारिक सुख होते हुये भी दो साल हुये मेरी बहिन मरने से दुखी हैं, और हाल में दश वर्ष का लड़का मरा है, इस लिये किसी प्रकार शांति नहीं है। धंधा सब करते हैं परन्तु चैन नहीं है। आप कुछ उपदेश कीजिये, जिस से इन के चित्त को शांति हो इस लिये आये हैं।" साहूकार बोला "महाराज! स्त्री पुत्र के कारण मैं दुखी हो रहा हूं। स्त्री रूपी साथी नहीं रहा, पुत्र रूपी उत्तराधिकारी नहीं रहा, करोड़ों रुपये का माल है,

उस का उपयोग करने वाला, संभालने वाला कोई भी नहीं रहा, अब मेरा क्या कर्तव्य है ? समझाइये ! इन सब कारणोंसें मेरा चित्त रात्रि दिन व्याकुल रहता है!" साधु बोले "जब इतना धन है तो धन के सामने एक स्त्री और एक पुत्र का क्या शोक ? तुम लोगों का तो धन प्रत्यक्ष इष्ट देव है ! तुम्हारी सब कामनाओं की पूर्ति करने को धन देव समर्थ हैं !" साहूकार बोला "नहीं । महाराज! हम दरिद्री हैं! बहुत धन होते हुये भी दरिद्री हैं! कंगाल हैं! जब बार२ ठोकर लगती है तब थोड़े समय के लिये होश आता है कि धन सुख का साधन नहीं है किन्तु सुख के बदले कई गुणा दुःख का साधन है ! सच पूछा तो हम लोगों का जीवन और बंदर का जीवन समान है! जैसे बंदर को न तो शांति है, न स्थिरता है ऐसे ही हम को अशांति और अस्थिरता है । हम से तो घर रहित पेड़ के नीचे रात्रि व्यतीत करने वाला भिखमंगा कंगाल भी हजार दर्जे अच्छा है! सुखी है !" ऐसा वचन सुनते ही साधु चौंक कर जी में कहने लगा " यह क्रोड़ाधिपति साहूकार क्या कह रहा है! क्या पागल हो गया है? नहीं! ठीक ही कहता है! सुनना चाहिये, (प्रत्यक्ष बोला , क्या तुझे धन पर इतना तिरस्कार आया है ?" साहूकार बोला "तिरस्कार नहीं आया ! पूरा तिरस्कार होता तो छोड़ छाड़ कर अलग हो जाता, स्त्री और पुत्र का तो मात्र एक कहना है, हम हजारों प्रकार के अग्नि अंतर में जलते रहते हैं! स्त्री और पुत्र थे, तब भी मैं सुखी थोड़ा ही था! दुखी ही था ! पूर्ण वैराग्य है नहीं, जगत्के भोग और ऐश्वर्य की कामनायें छूटती नहीं हैं ! दुःख से व्याकुल होते हैं ! मैंने पूर्ण रीति से निश्चय किया है कि मैं पूर्ण दुखी हूं! परन्तु अब मेरा क्या कर्तव्य है ? दुःख से किस प्रकार छूटूं ? इसका कौनसा उपाय है ? उसे करना चाहता हूं ! " साधु बोला " तू चाहता है सही ! परन्तु अपने दिल से पूंछ ! मैं जो उपाय बतलाऊं, क्या तू उसे कर सका है?" साहूकार बोला " आप उपाय बतलाइये, तब मालूम होगा कि मैं कर सका हूं या नहीं " साधु बोला " क्या तू धन, प्रतिष्ठा और संसार के भोग इन तीनों को छाड़ सका है ?" साहूकार बोला "महाराज ! मैं अशक्त हूं ! उमर बड़ी है, छोटपन से कुछ सहन नहीं किया !

शरीर रहते हुए तो इन तीनों में से एक को भी छो नहीं सका !" साधु बोला " इन तीनों को छो बिना तू श्रीमान् नहीं हो सकता! तीनों को न छोड़ने ही तू दरिद्री है ! जो इन तीनों को छोड़ दे तो श्रीमा होने में विलम्ब न लगे !" साहूकार बोला " यज्ञ करने को बतलाइये, कोई अनुष्ठान करने को ब इये, अथवा किसी धर्मादा में मुझ से बहुत धा खर्च करवाइये, ये सब मैं कर सका हूं ! यद्यपि उ भी धन खर्च होने का कष्ट होगा ही ! खैर ! उस को सहन कर लूंगा !" साधु खूब हंसता हुआ ब " तू ही कह चुका है कि तुझे धन अच्छा नहीं लग सुख की अपेक्षा विशेष दुःख देने वाला धन है! तू खर्च करके शांति चाहता है, यह बन नहीं सका अलग! तू अलग ! फिर धन से तेरे भीतर शांति प्रकार हो ? तू अपना छोड़ने को तैयार हो तो श हो सकी है ! धन तो नहीं खर्चेगा तोभी तेरे रहने वाला नहीं है ! शरीरांत में उस से अवश्य वि होगा ! तू अपने शरीर और मनसे क्या करना चा है ! उस में तेरा कितना सामर्थ्य है ? यह क साहूकार बोला " महाराज ! मेरा तन और मन ति है ! जो कुछ है सो धन ही है ! उस से जो हो सो सही !" साधु बोला " धन से दरिद्रता मिटेगी ! शांति नहीं होगी ! सत्कर्म में धन खर्च से पुण्य होगा, उसका अदृश्य बनेगा और जब जायगा तब विशेष कर अन्य शरीर में भोग को देगा अदृश्य भोग का दाता है, शांति का नहीं !" साहू बोला "भोग तो अब भी बहुत है ! ऐसा विशेष भविष्य में मिलने से क्या होगा ? भोग में तो दुःख भरा है ! भोग हो तो भोग ही सही, दुःख रहित होना चाहिये !" साधु बोला " कोई भी भोग रहित नहीं है, भोग के साथ रोग, सुख के साथ लाभ के साथ हानि लगी ही रहती है ! स्वरूप के बोध सिवाय शांति नहीं आती ! स्वरूप के बोध सि दुःख रूप दरिद्रता की निवृत्ति नहीं हो सकी ! तू का अधिकारी भी नहीं दीखता ! खैर ! कुछ रोज अपने ख्याल के साथ टिक और कभी २ यहां रह ! और भी सत्पुरुषों का संग किया कर ! कर्म करना, मन की चंचलता हटाना, और शास्त्र

तू कौन है ? यह तुझे समझाया आयगा ! जो तुझे शांति की इच्छा हो तो अवश्य इस प्रकार कर !" साहूकार ने अपने ऊपर साधु महाराज की कृपा समझी और वह उनकी आज्ञानुसार वर्तने को स्वीकार करके प्रणाम कर चला गया।

दरिद्री पेड़ के नीचे पड़ा रहता है, किसी से बोलता नहीं है, और जो कुछ झूठा मिल जाता है, उसी को खाकर पड़ा रहता है, ऐसा साधु जानता था परंतु साधु ने दरिद्री को बुलाया नहीं था और दरिद्री भी साधु के पास गया नहीं था। जब साहूकार की गाड़ी चली गई तब दरिद्री हिम्मत करके उठा और साधु महाराज के सामने जा, हाथ जोड़ कर खड़ा रहा। साधु ने पहिचान कर कहा " तू क्या चाहता है ?" दरिद्री बोला " आप मुझे जानते ही होंगे, मैं कंगाल दरिद्री हूं, बहुत दुखी हूं। जब से मैं आप के सामने के पेड़ के नीचे आ पड़ा हूं तब से कुछ सुखी हूं ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूं, मैं अज्ञानी हूं, जड़ हूं, गंवार हूं, मेरा पूछना भी ऐसा ही होगा ! आप कृपालु हो, मुझे पूछने की आज्ञा मिले तो मैं कुछ पूछूं !" साधुने कहा "पूछ ! क्या पूछता है ?" दरिद्री बोला "महाराज ! आज तक तो मैं अपने को ही दरिद्री समझता था या मेरे समान जो कोई हो, उसे दरिद्री मानता था, परंतु आज मैंने आप के पास आये हुये एक क्रोड़ाधिपति को अपने मुख से ऐसा कहते सुना है कि मैं दरिद्री हूं। जब वह दरिद्री है तब श्रीमान् कौन है ? मैं दरिद्रता की निवृत्ति और श्रीमान् होना चाहता हूं ! मैं अब तक धन से ही श्रीमानता जानता था परंतु आज ऐसा मालूम हुआ है कि श्रीमानता कोई और ही वस्तु है, वह क्या है ? क्या मैं श्रीमान हो सक्ता हूं ! क्या आप मुझे इस का उपाय बतलाओगे ?" साधु मुसकराता हुआ बोला " हे कंगाल ! मैं तो तुझे मूर्ख समझता था ! तू तो बड़ा चतुर निकला ! मुझे ऐसा भी मालूम होता है कि यहां बारंबार जो उपदेश हुआ करता था, तू उसको चुपके २ चोरी किया करता था ! श्रीमानता को समझ-लोक में धन वाले को श्रीमान् कहते हैं परंतु धन वाला सच्चा श्रीमान् नहीं है। जिस पदार्थ की प्राप्ति से कभी भी किसी प्रकार का दुःख न हो-न व्यापे, वह पदार्थ जिस को प्राप्त हो, उसे श्रीमान् कहना चाहिये ! धन ऐसा नहीं है इस लिये धन वाले की श्रीमानता दुःख का हेतु है, चिंता का हेतु है। जो जितना विशेष धन वाला होगा, उसे विशेष चिंता होगी ! तू देखता है कि हम लोग ऐसी श्रीमान्ता को पसंद नहीं करते, हमारे पास कुछ नहीं है तो भी सब कुछ है ! हम धन रहित भी पक्के श्रीमान् हैं ! धन लक्ष्मी रूप है, हमने लक्ष्मी के पति विष्णु को पकड़ रक्खा है ! फिर हम को लक्ष्मी की क्या परवा है ? विष्णु से हमारा अभेद भाव है, यह सब प्रकार की दरिद्रता की निवृत्ति है ! मैं तुझ से पूंछता हूं, यदि तुझे बहुत सा धन मिलजाय तो क्या तू अपने देश को जाना चाहता है ? क्या अपने बाल बच्चों के साथ मौज में रहना चाहता है ?' दरिद्री बोला " नहीं ! महाराज ! मैं प्रथम तो ऐसा चाहता था परंतु आपके उपदेश के वाक्य जो टूटे फूटे मेरे कर्णों में पड़े हैं, उन से मुझे मालूम हो गया है कि ऐसा होने से भी दुःख की निवृत्ति न होगी ! व्यवहार का कलह नहीं छूटेगा ! मैं मिलान करता हूं तो मालूम होता है कि आपके फैंक देने योग्य झूठा खाते हुये जो शांति है, वह यहां नहीं है ! आपके सामने पेड़ के नीचे पड़े रहने में मुझे जो शांति है, उस से भी विशेष शांति मुझ को प्राप्त हो, ऐसा उपदेश दीजिये ! जिसे आप श्रीमान् समझते हो ऐसा श्रीमान् मुझे बनाइये ! पेड़ के नीचे पड़े रहने में किसी प्रकार की चिंता नहीं है, उपाधि नहीं है इस लिये उपाधि रहितता की शांति है, परन्तु शांति का समुद्र ऐसा जो बोध है, वह मुझे नहीं है, आप जिसे सच्ची श्रीमानता कहते हैं, वह मुझे भी अचगई है, मुझे अपने स्वरूप का बोध कराइये ! जैसा बोध आप को है वैसा ही मुझे भी कराइये ! तनसे मनसे जिस प्रकार आप वर्तने को कहोगे, उस प्रकार मैं वर्तूंगा ! मैं दुनियां में अनेक स्थानों पर भटक चुका हूं, थक मार चुका हूं, शांति कहीं भी नहीं पाई, आप की सन्मुखता में ही शांति हुई है ! आप कृपालु हो, अपनी सन्मुखता मिटा कर आप मुझे अपनी एकता में लाइये !" ऐसे वचन सुन कर साधु प्रसन्न हुये और जब २ उपदेश हो तब २ सन्मुख बैठने की उसे आज्ञा दी। कुछ

समय तक सत्संग करने से जो लोक में दीन दुखी था, वह महान् श्रीमान् चक्रवर्तिपने को प्राप्त हुआ! सत्संग के प्रभाव से सत् रूप हुआ!

जगत् में चाहे जितना श्रीमान् हो, दुःख रहित न होने से दरिद्री है, स्वर्ग में अनेक प्रकार के ऐश्वर्य हैं तो भी स्वरूप के बोध विना स्वर्ग प्राप्ति वाला भी दरिद्री है, अधिकारी के लक्षण प्रयास से प्राप्त हों, सत्संगकी बारंबर वर्षा हो, और वैराग्य और जिज्ञासा तीव्र हो तब श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्म ज्ञान होता है, साक्षात्कार होते ही श्रीमान् हो जाता है, यह श्रीमान्ता युग युगांतर में भी जाती नहीं है, इस श्रीमान्ता के सामने किसी प्रकार के दुःख की झांकी तक नहीं होने पाती, अनेक पूर्व जन्म के पुण्य संस्कारों से क्वचित् किसी को ही ऐसी श्रीमान्ता प्राप्त होती है, ऐसे श्रीमान् के सिवाय सब दरिद्री हैं!

सच्ची श्रीमन्ता प्राप्त करने के आरंभ में मुख्य दो मार्ग हैं, एक भक्ति मार्ग, दूसरा ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग में भी अनेक प्रकार के भेद हैं प्रथम भक्ति में श्रद्धा है, श्रद्धा की विशेषता होने से वह भक्ति कही जाती है, भक्ति में भी जब अंतिम कक्षा में पहुंचते हैं तब सब जगत् इष्टमय हो जाता है, सब प्रकार से और सब भाव से ईश्वरार्पण होना और अपने व्यक्तित्व को भिन्न महत्व वाला न रखना उच्च भक्ति है। व्यक्ति अहंकार में ही दरिद्रता रहती है, जब व्यक्ति अहंकार ईश्वर में लय हो जाता है तब दरिद्रता नहीं रहती, जिस में दरिद्रता रहती है, वह ही नहीं रहता, व्यक्तित्व ही दरिद्रता वाला है, जब व्यक्तित्व का ईश्वर में संमिलन होता है तब दरिद्रता का बोझा उतर जाता है, यही पूर्ण श्रीमान्ता है, ज्ञान में भी इसी प्रकार है, साधन युक्त तीव्र मुमुक्षुता होती है और सद्गुरु द्वारा शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है। ज्ञान होने से जब व्यक्ति मिथ्या सिद्ध होती है, तब व्यक्ति और व्यक्तियों का बना हुआ सब संसार मिथ्या हो जाता है। जो कुछ दिखाई देता है सब अज्ञान का कार्य है, जब ऐसा दृढ निश्चय होता है तब लौकिक दरिद्रता और श्रीमान्ता भी छूट जाती हैं, ऐसा बोध ही संपूर्ण श्रीमान्ता है, ज्ञान पर अहं व्यक्ति का परब्रह्म में लय हो जाता है, रहा जो परब्रह्म है, वह ही श्रीमान् है। ब्रह्म के सिवाय अन्य कोई श्रीमान् अथवा श्री[illegible] जैसा नहीं है। परब्रह्म ही श्रीमान्ता का आद्य [illegible] अंतिम है।

ब्रह्मोपासना।

(गताङ्क से आगे)

दोनों क्षत्रिय और एक वैश्य दूसरे दिन वहां[illegible] चल दिये, मार्ग में प्रथम से कुछ विशेष जल वा[illegible] नदी को पार करके एक रात एक जंगल में रह[illegible] दूसरे दिन एक शहर में पहुँचे। यह शहर प्रथम[illegible] शहर से विशेष समृद्धि वाला था, उसका नाम सु[illegible] पुर था। वहां सुवर्ण मुद्रा का ही चलन था, वहां[illegible] बाजार में जहां देखो वहां सुवर्ण मुद्राओं के ढेर[illegible] ढेर दीखते थे, वहां के मकान उत्तम थे, वस्त्रालं[illegible] मनुष्यों पर ही नहीं, पशुओं पर भी थे। तीनों [illegible] उस शहर में घूमने लगे। वहां के मनुष्यों से वे[illegible] रहते थे, इससे वहां के लोग जान जाते थे कि [illegible] परदेशी हैं, शहर की शोभा को देखते हुये तीनों [illegible] रहे थे। वहां के नियम के अनुसार प्रत्येक परदे[illegible] को पोलिस की चौकी पर जाना पड़ता था। [illegible] पोलिस वाला तीनों को थाने में ले गया। वहां [illegible] का नाम, ठाम, ग्राम लिखा गया और यह भी लि[illegible] गया कि वे किस इच्छा से सुवर्णपुर में आये हैं[illegible] वहां के रहने वालों ने उन तीनों को मार्ग में आ[illegible] हुये देखा था इस लिये उनमें से बहुत से पोलि[illegible] की चौकी पर पहुंच गये थे। वहां का प्रत्येक मनु[illegible] सज्जन था, किसी परदेशी को यह मालूम नहीं होता [illegible] कि मैं परदेश में हूं किन्तु ऐसा अनुभव होता था [illegible] मैं अपने मित्र, कुटुम्ब में ही हूं। जब चौकी पर वैश्य[illegible] ने यह लिखाया कि मैं धन्धे की इच्छा से यहां आया[illegible] हूं तब वहां के कितने ही व्यापरियों ने कहा कि[illegible]

आप खुशी से धन्धा कर सके हैं, आप जो माल खरीदना चाहते हो, खरीद कर सके हो। एक ने कहा "मेरे पास चांदी, सुवर्ण और जवाहरात बहुत हैं, आप जितने चाहे खरीद कीजिये!" दूसरे व्यापारी ने कहा "उत्तम प्रकार के वस्त्र मेरे पास हैं, आप उन्हें खरीद सके हो!" तीसरा बोला "मेरे पास मौज शौक की उत्तम २ चीजें हैं, आप क्या खरीदोगे?" सब का विनय देख कर वैश्य को आश्चर्य हुआ। वह सबके सामने हाथ जोड़ कर नम्रता से बोला "आप मुझसे अपना माल खरीदने को कहते हो, परन्तु मैं एक गरीब वैश्य हूं, मेरे पास खरीदने को दाम नहीं हैं!" एक श्रीमान् बोला "ओ हो! तुम वैश्य हो, इतनी ही जामिनगीरी बहुत है, विना दाम ही आप चाहो जितना खरीद सके हो!" दूसरा श्रीमान् बोला "दाम को हम नहीं देखते! मनुष्य को देख कर ही धन्धा करते हैं! यह सच्चा देश है! झूठ छल यहां नहीं चलता! आप विना दाम ही खुशी से काम कीजिये! यहां सब को संकल्प सिद्धि है! संकल्प से ही सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त होता है! धन्धा कीजिये!" वैश्य राजी हो गया और अपने साथियों से बोला "मेरा ढंग लग गया है, मैं इस शहर में रहूंगा, जैसा मैं चाहता था वैसा मुझे मिल गया है, जय गोपाल जी की! मैं जाता हूं!" ऐसा कह कर व्यापारियों के साथ चला गया। यहां के रहने वालों में से एक बोला "तुम दोनों भी जो रोजगार करना चाहो, तो कर सके हो!" प्रथम क्षत्रिय बोला "नहीं! यह मेरा काम नहीं है! मैं राजपुत हूं! मैं अपने सामर्थ्य से विजय कर के ऐश्वर्य प्राप्त करूंगा! मैं धन्धे की झंझट में नहीं पड़ता! रुपये से रुपया कमाना, इसमें सामर्थ्य ही क्या है? न मैं इस शहर में रहूंगा और न धन्धा ही करूंगा!" तब दूसरे क्षत्रिय की तरफ देख कर पुलिस का अधिपति बोला "आप क्या चाहते हो?" दूसरा क्षत्रिय बोला "मैं क्षत्रिय हूं! धंधा करना मेरा काम नहीं! मैं राज दरबार में सरदार, सैन्यापति आदि का कार्य करना चाहता हूं क्यों कि यह भी एक प्रकार का रक्षण का कार्य है!" प्रथम क्षत्रिय बोला "वाह! तू इतना परिश्रम करके, शूरवीरता दिखलाने और ऐश्वर्य प्राप्त करने को मेरे साथ आया था, थोड़े से में संतोष क्यों करता है?" दूसरा क्षत्रिय बोला "मैं इतने ही में संतुष्ट हूं! यह भी क्षत्रिय का ही धर्म है! किसी से मार पीट करेंगे, किसी से लड़ेंगे, क्या खबर हम जीतें या सामने वाला? लड़ते २ मर गये तो सब चाहना मिट्टी में मिल जायगी! तू ही अपने सामर्थ्य की परीक्षा कर! (पुलिस के अधिपति से) आप मुझे किसी योग्य कार्य में लगा दीजिये! (अपने साथी से) भाई! अब मैं जाता हूं, मुजरो!" यह कह कर दूसरा क्षत्रिय पोलिस वाले के साथ मुख्य सूबा के पास पहुंचा और सैन्यापति बन गया, प्रथम क्षत्रियने वहां के लोगों से यह सुना कि यहां से थोड़ी दूर पर अमृतपुर है, जो कोई परदेशी वहां जाता है और विजय करता है, वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

दूसरे दिन क्षत्रिय प्रातःकाल उठ कर वहां से चल दिया। थोड़ा चला होगा, एक विलक्षण पुरुष से उसकी भेट हुई। वह पुरुष मनुष्य दीखता हुआ भी मनुष्य नहीं था! उसने क्षत्रिय से कहा "तुम कहां जाना चाहते हो?" क्षत्रिय ने कहा "मैं अमृतपुर जाना चाहता हूं!" उसने कहा "अमृतपुर जाकर क्या करोगे? तुम अकेले वहां नहीं जा सके! तुम को युद्ध करके विजय प्राप्त करनी होगी! तभी तुमने वहां जाने पाओगे!" क्षत्रिय बोला "मैं इसी कारण वहां जाना चाहता हूं, मैं जो कुछ प्राप्त करूंगा अपने सामर्थ्य से करूंगा! और लौटूंगा भी नहीं!" अमानव पुरुष बोला "वाह! भाई वाह! जब तुम में इतनी हिम्मत है तो मेरा भी धर्म है कि मैं तुम्हारे साथ २ जाकर तुम को वहां पहुंचा दूं!" दोनों साथ साथ चले। एक भारी नदी आई, नदी में अथाह जल था, वहां कोई नाव नहीं थी! तैर करही जाना पड़ता था! दोनों नदी में कूद पड़े! नदी में कूदते ही क्षत्रिय का शरीर दिव्य हो गया और इतना हलका हो गया कि जल पर पृथिवी के समान चलने लगा! दोनों चल कर पार पहुंचे। वहां एक सुन्दर रथ खड़ा देखा! दोनों रथ में बैठकर अमृतपुर में पहुंचे। दरवाजे पर पहुंचते ही वहां के द्वारपालों से क्षत्रिय का युद्ध हुआ!

द्वारपालों को परास्त करके क्षत्रिय शहर में पहुंचा ! वहां के रहने वाले एक सी आयु और वस्त्र वाले तथा समान थे। क्षत्रिय वहां जाकर और महाराज पद को प्राप्त होकर सुखी हुआ। इस प्रकार यद्यपि पांचों मित्र एक साथ घर से निकले थे तो भी अपनी २ योग्यता के अनुसार फल को प्राप्त हुये।

जब मनुष्य को विशेष प्राप्ति की इच्छा होती है और अपनी वर्तमान स्थिति में असंतोष होता है तब वह विशेष प्रवृत्ति में लगता है। असंतोष एक प्रकार का नहीं है, सामान्य, विशेष और तिरस्कार रूप तीन प्रकार का है। असंतोष और अपने सामर्थ्य के अनुसार मनुष्य प्रयत्न में लगता है। पांचों मित्रों को अपनी वर्तमान स्थिति में असंतोष था। पांचों अपनी विशेष उन्नति चाहते थे इस लिये प्रयत्न में लगे। इस प्रकार प्रयत्न में लगने को पुरुषार्थ अथवा पर लोक के निमित्त का शुभ कर्म कहते हैं। तीनों ने जगत् रूप ग्राम को तुच्छ समझकर छोड़ दिया। ग्राम की इच्छा के त्याग रूप नदी से पांचों आगे गये, रूप नगर में पहुंचे। रूप नगर स्वर्ग है, प्रयत्न से वे स्वर्ग में पहुंचे। स्वर्ग प्राप्ति के लिये जो यत्न था वह साकार उपासना रूप है। शूद्र की इतनी ही इच्छा थी, उसने इतना ही कार्य किया और अपनी इच्छा के अनुसार फल पाया। दूसरे वैश्य का भाव सगुण उपासना का था परंतु स्वर्ग के ऐश्वर्य से मोह को प्राप्त होने से, सगुण ब्रह्म का भाव होते हुये भी वह आगे जाने न पाया, स्वर्ग में ही रुक गया। दो क्षत्रिय और एक वैश्य स्वर्ग से आगे चले। बीच में जो नदी आई, वह स्वर्ग की कामना का त्याग रूप थी। उस नदी के पार करने के बाद सुवर्णपुर आया। सुवर्णपुर ब्रह्मलोक रूप था। वहां वैश्य तो अपनी इच्छानुकूल प्राप्त होने से रुक गया यानी वह ब्रह्म लोक की इच्छा से आया था इसलिये इच्छा पूर्ण होने से वहां ही रुक गया। दूसरे क्षत्रिय की इच्छा परम पद प्राप्त करने की थी यानी वह निर्गुण ब्रह्म के उपासक के समान था परंतु सगुण उपासना के फल रूप ऐश्वर्य से पूर्ण ब्रह्मलोक को देख कर वहां ही रह गया, आगे न गया। प्रथम क्षत्रिय वहां से भी आगे चला। बीच में दिव्य अमानव पुरुष से उस का जो मेल हुआ, ज्ञान है। ज्ञान द्वारा मूलाज्ञान रूप नदी को पार अमृतपुर के द्वार पर पहुंचा। सूक्ष्म संस्काराभास वहां के द्वारपालों को जीत कर यानी निर्बीज परम पद को प्राप्त हुआ।

साकार की उपासना करने वाले को, इच्छा और ज्ञान के अनुसार स्वर्ग लोक में प्राप्ति होती है, सगुण ब्रह्म की उपासना यदि से न हो अथवा स्वर्ग की कामना बीच में हो जाय तो दूसरे वैश्य के समान उपासक ब्रह्म को प्राप्त न हो कर स्वर्ग में ही रह प्रथम वैश्य ने सगुण उपासना की थी, उस सार वह सगुण ब्रह्म को प्राप्त हुआ, दूसरे निर्गुण उपासना की थी परंतु सगुण ब्रह्म के लोलुप होने से निर्गुण उपासना से ज्ञान पद की प्राप्ति के बदले सगुण ब्रह्म की ही प्रथम क्षत्रिय ने आरंभ से ही निर्गुण ब्रह्म की इच्छा की, स्वर्ग सुख अथवा ब्रह्म लोक के मोहित न हुआ और अन्त में ज्ञान द्वारा परम ही प्राप्त हुआ।

परब्रह्म में क्या है ? वहां किस प्रकार आनन्द है ? इस के बारे में बहुत से प्रश्न किये हैं। अज्ञानियों को इस का उत्तर क्या दिया इतना ही कहा जा सकता है कि परब्रह्म सब आनन्द का भंडार है ! सर्व से श्रेष्ठ है ! परब्रह्म के बारे में विशेष कुछ लिख नहीं लिख कर समझाया चाहे तो कोई सम सका। अनुभव की बात अनुभव अनुमान का विषय नहीं है, जब सामान्य की बात भी समझाने से यथार्थ समझ में नहीं तब इस अंतिम स्थिति को, जिस ने अनुभव किया है, कैसे समझ सके ? जैसे वंध्या प्रसूति-बालक के पैदा होने के समय का दुःख जाने से यथार्थ मालूम नहीं हो सका इसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप का अनुभव परब्रह्म ही को हो

ज्ञानी किसी भी देव लोकादि के उपभोग

को प्राप्त हुये बिना ही स्वरूप से परम ज्योति को प्राप्त हो कर स्वस्वरूप से आविर्भाव को प्राप्त होता है, मोक्ष काल में ज्ञानी किसी आगंतुक विशेष रूप को प्राप्त नहीं होता। स्वस्वरूप में जाग्रतादि अवस्थाओं से विलक्षण स्थिति है। जाग्रतावस्था में जीव जाग्रत् देह के अंधपने आदि धर्म वाला होता है, स्वप्न में किसी से हत हुआ हो, ऐसा होता है अथवा पुत्रादि के नाश से रुदन करने वाले के समान होता है, और सुषुप्ति में विशेषता के अज्ञान से नाश हुआ हो, ऐसा होता है परन्तु मोक्ष में सब दुःखों से रहित, ज्ञान स्वरूप और पूर्णानन्द में टिका हुआ होता है। मोक्ष अवस्था को प्राप्त हुआ सब प्रकार के बंधनों से मुक्त ही है। 'मोक्ष का फल' ऐसा कहना भी बंध की निवृत्ति मात्र से ही है। ऊपर जो ज्योति कहा है, यह आत्मा को ही कहा है, उस को भौतिक ज्योति न समझना, परब्रह्म अभेद रूप होने से मुक्त पुरुष परमात्मा से अभेद रूप हो कर ही टिकता है, मुक्ति के स्वरूप को निरूपण करने वाले श्रुति वाक्य नदी और समुद्र आदि दृष्टांतों से अभेद को ही दिखलाते हैं।

निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति ब्रह्म स्वरूप है और सगुण ब्रह्म की प्राप्ति रूप ब्रह्म लोक में जो मुक्तता है, उस में ईश्वर के साथ समानता होने से मुक्त में ईश्वर धर्म का आविर्भाव होता है। वहां ऐश्वर्यता का चैतन्य से अविरोध होने से निर्गुण और सगुण दोनों संभवित हैं। पारमार्थिक और व्यवहारिक दोनों सत्तायें क्रम से सत्य और अध्यस्त होने से इन के धर्मों का परस्पर विरोध नहीं है, जो ईश्वर के धर्म हैं, उन से ही मुक्त चिदात्मा में अन्य जीवों कर के व्यवहार किया जाता है इस लिये मुक्त में भी व्यवहार पक्ष में ईश्वर के धर्मों का संभव है, मुक्त संकल्प मात्र से पितृ आदिक स्थानों को प्राप्त होता है।

सगुण ब्रह्मवेत्ता पुरुष के संकल्प की प्राकृत पुरुष के संकल्प से विलक्षणता है। मुक्त पुरुष को तो संकल्प के बल से ही प्रयोजन पर्यन्त भोग साधनों की स्थिरता हो सकी है इस लिये विद्वान् अन्य अधिपति रहित स्वतंत्र गति वाला हो कर सब लोकों में विचरता है, ईश्वर के धर्म इस में होने से इसके संकल्प का भंग नहीं होता, जब विद्वान् शरीरपने का संकल्प करता है तब शरीर वाला होता है, जब अशरीरपने का संकल्प करता है तब अशरीरी होता है, सत्य संकल्प और संकल्प की विचित्रता से ऐसा होता है, ऐसे ही उस के शरीर के अभाव में उस को मोक्ष में भी भोग का संभव होने से विद्वान् को भोग के अभाव का प्रसंग नहीं है। जैसे स्वप्नावस्था में जब शरीर और इन्द्रियों का अभाव होता है तब शरीर, इन्द्रियां और विषय अविद्यमान होने पर भी मन से ही प्रतीति मात्र सूक्ष्म भोग को जीव भोगता है ऐसे ही मोक्ष अवस्था में भी मन से सूक्ष्म भोगों को विद्वान् भोगता है। विद्वान् को शरीर के अभाव में भोग भोगने का अप्रसंग नहीं है, शरीर आदि के अस्तित्व में जैसे जाग्रत् जीव विद्यमान भोगों को भोगता है, वैसे ही मोक्ष अवस्था में अनंत भोग होता है, जैसे एक दीपक अपनी कार्य शक्ति के योग से-अनेक बत्तियों के योग से अनेक दीपकों के भाव को प्राप्त होता है वैसे ही विद्वान् भी विद्या और योग के बल से अनेक शरीर सम्बन्ध को प्राप्त हो कर एक ही समय सब में भोगों को भोग सक्ता है, अनेक शरीर प्रवेश आदि ऐश्वर्य मुक्त पुरुष में है क्योंकि कारण शरीर और कैवल्य दोनों में से एक की अपेक्षा से विशेष ज्ञान का अभाव कहा है इस से सगुण उपासक को सगुण विद्या के सेवन से ब्रह्म लोक में ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

जगत् की उत्पत्ति आदि कार्य शुद्ध ईश्वर का होने से और ईश्वर के ज्ञान पूर्वक अन्य पुरुषों को अणिमा आदि ऐश्वर्य होने के श्रवण से जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार में अधीनपने से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय को छोड़ कर अन्य सब अणिमा आदि ऐश्वर्य मुक्त पुरुषों के स्वाधीन हैं, जगत् की उत्पत्ति आदि कार्य मुक्तों का नहीं है। मुक्त विद्वान् की भोग में स्वाराज्य स्वतंत्रता है, जगत् की उत्पत्ति आदि में नहीं है।

परमात्मा की स्थिति को श्रुति दो प्रकार से कहती है, सविकार और निर्विकार, निर्गुण उपासक अभेद रूप से निर्गुण रूप को प्राप्त होता है और सगुण उपा-

सक, सगुण रूप को प्राप्त होता है, उन में से सगुण उपासक को निरंकुश ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं है किन्तु सांकुश ऐश्वर्य ही प्राप्त है। श्रुति स्मृति परमात्मा को निर्गुणता से ही दिखलाती है, जो परम ज्योति रूप है, नाड़ी और रश्मि के सम्बन्ध से जो देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्म लोक को जाते हैं वे स्वर्ग में गये हुये के समान पुण्य भोग कर फिर जगत् में जन्म धारण नहीं करते, 'ब्रह्म लोक में अर और ण्य इन नाम के दो समुद्र के समान दो अमृत के ह्रद हैं, अन्न का विकार रूप हर्ष का उत्पन्न करने वाला सरोवर है, अमृत की वृष्टि करने वाला अश्वत्थ है, अपराजितापुरी और हिरण्यमय गृह है' ऐसा शास्त्र में कहा है, ब्रह्म लोक का ऐश्वर्य नाशवंत है परन्तु पुनरागमन वाला नहीं है। ब्रह्मा के साथ विदेह कैवल्य को प्राप्त होते हैं, पंचाग्नि विद्या से, अश्वमेध यज्ञ से और सुदृढ ब्रह्मचर्य से जो ब्रह्मलोक में जाता है, वह दूसरे कल्प में पुनः आवृत्ति को प्राप्त होता है, जो अभेद उपासना और तत्व ज्ञान सहित ब्रह्मलोक में जाता है, उस का अपूर्ण रहा हुआ तत्व ज्ञान पूर्ण होकर वह ब्रह्मा के साथ विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है, अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण करने के लिये वहां गुरु शास्त्र की अपेक्षा नहीं है, वहां के शुद्ध वायु से ही स्वतः पूर्ण होता है, और जो नित्य सिद्ध ब्रह्म स्वरूप हुआ है, जिसने इस लोक और परलोक के भोगोंको अनर्थ का समुदाय समझ कर दृढ़ता से त्याग किया है, जो ब्रह्मानन्द में स्थिति कर के टिका हुआ है, वह निस्संशय परब्रह्म को ही प्राप्त होता है, उसका आना जाना और मोक्षका मार्ग तक भी नहीं है, उस का प्राण जहां का तहां व्यापकता में लय हो जाता है, यथार्थ निर्गुण उपासक को ज्ञान द्वारा इसी फल की प्राप्ति होती है।

श्री कृष्ण महाभारत के युद्ध के प्रसंग में पांडव और कौरव दोनों पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले थे। दोनों कोही पक्ष चाहतेथे कि हमको श्रीकृष्णकी मदद मिले। पांडव पक्ष का अर्जुन दैवी संपत्ति वाला, श्रीकृष्ण का सखा था और श्रीकृष्ण को अपना हितचक्षु और श्रेष्ठ समझता था। उसका पक्का निश्चय था कि श्रीकृष्ण जो करेंगे मेरे हितका ही करेंगे। इसके विरुद्ध दुर्योधन जो कौरव पक्ष का था, उसका दूसरी प्रकार का था। वह श्री कृष्ण की मदद था परन्तु श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ नहीं समझता था अपने को श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ मानता था और की स्वयं मूर्ति था, देखता हुआ भी राज्य मद था, राजसु यज्ञ में जो उसकी हँसी हुई थी, श्री कृष्ण कोभी शामिल समझ कर भीतर से जलता था, अपने लोभ में नीति को छोड़ किसी कोभी नमन नहीं करता था, और ऐ झता था कि श्रीकृष्ण एक ग्वाले का लड़का युद्ध में मदद लेना चाहता था। अर्जुन और दोनों ही श्रीकृष्ण से मदद मांगने को उपस्थि श्रीकृष्ण ने चतुराई से उत्तर दिया। श्रीकृष्ण "तुम दोनोंही मेरी मदद चाहते हो, मैं एक दो हो, दोनोंही परिचित और सम्बन्धी हो, को किस प्रकार मदद देसकता हूं? मैं तुम एक बात बताता हूं, तुम दोनों कल आकर मदद की याचना करना, जो प्रथम मेरे पास आ गा, मैं उसकी मदद करूंगा?" दुर्योधन बोला ऐसा नहीं होसकता, तुमको हमारी ही मदद होगी! मैं तुमको छोड़ने वाला नहीं हूं! क्या मुझे इतना मूर्ख समझा है कि मैं तुमको छोड़ अपने कार्य में तुम्हारी मदद न लूं। क्या साथ सम्बन्ध होने का यही फल है? मैं तुमसे दस्ती मदद लूंगा।" श्रीकृष्ण कुछ हँसते हु "दुर्योधन! इसमें कुछ सन्देह नहीं कि तेरा अधिकार है परन्तु विचार, जैसा तेरा है वैसाही अर्जुन का भी अधिकार है, तुम मेरा सम्बन्ध है, दोनों ही मेरे लिये समान हो दोनों में से किसी को भी अप्रसन्न करना नहीं इस लिये ही मैं ने निश्चय किया है कि तुम दो जो मेरे पास प्रथम पहुंचेगा, मैं उसके साथ दुर्योधन बोला "ऐसा क्यों? राज्यहीन, और थोड़े से सैन्य वाले पांडवों के साथ रहने से कौनसी कीर्ति होगी? वे लोग हम को जीत तो वन नहीं सका! फिर ऐसों की मदद अपनी अपकीर्ति करना क्यों चाहते हो? मुझे

दे दो कि तुम मेरी ही मदद करोगे ! तुम्हारी मदद न होगी तो भी हम अवश्य जीतेंगे, मैं जो तुमसे मदद मांगता हूं, अपना कर्तव्य समझ कर मांगता हूं !" श्रीकृष्ण ने कहा "अर्जुन को भी कुछ कहने दो (अर्जुन से) अर्जुन! बोल क्या कहता है ?" अर्जुन बोला "प्रभो ! मैं क्या कहूं ? मेरा तो इतना ही कहना है कि आप को जो अच्छा लगे, वही कीजिये, मैं दुर्योधन के समान जबरदस्ती से ले चलने का दावा नहीं करता, मैं आप को चाहता हूं, मैं आपके बिना अकेला युद्ध कैसे करूंगा ? आप ही विचारिये ! आप प्रत्येक की मदद करने को समर्थ हो ! चाहो जिसकी मदद करने में स्वतंत्र हो!" दुर्योधन बोला "सुनिये! मेरे समान इसका आग्रह नहीं है, तब मेरी मदद करने में तुमको बाधा ही क्या है ? मैं बलिष्ठ हूं तुमको खेंचूंगा, तुम्हारी इच्छा बिना तुमको खेंचने की अर्जुन में सामर्थ्य कहां है ?" श्री कृष्ण दुर्योधन के अभिमान युक्त वचन सुन कर जी में हंसते हुये बोले "सुन! जो मैंने निश्चय किया है, उसको मैं बदल नहीं सक्ता, यदि तुझे मेरे लेचलने की इच्छा हो तो कल बुलाने को आइयो, मैं कहता हूं कि जो प्रथम बुलाने आवेगा उसी की तरफ मैं रहूंगा !" दुर्योधन विचारने लगा "श्री कृष्ण अपने निश्चय को बदलने वाले नहीं हैं, कल मैं बहुत जल्दी से उनको बुलाने आऊंगा, वे मेरी ही मदद करेंगे !" ऐसा विचारता हुआ दुर्योधन चला गया और अर्जुन भी चल दिया । श्री कृष्ण सम भाव वाले होने से जैसा जिसका प्रेम हो उसकी तरफ वैसा ही प्रेम श्री कृष्ण का होता था । दूसरे दिन श्री कृष्ण सो रहे थे, उसी समय अर्जुन से प्रथम दुर्योधन उन के बुलाने को पहुंच गया और श्री कृष्ण को सोता हुआ देख कर उन के सिरहाने की तरफ रक्खी हुई चौकी पर बैठ गया । श्री कृष्ण जान गये कि दुर्योधन आ गया है, अभी अर्जुन आने नहीं पाया है, दुर्योधन के साथ उनको रहने की इच्छा न थी इस लिये अर्जुन की राह देखते हुये चुप पड़े रहे । थोड़ी देर में अर्जुन आया और दुर्योधन को बैठा हुआ देख कर खिन्न हुआ, प्रणाम करके श्री कृष्ण के पैरों की तरफ खड़ा होगया । श्री कृष्ण ने आंख खोली और अर्जुन को सामने खड़ा देख कर कहा "अर्जुन ! तू कब आया ?" अर्जुन के उत्तर देने से प्रथम ही दुर्योधन बोल उठा "प्रथम तो मैं आया हूं" श्रीकृष्ण ने कहा "ठीक है परन्तु मैंने प्रथम अर्जुन को देखा है, मैं अर्जुन के साथ ही रहूंगा !" दुर्योधन क्रोधित होता हुआ बोला "वाह ! छल किया जाता ही नहीं है ! वचन की लगाम ही हाथ में नहीं है !" श्रीकृष्ण ने कहा "जैसा तू है वैसा ही तू मुझे जानता है ! अच्छा ! मैं भी अपने दो भाग करता हूं, एक तरफ मेरा सैन्य, दूसरी तरफ मैं अकेला ! बोल ! मेरा सैन्य लेना चाहता है या मुझको ?" दुर्योधन सोच में पड़ गया और विचारने लगा "एक को लेकर क्या होगा ? जब सब सैन्य मेरी तरफ आ जायगा और एक मनुष्य पांडवों की तरफ रहेगा तो मेरा क्या कर सकेंगे ? किन्तु थोड़ी रोक और लगानी चाहिये !" ऐसा विचार कर बोला "तुम भी युद्ध करने में बलिष्ठ हो, तुम्हारा सैन्य तो मेरा है ही, तुमको भी लूंगा !" श्री कृष्ण ने सोचा "यह जिद्दी है, मानने वाला नहीं है, मुझे अर्जुन के साथ अवश्य रहना है !" ऐसा विचार कर बोले "यदि इस बात से घबराता हो कि मैं तेरे विरुद्ध लडूंगा तो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं युद्ध में लडूंगा नहीं ! शस्त्र भी धारण नहीं करूंगा !" दुर्योधन बोला "तब तुम क्या करोगे ?" श्री कृष्ण बोले "मैं अर्जुन का सारथीपना ही करूंगा !" दुर्योधन मन में प्रसन्न होता हुआ बोला "अच्छा ! तब सैन्य मेरा और न लड़ने की प्रतिज्ञा सहित तुम पांडवों के !" ऐसा कह कर दुर्योधन चला गया । श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने, इसी से कौरवों का नाश हुआ । अर्जुन को ज्ञान का उपदेश मिला और राज्य भी प्राप्त हुआ ।

ऊपर के दृष्टांत से सगुण और निर्गुण उपासना का फल इस प्रकार समझना चाहियेः—अर्जुन अभिमान रहित श्री कृष्ण का भक्त था । उसके वाक्य में निर्मलता और अभिमान रहितपना था । दुर्योधन के वाक्य में अभिमान था । वह लोभवश होकर अभिमान सहित श्री कृष्ण को चाहता था । इसलिये उसकी अभिमान युक्त उपासना से अभेद में भी भेद रखने के कारण ऐश्वर्य अर्थात् सैन्य की प्राप्ति हुई,

डा ब्रह्म लोक के समान है और अर्जुन को निर्गुण उपासक के समान ज्ञान प्राप्त हुआ। निर्गुण ब्रह्म की उपासना में जब अहंकार निर्मल होता है तब यथार्थ फल होता है। सगुण उपासना में कुछ अहंकार रहता है इस लिये सगुण उपासक के व्यक्तित्व का संपूर्ण नाश नहीं होता। ऐश्वर्य की इच्छा से युक्त होने से व्यक्तित्व का नाश नहीं होता, यदि ऐसा हो तो ऐश्वर्य की प्राप्ति किस प्रकार हो? इतना ही सगुण और निर्गुण उपासना में भेद है। निर्गुण उपासना बहुत मात्र की उपासना है। निर्गुण उपासक पाटवी कुँवर के समान है, ज्ञान के बाद वह अखंडित साम्राज्य को ही प्राप्त होता है।

ब्रह्म तरंग।

(गतांक से आगे)

नाटक के तमाशे को टिक टिकी बांध कर क्यों देखता है? यह तो है नाटक का तमाशा! नटनी के हाव भाव और कटाक्ष से मोह को क्यों प्राप्त होता है? अपने स्वरूप से विरोध क्यों करता है? परदा उठा! रंग बिरंग, गान, तान, नाच में क्यों राचता है? फिर परदा गिरा! सुन सान, चुप चाप, अंधेरा घोर! न तुझ पर परदा पड़ा, न तुझ पर से परदा उठा, तू तो ज्यों का त्यों वैसे का वैसा ही है! तब राग द्वेष से तुझे क्या? सामने दीखते हुये नये वेष से क्या? सब चला चली का तमाशा देखता हुआ अपने को अचल अखंडित देख! न तुझे कर्म की लगी रेख है! न तुझे कर्म पर मारना मेख है! न तेरा बदला हुआ वेष है! यह सब नट नटनी का तमाशा अपने ऊपर क्यों लेता है? इसी तमाशे का प्रेम तुझ से बार २ भीख मंगावेगा! अनेक योनियों का वेष धारण करावेगा! तुझे रुलावेगा! मार आवाज:—'मैं सत् स्वरूप हूं' हो जा खड़ा! फैल जा सब में! देख तू पूर्ण सच्चिदानंद है! पूर्ण समृद्धिवान् है!!

दौड़ २ कर थका हुआ भी विश्रांति को नहीं लेता! मेरे तेरे के रस्से से खींच तान कर रहा है! जल को बिलो रहा है! युग युगांतर बीत जाने पर भी तेरे हाथ में तत्व क्या आवेगा? तत्व तत्व में से मिल सका है न कि अतत्व में से! एक खटिया एक रात्रि के स्वप्न से संसार की किंचित् भी विशेष नहीं है! चाहे जितना जाओ, आओ, खाट के साथ हो होते हो, अज्ञान में यह ही सब हाल हवाल है परंतु मालूम नहीं होता कि हम स्थान से जाते ही नहीं! अज्ञानी को अज्ञान हटाना बड़ा मुश्किल होता है! और इतना सहल है अज्ञान का हटना उस सहलपने का कोई दृष्टांत ही नहीं है! त्याग त्याग!! त्याग!!! त्याग से सब कुछ होता है! बिना त्याग कुछ नहीं! त्याग से ही महाराज्य-चक्रवर्ती महाराज्य प्राप्त होता है! राग से कभी नहीं! जिसने त्याग का पूर्ण सहारा लिया उसे अपने आपको ... में देर क्या? उस के लिये अंधेर क्या? चौंक! जाग जा! तू ही तू है!

कैसा सुन्दर रंग आकाश में दीख रहा है! ... पीला, नीला सफेद, गुलाबी, आसमानी! ... भारी चित्रकार भी इस प्रकार के रंग बिरंगे चित्र ... लने में समर्थ नहीं है! कुछ भी देखो! कैसा भी ... असल में है क्या? आकाश है या कुछ और? आ... में रंग जा नहीं सका! आकाश में रंग कोई भर ... सका! आकाश में रंग का संग नहीं! तो भी आ... में रंग देख कर क्यों होता है उमंग? जैसे आकाश ... रंग है, ऐसा ही जगत् का ढंग है! एक सिवाय ... है नहीं! और दीखते हैं अनेक! एक का अनेक ... ही अविवेक है! वस्तु को छोड़ कर मिथ्या को ... पकड़ता है? क्या आकाश के अनेक दीखते हुये ... कुछ काम में आ सके हैं? क्या कपड़ा रंगा जा ... है? नहीं! नहीं! तब उन रंगों से क्या मोहित ... है? सब संसार का यह ही हाल है! आत्म तत्व ... रूप से भरा हुआ है! इस में कल्पना के आ... आदि पांच तत्व और जगत के प्राणी, पशु, ... आदि रंग दिखाव ही दिखाव है! ... हैं! स्वयं चिद्घनानंद में उनका अवकाश ही ... मूर्खों की कल्पना से अबाधित तत्व का ... तो ज्यों का त्यों है! उस का हो उसे ज्ञान! ... कल्पना चित्र पट! विवेक के सामने ... चल नहीं सका!

पढ़ पढ़ कर थाका ! पढ़ा खाक नहीं ! आंखें फाड़ २ अंधा हुआ ! देखने का न देखा ! सुन सुन कर बहिरा हुआ ! सुनने का न सुना ! यह तो कुछ और ही पढ़ना लिखना है ! पढ़ने वाला, पढ़ाई और पाठ जिस में भिन्न नहीं हैं, यह पढ़ना है ! देखना क्या है ? रंग बिरंग नहीं ! अपने स्वरूप को देखना ! एक में ही सब है ! एक में ही संमिलित हैं ! एक ही सत्य है ! ऐसे एक को देखना, देखना है ! तब ही आंतर परदा टूटता है ! माया का खजाना खुट जाता है ! व्यक्ति भाव लूट लिया जाता है ! सुनना क्या है ? सुनते सुनते जगत् भाव से शून्य हो जाय ! सुनने से सुनने समझने की किताब बंद हो जाय ! वही सुनना है ! सुनते २ सुनना बाकी रहा तो कुछ न सुना ! मित्र ! तैयार हो जा ! ऐसा अनुकूल संयोग न मिलेगा ! जगत् का वियोग स्वयं संयोग, अपना ही पाठ पढ़ ! अपने ही तत्व स्वरूप को देख ! सुन कर अपनी ही महिमा का अनुभव कर ! तेरा कल्याण होगा !

धम ! ढोल में पोल ! पोल में से डंडे की चोट लगते ही आवाज निकल पड़ता है ! विचार ! कौन है बोलने वाला ? पोल सिवाय अन्य कुछ दिखला सक्ता है ? इसी प्रकार अज्ञान की पोल में अनेक प्रकार के विविध शब्द हो रहे हैं ! नाच, तमाशा, गाना, मोह, मद और अभिमान ! पोल का कहां ठिकाना ? जहां पोल नहीं, वहां पोल की कल्पना ! आश्चर्य ! अपने स्वरूप का होश खाली करके पोला हो पोल में घुस गया हुआ सब ब्रह्मांड है ! अपनी पोल मिटी, सब पोल यकायक गायब ! सब का अपने ऊपर आधार है ! जहां आधार का बोध हुआ, अध्यस्त गुम ! मिटी सब धाम धूम ! बस ! आनन्द ! वाह ! वा !!

आंख खुलते ही आश्चर्य ही आश्चर्य दीखता है ! क्षण भर में यह क्या हो गया ? कुछ का कुछ हो गया ! तखता ही उलट गया ! आपा आप दीख रहा है ! करना धरना समाप्त हुआ ! कैसा आश्चर्य ! क्या मैं नींद में पड़ा था ! मैंने अनेक जन्मों का अनुभव किया ! सब स्वप्न ही रहा ! अरे ! तब झूठे मूंठ ही दुखी हुआ ! स्वप्न ने मुझे परेशान कर दिया ! फिर भी जरा आंख मूंद कर देखूं, क्या देखता हूं ? आंख मुंदी ! अरे ! प्रथम के झगड़े ज्यों के त्यों दीख रहे हैं ! दीखते रहो ! मुझे क्या ? अब यह स्वप्न मेरा क्या कर सक्ता है ? उस की असलियत मुझ मालूम हो गई ! अब मैं दुखी नहीं हो सक्ता ! अब मुझे झगड़ा लिपट नहीं सक्ता ! आश्चर्य ! आंख मूंदने से कुछ और आंख खोलने से कुछ दीखता है ! अब मुझे बंद अथवा खुली आंख से भी क्या ? जब तक खुली न थी तब तक पुरुषार्थ की आवश्यकता थी ! अब सब ठीक ठीक है ! न मेरा शरीर न मेरी आंख, चाहे रहो, चाहे जाओ, चाहे सब कुछ दीखो या मत दीखो, जो मैं हूं, जो मैंने जाना है, उस का किसी हालत में किसी अवस्था में नाश नहीं है ! प्रत्यक्ष वह ही सब में विराजमान हूं ! धन्य है ! धन्य है ! अविचल तत्व का प्रत्यक्ष अनुभव !

बिना सीढी मैं कितना ऊंचा चढ गया ! बिना पर मैं आकाश से भी ऊंचा उड गया ! अहा ! हा ! क्या देखता हूं ? इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सब ही नीचे रह गये ! अरे ! यह ब्रह्मांड तो एक गेंद सा दीख रहा है ! महान् २ देवता उस में चींटी के समान रेंग रहे हैं ! बड़े २ पहाड़ छुआरे की गुठलियां दीख रही हैं ! नदियां तो छोटी २ अल्पए लकीर हो रही हैं ! अपने शरीरको देखता हूं तो उसमें न हाड़ हैं, न मांस है, न हाथ है, न पैर है, तत्व ही तत्व भरा हुआ है ! कितना लम्बा है ! कितना चौड़ा है ! कुछ पता ही नहीं ! बता ! मैं कौन हूं ? जो हूं सो ही हूं ! न कह सक्ता हूं, न बता सक्ता हूं ! अरे ! जो ब्रह्मांड गेंद दीखता था, वह तो मेरी एक बाल भर जगह में है ! मैं इतना बड़ा ! कभी मुझे ऐसा स्मरण ही नहीं होता था कि मैं इतना होऊंगा ! आजही ठीक पता लगा है ! जगत का भूत करतूत सहित उतर गया ! अपने आप का नशा, चढ गया ! शांति के सागर में तराबोर हो गया ! बस ! हुआ पूर्ण ! हुआ चुप ! क्या कहूं ? किस से कहूं ? ॐ ओऊ म म म् !!!

चर्पट पंजरिका ।

यावद्वित्तोपार्जन सक्त-
स्तावन्निज परिवारो रक्तः ।
पश्चाज्जर्जर भूते देहे
वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥९॥ भज०

अर्थः— मनुष्य जब तक धन कमा कर लाने में समर्थ होता है तब तक उसका परिवार—कुटुम्ब उस के आधीन रहता है—प्रीति रखता है और पीछे शरीर निर्बल होने से जब कमाने में असमर्थ होता है तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता । इस लिये गोविन्द का भजन कर।

भाषा पद्य ।

धन लाने में समरथ जब तक।
प्रीति करें हैं घर के तब तक ॥
पीछे जब तनु जर्जर होई ।
घर में बात न पूछे कोई ॥९॥ भज०

विवेचन

संसार में जितना सम्बन्ध है, सब स्वार्थ का है । सम्बन्ध चाहे मित्रता का हो, कुटुम्ब का हो, या स्त्री पुत्र आदिक का हो, कोई भी सम्बन्ध स्वार्थ रहित नहीं है । जैसे चैतन्य दीखते हुये प्राणियों का सम्बन्ध स्वार्थ रहित नहीं है वैसे ही जड़ों का सम्बन्ध भी स्वार्थ रहित नहीं है, जड़ से सम्बन्ध रखने वाला प्राणी अपने स्वार्थ के लिये जड़ से सम्बन्ध रखता है, जो जड है, उस में अंहभाव न होने से वह स्वार्थ कर नहीं सक्ता परन्तु जहां प्राणियों का प्राणियों से सम्बन्ध है, वहां दोनों का परस्पर स्वार्थ मिला हुआ होता है, जो कोई किसी को चाहता है, अपने स्वार्थ से ही चाहता है । यह नियम मनुष्यों में ही हो, ऐसा नहीं है, पशु पक्षी आदिक तुच्छ प्राणियों में भी यह ही नियम है, जल रहित नदी को मछ-लियां त्याग देती हैं, सूखे वृक्ष को पक्षी छोड़ देते और दुष्काल के समय में मनुष्य अपने ग्राम भू आदिक को छोड़ कर भाग जाते हैं, जिस समय स्वा की सिद्धि होते नहीं दीखती उसी समय प्यारे प्यारे को भी छोड़ देते हैं, इस लिये स्वार्थ का संसा कहा जाता है, लोग प्रति दिन इस बात का अनुभ भी करते हैं परन्तु यथार्थ में स्वार्थी संसार के स्वा को भूल जाते हैं, स्वार्थ भी एक प्रकार का नहीं कई प्रकार का है, जिस किसी से किसी प्रकार भी स्वार्थ होता है उसी से सम्बन्ध–प्रेम–मेल होता इस संसार में सब प्रकार के स्वार्थ का हेतु धन धन से सांसारिक स्वार्थ की सिद्धि होती है और कोई तो यहां तक कहते हैं कि स्वर्गलोक की सि भी धन से ही होती है । दया, दान, धर्म, यज्ञ, परोपकार के कार्यों में मुख्य धन ही है धन हो और सामग्री प्राप्त हो सक्ती है, सारांश यह है संसार में जैसा उपयोगी धन समझा जाता है, उपयोगी अन्य कोई पदार्थ नहीं समझा जाता।

मनुष्य जन्म लेकर जैसे २ बढ़ता जाता है, संसार की तरफ विकाश वाली होती जाती है, उसे सुख प्राप्त करने की इच्छा होती जाती है, समझ के अनुसार अन्य को सुखी मानकर वैसी करता है कि इस के समान मुझे भी प्राप्त हो, जब देखता है कि उस इच्छा के पूर्ण करने का सामग्री अवस्था मुझ में नहीं है तब बाल्यावस्था में दुखी होता रहता है, जब युवान होता है तब प्राप्त करने की इच्छा से अनेक प्रकार के उद्यम में जाता है, जैसी जिस की बुद्धि होती है, जैसी की योग्यता होती है और जिस प्रकार के सह संयोग प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार के उद्यम में लगता है, कभी उद्यम निष्फल होता है, कभी फल होता है और कभी इच्छानुकूल पूर्ण फल होता है, जब उद्यम निष्फल होता है तब फिर यत्न करता है, अर्ध फल वाला भी पूर्ण फल के लिये प्रयत्न करता है और पूर्ण फल वाला विशेष फल लिये प्रयत्न में लगता है, इस प्रकार सब ही करते हैं, किसी को न्यून किसी को बहुत

मिलना प्रारब्ध के अनुसार होता है, जो जितनी कमाई करके लाता है उतना ही स्त्री पुत्रादिक कुटुम्बी जिन में उस कमाई का उपयोग होता है, उसे चाहते हैं। कुटुम्बियों का जिस व्यक्ति से अधिक लाभ होता है, उस को वे विशेष चाहते हैं इसी से कहा जाता है कि कमाऊ बेटा सब को प्रिय होता है।

जब तक घर का बोझ शिर पर नहीं पड़ता तब तक ही विद्या हुनर आदि जो कुछ सीख लिया हो, वह ही सीखने पाता है, पीछे जब घर चलाने का जुआ कंधे पर आ पड़ता है तब किसी न किसी उद्यम में ही लगना होता है क्योंकि धन विना संसार में निर्वाह नहीं होता। कहा है कि धन से नीच कुल वाले उच्च कुल में गिने जाते हैं, धन से बहुत सी लौकिक विपत्तियों से भी मनुष्य बच जाता है, हित करने में श्रेष्ठ ऐसा धन के समान और कोई बांधव नहीं है इस लिये धन संपादन करो। घर के कुटुम्बी माता, पिता, भाई, भतीजे, स्त्री, पुत्र, बहिन, भोजाई जो निकट के संबंधी हैं, जो अपने सुख के साधन हैं, वे भी अपना स्वार्थ लेकर ही प्रीति करते हैं। शास्त्र में जिन्हें गौणात्मा कहा है, ऐसे पुत्रादिक भी पिता पर जो प्यार करते हैं तो स्वार्थ से ही करते हैं। जो अच्छी कमाई करता हो, माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक का भरण पोषण करता हो, जेवर बनवाता हो, ऐसा पुत्र पति, पिता प्यारा लगता है। कांचन में जगत् की प्रसन्नता है। धन प्राप्ति में अनेक प्रकार का परिश्रम है तो भी उसे सहन करके जब तक कुटुम्बी और मित्रादि के काम में आता है तब तक वह सब का प्यारा बना रहता है, सब उस पर प्रेम करते हैं, उस की इज्जत करते हैं और उसी को कुलीन समझते हैं, सब सम्बन्धी आज्ञा उठाने को तत्पर रहते हैं परंतु जब कमाई करने से रहित हो जाय, शरीरादिक खंडित हो कर कमाई करने योग्य न रहे तब वे ही कुटुम्बी जिस को सब से अधिक प्यारा समझते थे, उस पर ही तिरस्कार की वर्षा करने लगते हैं। जगत् नाटक में जहां प्रेम, विनोद का परदा पड़ा हुआ था, वहां से वह परदा उठ जाता है और उसके स्थान पर शोच, कलह, उदासीनता और तिरस्कार का परदा पड़ जाता है। श्रुति में भी कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, राजा, देवता और वेद प्राणी मात्र को अपने निमित्त ही प्रिय होते हैं। निधन जिससे अपने स्वार्थ की सिद्धि न हो, वह किसको प्यारा लगे? मनुष्य मनुष्य को नहीं पूछते, धन वाले को पूछते हैं, जिससे अपने खान पानादिक स्वार्थ की सिद्धि हो, वही पूछा जाता है। जगत् में यहां तक देखा है कि सद्गुणी, भजन करने वाले पिता पुत्र अप्रिय होते हैं और दुर्गुणी, ढोंगी, ठग, चोरी करके भी धन ले आने वाला हो तो प्रिय होता है। जगत में इतनी अंधता फैली हुई है कि अपने स्वार्थ के सामने संबंध तुच्छ समझा जाता है, धर्म को अधर्म मानते हैं, शास्त्र और सत्पुरुषों के वाक्यों को भी नहीं सुनते! उन को तो स्वार्थ और स्वार्थ सिद्धि का साधन रूप कांचन ही प्यारा होता है। धन रहित का जीवन व्यर्थ है क्यों कि धन विना स्वयं उसके कुटुम्बी भी कुटुम्बी नहीं रहते।

ऐसा होने परभी कुटुम्ब में मोह करना दुःख का ही हेतु है। मोह अन्धकार रूप है, कुटुम्बी उसके पात्र हैं, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि में लगी हुई आसक्ति ही पुनर्जन्म और नरक में जाने का हेतु है, मोह, अंधकूप के समान होने से, स्वयं नरक रूप है। उसके संग का फल भी नरक प्राप्ति रूप ही होता है। जब तक शरीर में सामर्थ्य है, धन कमाने की शक्ति है तब तक ही हम सब को प्यारे लगते हैं। जब शरीर का सामर्थ्य घट जाता है, धन कमाकर लाने की शक्ति नहीं रहती, अथवा शरीर से अंग रहित होते हैं, जरा अवस्था से घिर जाते हैं तब घर में कुछ इज्जत नहीं रहती, किसी बात की सलाह सम्मति में भी कोई अनुमति नहीं लेता। घर में सब नाखुश रहते हैं, बेकार मनुष्य समझते हैं, कोई सुख दुःख को भी नहीं पूंछता। फालतू मनुष्य शिर पर बोझा रूप समझा जाता है। शक्तिहीन अवस्था में स्त्री पुत्रादिक भी पागल बताते हैं। 'बुड्ढे की बुद्धि बिगड़ गई है! साठी बुद्धि नाठी! रात भर यों २ किया करता है, घर वालों को सुख से सोने भी नहीं देता, जब देखो तब बकता ही रहता है!' इत्यादि अनेक कुवचन सुनाते हैं। जो लाख

का था, असमर्थ होने से कौड़ी का भी नहीं समझा जाता ! आज कल के छोटे २ लड़के और आई हुई बहुयें बुड्ढे को तिरस्कार करते हैं । बुढ़ापे में ये बातें सहन नहीं होतीं, अत्यन्त दुःख होता है परंतु असमर्थ होने से कुछ कर नहीं सक्ता। जो कोई सज्जन कुटुम्बी होते हैं, वे मुख पर तो कुछ नहीं कहते परंतु जी में दुखी ही होते हैं। आज कल के तो बुड्ढे के मुख पर सुना देते हैं 'मरता भी नहीं ! पीछा ही नहीं छोड़ता !' कोई २ हृदय में प्रेम न होते हुये लोक लज्जा के डर से ऊपर २ का कुछ काम कर देते हैं, बनावटी प्रेम दिखलाते हैं और कई स्थानों पर तो जैसे कुत्ते को रोटी फेंक देते हैं इसी प्रकार बुड्ढे का निरादर करते हैं। यदि कोई कहे तो कह देते हैं कि क्या करें ? यह मलिन रहता है, चोके में उसे किस प्रकार भोजन करावें ? और कई निर्लज्ज स्त्री पुत्र तो बुड्ढे को रोटी तक नहीं देते! बुढ़ापे के जीवन में जैसी विपत्ति और जो २ दुःख होता है, उसका यथार्थ बोध तो बुड्ढे ही को हो सक्ता है। बुढ़ापे में तृष्णा बढ़ जाती है, बुड्ढा ऐसा चाहता है कि कुटुम्ब वाले मेरी इज्जत करें किंतु कुटुम्ब वाले उलटी उस की बेइज्जती करते हैं ! घर में कोई बात नहीं पूछता इस लिये हे सज्जनो ! यदि तुमको इस प्रकार के कष्टों से बचने की इच्छा हो तो जिस समय तुम में सामर्थ्य है इसी समय से ईश्वर का शरण लो, ईश्वर का भजन करो, भजन से ही तुम्हारा उद्धार होगा। कुटुम्बियों का भजन बुढ़ापे में अथवा मरण के समय कुछ काम नहीं आवेगा ! सच मानो, जिन्हें तुम अपना कहकर प्यार करते हो और वे जो तुमको अपना समझते हैं, वह सब स्वार्थ से है ! तुम्हारा कोई नहीं है, तुम्हारे काम में आने वाला कोई नहीं है, तुम चाहते हो कि बुढ़ापे में भजन करेंगे, यह बन नहीं सक्ता क्यों कि जहां कष्ट होता है, वहां आंतर में मन जला करता है, तो भजन कैसे होगा ? जब शरीर और इन्द्रियां शिथिल हो जांयगी तो ईश्वर का भजन कैसे होगा ? बुढ़ापे में थोड़ा बहुत भजन वह ही कर सक्ता है, जिसने कुटुम्ब आदिक की आसक्ति को कम कर के सशक्त शरीर में भजन किया होगा। सभी बुड्ढे होते हों, यह नियम भी नहीं है, बहुत से बुढ़ापा आने से प्रथम ही काल के धाम में जाते हैं इस लिये प्रथम से ही भजन में चाहिये।

हाय ! सुख रूप देखने में आता हुआ किस २ प्रकार के दुःख उत्पन्न करता है ! सु वाले सम्बन्धी भी हमेशा स्वार्थ के वश कैसा२ दुःख उत्पन्न करते हैं ! यदि कोई वर्षा की गिनती करना चाहे तो कदाचित् करसी सके इस दुःख का कोई माप निकाल नहीं सक्ता ! का प्रेम कैसा है ? प्रथम यह विचार में नहीं इस लिये जब तक सामर्थ्य रहता है तब तक परिवार में ही सब प्रकार की प्रवृत्ति हुआ ऐसी प्रवृत्ति वाले को ईश्वर भजन नहीं सूझ जब बुढ़ापे में अनेक कष्ट पड़ने से सूझता है हो नहीं सक्ता ! इस प्रकार बहुत जन्मों के हुआ अनमोल्य मनुष्य जन्म व्यर्थ ही जा विद्वानों ने निश्चय किया है कि धन से जि होता है, उससे अनर्थ विशेष होता है। ऐसे होने वाली कुटुम्ब की प्रीति अनर्थ और क्लेश करे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कुटुम्बियों संभाल करने और उनको अपने अनुकूल ईश्वर का भजन नहीं होता और अनेक ज का अधिकारी होना पड़ता है और अशक्त स्त्री पुत्रादिक के अपमान से, खाने पीने की से और आशा के तरंगों से-पश्चात्ताप से शेष दुःखमय व्यतीत होता है।

प्रेमीलाल नाम का एक वैश्य था । उसके पुत्र थे और तीन लड़कियां थीं, वैश्य स्थिति का मनुष्य था, एक छोटी सी दु अपना निर्वाह करता था। प्रारब्ध वश उस का चेता और छोटी दुकान के बदले बड़ा गया। आड़त का काम खूब चलने लगा, भी दो दुकानें खोली गईं, थोड़े ही दिनों लक्षाधिपति हो गया। जैसे २ वह पैसे में गया पैसे २ कुटुम्ब में भी बढ़ता गया। कुटु में उसकी पूर्ण आसक्ति थी । व्यवहारिक कहा जाय तो वह कुटुम्ब-वत्सल था। लड़के

थे, उनको वह लाड़ लड़ाता था, जो कुछ वे मांगते थे, वह ही देता था, यहां तक कि उनकी किसी प्रकार की मांगनी क्यों न हो, उसको पूरा करने में चूकता न था। इस लिये सब बाल बच्चे प्रसन्न रहते थे, स्त्री भी प्रसन्न थी। भाई भतीजे आदिक अन्य कुटुम्बियों को भी वह धन से, पदार्थों से प्रसन्न रखता था इस लिये उस को सब प्यार करते थे, कुल का दीपक समझते थे, ज्वार भाटे के समान लक्ष्मी का हाल है, आती है तो सब तरफ से चली ही आती है और जाने लगती है तो जाने में भी देर नहीं होती, चारों तरफ से खिंच कर चली जाती है। प्रेमीलाल का सितारा थोड़े वर्ष चमक कर मन्द हो कर लुप्त होने की तैयारी में था। लड़के इस समय बड़े हो गये थे परन्तु अभी तक कुछ कमाई नहीं करते थे क्योंकि अत्यन्त लाड़ में रहने से पढ़े लिखे न थे, सद्गुण और विवेक भी न था। प्रेमीलाल के धन्धे में टोटे पर टोटा होने लगा। पुत्रादिक की मांग घटी नहीं, उलटी बढ़ती गई। प्रेमीलाल हीन दशा में भी उनको नाखुश करना नहीं चाहता था, उधार लाला कर देता रहा। थोड़े दिनों में लोगों का कर्जा बढ़ गया, दुकान गोदाम सब टूट गये, स्त्री ने जो कुछ ले लेकर जमा किया था, दाब बैठी, मकान जागीर जो कुछ खरीदी गई थी सब कर्जे वालों ने ले ली, प्रेमीलाल धंधे से रहित हुआ। विस्तार वाले कुटुम्ब को नित्य खाने को तो चाहिये ही, वह न होने से घर में रोज टंटा होने लगा। जो स्त्री प्रेमीलाल पर बहुत प्रेम करती थी, अब वह ही दहकते हुये अँगारे के समान उसे जलाती थी, कटु वचन सुनाती थी। पुत्र भी प्रेम से नहीं बोलते थे। जो कहता सो ला, ला, ही कहता था, प्रेमीलाल धन्धे के लिये बहुत प्रयत्न करता था, परन्तु धन्धा नहीं लगता था। अच्छी हालत में जो जो कुटुम्बी उसके पास से धन-माल ले जाते थे और अपना काम निकालते थे, अब वे ही लक्ष्मी देवी की अकृपा देख कर रूठ गये। प्रेमीलाल उन से मिलने जाता तो वे लोग मुख छिपा लेते थे। कोई प्रेम से न बोलता, प्रेमीलाल को देखते ही समझ जाता था कि कुछ मांगने को आया है। अन्त में सब प्रकार से दुखी होकर उसने किसी के यहां नोकरी करने का निश्चय किया। धन के नाश और कुटुम्बियों के त्रास से उसकी बुद्धि विचलित हो रही थी, शरीर से अशक्त हो गया था, और बुढ़ापे के द्वार में घुस चुका था। धनाढ्यावस्था में उसका शरीर अत्यन्त सुकुमार हो गया था, भला नोकरी क्या कर सक्ता था? दुःख पड़ने से इन्द्रियां शिथिल हो गई थीं! आंखों से कम दीखने लगा था, उस की सूरत देखते ही नोकरी रखने वाला नोकर रखने को मने कर देता था। बिचारे ने साल भर दुःख से काटा! 'अब कुटुम्ब का क्या होगा? मेरा जीवन कैसे बीतेगा?' ऐसी चिन्ता से उसे कुछ सूझता न था, सब प्रकार से तिरस्कार होने पर कुटुम्बियों की तरफ का प्रेम निवृत्त नहीं होता था। शरीर की शक्ति घट गई थी, खाट पर पड़े रहने के सिवाय उससे और कुछ नहीं होता था। जब सब अंग अशक्त हो गये थे तब चिन्ता और कुटुम्ब का त्रास प्रबल हो गया था। दांतों से खाया जाय नहीं, घर वाले तिरस्कार सहित बासी कूखी रोटी के टुकड़े खाने को दें, बिचारा शिर पीटे, रोवे परन्तु निर्दय कुटुम्बी स्त्री पुत्रादि को दया न आवे! पड़ोस वाले जब स्त्री से कहें कि बुड्ढे को दुःख न दो तब जवाब देने में निपुण स्त्री उत्तर देती "मैं कहां से खिलाऊं? साल भर तो बैठे २ खिलाते हो गया! कुछ लाया हो तो बतावे? खटिया तोड़ता रहता है, बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, क्या अपना मांस काट २ कर खिलाऊं? हमारे घर की बात हम ही जानते हैं, तुम क्या जानो? नहाय न धोवे, मैला रहता है, खों २ किया करता है, हम उसकी सार संभाल कहां तक करें? जरा जरा सी बात पर बकने लगता है! वह तो चाहता है कि घर में बैठा २ देवता के समान पूजा जाऊं, कुछ घर में धरा होय, या लाता होय तो खिलावें! बच्चे छोटे २ हैं, अभी काम धन्धे में लगे नहीं हैं! मेरे पास जो था सो सब खिला चुकी हूं!" ऐसे वचन सुन कर पाड़ पड़ोसी चुप हो जाते थे।

एक दिन प्रेमीलाल को बुखार आया, खाट पर पड़ा २ चिल्लाने लगा। स्त्री और लड़कों में से कोई पास न

आया! बिचारा पानी मांगते २ थक गया, किसी ने पानी न पिलाया। कै पर कै हुई, उठने की शक्ति थी नहीं, खाट पर बैठे २ नीचे कै करदी। थोड़ी देर में दस्त आने लगे, उठ कर जाना चाहे परन्तु जाया न जाय, जाने लगा तो खाट के नीचे गिर गया, वहां ही टट्टी हो गई। बे होश हो कर गिरा तो भी किसी ने खबर न ली, शिर में चोट आ गई। थोड़ी देर बाद होश आया तब 'पन्ना पन्ना' कर के बड़े लड़के को पुकारने लगा। पन्ना आया तो सही परंतु दुर्गंधि के मारे पास न आते हुये दूर से ही भाग गया। बुड्ढे की बात सुनने को भी खड़ा न रहा, जाकर अपनी मा से कहा। वह वहां से विकाल बाघनी के समान स्वरूप धारण करके दन दनाती हुई बुड्ढे के पास आई। कै लोहू और मल से लिपटे हुए बुड्ढे को नीचे पड़ा हुआ देख कर बोली "मरता भी तो नहीं है! पीछा ही नहीं छोड़ता! इस गंदगी को कौन उठावेगा? सड़ा कर उसमें! क्या तू ने मुझे भंगन समझा है? पड़े पड़े खाना और हगना यह ही धन्धा ले बैठा है!" बुड्ढा बोला "बात बात में क्यों चिड़ती है? मेरी हालत तो देख? बुखार चढा हुआ है! मुझ में सामर्थ्य नहीं है, पानी मांगा, किसी ने न दिया! पराये मनुष्य भी तो ऐसे निठुर नहीं होते!" स्त्री मुख बिगाड़ कर बोली "हां! निठुर हैं तो निठुर ही सही! कमाई करके थोड़ा ही खिलाता है! गुलाम रखते हैं तो उसे भी खिलाना पड़ता है! बिना खिलाये मैं तेरी गुलामड़ी नहीं हो सकी! जा मर जा! मुझे तुझ से कुछ काम नहीं है!" ऐसा कह कर स्त्री वहां से चली गई। पास वाली एक परोपकारिणी बाई ने ये बातें सुनीं, वह बुड्ढे के पास आई और कहने लगी "प्रेमी का का! आप की यह क्या हालत है?" बुड्ढा शिर पीट कर बोला "बेटी! करमों का भोग है! जब मेरे पास धन था तब सब लेने के लिये तैयार थे! अब घर की स्त्री भी बात नहीं पूंछती!" बाई बोली "काका! घबराओ मत! मैं पानी लाकर सब साफ करे देती हूं, और आपको खाट पर सुलाती हूं!" यह कह कर बाई दौड़ी २ गई, पानी ले आई, सब साफ किया, बुड्ढे ने हाथ पानी लिया, बाई ने माथे का रक्त धो डाला और खाटपर सुला दिया और कहा "काका! कुछ खाने की इच्छा हो तो कहो, मैं ले आऊंगी!" बुड्ढा बोला "नहीं! मुझे कुछ नहीं है, लोटे में पानी ला दे!" परोपकारिणी ने ऐसा ही किया। बुड्ढा थोड़ा निश्चिंत हो कर सो गया, तीन रोज तक उस ने कुछ खाया नहीं, चौथे दिन बुखार न आया तब उस ने घर में से खिचड़ी खाने को मांगी, स्त्री ने खिचड़ी भी बना कर न दी। परोपकारिणी कुछ खिचड़ी बना कर ले आई, बुड्ढे ने दो चार ग्रास खाये और परोपकारिणी को आशीर्वाद दिया। बुड्ढे के दो लड़के इस समय में रुपये कमाने लगे थे परन्तु वे भी बुड्ढे को कुछ देते न थे। कभी सूखा टुकड़ा मिले कभी परोपकारिणी बाई दे जाया करे, इस प्रकार बुड्ढा दुखी दिन काट रहा था, एक दिन बुड्ढे ने बड़े लड़के को बुला कर कहा "पन्ना! मेरी धोती फट गई है, मुझे एक धोती ला दे!" पन्ना बोला "मैं धोती कहां से लाऊं! मुझे तनखा मिली नहीं है, अम्मां दो रुपये देकर मुझ से आठ रुपये छीन लेती है, दो रुपये तो मुझे खर्च को चाहियें! तुम को धोती का क्या काम है? तुम्हें कहीं बाहर जाना तो है नहीं!" बुड्ढे ने स्त्री से धोती मांगी। स्त्री खाने तक को तो देती ही न थी, धोती का नाम सुनते ही नाक भौं चढा कर बोली "धोती यहां कहां धरी है, यों ही पड़ा रहा कर, लड़कों की कमाई से घर का खर्च तो चलता ही नहीं, आज यह ला, कल वह ला, आज यह खाऊंगा, कल वह खाऊंगा, अभी तक तेरी हविस ही नहीं गई! न जाने मेरे कौन से करम का भोग उदय हुआ है, ईश्वर ने तुझ सरीखे हीन कमाऊ बुड्ढे पति को मेरे शिर पर मढा है, मैं धोती फोती कुछ नहीं देती, तुझ से न रहा जाय तो निकल जा घर में से! रात दिन टांय २ किया करता है, मान चाहता है, इज्जत चाहता है, वे दिन गये! कुछ ले आता होता, कपड़ा लत्ता कुछ बनवाता होता तो तेरे हुक्म को उठाते, अब तो हमारा हुकुम उठाना पड़ेगा, हम कहेंगे सो ही करना पड़ेगा, तब ही रोटी मिलेगी! क्या करूं?, मैं तो रोटी तक न देती परंतु बे इज्जती के डर से देनी पड़ती है!" बुड्ढा भी ताव में आकर बोला "जिन्दगी भर लेती रही, खाया, पिया, जेवर बनाया, सब कुछ

किया कराया मिट्टी में मिल गया ! बुढ़ापे में अब मुझ से क्या हो सका है ?" स्त्री आंख निकाल कर बोली "पेट के बाल बच्चों का थोड़े दिन पोषण किया, उस में किस पर अहसान किया ? जब लाता था तब हम से आराम में भी पाता था, कुछ तूने जमा कर रक्खा है ? क्या खजाना भरा हुआ है ? लाया और गया, हमारे पास कहां रहा ? हम तुझे कहां से दें ? तेरी लड़ी २ बातें हम नहीं सुनेंगे !" बुड्ढा स्त्री के स्वभाव को जानता था, विचारा चुप हो गया। चुप न होता तो उसी समय स्त्री खटिया सहित बुड्ढे को बाहर निकाल देती। ऐसा प्रसंग प्रति दिन आता था, किसी दिन बुड्ढे को समय पर और खा सके ऐसा खान पान नहीं मिलता था। कपड़ों का दुःख अलग, मच्छरों का दुःख अलग, मनुष्य शरीर में ही उसे नरक के दुःख का अनुभव होता था। लड़के लड़कियों में से न तो कोई बुड्ढे के पास आता, न कोई उसका काम करता था। उन लोगों ने तो घर के बाहर के भाग में कोई भूत बैठा हो, इस प्रकार समझ रक्खा था। बुड्ढे को परोपकारिणी बाई का ही कुछ सहारा था। वह घर वालों से डरती थी क्यों कि बुड्ढे का कार्य करते हुये देख कर वे उसे भी कटु वचन सुनाते थे। सारांश यह है कि बुड्ढा सब प्रकार से निराश और दुखी था। परोपकारिणी बाई उससे ईश्वर का भजन करने को कहा करती थी परंतु अनेक चिंताओं से जलती हुई होली में बुड्ढे से भजन किस प्रकार हो ? बुड्ढे से भजन न हुआ और अंत में दुःख पाकर बुरी हालत से मरा !

जितना दुःख बुड्ढे का ऊपर वर्णन किया गया है, प्रत्येक को इतना ही दुःख भोगना पड़ता हो, यह नियम नहीं है। घर वालों के स्वभाव के अनुसार दुःख होता है। कुटुम्बी सज्जन होते हैं तो दुःख कमती होता है परन्तु सज्जन कुटुम्बियों का संबंध भी दुःख रहित नहीं होता। वे प्रत्यक्ष में तिरस्कार नहीं करते, ऊपर से हांजी हां किया करते हैं परन्तु हृदय में उनको भी प्रेम नहीं होता। नई आई हुई बहुओं को तो बुड्ढों पर प्रेम हो ही कहां से ? वे तो बुड्ढों का काम बेगार समझती हैं, अरे ! बेगार से भी तुच्छ समझती हैं क्यों कि बेगार में तो अधिकारियों का दबाव होता है, बुड्ढों के कार्य में तो किसी का दबाव भी नहीं होता। कोई बुड्ढा कुछ कहे तो समझती हैं कि कौवे के समान टें २ किया करता है। जगत् की आसक्ति वाले को बिना स्वार्थ कार्य करना इसी प्रकार का होता है। शास्त्रों का वचन है कि बुढ़ापे में माता पिता की सेवा करना चाहिये परन्तु शास्त्र के वचन को कलियुग की प्रजा मानती ही कब है ? कई तो लोक लाज से बुड्ढे बेकार मनुष्यों का काम करते हैं, कई धन के लालच से काम करते हैं। जिस किसी ने धन कमा कर रक्खा हो, उसके कमाये हुये धन से सब का पालन पोषण होता हो, और सब धन कमाने में अशक्त हों, उस का काम तो होता है परन्तु उस पर प्रेम कोई नहीं करता। जो कोई बुड्ढा अपना सब धन लड़के बालों को सौंप देता है तो वे उसे अपना समझने लगते हैं और उस में से खर्च होने में ऐसा समझते हैं कि हमारा धन कम होता है इस लिये बुड्ढे के लिये खर्च नहीं करते। जब बुड्ढा कहता है कि मेरी कमाई का है तो लड़के उत्तर देते हैं कि अब तेरा कहां है ? वह तो हमारे प्रारब्ध का था, हमारे पास आगया। अब तो हमारा ही घटेगा ! तेरा क्या घटेगा ? विवाह, शादी, लेन देन, सलाह मशोरे में भी बुड्ढे को कोई नहीं पूछता। बुड्ढा ऐसा देख कर अपने जी ही जी में जलता है। कमाई करके रखने वालों का भी जब यह हाल है तब जिसने कुछ रक्खा नहीं है, उसके दुःख का क्या ठिकाना ? कमाई रहित पति को पत्नी घर से निकाल देती है, बूढ़ी स्त्री पर पति का प्रेम नहीं होता और पुत्र पुत्रियां भी बुड्ढे पिता को घर से निकाल देती हैं। इस अवस्था में ईश्वर सिवाय अन्य कोई सहारा नहीं देता। ईश्वर भी इस समय रूठ जाता है, प्रथम न भजने से बुढ़ापे में भजा नहीं जाता। कष्ट जितना हो उस से भी विशेष प्रतीत होता है। जन्म और मरण के दुःख को सब निकृष्ट बताते हैं परन्तु बुढ़ापे के दुःख को देखते हुये उसके सामने जन्म मरण का दुःख भी तुच्छ है !

यदि किसी सज्जन स्त्री पुत्रादिक से दुःख न भी हो तो शारीरिक दुःख तृष्णा और चिन्ता का दुःख

बुढ़ापे में कुछ कम नहीं है। उस दुःख से भी बुड्ढा मनुष्य जलता ही रहता है, ईश्वर भजन करना नहीं चाहता और चाहे तो भी हो नहीं सका। जिसने प्रथम अवस्था में भजन किया हो, कुटुम्बियों की ममता कम करदी हो, उसी से बुढ़ापे में भजन हो सका है इसी लिये आचार्य कहते हैं कि हे मूढ ! तू अपने बाल बच्चों, कुटुम्ब, धन और सम्पत्ति पर अनेक आशायें बांध कर क्यों बैठा हुआ है ? बुढ़ापे में वे कुछ काम नहीं आवेंगे ! तू उनके भरोसे मत बैठ, बुढ़ापे में वे तेरी बात भी नहीं पूछेंगे ! उसके बाद की मरणावस्था में भी वे काम न आवेंगे ! उस समय तो ईश्वर भजन ही काम आवेगा इसलिये समर्थ अवस्था में ही ईश्वर का भजन कर ! बुढ़ापे का आना भी निश्चित नहीं है क्यों कि जैसे कमल के पत्ते पर जल का बिन्दु नहीं टिकता इसी प्रकार आयुष्य चंचल है ! जैसे बिन्दु के गिरने में देर नहीं लगती इसी प्रकार शरीर के गिरने में भी देर नहीं लगती इस लिये निर्मल मन से शरीर और कुटुम्बियों की विशेष आसक्ति को छोड़ कर ईश्वर भजन में लग जा ! ईश्वर भजन से संसारी दुःख न्यून होता है और परलोक भी सुधरता है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से ईश्वर प्रसन्न होता है इस लिये शम, दम आदि साधनों से युक्त हो कर ईश्वर को भजना चाहिये। बुद्धि की जड़ता से यदि ईश्वर का सूक्ष्म स्वरूप समझ में न आवे तो स्थूल रूप का ही भजन करना चाहिये, इस से भी संसार का बंधन शिथिल होता है, आयुष्य सुख से व्यतीत होता है और जो माया और चैतन्य का विवेक करके ईश्वर का भजन नहीं करता, उसके ऐहिक और पारलौकिक दुःखों की निवृत्ति नहीं होती इस लिये ईश्वर का भजन ही सार है !

शुकाष्टक।

मन्दाक्रान्ता छन्द।

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्ट सन्देह वृत्तेः।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतःको विधिः को निषेधः॥

अर्थ—शब्द से परे और तीनों गुणों से रहित तत्व का बोध प्राप्त करने से जिसकी संदेह वृत्ति नष्ट हो जाती है, सर्व प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं, उसमें से भेद अभेद का विचार तत्त्वण जाता रहता है, उसके पुण्य पाप नष्ट हो जाते हैं, माया मोह का क्षय हो जाता है, जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसको विधि क्या और निषेध क्या-उसको विधि और निषेध दोनों नहीं हैं।

यद्वात्मानं सकल वपुषामेकमन्तर्बहिस्थं
दृष्ट्वापूर्णं स्वमिवसततं सर्वभाण्डस्थमेकम्।
नान्यत्कार्यं किमपिच ततः कारणाद् भिन्नरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतःको विधिः को निषेधः॥

अर्थः—जिसने सब शरीरों में भीतर और बाहर स्थित, अपने ही समान सदा सब जगत् रूपी पात्रों में स्थित, एक पूर्ण आत्मा को देख लिया है, उसके लिये उस परमात्मा रूपी कारण से सिवाय दूसरा कार्य कुछ भी नहीं है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उस के लिये विधि क्या और निषेध क्या-दोनों ही नहीं हैं।

हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हेममेवेति यद्वत्
क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बु मध्ये।
एवं सर्वं समरसतया त्वं पदं तत्पदार्थे
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतःको विधिः को निषेधः॥

अर्थः—जैसे सुवर्ण की बनी हुई चीज़ अग्नि में डालने से सुवर्ण ही हो जाती है, जैसे दूध में दूध डालने से एक रस होने से दूध ही हो जाता है, और जल जल में डालने से जल ही हो जाता है, इसी प्रकार सब त्वंपद-जीव तत्पदार्थ-ईश्वर-में समान रसपने के कारण ब्रह्म ही हो जाता है, जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसके लिये विधि क्या और निषेध क्या-दोनों ही नहीं हैं।

यस्मिन् विश्वं सकलभुवनं सामरस्यैकभूतं
उर्वींयापोऽनलमनिलखं जीवमेवं क्रमेण।
यत्क्षाराब्धौ समरसतयां सैन्धवैकत्वभूतं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतःको विधिःको निषेधः॥४॥

अर्थः—जैसे समुद्र खारी है, वैसे ही नमक भी खारी है, इस लिये खारीपन दोनों में समान होने से नमक समुद्र रूप ही है इसी प्रकार (ब्रह्म) में सब भुवन तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश तथा जीव एक रसपने के कारण एक ब्रह्म ही है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसको विधि क्या और निषेध क्या—कोई नहीं।

यद्वन्नद्योदधि समरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
तद्वज्जीवालय परिगतौ सामरस्यैक भूतौ।
भेदातीतं परिलयगतं सच्चिदानन्द रूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतःको विधिःको निषेधः॥५॥

अर्थः—जैसे नदी समुद्र में मिल कर एक रसपने के कारण समुद्र रूप हो जाती है वैसे ही देह में रहा हुआ जीव एक रसपने के कारण एक परमात्मा ही है, इस प्रकार भेद से रहित सर्वान्तर्यामी होने के कारण केवल एक सच्चिदानन्द रूप ही है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसके लिये विधि क्या और निषेध क्या-दोनों ही नहीं हैं।

दृष्ट्वावेद्यं परमथपदं स्वात्मबोधस्वरूपं
बुद्ध्वात्मानं सकल वपुषामेकमन्तर्बहिस्थम्।
भूत्वानित्यं सदुदिततया स्वप्रकाशस्वरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतःको विधिःको निषेधः॥६॥

अर्थः—जानने योग्य, परमपद, स्वात्मबोध स्वरूप और सब शरीरों के भीतर बाहर एक ही स्थित आत्मा को देख कर और तत्व के उदय होने से स्वप्रकाश स्वरूप होकर जो तीन गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसको विधि क्या और निषेध क्या—कोई नहीं है।

कार्याकार्ये किमपि सततं नैवकर्तृत्वमास्ति
जीवन्मुक्तस्थिति रवगतो दग्धवस्त्रावभासः।
एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो वियुक्तो
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतःको विधिः को निषेधः॥७॥

अर्थः—जिनका कार्य अकार्य में कभी कुछ भी कर्तृत्व नहीं है, जिसने जले हुये कपड़ों के समान सब सांसारिक वासनाओं को जला कर जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त की है, वह शरीर में रहते हुये भी शरीर रहित के समान है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसको विधि क्या और निषेध क्या-दोनों ही नहीं हैं।

कस्मात्कोहं किमपि च भवान् कोऽयमत्रप्रपञ्चः
स्वं स्वं वेद्यं गगन सदृशं पूर्णतत्व प्रकाशम्।
आनन्दाख्यं समरसघने बाह्यमन्तर्विहीने
निस्त्रैगुण्येपथि विचरतः को विधिःको निषेधः॥८॥

अर्थः—मैं कौन हूं? किससे हूं? आप कौन हैं? यह प्रपंच क्या है? जो एक रस ब्रह्म रूप घन में भीतर और बाहर के भेद से रहित आकाश के समान आनन्द नामक सर्व व्यापी पूर्ण तत्व है, वह ही अपना आप जानने योग्य है, जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसको विधि क्या और निषेध क्या—दोनों में से एक भी नहीं।

इति शुकाष्टक स्तोत्रं सम्पूर्णम्।

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

दूसरा अध्याय।

प्रथम अध्याय में निरूपण किया है कि जिस प्रकार घट का कारण मृत्तिका है और माला आदि का सुवर्ण कारण है इसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वेश्वर उत्पत्ति का कारण है। परमेश्वर ही उत्पन्न हुये जगत् की

स्थिति का कारण है और नियामक भी है और वह ही परमात्मा विस्तार वाले जगत् का अपने में उपसंहार करने का कारण रूप है। जिस प्रकार पृथिवी चारों प्रकार के भूत समूह का कारण है इसी प्रकार परमात्मा है। परमात्मा ही हम सब का आत्मा है। इस प्रकार वेदान्त वाक्यों के अनुसार प्रतिपादन किया है और यह भी निरूपण किया है कि प्रधानादि कारण वाद वेद प्रतिपादित नहीं है। अब इस अध्याय में स्मृति और न्याय के जिन वचनों का वेदान्त से विरोध है, उनका परिहार करने में आया है। इस प्रकार प्रधानादि वाद जो न्याय का आभास कराने वाले हैं, उनका परिहार किया है। अब सब वेदान्त वचन सृष्टि आदि प्रक्रिया का निरूपण करने वाले हैं, इस प्रकार का अर्थ निरूपण करने के लिये दूसरे अध्याय का आरंभ किया जाता है।

प्रथम स्मृति विरोध को कथन करके उसका परिहार करने के लिये भगवान् सूत्रकार दो सूत्रों वाला नीचे का स्मृति अधिकरण रचते हैं:—

(१) स्मृति अधिकरण

स्मृत्यनवकाश दोपप्रसङ्ग इति चेन्नान्य
स्मृत्यनवकाशदोपप्रसङ्गात् ॥१॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ—स्मृत्यनवकाशदोपप्रसङ्गः [ब्रह्म जगत् का कारण होने से कपिल आदि की] स्मृति के अनवकाश (निरर्थकता) रूप दोष का प्रसंग [वेदान्तमत में प्राप्त होगा] इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [यह आशंका संभव] नहीं अन्यस्मृत्यनवकाशदोप प्रसङ्गात् [क्योंकि] अन्य स्मृतियों के अनवकाश रूप दोष के प्रसंग से [हमारे मत में दोष की प्राप्ति नहीं होती]।

टीकाः—प्रतिपक्षीः—सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति में ऐसा सूचन नहीं किया है इस लिये दोष आवेगा। सांख्य तंत्र नाम की स्मृति महान् ऋषियों की रची हुई है, विद्वानों ने उसे प्रमाण माना है और दूसरी स्मृतियां भी उसी के अनुसार हैं। ब्रह्म को जगत् का कारण मानना, उस सांख्य स्मृति से विरुद्ध है। क्योंकि उस सांख्य स्मृति में अचेतन प्रधान को जगत् का स्वतंत्र कारण रूप माना है। मनुस्मृति आदि अन्य स्मृतियां क्रिया के लक्षण वाले अग्नि होत्रादि धर्मों का निरूपण करने वाली होने से वेद के अनुसार हैं जैसे अमुक वर्ण को अमुक काल में अमुक विधि के अनुसार उपनयन संस्कार करना, अमुक आचार का ही पालन करना, अमुक प्रकार से ही वेद का अध्ययन करना, तथा अमुक प्रकार की स्त्री के साथ संयोग रखना। और इन स्मृतियों का वर्णाश्रम कर्म, धर्म आदि विषय नहीं है, उनमें मोक्ष का साधन रूप सम्यक् दर्शन सम्बन्धी विवेचन ही किया गया है। यदि मोक्ष सम्बन्धी विवेचन न होता तो इस स्थान पर उस स्मृति के सूचन करने की आवश्यकता ही न होती। इस सांख्य वाद के अनुसार वेदान्तों का विवेचन होना चाहिये, यदि ईक्षति आदि कारण को लेकर ऐसा सिद्ध किया है कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है तो सांख्य स्मृति से विरोध आवेगा। इस प्रकार का आक्षेप करने की क्या आवश्यकता है? जितेन्द्रिय पुरुषों का आक्षेप कभी नहीं होता। परतंत्र बुद्धि वाले मनुष्य स्वतंत्र बुद्धि से अर्थ का निश्चय नहीं कर सकते इस लिये उनको ऋषियों की रची हुई स्मृति पर उनको आधार रखना पड़ता है, इस प्रकार आधार रखने से ही वे श्रुति को समझ सकते हैं, स्मृतियों के रचने वालों पर पूरा मान है, इस लिये श्रुति के व्याख्यान में भी विश्वास नहीं है, कपिल आदि ऋषियों का ज्ञान अप्रतिहत कहा गया है। श्रुति में कहा है;—"ऋषिं प्रसूतं कापिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्" [श्वेता०५।२] (जो सृष्टि काल में जन्मते समय कपिल ऋषि को और स्थिति काल में जन्म पाये हुवे को ज्ञान से पूर्ण करता है उस ईश्वर का दर्शन करे।) इस लिये ऐसा नहीं कह सके कि सांख्य का मत अप्रमाण है, सांख्य तर्क का अवलम्बन कर के अपने सूत्रों के अर्थ का प्रतिपादन करता है इस लिये स्मृति का आधार लेकर वेदान्त के अर्थ का व्याख्यान करना अपूर्व है, ऐसा हमारा आक्षेप है।

संन्यासोपनिषद्।

अब संन्यास उपनिषद् कहते हैं, जो क्रम २ से त्यागा जाता है, वह संन्यस्त होता है, यह संन्यास क्या कहलाता है? संन्यस्त कैसा होता है? जो क्रियाओं से आत्मा की रक्षा करता है, माता, पिता, स्त्री, पुत्र बंधुओं की सम्मति लेकर, अपने सब ऋत्वजों को पूर्व के समान प्रणाम करके वैश्वानरयज्ञ को त्याग देवे, सर्वस्व दे देवे, यजमान, गौ, ऋत्विज सब का पात्रों में आरोप करके, आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, सभ्य और असभ्य इन सब में प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान को आरोपित करे, शिखा सहित केशों को त्याग कर, यज्ञोपवीत को तोड़ कर, पुत्र को देख कर इस प्रकार उपदेश देवे कि तू यज्ञ है, तू सर्व है, यदि अपुत्र होवे तो आत्मा का इसी प्रकार ध्यान कर के खोजता हुआ पूर्व अथवा उत्तर दिशा को चला जावे, तीनों वर्णों में भिक्षा करे, हाथ रूपी पात्र में भोजन करे, औषधि के समान भोजन का आचरण करे यानी औषधि के समान भोजन करे, प्राण की रक्षा के लिये यथा प्राप्त भोजन करे, जिस से चरबी की वृद्धि न हो, दुबला हो कर ग्राम में एक रात, नगर में पांच रात बसे, वर्षा के चार महीनों में ग्राम अथवा नगर में वास करे, अथवा दो महीने वास करे, दो पक्ष का महीना होता है, फटे वस्त्र अथवा छाल के वस्त्र ग्रहण करे, अन्य ग्रहण न करे, जो अशक्त होता है और क्लेश से तपता है, वह तप है, इस प्रकार क्रम से संन्यास करता है अथवा जो इस प्रकार देखता है, उस का यज्ञोपवीत क्या है? उस की शिखा क्या है? अथवा उस का आचमन कैसा है? उस से कहा, जो उस का आत्म-ध्यान है, वह ही उस का यज्ञोपवीत है, विद्या शिखा है, सर्वत्र वैर रहित स्थित हो कर उदर पात्र से कार्य करे, जल का किनारा घर है, ऐसा ब्रह्म वादी कहते हैं, सूर्य के अस्त होने पर उस का आचमन कैसा है? उस से कहा जैसा दिन में है वैसाही रात्रि में है, उस के लिये न रात है, न दिन है तो भी यह ऋषियों ने कहा है, जो इस प्रकार आत्मा को धारण करता है, उस के लिये एक ही बार दिन ही हो जाता है ॥ इति प्रथम अध्याय ॥

चालीस संस्कारों से युक्त, सब से विरक्त होकर चित्त को शुद्ध कर के, आशा, असूया, ईर्षा और अहंकार को जला कर चारों साधनों से युक्त ही, संन्यस्त के योग्य होता है, जो संन्यास का निश्चय करके फिर नहीं करता वह कृच्छ्र मात्र व्रत करे तो फिर संन्यस्त करने के योग्य होता है ॥१॥ जो संन्यास से पतित हो, जो पतित को संन्यास देवे और जो संन्यास में विघ्न करने वाला हो, इन तीनों को पतित जानो ॥२॥ नपुंसक, पतित, अंगहीन, खेण, (खोजा) बहिरा, बालक, गूंगा, पाषंड करने वाला, झूठा वेष धारण करने वाला, कोढ़ी, वैखानस (बौद्ध साधु) द्विज संस्कार से रहित, बच्चों को पढ़ाने वाला, गंजा, अग्नि से रहित, नास्तिक, और वैराग्य रहित ये संन्यास के योग्य नहीं हैं, यदि संन्यस्त ले लें तो भी महावाक्यों के उपदेश के अधिकारी नहीं हैं। चढ़ा हुआ, (ज्ञानी) आपत्ति में पड़ा हुआ, खराब नख वाला, कुछ सफेद और कुछ लाल दांत वाला, पागल, अंग से विकल ये भी संन्यस्त के योग्य नहीं हैं ॥३॥ समीप में रहने वालों, महा पातकियों, संस्कारहीनों और लोक निंदा से दूषित हुओं को संन्यास न देवे ॥४॥ व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम, स्वाध्याय से रहित और सत्य शौच से भ्रष्ट हुये को संन्यास न देवे ॥५॥ ये लोग आतुर संन्यास के सिवाय क्रम संन्यास के योग्य नहीं हैं। 'ॐ भूः स्वाहा' ऐसा कह कर शिखा उखाड़ डाले, यज्ञोपवीत को न उतारे, 'यश, बल, ज्ञान, वैराग्य और मेधा (बुद्धि) को दे' ऐसा कह कर यज्ञोपवीत को काट डाले, 'ॐ भूः स्वाहा' यह कह कर जल में वस्त्र और कटि सूत्र को त्याग कर 'संन्यस्तमय' इस मंत्र को तीन बार बोले, संन्यासी ब्राह्मण को देख कर सूर्य अपने स्थान से चलायमान होता है (और कहता है) यह मेरे मण्डल को भेद कर परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥६॥ छः पीछे के कुलों का और छः आगामी कुलों का उद्धार करता है जो प्राज्ञ संन्यासी 'सन्यस्त' इस मंत्र को कहता है ॥७॥ जो संतान से

उत्पन्न हुये दोष हैं और जो देह से उत्पन्न हुये दोष हैं उन को प्रेषाग्नि इस प्रकार जला देता है जिस प्रकार भूसी का अग्नि सुवर्ण को जला देता है ॥८॥ 'सखा ! मेरी रक्षा कर' इस प्रकार कह कर दंड को ग्रहण करे, बांस का, सौम्य, सतोगुण वाला, समान गांठों वाला, पवित्र भूमि में उत्पन्न हुआ, अनेक कांटों से शोधन किया हुआ, बिना जला हुआ, कीड़ों का न खाया हुआ, पर्व-गांठों से शोभित, नासिका तक ऊंचा, शिर अथवा भौंओं के बराबर दंड यती धारण करे ॥ ९, १० ॥ दंड और आत्मा का संयोग सब प्रकार से किया जाता है, बुद्धिमान् दंड के बिना तीन बार बाण फेंका जाय, इस से दूर न जावे ॥११॥ 'हे माता ! सब से सौम्य, जगत् का जीवन, जीवन का आधार स्वरूप, मेरी रक्षा कर' इस प्रकार कह कर कमंडलु को ग्रहण करके योग पट्ट पर अभिषिक्त हो कर सुख से विहार करे ॥ धर्म अधर्म को त्याग दे, सच और झूठ दोनों को त्याग दे, सच्चे और झूठे दोनों को त्याग कर जिस से दोनों का त्याग किया है, उस को भी त्याग दे ॥१२॥ वैराग्य संन्यासी, ज्ञान संन्यासी, ज्ञान वैराग्य संन्यासी और कर्म संन्यासी, चार प्रकार के संन्यासी हुये हैं, वे इस प्रकार हैं:-जिस ने देखे हुये और सुने हुये विषयों में तृष्णा रहित हो कर पाप पुण्य रूप कर्म विशेष का त्याग किया है, वह वैराग्य संन्यासी है, शास्त्र के ज्ञान से, शुभ अशुभ लोकों के अनुभव और श्रवण से प्रपंच से उपराम को प्राप्त होकर देह वासना; शास्त्र वासना, लोक वासना को त्याग कर, वमन किये हुये अन्न के समान सब प्रकार की प्रवृत्ति को त्यागने योग्य मान कर, चारों साधनों से युक्त हो कर जो संन्यस्त करता है, वह ही ज्ञान संन्यासी है, क्रम २ से सब का अभ्यास कर के, सब का अनुभव कर के, ज्ञान और वैराग्य से, स्वरूप के अनुसंधान से, देह मात्र शेष रहा हुआ संन्यास लेकर सुवर्ण रूप होता है, वह ज्ञान वैराग्य संन्यासी है, ब्रह्मचर्य को समाप्त कर के, गृहस्थ हो कर, वानप्रस्थ आश्रम को प्राप्त हो कर वैराग्य न होने पर भी जो क्रमानुसार आश्रमों को त्यागता है, वह कर्म संन्यासी है, वह संन्यास छः प्रकार का होता है:—

कुटीचक, बहूदक, हंस, परम हंस, तुरीया
और अवधूत। कुटीचक शिखा यज्ञोपवीत वाला,
कमंडलु धारण करने वाला, कौपीन, चादर और
धारण करने वाला, पिता, माता और गुरु की
धना करने वाला, बटलोई, अग्निपात्र, छींका
मात्र साधन वाला, एक स्थान पर अन्न का
करने वाला, श्वेत और ऊंचा तिलक धारण
वाला और तीन दंड वाला होता है। बहूदक शि
कंथा धारण करने वाला, त्रिपुंड धारी, सब
कुटी-चक्र के समान मधुकर वृत्तिवाला और
ग्रास खानेवाला होता है। हंस जटाधारी, त्रिपुंड्र
पुड्रंधारी, अनियत स्थान से माधूकर अन्न का मां
करने वाला, कौपीन का टुकड़ा धारण करने वाला
है, परम हंस शिखा यज्ञोपवीत रहित, पांच घरों में
में भिक्षा मांगने वाला, एक कौपीन धारण करने
एक चादर, एक बांस का दंड, एक चादर धारण
वाला अथवा भस्म लगाने वाला होता है। सब का
करने वाला होता है। तुरीयातीत गो मुख वृत्ति
तीन घरों में फल अथवा अन्न का आहार करने
देह मात्र रखने वाला, नग्न, मृतक के समान
वृत्ति करने वाला होता है। अवधूत नियम
होता है, पतित अथवा निन्दित को छोड़कर सब
में अजगर वृत्ति से आहार करने वाला और
के अनुसंधान वाला होता है। वृक्ष, तृण और
सहित जितना यह जगत् है, वह मैं नहीं हूं।
बाहर है, वह अत्यंत जड़ है, मैं विभु वह (
किस प्रकार होऊं ॥ १३ ॥ थोड़े समय में
वाला जड़ देह मैं नहीं हूं। कानों में आने वाला
और क्षण भर टिकने वाला, कल्पा हुआ ॥१४॥
आकृति वाला, शून्य स्वरूप वाला अचेतन
नहीं हूं। क्षण में नाश होने वाली, प्राप्त और
होने वाली यह त्वचा मुझ से भिन्न है ॥१५॥ चैतन्य
प्रसन्नता से आत्मा को प्राप्त हुआ मैं जड स्पर्श
हूं। आत्मा को प्राप्त हुये मुझ को चंचल होने से
चंचल सत्ता वाली होने जिह्वा तुच्छ है
थोड़ा बहने वाला और पतला होने
जड़ रस मैं नहीं हूं। संपूर्ण।

Registered No. A 860



ॐ

वेदान्त केसरी ।



मासिक पत्र ।

पुस्तक ६ } चैत्र सं० १९८१ । अप्रैल १९२४ { अंक ६

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाभक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा ।

वार्षिक मूल्य ३)

एक प्रति का मूल्य ।-)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० क्याळीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।
(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चा
(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चाह आरम्भ से सब अंक लेने होंगे ।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।), वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्या... मूल्य ।=)', वेदान्तस्तोत्रसंग्रह " भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा ।

प्रकाशक ।



॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | चैत्र सं० १९८१ । अप्रैल १९२४ | अङ्क ६

अविद्या यही है !

भुजंगी छन्द ।

(१)

पढ़े शास्त्र नाना, जगत् तुच्छ जाना ।
सभी में रमा एक ही ब्रह्म माना ॥
नहीं दोष की दृष्टि तो भी गई है ।
यही मूर्खता है ! अविद्या यही है ! ॥

(२)

बड़े पुण्य से मानुषी देह पाई ।
न की भक्ति आयू वृथा ही गँवाई ॥
बढ़ी भोग में प्रीति तृष्णा बढ़ी है ।
बढ़ीं कामनायें अविद्या यही है ! ॥

(३)

अविद्या किसी देश के मांहि नांहीं ।
नहीं काल में है नहीं वस्तु मांहीं ॥
जगत् में तुझे सत्यता भासती है ।
यही भूल भारी अविद्या यही है ! ॥

(४)

नहीं देह है तू नहीं इन्द्रियां ही ।
नहीं प्राण बुद्धी अहंकार नांहीं ॥
वृथा देह में आत्म बुद्धी भई है ।
यही दुःख देती, अविद्या यही है ! ॥

(५)

जचे दूर से है गधा अश्व जैसे ।
बना भ्रांति से शीव का जीव तैसे ॥
छुपा बोध अल्पज्ञ बुद्धी हुई है ।
महत् अल्प भासे अविद्या यही है ! ॥

(६)

स्वयं दूसरा या हमारा तुम्हारा ।
तथा राग द्वेषादि व्यापार सारा ॥
भली है बुरी है, पुरानी नई है ।
किये भेद नाना अविद्या यही है ! ॥

(७)

नहीं ईश की है न तेरी अविद्या ।
नहीं दूसरे की न मेरी अविद्या ॥
नहीं है अविद्या नहीं भी नहीं है ।
नहीं को दिखावे अविद्या यही है ! ॥

(८)

अविद्या ग्रसा सो अविद्या न जाने ।
न जाने न छोड़े जगत् सत्य माने ॥
जहां ज्ञान लीन्हो अविद्या मिटी है ।
जगत् भी मिटा है अविद्या यही है ! ॥

(९)

महादेव ब्रह्मा तथा विष्णु आदि ।
रचे है सभी को अविद्या अनादि ॥
अविद्या वहीं है, जहां दृष्टि की है ।
मुँदी दृष्टि नाशी अविद्या यही है ! ॥

(१०)

कृपा आत्म की होय सत्संग पावे ।
कृपा ईश की बोध सच्चा लखावे ॥
न कौशल्य ! दीसे अविद्या कहीं है ।
न होती हि भासे अविद्या यही है ! ॥

दरिद्रता की निवृत्ति ।

(गताङ्क से आगे)

जो जगत् के भाव में लीन हो रहे हैं, जो जगत् के रंग रोगन की चमक दमक से चकाचोंध हो रहे हैं, जो जगत् के पदार्थों के भोग भोगने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता मान रहे हैं, जगत् के प्रत्येक प्राणी और पदार्थ का नाश होता हुआ देखते हुये भी जिन को अपने शरीर की क्षीणता-नाश का भान नहीं है, जो पांचों व इन्द्रियों और अंतःकरण के विषयों से तृप्ति चाहते हैं, उन अज्ञानांध को सच्ची श्रीमान्‌ता कहां है और कैसे प्राप्त होती है, इस का किंचित् भान भी नहीं होता । वे अपने को दरिद्री समझते भी नहीं हैं क्योंकि अविचार से विषय वासना में रत होने से उन लोगों की विचार शक्ति मोथरी हो गई है । घटि यंत्र के मटके के समान भरते और खाली होते दोनों अवस्थाओं में भटकते ही रहते हैं । उन की दरिद्रता की निवृत्ति होना कठिन है ! संसार में अनेक प्रकार के कष्ट हैं, केवल धनका ही कष्ट हो, ऐसा नहीं है इसलिये किसी न किसी प्रकार की कष्ट रूप दरिद्रता बनी ही रहती है । जो धन से सुखी है, वह तन से दुःखी-दरिद्री है । जो धन तन से सुखी है, वह कुटुम्ब से दुःखी-दरिद्री है, इस प्रकार सब दुःखी होने से सब ही दरिद्री हैं । संसार के भाव में यदि कोई संपूर्ण श्रीमान् होना चाहे तो यह बन नहीं सक्ता । संसार का होना ही दुःख-दरिद्रता रूप है तो उस में श्रीमान् कहां से आवें ? जैसे विष के टुकड़े के कण २ में विष भरा है, इसी प्रकार संसार के भाव में क्षण २ में दरिद्रता भरी हुई है । ऐसी जो दरिद्रता है, जो योग्य बन कर उस के नाश करने की अभिलाषा वाला है, वह भी उत्तम है और जिस ने स्वरूप के बोध से अहंभाव रूप दरिद्रता को नष्ट कर दिया है, उस का तो कहना ही क्या है ! करोड़ों में से किसी एक को ही अनेक पुण्य प्रताप से श्रीमानता प्राप्त होती है इस लिये उस का प्रयत्न न करना, यह बात नहीं है किंतु उसका प्रयत्न ही पुरुषार्थ कहा जाता है । वह पुरुषार्थ समय पाकर अवश्य फल को देता है और प्रयत्न के मध्य में भी संयम होने से दुःख की निवृत्ति ही होती है । जिस को तत्व का दृढ बोध हुआ है, जगत् की दरिद्रता उस का कुछ नहीं कर सक्ती, इतना ही नहीं किंतु दरिद्रता उस के लिये दरिद्रता ही नहीं रहती ।

एक दिन जब राजा विक्रम प्रधानादि सहित राज सभा में बैठा हुआ था तब एक अत्यंत कृश दरिद्री पुरुष लोहे की एक अत्यंत कृश मूर्ति को हाथ में लेकर दरवाजे पर आया । द्वारपाल ने राजा से उस के आने की खबर दी । राजा की आज्ञा होते ही वह पुरुष मूर्ति सहित राज सभा में दाखिल हुआ और नम्रता सहित राजा को नमस्कार करके कहने लगा, " महाराज ! आप इस उज्जैनी नगरी के राजा हो, यह नगरी प्रसिद्ध है, यहां क्रय विक्रय का व्यापार की वृद्धि हो रही है, कोई भी वस्तु जो बाजार में आती है, तुरन्त बिक जाती है, और जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, वे सब यहां मिल सकती हैं, ऐसी इस नगरी की ख्याति मैं ने सुनी थी इस लिये मैं दरिद्रता की प्रतिमा बना कर बाजार में बेचने को लाया था । आप की प्रसिद्ध राजधानी चौरासी बड़े २ मार्ग हैं, उन में मैं तीन दिन से फिर रहा हूं, परन्तु मेरी इस मूर्ति को किसी ने भी नहीं खरीदा, इस से विरुद्ध लोगोंने इस मूर्ति को देख कर मेरी हंसी उड़ाई ! 'रे मूर्ख ! महाराजा विक्रमादित्य के राज्य में 'दरिद्र' यह शब्द कहीं सुनने में आने वाला नहीं है ! यहां दरिद्रता का पूजने वाला कोई नहीं है ! तेरी दरिद्रता की प्रतिमा को कौन मोल लेगा ? कोई न लेगा ! मूर्ख ! यहां से चला जा !' ऐसा बहुत से मनुष्यों ने मुझ से कहा है ! महाराज ! मेरे कहने में कोई अनुचित भाव निकल पड़े तो क्षमा करना । आप का राज्य और नगर समृद्धिवान् है, ऐसा दीखता है तो भी इस में एक प्रतिमा का खरीदने वाला न निकले, यह बड़े शर्म की बात है, इस से तो इस नगरी को कलंक ही लगेगा ! इतनी बात आपसे कह कर इस नगरी को छोड़ कर चले जाने के इरादे से मैं आप के पास आया हूं ! अब आप मुझे चले जाने की आज्ञा दीजिये !" ऐसा कह कर वह दरिद्री पुरुष वहां से जाने लगा, तब राजा ने उस को रोका और एक सुवर्ण मुद्रा देकर दरिद्रता की मूर्ति

प्रतिमा को खरीद कर समृद्धि वाली नगरी को कलंक लगने न दिया। राजा ने उस प्रतिमा को अपने भंडार में रखवा दिया और वह पुरुष बहुत लाभ मिलने से हर्षित होकर नमन कर के चल दिया।

राजा विक्रम रात्रि को जब सुख की शैया पर सो रहा था तब रात्रि के प्रथम पहर में राज्य की अधिष्ठात्री देवी निकल कर राजा के पास आई और कहने लगी "महाराजा! आज तक तेरे आश्रय में मैं बहुत आनन्द से रही, कल तूने दरिद्रता की मूर्ति खरीद कर हमारे पास रखवाई है, यह तूने अच्छा नहीं किया, इस से मेरा अपमान हुआ है, अब मैं तेरे यहां रहना अच्छा नहीं समझती, मुझे चले जाने की आज्ञा दे!" ऐसा वचन सुन कर कोई दूसरा होता तो अवश्य घबरा जाता, परन्तु विक्रम को किसी प्रकार का विचार अथवा शोक न हुआ, उस ने कहा "जा! देवी! आनन्द से जा!" वह चली गई, दूसरे पहर में कीर्ति देवी निकल कर राजा के पास आई और प्रथम देवी के समान कहने लगी, राजा ने उसे भी चले जाने की आज्ञा दी, वह भी चली गई, तीसरे पहर में राज्य लक्ष्मी देवी ने निकल कर पूर्व दो देवियों के समान राजा से कहा, राजा ने उसे भी जाने की आज्ञा दी, वह भी चली गई, अंत में जब चौथा पहर हुआ तब दिव्य आकृति वाला तेजोमय एक पुरुष प्रकट हो कर बोला "हे राजन्! मनुष्य जिस को सत्व कहते हैं, वह मैं हूं, जन्म से मैंने तेरा आश्रय लिया है परन्तु तूने दरिद्रता की मूर्ति खरीदली है इस लिये अब तेरे पास रहना मुझे ठीक नहीं लगता, मुझे जाने की आज्ञा दे, मैं जाता हूं!" ऐसा कह कर वह पुरुष चलने लगा, राजा तुरंत तलवार को निकाल कर आपघात करने की इच्छा से अपने शिर की तरफ ले जाने लगा! ऐसा देख कर दिव्य पुरुष ठहर गया और राजा का हाथ पकड़ कर बोला "हे वीर! आपघात न कर, अब मैं नहीं जाऊंगा, तेरे यहां ही रहूंगा!" उसी समय गई हुई तीनों देवियां भी लौट आई और कहने लगीं "राजन्! हम चारोंने एक साथ जाने का संकेत किया था परंतु सत्व न गया, हम तीनों उस के साथ हैं, यदि वह न जाय तो हम भी तुझे छोड़ कर जा नहीं सकतीं! अब हम जीवन पर्यन्त तेरी सेवा करेंगी!" इस प्रकार विक्रमादित्य सत्व सिद्धि होने से सुखी हुआ।

राजा विक्रमादित्य को अंतर से किसी की भी स्पृहा नहीं थी, वह अपने सत्व के ऊपर ही टिका हुआ था, नगरी को कलंक न लगे, इस लिये ही उस ने दरिद्रता की मूर्ति खरीदी थी, जिसे लोक में दरिद्रता कहते हैं, उस में कष्ट है, ऐसा भान उसे किंचित् भी नहीं था, लौकिक मनुष्य ही लौकिक दरिद्रता से भय और दुःख को प्राप्त होते हैं विक्रमादित्य लौकिक पुरुष नहीं था, पराक्रमी था, अपने सत्व को जानता था, 'मैं कौन हूं, कैसा हूं' इस का उसको बोध और निश्चय था। ऐसे निश्चय वाले का लौकिक दरिद्रता क्या कर सकती है? विक्रम के अनंत पराक्रम की कथायें लोक में प्रचलित हैं, इस से यह ही सिद्ध होता है कि उसे अटल निश्चय और आत्मनिष्ठा थी, दरिद्रता की लोहे की मूर्ति को देख कर और अपने साथ रखने से अपना अपमान समझ कर राज्य अधिष्ठात्री, कीर्ति और लक्ष्मी तीनों देवियां विक्रम को छोड़ने की इच्छा से उस के पास आई। विक्रम ने उन तीनों की परवा न कर के इन तीनों को चले जाने की आज्ञा दी और देवियां चली गईं, जब सत्व रूप दिव्य पुरुष, जिस के ऊपर विक्रम की पूर्ण निष्ठा थी, जाने लगा तब विक्रम उस के बिना अपना नाश समझ कर, आपघात करने को तत्पर हुआ। तत्पर होना ही सत्व होने का परिचय था, सत्व ने समझ लिया कि मेरे निकलने पर भी इस में का सत्व नहीं जाता! सत्व होने से ही उसे शरीर त्यागने में भी उत्साह है, वास्तविक सत्व यह ही है, मैं तो केवल सत्व की छाया हूं, सत्व रहते हुये छाया अलग नहीं हो सकती! ऐसा समझ कर सत्व ने विक्रम को आपघात करने से रोका और विक्रम में ही रहा। ऐसा देख कर सत्व के सहारे रहने वाली तीनों देवियां भी लौट आईं! जिस प्रकार दरिद्रता की मूर्ति से विक्रम की किंचित् भी हानि न हुई इसी प्रकार जिस में सत्व की वृद्धि होती है—अपने तत्व

के ऊपर जिस की निष्ठा होती है, ऐसे आत्म ज्ञानी को दरिद्रता कभी नहीं छूती, चाहे लौकिक मनुष्यों को, विक्रम के पास दरिद्रता की मूर्ति के समान, आत्म ज्ञानी के पास लौकिक दरिद्रता दीखे, लौकिक ऐश्वर्य न दीखे तो भी वह दरिद्री नहीं है, पूर्ण श्रीमान् है! दरिद्रता उस का किसी प्रकार का भी अनहित नहीं कर सकी क्योंकि स्वरूप के यथार्थ बोध के साथ ही उस की संपूर्ण दरिद्रता निवृत्त हो गई है, जैसे राजा विक्रम के पास से चली गई तीनों देवियां समझती थीं कि हमारे विना विक्रम का जीवन निष्फल होगा परन्तु उन का ऐसा समझना झूंठा था, उन्हें लज्जित हो कर लौटना पड़ा इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष की त्यागी हुई लौकिक श्रीमान्ता भी किसी समय पर लज्जित हो कर फिर लौट आती है। जिसे लौकिक श्रीमान्ता अथवा दरिद्रता की किंचित भी परवा नहीं है, ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने आद्य स्वरूप ब्रह्म से पूर्ण होने से वास्तविक श्रीमान् है।

भक्ति से भी इसी प्रकार की श्रीमान्ता प्राप्त होती है क्योंकि भक्ति और ज्ञान के अंतिम फल में अन्तर नहीं है। भक्ति में पूर्ण अनन्य भाव में लग जाने से वह ही श्रीमान्ता—परमपद प्राप्त होता है। लक्ष्मी और विष्णु की एक कथा लोक में इस प्रकार प्रचलित है:—

एक समय जब लक्ष्मी और विष्णु आपस में विवाद कर रहे थे तब लक्ष्मी ने कहा "हे प्रभो! आप सब संसार के पालन कर्ता ईश्वर हो, मैं तो अविद्या रूप माया ही हूं, आपके सामर्थ्य के सामने मेरा सामर्थ्य कुछ नहीं है, आपके सामर्थ्य से ही समर्थ हो कर मैं कार्य करती हूं तो भी मेरी चमक दमक इतनी विशेष है कि सब ब्रह्मांड के प्राणी मुझे चाहते हैं—मेरी भक्ति करते हैं और जिस पर मेरी अवकृपा होती है, वह अपने को दीन और दुखी समझता है। मेरे भक्त सब हैं! आप का भक्त कहां है? कहीं भी कोई देखने में नहीं आता! कभी कोई कहीं दीखता भी है तो वह भी आपका भक्त नहीं होता, मेरा ही होता है! मैं आप की स्त्री हूं, मुझे ही सब चाहते हैं! रात्रि दिन मेरा ही भजन करते हैं! मेरे पति हो इस लिये मेरी प्रसन्नता के लिये को भी थोड़ा सा भज लेते हैं! आप का कोई भक्त हो तो दिखलाइये!" विष्णु हंस कर बोले दुनियां अज्ञानमय है, दुनियां को सच्चे झूंठे, असामर्थ्य की पहिचान नहीं है! इस लिये वाले मुझे न जानें, न भजें इससे क्या हुआ तुम ही मेरी हो तो तुम्हारे जितने भक्त हैं मेरे ही भक्त हैं!" लक्ष्मी बोली "नहीं! ऐसा बात को उड़ाइये मत! आप को अपना भक्त लाना होगा! मेरे ही सब भक्त हैं! तुम्हारे कहां हैं? मैं तुम को निकलवा देने का रखती हूं!" विष्णु ने विनोद रूप से कहा "यदि तुम्हारी यह ही इच्छा है तो मैं अप दिखला दूंगा!" लक्ष्मी ने कहा "नहीं! आज लाओ! दिखला देंगे ऐसा प्रसंग न आया! ऐसी बातों से आप मुझे ठग नहीं चलिये, आज ही इस बात का निर्णय चाहिये!"

लक्ष्मी की ही प्रथम जीत हो, इस निमित्त ने एक बुड्ढे ब्राह्मण का रूप धारण किया एक शहर में किसी श्रीमान् के यहां पहुंचे ने गरीब ब्राह्मण समझ कर विष्णु का सत्कार अपने पास बैठाया और हाथ जोड़ कर "महाराज! आपकी क्या इच्छा है?" बुड्ढे ने कहा "भाविक! मैं तीन रोज से चल इस लिये थक गया हूं, मुझे काशी जी जाना यहां कुछ दिन विश्राम करना चाहता हूं!" बोला "महाराज! मेरा मकान बहुत बड़ा इस पास के कमरे में टिक जाइये, जब तक इच्छा हो टिके रहिये, दोनों समय आप को मिलता रहेगा, हमारा अहोभाग्य है, जो वयोवृद्ध ब्राह्मण हमारा स्थान पवित्र करते हो!" बुड्ढे ने कहा "ठीक है! परन्तु मेरी एक बात मान ले तब ही मैं तेरे यहां टिकूं हूं! मैं आठ दिन से विशेष यहां नहीं टिकूंगा दिन के भीतर अपनी इच्छा से मैं भले

परन्तु आठ दिन से पहिले तुम लोग मुझे अपने स्थान से निकाल न सकोगे !" साहूकार बोला "आप की बात मुझे मान्य है, हम लोग व्यवहार के सच्चे हैं, वचन दे कर बदलते नहीं हैं, लाखों रुपयों का व्यवहार वचन से होता है, आठ दिन तक आप को कोई नहीं निकालेगा ! आप निश्चिंत हो कर आनंद से रहिये, हम को स्थान की आवश्यकता न होगी क्योंकि हमारे यहां ऐसे बहुत से कमरे हैं !" बूढ़ा ब्राह्मण टिक गया । कोई चार घन्टे हुये होंगे एक स्त्री वहां आई और पीने को पानी मांगने लगी, इस समय साहूकार किसी निमित्त से बाजार को चला गया था । उसका पच्चीस तीस वर्ष का बड़ा लड़का मौजूद था, उसने पानी मंगवा कर स्त्री को दिया । स्त्री ने अपने पास से एक सुवर्ण का प्याला निकाला, उसमें जल ले कर पिया और झूंठे प्याले को वहीं छोड़ कर अपना रस्ता लिया । यह देख कर साहूकार के लड़के को बड़ा आश्चर्य हुआ ! उसने स्त्री को बुला कर कहा "देवी ! आप विदेशी दीखती हो, यदि तुमको टिकने की इच्छा हो तो हमारे मकान पर टिक सकी हो !" स्त्री बोली "हां ! मैं टिकना चाहती हूं, यदि इस पासवाले कमरे में टिकने दो तो मैं टिक सकी हूं !" लड़का बोला "हां ! उसमें ही टिक सकी हो !" यह कह कर लड़का स्त्री को ले कर जहां बूढ़ा टिका था, वहां गया । लड़के ने सुवर्ण का प्याला देख कर समझ लिया था कि यह बहुत समृद्धि वाली है, जब जब पानी पियेगी तब तब सुवर्ण का प्याला देती रहेगी इस लिये इसके कुछ दिन तक टिकने से हम को बहुत लाभ होगा ! कमरे में पहुंच कर लड़के ने कहा "बाई जी ! यह बूढ़ा ब्राह्मण इस कमरे में टिका हुआ है, आप भी यहीं टिक जाइये !" स्त्री ने कहा "नहीं ! मैं इसके साथ नहीं टिक सकी ! मैं तो अकेली ही टिकूंगी ! डोकरे को यहां से निकाल दो तः टिक सकी हूं !" लड़के ने ब्राह्मण से कहा "बाबा ! आप दूसरे कमरे में टिक जाइये, इस सभ्य बाई को यहां टिकने दीजिए !" बूढ़ा बोला "वाह ! मैं दूसरे कमरे में नहीं जा सकता, तेरे बाप से प्रतिज्ञा करा कर मैं यहां टिका हूं ! अब तू मुझे निकाल नहीं सका ! मैं यहां से सरकूंगा तक नहीं !" लड़के को स्त्री परमेश्वरी दीख रही थी ! जब तक बूढ़ा निकलेगा नहीं तब तक यह टिकेगी नहीं, ऐसा समझ कर उसने बुड्ढे का हाथ पकड़ कर कहा "चलिये बाहर निकलिए !" बुड्ढे ने कहा "तेरा बाप कहां है ? उसे बुला ला, मैं नहीं निकलूंगा !" लड़के ने कहा "उसने कह दिया होगा, वह तो बूढ़ा हो गया है, उसमें बुद्धि नहीं है ! घर का मालिक तो मैं हूं !" इतने में साहूकार आगया, सब बात सुन कर बूढ़े ब्राह्मण के पास गया ही नहीं ! लड़के ने दो चार भली बुरी सुना कर और कई धक्के देकर बुड्ढे ब्राह्मण को कमरे से बाहर निकाल दिया और स्त्री को वहां टिका लिया ! स्त्री यह देख कर मन ही मन में हंसती रही और संकेत से विष्णु भगवान् को समझाती रही कि देखो तुम्हारी कैसी दुर्दशा हो रही है !

जब बुड्ढा ब्राह्मण कुछ दूर चला गया तब स्त्री—लक्ष्मी भी कमरे में से निकल कर चल दी और विष्णु भगवान् से जा कर बोली "देखा तमाशा ! मैं ने तुम को कैसा निकलवाया ! मेरी भक्ति ही सब करते हैं ! मेरे भक्त के सामने तुम्हारी भक्ति चल नहीं सकी !" विष्णु बोले "सच है ! आज तुमने मेरा फजीता कराया है ! जैसे तुम्हारे भक्त के सामने मेरी प्रतिष्ठा नहीं है इसी प्रकार मेरे भक्त के सामने तुम्हारा भी कुछ मान नहीं है !" लक्ष्मी बोली "वाह ! तुम्हारा भक्त है ही कहां ? कोई नहीं ! मुझे छोड़ कर तुम्हारी भक्ति करने वाला कौन है ? मैं तुम्हारे साथ हूं, इस लिये तुम्हारे भक्त भी मेरे लिये ही तुम्हारी भक्ति करने वाले थोड़े बहुत निकलते हैं, मुझे छोड़ कर तुम्हारी भक्ति करने वाला कौन है ? होय तः दिखलाइये !" विष्णु बोले "गर्व का वाक्य मत बोलो, भली बुरी दुनियां पड़ी है, कोई न कोई मेरा लाल भी निकल ही आवेगा ! यदि तुम को अपनी हंसी करानी हो तो चलो मेरे साथ ! जैसी तुमने मेरी हंसी कराई है, इससे भी विशेष तुम्हारी फजीती न हो तो कहना !" लक्ष्मी बोली "वाह ! क्या कहते हो ? मुझ में ऐसी मोहनी है कि मुझे देखते ही सब मोहित हो जाते हैं ! चलिये अपने मन की भी कर

लीजिये ! मुझे अपना भक्त दिखलाइये ! मुझे भी तो मालूम हो जाय कि तुम्हारा भी कोई सच्चा भक्त है ! मेरी हंसी का डर दिखला कर तुम मुझे दबा देना चाहते हो ! मैं एक न मानूंगी !" विष्णु बोले "घबराती क्यों हो ? मुझे निश्चय है कि तुम अपनी हंसी कराओगी और अन्त में शिर पकड़ कर रोओगी भी !" लक्ष्मी बोली "जो कुछ हो सो सही ! मैं सब सहन करने को तैयार हूं ! (विष्णु का हाथ पकड़ कर) चलिये ! अपना भक्त दिखलाइये !" विष्णु भीतर ही भीतर हंस रहे थे ! कभी कभी भीतर की लहर बाहर भी आजाती थी ! विष्णु को हंसता हुआ देख कर लक्ष्मी खिन्न होती थी, विष्णु वृद्ध ब्राह्मण का स्वरूप धारण करके आगे चलने लगे । लक्ष्मी ने सोचा "इस समय तो बन ठन कर चलना चाहिये !" ऐसा सोच कर लक्ष्मी सोलह वर्ष की सुन्दरी बन कर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हुई और भगवान् के पीछे २ चलने लगी । इस समय की उनकी शारीराकृति और मुख की कान्ति तपस्वियों के वर्षों के तपको भी क्षण भर में धूल में मिलाने वाली थी ! इस प्रकार दोनों आगे चले ।

इस प्रकार चलते २ दोनों एक पहाड़ के नीचे जहां गंगा जी बहती थीं, पहुंचे । एक तरफ पहाड़ था, एक तरफ गंगा जी बह रही थीं, बीच में कई वृक्ष थे, वृक्षों के नीचे दो तीन झोंपड़ियां पड़ी हुई थीं, झोंपड़ियों के मध्य में मिट्टी का बना हुआ एक चबूतरा था, वहां चार वैराग्य शील नग्न साधु बैठे थे, चारों वैराग्य में पूर्ण थे और विष्णु की उपासना में लग रहे थे, उस स्थान पर स्त्रियों के जाने की मना थी क्योंकि वह कार्तिकेय स्वामी का आश्रम था, बुड्ढा, ब्राह्मण और नवयौवना सुन्दरी साथ २ वहां पहुंचे ! ब्राह्मण आगे था और सुन्दरी पीछे थी, ब्राह्मण प्रणाम करके साधुओं के सामने बैठ गया, सुन्दरी भी वहां बैठने के लिये आगे बढ़ी, एक साधु उसे देखते ही बोल उठा " हट ! रंडी ! कहां आती है ? तुझे मालूम नहीं है कि यह फक्कड़ों का स्थान है ?" दूसरा त्यागी बोला "यहां रंडी मुंडी का कुछ काम नहीं है !" तीसरा बोला "हट यहां से ! नहीं तो चीमटे से खबर ली जायगी !" चौथा मुख्य साधु ब्राह्मण की तरफ देख कर "क्या यह बाई तुम्हारे साथ है ?" बुड्ढे ने कहा "महाराज ! मेरे साथ नहीं है ! रस्ते में से मेरे पीछे लगली है ! मैं उसे जानता भी नहीं हूं !!" त्यागी "बाई ! यहां स्त्रियों के आने की मनाई है ! जा !" लक्ष्मी बोली "इस बुड्ढे को भी निकाल मैं जाऊं !" प्रथम त्यागी क्रोधित होता हुआ लेकर दौड़ा ! लक्ष्मी ने प्रथम तो अनेक साधुओं को मोह में डालने की चेष्टायें कीं परंतु सब चेष्टायें निष्फल हुई देख कर वह भी क्रोधि और हठ धारण करके साधुओं के समीप आने सबने आने की मना की परंतु लक्ष्मी ने न माना जवान त्यागी साधु चीमटा लेकर उठा और चीमटे लक्ष्मी की पीठ पर जड़ दिये ! गरिया समान लक्ष्मी वहां बैठगई और न हटने का किया ! ऐसा देख कर दूसरे साधु भी दौड़े, हाथ में लम्बे २ चीमटे थे ! सब को आता कर लक्ष्मी वहां से भागी ! साधु बैठ गये, एक "कैसी रंडा थी ? ठगने को आई थी ! भले मुनियों को यह ही भ्रष्ट करती है !" बुड्ढ "आप को धन्य है ! आप त्यागी हो ! जि रंडी मुंडी कहते हो, जिस को आपने चीमटे लगा दिया है, वह साक्षात् लक्ष्मी है ! आप पछताना होगी, जाइये और उसे मना लीजिये ! त्यागी बोला " लक्ष्मी हो या लक्ष्मी की दादी न हो, हम लोग तो उस से दूर ही रहने वाले तू भी उस का साथी हो तो जा, भाग यहां बुड्ढे ने कहा "यदि मैं विष्णु होऊं तो ?" दूसरा बोला " हम लक्ष्मी के संग वाले विष्णु की नहीं करते ! हमारा विष्णु निर्गुण सगुण होते प्रकृति से पर है !" बुड्ढा बोला " तब मैं यह कह कर चलने लगे परंतु उठ न सके साधुकी भक्ति के आकर्षण ने उन्हें रोक लिया न दिया ! विष्णु विचारने लगे "मैं जाना जा क्यों नहीं सका ? मालूम होता है कि का प्रेम मुझे यहां खेंच लाया है और उसी रोक रक्खा है ! मुझसे मेरा भक्त प्रबल है ! आज्ञा बिना मैं यहां से उठ नहीं सका !"

कर विष्णु मुख्य साधु की तरफ देख कर बोले "महाराज ! आप मुझे जाने की आज्ञा दीजिये !" साधु बोला "मैं जानता हूं, आप विष्णु हो, लक्ष्मी को शान्त करने हमारे पास से जाना चाहते हो, अच्छा ! जाओ, परंतु एक घंटे में लौट कर आना होगा ! और लक्ष्मी रहित ही आना होगा !" विष्णु इच्छा कह कर चलदिये और लक्ष्मी से आकर मिले। लक्ष्मी अपना अपमान होने और चीमटे लगने से रो रही थी ! विष्णु ने कहा "अब रोती क्यों हो ? मैंने तुम से पहिले ही कहा था, मेरी बात न मानी, उस का यह फल है ! वे मेरे पूर्ण भक्त हैं ! संत हैं ! उन का अधिकार मुझ पर भी चलता है ! उन के दर्शन से तमाम कोट जन्मों के पाप भी निवृत्त हो जाते हैं !" विष्णु पास आने से लक्ष्मी को धैर्य हुआ, वह कहने लगी "मेरे किसी पाप का उदय हो आया था, जिस से तुम्हारी बात न मानी इस लिये कष्ट भोगना पड़ा।" विष्णु बोले "साधुओं के पास जाता हूं, एक घंटे की छुट्टी लेकर आया हूं, तुम्हारे पास विशेष देर तक नहीं रह सका !" लक्ष्मी बोली "क्या तुम भी उनके वश में हो ?" विष्णु ने कहा "हां !" लक्ष्मी बोली "तब मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी और साधुओं के दर्शन करूंगी !" विष्णु बोले "यह कैसे बन सकता है ? लक्ष्मी को अपने पास आने ही नहीं देते ! यदि तुम को मेरे साथ चलना हो तो मुझ में अदृश्य हो कर चलो ! मैं तुम को स्त्री रूप से साथ नहीं ले जा सकता !" लक्ष्मी ने यह बात मानली और विष्णु में प्रवेश कर गई ! विष्णु ने अपने विष्णु रूप से साधुओं को दर्शन दिया। साधुओं ने अपनी तपश्चर्या का फल पाया। विष्णु बोले "हे भागवतो ! तुम मेरे भक्त हो, मैं भक्त के आधीन हूं इस लिये तुम्हारी आज्ञानुसार अकेला ही आया हूं परंतु सच बात तो यह है कि मैं लक्ष्मी को छोड़ कर रह नहीं सका ! और लक्ष्मी भी मेरे विना नहीं रह सकी ! लक्ष्मी से ही तुम को मेरे सगुण स्वरूप का दर्शन होता है ! साधन की अवस्था में लक्ष्मी, माया, मोह, सब अविद्या रूप होने से उन्हें त्यागने की आवश्यकता है, मुक्त से भिन्न लक्ष्मी ही तुम को और सबको दुःख का हेतु है; मेरी प्रकृति-मुझ में रही हुई प्रकृति-अदृश्य प्रकृति किसी को भी दुःख का हेतु नहीं है। तुम ने अपनी पूर्ण भक्ति से मेरा सगुण दर्शन पाया है, अब मैं अपने निर्गुण स्वरूप को कहता हूं, उसे सुनोः—मैं जगत् का कर्ता, भर्ता और आधार होने पर भी वास्तविक अव्यक्त स्वरूप हूं, वेद के ज्ञाता जिसे अक्षर कहते हैं, वह मैं हूं, त्याग वाले यति लोग जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, वह मैं हूं, और जिसे प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण किया जाता है, वह मैं हूं, प्रत्येक में विद्यमान् हूं, परन्तु अविद्या से आच्छादित जनों को मेरा प्रत्यक्ष नहीं होता, वे लोग माया के चक्र में घूमा करते हैं ! जो माया के भावको छोड़कर मायिक अनेकता को मिथ्या समझते हैं, उनको मैं प्रत्यक्ष हूं। मेरी माया मुझसे भिन्न नहीं है इसी प्रकार मेरी माया का विस्तार मेरी माया से भिन्न नहीं है। एक का एक में लय होनेसे केवल मैं ही एक रहता हूं, मेरे सिवाय यत्किंचित् कुछ भी नहीं है, ऐसा जिस को निश्चय होता है, जो अपने को मिथ्या जान कर अपने व्यक्तत्व को मुझ में मिला देता है, वह परमपद को प्राप्त होता है। वह ही पक्का श्रीमान् है ! उसे ही परमानन्द प्राप्त होता है ! अन्य को नहीं ! मेरे उपदेश से तुम्हारी अद्वैत निष्ठा पक्की होगी, तुम मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होगे !" इस प्रकार का शान्तिदायक उपदेश सुन कर साधुओं के प्रेम का उदधि उछलने लगा ! सब के सब परमानन्द में मग्न होगये ! शरीर की भी सुध बुध न रही ! परब्रह्म स्वरूप होकर परब्रह्म में ही क्रीड़ा करने लगे !

ऊपर के दृष्टान्त से मालूम होगा कि साधुओं को लक्ष्मी का पूर्ण त्याग था। लक्ष्मी के अनेक हाव भावों से भी वे मोह को प्राप्त न हुये। लक्ष्मी का त्याग करने से ही उन को लक्ष्मी का पति मिला और वे परम पद को भी प्राप्त हुये। लक्ष्मी विष्णु को छोड़ कर रह नहीं सकी, जो लक्ष्मी को छोड़ता है, उस के पास से लक्ष्मी चली जाती हो, ऐसा न समझना चाहिये। वह ही लक्ष्मी शान्ति आदिक गुणों में बदल जाती है। भला ! जिसके लक्ष्मीपति प्रसन्न हों, उसे लक्ष्मी का क्या टोटा है ? वह तो सर्व संपन्न है ! जो लक्ष्मी को ही चाहता है, वह तत्त्व को छोड़ता है—लक्ष्मीपति को छोड़ता है और जो लक्ष्मी को छोड़

कर लक्ष्मीपति को ही चाहता है तो लक्ष्मीपति के साथ गुप्त रूप से लक्ष्मी भी उसके पास आजाती है, यहां लक्ष्मी का स्वरूप बदल जाता है। लक्ष्मीपति वाले के पास अब जो लक्ष्मी आती है, वह शुद्ध लक्ष्मी है, गुप्त रूप है और उपद्रव से रहित है, इसी से वह श्रीमान् कहलाता है। अज्ञानांधकार में फंसे हुये को वैसी लक्ष्मी प्रत्यक्ष न दीखे इस लिये वह अपने को दरिद्री समझे तो ऐसे मनुष्य के कथन पर चित्त ही न देना चाहिये।

ऊपर जिस को वास्तविक श्रीमानता कहा है, वह लौकिक श्रीमानता के समान नहीं। है लौकिक श्रीमानता लोक में भले श्रीमानता कही जाय परन्तु वास्तविक श्रीमानता के सामने वह तुच्छ है और आत्मिक श्रीमानता में बहुत अंश में विरोध करने वाली है इस लिये उस की कुछ भी कीमत नहीं है, वास्तविक श्रीमानता विशेष लक्षण युक्त है, अखंडित है, और सब प्रकार के दुःख और दुःखों के भाव-चिन्ता से रहित है। ऐसी श्रीमानता को प्राप्त करना ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। जो ऐसी श्रीमानता को प्राप्त करले तो कभी कंगाल होने का प्रसंग ही न आवे ! परन्तु लौकिक श्रीमानता में फंसे हुये, लौकिक बुद्धि वाले, लोक में ही सुख मानने वाले को उस श्रीमानता का ख्याल तक होना भी अशक्य है, स्वप्न में भी यह श्रीमानता उसे प्राप्त नहीं हो सकी तब जाग्रत् में किस प्रकार प्राप्त हो ? जब तक जगत् की तुच्छता समझकर आत्मा की तरफ विशेष प्रीति न हो तब तक संसार चक्र की निवृत्ति नहीं हो सकी। उस पुरुष को धन्य है, जिसको वास्तविक श्रीमानता की तरफ प्रेम है, उसको विशेष धन्य है, जो उसके प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा हुआ है और जिसने उसे प्राप्त कर लिया है, वह कृतार्थ है। उसकी श्रीमानता का, उसके आनन्द का, उसकी निर्भयता का वह स्वयं ही अनुभव कर सका है, उसका अनुभव कथन से बाहर है, वह ही परम पद—निर्वाण है।

तत्व बोध के निश्चय की कठिना

आश्चर्य यह है कि जो सब का आधार है, जो सत्ता स्फुर्ति दाता है, सब का तत्व रूप है, उसका जल्दी से निश्चय नहीं होता और जो वास्तवि है, उस का लोगों को निश्चय हो रहा है! भ्रम हो रहा है और उसी में सब संसार रमण कर तत्वज्ञ की दृष्टि में यह सब आश्चर्य ही है, इन्द्रि बोध होता है, स्थूल तत्व को जानते हैं, सूक्ष्म अनुमान से जानते हैं, सब पंचभौतिक पदा ज्ञान हो सका है और स्थूल बुद्धि कृत आविस्कार जो सूक्ष्म बुद्धि का विषय हैं मनुष्य कर सका है, न जानी हुई वस्तुओं जाता है, लाखों कोस दूर ऐसे ग्रहादिकों कर सका है परन्तु अपने वास्तविक तत्व नहीं होता। सैकड़ों कोस का सफर कर है परन्तु अपने आप तक पहुंचने में की बुद्धि मोथरी हो जाती है। जिस तत्व के निमित्त अनेक शास्त्रों की रचना की गई है काल से ही ऋषि मुनि तत्व का उपदेश आये हैं और वर्तमान समय में भी तत्व के बोध के निमित्त भाष्य, भाषा टीका और नवीन दिन पर दिन किये जाते हैं तो भी तत्व निश्चय होना कठिन हो रहा है! अनादि तत्व के निश्चय वाले बहुत थोड़े होते हैं कारण क्या है ? यदि तत्व की सूक्ष्मता और कारण समझी जाय तो सूक्ष्म और गंभीर शास्त्रों के पारंगत बहुत मिल सके हैं, के जानने वाले क्यों नहीं मिलते ? यदि जाय कि विषय अदृश्य होने से उस का कठिन है तो शास्त्रकार उस तत्व को कहते किंतु ऐसा कहते हैं कि वह इतना प्र ऐसा अखंडित प्रत्यक्ष कोई पदार्थ हो ही न यदि थोड़ी देर के लिये इस तत्व को भी लिया जाय तो भी बोध तो होना ही कि बहुत से भौतिक विज्ञानवादियों ने की शोध भी कर डाली है तो उसकी भी

चाहिये और बोध भी होना चाहिये। कोई २ अपनी बुद्धि को तीव्र समझने वाले—अपने को अकल मंद मानने वाले यहां तक कहने की धृष्टता करते हैं कि जब हम से जाना ही नहीं जाता तब तत्त्व फत्व कुछ है नहीं, केवल बुद्धि को हैरान करना है। सच है, पर बने हुये बुद्धिमानों को तत्त्व बोध होना अशक्य है परन्तु कोई २ श्रद्धा वाले भी तो हैं, उन को बोध क्यों नहीं होता ? ऐसा जान कर मनुष्यों की बुद्धि चक्र में पड़ जाती है इस लिये वे आत्म बोध-तत्त्व बोध का पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं, यदि तत्त्व ज्ञानी भी तत्त्व बोध के लिये पुरुषार्थ करने को कहे तो भी नहीं मानते और कहने लगते हैं कि हम को दिखला दो तब हम मानें ! भला ! दिखलाया कैसे जाय ? जो दिखलाने का पदार्थ हो उसी को दिखला सके हैं। युक्ति प्रयुक्ति से समझाया जाता है तो भी योग्य अधिकारी बन कर पूर्ण निश्चय करने वाला कोई विरला ही निकलता है !

कभी कोई जब परब्रह्म की सर्वज्ञता और विशेषता और ज्ञानी को अखंड सुख की प्राप्ति, शास्त्र बंधन से रहितता, आदि बड़ी २ बातें सुनने में तब परब्रह्म की तरफ उन की रुचि होती है। प्रथम तो वह रुचि दृढ़ नहीं होती क्योंकि उस रुचि के प्रथम जो वैराग्य होना चाहिये, वह नहीं होता इस लिये वैराग्य रहित रुचि से कार्य नहीं होता, दूसरे विद्वानों ने अधिकारी के जिन लक्षणों की योजना की है, वे यथार्थ नहीं होने, तीसरे मनुष्य सामान्यता से अपने को श्रेष्ठ मानता है और अधिकारी के लक्षण न होने पर भी ऐसा समझता है कि वे लक्षण मुझ में हैं इस लिये उस की प्रवृत्ति फल देने वाली नहीं होती क्योंकि जिस ब्रह्म दर्शन के लिये जैसा हो कर जाना चाहिये, वैसा न होने से ब्रह्म दर्शन के स्थान पर भ्रम दर्शन भी नहीं होता ! जिस की जगत की कामना छुटी नहीं है, ऐश्वर्य के ऊपर ही जिस का लक्ष है, वह परब्रह्म में भी व्यक्तियुक्त ऐश्वर्य को ढूंढता है, ऐसा ऐश्वर्य उसे वहां नहीं मिलता। भला ! ऐश्वर्य चाहने वाला सीधे सादे परब्रह्म को किस प्रकार समझे ? इसी से वह उसे जान नहीं सका। यदि श्रद्धायुक्त होकर मान भी ले तो निश्चय नहीं होता, व्यक्तित्व का निश्चय हटे बिना तत्व का निश्चय नहीं हो सका। इस लिये सहज बात भी उस के लिये कठिन हो जाती है।

अखंडित अद्वितीय तत्व कोई सहज तत्त्व नहीं है, वह सब तत्वों का तत्व है—ब्रह्मांड भर का तत्त्व है, महान से भी महान् और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। जब सब परिवर्तन वाले हैं तब वह परिवर्तन रहित, विकार और क्रिया रहित है इस लिये सहज में बोध होने का विषय नहीं है। यह नियम है कि जो पदार्थ जाना जाता है—जिस का बोध होता है, वह पदार्थ और उस का बोध करने वाला दोनों जब एक अवस्था, देश, काल में हों तब ही उस का बोध हो सका है, जितनी अवस्थायें हैं, सब मायिक हैं तत्त्व अवस्थाओं से बाहर है, देश और काल से भी तत्त्व बाहर है इस लिये अवस्था, देश, काल के अभिमानी जीव को जानने का विषय नहीं होता। अद्वितीय तत्त्व निर्गुण, निराकार है, अक्रिय, अव्यक्त है, उस के जानने के लिये वैसा ही होना पड़ता है, जीव भाव से ऐसा हुआ नहीं जाता, क्योंकि जीव सगुण, साकार, क्रिया वाला और व्यक्त स्वरूप है इस लिये जीव से तत्त्व जाना नहीं जाता। तब कोई कहे कि ज्ञानी लोगों को जो बोध होता है, वह भी तो अवस्था, देश, और काल में ही होता है, ज्ञानी भी गुण वाले, साकार, क्रिया करने वाले और व्यक्त स्वरूप हैं, फिर उन को बोध होना किस प्रकार संभव है ? यह कहना ठीक है, ज्ञानी भी ऐसे ही हैं परन्तु तत्त्व के समझने की सूक्ष्म युक्तियां हैं, जिन से वे सब को त्याग कर सब का बाध कर के तत्व का अनुभव कर सके हैं। युक्तियां आगे वर्णन की जायगी।

जीव को अनेक जन्मों से व्यक्तिपने का अभ्यास हो रहा है। सुनते, समझने और विचार करते हुये भी उस का व्यक्तित्व शिथिल नहीं होता। जीव हमेशा ऐश्वर्य की तरफ लोलुप रहता है, भौतिक ऐश्वर्यता को ही श्रेष्ठ समझता है, वास्तविक ऐश्वर्य उस की समझ में नहीं आता, यदि समझ में आ भी जाय तो वह उसे शून्य, तुच्छ और गुम सुम कह कर

उस का तिरस्कार करता है इस लिये तत्व का बोध—निश्चय नहीं होता। जो अपने व्यक्तिपने के नाश से डरता है, उसे अव्यक्त का बोध--साक्षात्कार किसी काल में नहीं हो सक्ता, जगत् की आसक्ति वाले के लिये परब्रह्म का बोध नहीं है, शास्त्र में भी जगत् और ऐश्वर्य की चाहना वाले को शुभ कर्म और उपासना ही बताई है, तत्व बोध का अधिकारी वह ही होता है, जिसे जगत्—जगत् के भोग—ऐश्वर्य में कष्ट ही कष्ट मालूम होता हो, यदि ऐसा न होगा तो श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने पर भी तत्व बोध न होगा।

संसार में जो पदार्थ अथवा ऐश्वर्य जिस किसी को प्राप्त होता है, वह पदार्थ और ऐश्वर्य उसकी इन्द्रिय और बुद्धि का विषय होता है, तब ही उस को जान सके हैं। तत्व बोध ऐसा नहीं है। यद्यपि निश्चय वाले तत्व ज्ञानी को तत्व का अनुभव होता है परन्तु वह दूसरे की बुद्धि का विषय नहीं है इस लिये दूसरा यह नहीं जान सक्ता कि उस को तत्व की प्राप्ति हुई है। व्यवहारिक किसी मार्ग में चलना होता है तो साथ में संगी मिल जाते हैं, तत्व बोध में कोई संगी नहीं होता। इतना ही नहीं परन्तु तत्व बोध करने वाले का अहंभाव तक नहीं रहता इस लिये तत्व बोध होकर निश्चय होना कठिन है। एक मनुष्य को आया हुआ स्वप्न जैसे दूसरे को जानने का प्रत्यक्ष विषय नहीं है ऐसे ही तत्व बोध भी है। स्वप्न निद्रा दोष से होता है तो भी दूसरे का प्रत्यक्ष विषय नहीं है, स्वप्न का वर्णन करने से ही अन्य जान सक्ता है क्योंकि जिस का स्वप्न है, वह उस की सृष्टि में है। स्वप्न के समान तत्व बोध—मोक्ष भी ज्ञानी की सृष्टि में है इस लिये दूसरे के प्रत्यक्ष करने का विषय नहीं है, जैसे दूसरे से सुन कर दूसरे के स्वप्न को जान जाते हैं ऐसे ही तत्व बोध बुद्धि का अगम्य विषय होते हुये भी ज्ञानी कुछ २ उस का वर्णन करता है तो अन्य सामान्य मनुष्यों की समझ में नहीं आता इस लिये बोध हो कर निश्चय होना कठिन है।

सब मनुष्य तत्व बोध को नहीं चाहते, [जिस] प्रकार चाहना चाहिये इस प्रकार नहीं चाहते तो कोई भी ऐसा नहीं है, जिस को परम[...] इच्छा न हो परन्तु वह इच्छा शब्द मात्र ही है [...] नहीं है। धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, आयु आदि [...] प्रकार के संसार के और दिव्य २ देवताओं [...] की चाहना होती है, उस चाहना के सामने तत[्व] की चाहना तुच्छ रूप से होती है, ऐसी चा[हना से] तत्व बोध किस प्रकार हो? जिसे पूर्ण तत[्व] की चाहना होती है, और जगत् की [...] निवृत्त हो जाती है तो उसे योग्यता भी प्राप्त हो[ती] है, इस से विरुद्ध जब यथार्थ मुमुक्षुता नहीं [...] जगत् का प्रेम भी नहीं हटता। जगत् का प्रेम [...] के कारण प्रयत्न करते हुये भी तत्व बोध नहीं। [...] वास्तविक तीव्र इच्छा न होने से तत्व बो[ध] निश्चय नहीं होता। संसार का सुख चाहते [...] मोक्ष की इच्छा करते हैं इस लिये मोक्ष की प्रा[प्ति नहीं] होती।

योग्य अधिकारी न हो कर श्रवण, मनन में [...] से वाचक ज्ञान होना संभव है, मोक्ष होना [...] नहीं है। वाचक ज्ञानी अयाथर्थ ब्रह्म का निश्[चय कर] डालते हैं, अपने को ज्ञानी समझ बैठते हैं, [...] स्थान में आगे क एक ही वर्ण ऐसे ब के बदले [...] करके भ्रम का ही निश्चय करते हैं इसलिये [...] फल को नहीं प्राप्त होते किन्तु भ्रमरूप फल [...] प्राप्त होते हैं। ब्रह्म का विषय सूक्ष्म से भी [...] गंभीर और निर्मल है, कामनाओं के प्रतिबंध [...] उसमें लक्ष नहीं जाता, इसलिये भ्रम होता [...] कामना वाले निश्चय के स्वरूप को भी नहीं जा[नते] इसी से तत्व बोध कठिन है।

संसार में से परब्रह्म तक पहुंचने के लिये [...] सीढी लगी हुई नहीं है। यदि सीढी लगी हुई [...] तो चढ़ते २ ऊपर पहुंच जाते। संसार काल्पनि[क है] परब्रह्म सत्य है तब काल्पनिक में से सत्य [...] में सीढी कैसे लगे? सीढी ऊपर पहुंचने के लिये [...] है, परब्रह्म ऊपर, नीचे, मध्य आदि से रहित [...]

वहां सीढो कैसे पहुंचे ? संसार व्यक्त स्वरूप है, परब्रह्म अव्यक्त स्वरूप है, तब व्यक्त में से अव्यक्त में सीढी कैसे पहुंचे ? कोई शंका करे कि जब परब्रह्म तक पहुंचने को सीढो नहीं है तो शास्त्र वचन और महात्मा ऋषियों का कथन किस निमित्त है? क्या यह सब झूंठ मूंठ ही है ? तो उसका उत्तर यह है कि मोक्ष एक होते हुये भी अज्ञानियों को समझाने के लिये मोक्ष के दो अंग कहे हैं, एक तो जगत् के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और दूसरी परमानन्द की प्राप्ति। जिस अवस्था में जगत् है, उस अवस्था में जगत् के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है। जगत् में से लगाई हुई सीढी जगत् के दुःखों की निवृत्ति तक ही पहुंचती है, परमानन्द की प्राप्ति तक नहीं पहुंचती। शास्त्र के जितने वाक्य हैं, वे जगत् के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति तक ही हैं। श्रवण, मननादि से दुःखों की निवृत्ति ही होती है, परब्रह्म की प्राप्ति तो संयोग से अनायास ही होती है। उपायों से ज्ञान प्राप्ति का संभव होने से ही उपाय परम पद के साधन रूप दिखलाये हैं। तत्व बोध जगत् की कक्षा में है और ज्ञस तत्व स्वरूप में है। बुद्धि का बोध करके बुद्धि वृत्ति से तत्व का बोध होता है और बोध स्वरूप स्वतः सिद्ध है। अनायास होने वाला होने से तत्व बोध का निश्चय कठिन है। जैसे औषधि रोग निवृत्ति का हेतु है, मृत्यु की निवृत्ति का हेतु नहीं है इसी प्रकार संसार के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति होने के लिये ही सब प्रयत्न हैं, अमरत्व प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। जब स्वतःसिद्ध की प्राप्ति अनायास से होती है तब ही कृतार्थ होता है।

प्रत्येक परब्रह्म का ही स्वरूप होने पर भी मल, विक्षेप, आवरण, ये दोष प्रबल होने से, इन दोषों की निवृत्ति कठिनाई से होती है। अनेक जन्मों का पाप अथवा वर्तमान जन्म का पाप मलस्वरूप है, अनेक प्रकार की कामनाओं से विक्षेप होता है और कामनायें आवरण से होती हैं। देहासक्त देहधारी को इन तीनों की निवृत्ति होना कठिन है। तीनों आपस में एक दूसरे की मदद करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप हैं। आवरण सब का कारण है, विक्षेप सूक्ष्म है और मल स्थूल है। कई अंशों में इन तीनों का नाश किया जाय तब परब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होता है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होने में असम्भावना और विपरीत भावना बाधक हैं। ये इतनी सूक्ष्म हैं कि समझने में नहीं आतीं और जब तक वे यथार्थता से समझी नहीं जातीं और प्रयत्न पूर्वक निवृत्त नहीं की जातीं तब तक तत्व बोध का पूर्ण निश्चय नहीं होता। कहने वाले तो कह देते हैं कि हम में असंभावना और विपरीत भावना नहीं हैं परंतु उनकी सूक्ष्मता— बारीकी को नहीं समझते इसी से प्रयत्न करते हुये भी आत्म बोध में स्थिति नहीं होती।

एक समय एक संत के पास एक मनुष्य पहुंचा और प्रणाम करके कहने लगा "महाराज ! मैं हैरान हो रहा हूं, मैं आप जैसे कई महात्माओं का संग कर चुका हूं, उन से मैंने शास्त्रों का श्रवण किया है, स्वयं भी मैंने शास्त्र पढ़े हैं, उनका अर्थ भी मैं जानता हूं, दूसरों को शास्त्र सिखा सकता हूं, मनन और निदिध्यासन भी वर्षों तक मैंने किया है और अब भी कर ही रहा हूं, कोई पच्चीस साल से प्रवृत्ति की तरफ मेरा चित्त नहीं है, ज्ञान की तरफ ही मेरी प्रवृत्ति है, कुटुम्ब की उपाधि से भी रहित हूं, मेरे पास कुछ धन है, उसके सूद से मैं अपना निर्वाह करता हूं, हमेशा तीर्थ यात्रा किया करता हूं, विशेष करके संतों के समागम में ही रहता हूं, घर पर रहूं तो भी शास्त्रों का पठन और मनन किया करता हूं, लोग मुझे ज्ञानी कहते हैं, अद्वैत पर मेरी निष्ठा है, अद्वैत ही सत्य है, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है, परन्तु मुझको यह निश्चय नहीं है, कि मैं ज्ञानी हूं या नहीं। कई ज्ञानी के लक्षण तो मुझ में मिलते हैं और कई नहीं भी मिलते, अब मैं अपने को क्या समझूं ? क्या ज्ञानी में ज्ञानी के सब लक्षण होने चाहियें ? या कुछ हों और कुछ न हों तो भी हो सकता है? मुझे किस प्रकार का ज्ञान कहना चाहिये? परोक्ष,अपरोक्ष, अथवा दृढ़ अपरोक्ष। आप से मैं प्रथम भी मिला था। आप मुझे समझाइये कि मैं कौनसी स्थिति में हूं। यदि मुझ में किसी प्रकार की न्यूनता हो

तो उस के निवृत्त करने का उपाय बतलाइये ! मैं सब जानता हूं, मोह ममता भी मुझ में नहीं है, कुटुम्ब की जाल नहीं है, देहासक्ति नहीं है तो भी मैं निश्चय पर क्यों नहीं आता ? स्थिर क्यों नहीं होता ? जो सन्त महात्मा जानते हैं, वह मैंभी जानता हूं, फिर भी दृढ़ता क्यों नहीं है ?" सन्त प्रसन्न होते हुये बोले "धन्य है ! तू जान कर भी ज्ञानवद्ध न हुआ इस लिये मैं प्रसन्न हूं, तेरे समान शुकदेव जी भी सब जानते थे, वे भी निश्चय को प्राप्त नहीं हुये थे। जब व्यास जी ने उन्हें जनक राजा के पास भेजा तब वे विश्रांति को प्राप्त हुये, यद्यपि तुझ में और शुकदेव जी में बहुत अन्तर है तो भी तू ने अपना कच्चा हाल सुनाया है, यह तू ने अच्छा ही किया ! पढ़े हुये तोते को अब हम क्या पढ़ावेंगे ? तेरी कचास किसमें है, यह ही दिखलाना पड़ेगा। जो कुछ कार्य मैं तुझसे करने को कहूं, यदि तू उसे करने को स्वीकार करे तो तुझमें जो कुछ कचास है, उसका तुझे प्रत्यक्ष बोध हो जाय !" मनुष्य बोला "महाराज ! मुझे आप का विश्वास है, मैं आप से यही चाहता हूं, जिससे मुझे आत्म बोध का निश्चय हो जाय !" सन्त बोले "तेरा बोध पक्का क्यों नहीं है ?" मनुष्य बोला "महाराज ! शास्त्र में जिस शांति का वर्णन किया है, वह शांति मैं अपने में नहीं देखता ! इस लिये शंका होती है कि जो मैंने जाना है वह ही तत्व है या और ही है !" इतने में उस देश का राजा सन्त के पास आया, उसे देख कर मनुष्य कहने से रुक गया। जब राजा प्रणाम कर के बैठ गया तब सन्त ने कहा "हे राजा ! आज मेरा एक काम तुझे करना होगा, मेरी आज्ञा का पालन करना ही होगा, जिसे तू अधर्म समझता हो ऐसा कार्य भी यदि मैं करने को कहूं तो तुझे बिना प्रश्नोत्तर किये करना होगा, बोल, क्या मेरी बात तुझे मंजूर है ?" राजा बोला "महाराज ! आप की आज्ञा शिरोवन्द्य है, आप की आज्ञा के अनुसार ही जब मुझे कार्य करना है तब धर्म रूप कार्य है, या अधर्म रूप कार्य है, यह देखने का मेरा काम नहीं है ! आज्ञा कीजिये ! दास आपकी आज्ञा के अनुसार वर्तने को तैयार है !" सन्त ने प्रथम आये हुये मनुष्य को अपने सामने खड़ा किया और "राजा ! तू अपनी तलवार निकाल, इस मनुष्य का शिर धड़ से अलग करना है ." राजा को तलवार निकालते हुये देख कर वह मनुष्य घबरा कर उठा "महाराज ! मेरा क्या अपराध है ? मेरा शिर क्यों कटवाते हो ? " सन्त ने कहा " तू तो अद्वैत स्वरूप है, अद्वैत स्वरूप मरता नहीं है, फिर शिर मारने से तुझे क्या ? " मनुष्य बोला "नहीं महाराज ! क्षमा कीजिये !" सन्त ने कहा " नहीं तेरा शिर अवश्य कटवाऊंगा ! क्या तू अद्वैत स्वरूप नहीं है ?" मनुष्य बोला " आप मुझे मरवा डालेंगे तो मैं तो मर ही जाऊंगा, जिसे कुछ भी लगता है ऐसा अद्वैत तत्व मैं नहीं हूं, !" सन्त ने कहा " देह के साथ तेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है, तब तू क्यों घबराता है ? राजा ! अपनी तलवार म्यान में रखले, (मनुष्य से) यह तेरी देहासक्ति ही अद्वैत तत्व का निश्चय नहीं होने देती। इस (राजा से) राजा ! एक काम कर, इस मनुष्य का कुछ धन साहूकारों के यहां जमा है, उसको अपने भंडार में डाल दे !" राजा बोला " अच्छा, महाराज !" मनुष्य बोला "महाराज ! ऐसा भी न करिये, मैं खाऊंगा कहां से ? मुझ से कोई धन्धा तो हो नहीं सका, भीख मांगा न जाय, यह धन ही मेरा प्राण है ! उसके बिना मैं किस प्रकार जियूंगा ?" सन्त ने कहा " सुन ! मिथ्या देह का धन भी मिथ्या है, तू तो सत् स्वरूप है, तुझे धन से क्या ? " मनुष्य हाथ जोड़ कर बोला " महाराज ! आप का कहना सत्य है परन्तु व्यवहार तो धन से ही चलता है !" सन्त बोले "देख ! यह तेरी धन की आसक्ति है, (राजा से) राजा ! इसका धन छीन लीजो ! (चोबदार से) जा, वह बाहर कौन जा रहा है, उसे भीतर बुला ला !" चोबदार ने बाहर जाकर देखा तो एक भंगन टोकरी में रोटी के टुकड़े लेकर जारही थी। चोबदारके कहने से भंगन संत के सामने आकर खड़ी होगई। संत ने कहा " तू कौन है और इस टोकरी में क्या है ?" भंगन ने कहा " मैं भंगन हूं, मेरी टोकरी में रोटियां हैं !" संत ने मनुष्य की तरफ अंगुली करके भंगन से कहा "

अपनी रोटियां मनुष्य को खिलादे, चली आ डरे मत!" भंगन को आती हुई देखकर मनुष्य घबरा कर संत के चरणों में गिर कर कहने लगा "महाराज! मुझे भ्रष्ट मत कीजिये, मैं उत्तम कुल का हूं, मेरी जाति वाले मेरा तिरस्कार करके मुझे जाति से छेक देंगे, बस्ती में कोई रहने भी न देगा!" संत ने कहा "बस! हो गया! ज्ञानी बन गया! ज्ञानी! (भंगन से) जा, अब तू चली जा, (मनुष्य से) देख! तुझ में कितने २ दोष भरे हुये हैं! तुझे पूर्ण देहाध्यास है! तेरी देहासक्ति किंचित् भी न्यून हुई हो, ऐसा मुझे मालूम नहीं पड़ता, धन की आसक्ति भी तुझ में पूर्ण है, और जाति अभिमान भी पूर्ण है। परब्रह्म के सामने ये सब आवरण हैं, ये आवरण रहते हुये तुझे यथार्थ बोध का निश्चय कैसे हो? जब तू इन आवरणों को निवृत्त करेगा, तब ही तुझे बोध का निश्चय हो सकता है, इसके सिवाय नहीं। (राजा की तरफ देख कर) यह मनुष्य अपनी परीक्षा कराने मेरे पास आया था, मैंने तीन परीक्षायें लीं, तीनों में से एक में भी यह उत्तीर्ण न हुआ, (मनुष्य से) जा, अब किसी साधु संत को मत सताइये!, अपनी न्यूनता को पूर्ण करके आइयो!" मनुष्य चला गया। न उससे संत की बताई हुई न्यूनता पूर्ण हुई न वह फिर आया!

अनंत काल से अज्ञान का अभ्यास पड़ा हुआ है, जब कई जन्मों तक शुद्ध होते हुये ज्ञान के मार्ग में प्रवर्त होते हैं और श्रद्धायुक्त होकर सत्कार सहित निरंतर अभ्यास में लगे रहते हैं तब दोष क्षय होने से अंतिम जन्म में ही यथार्थ बोध और निश्चय हो सकता है। निश्चय परिपूर्ण न होने में जो सूक्ष्म कचास होती है, वह अभ्यासी को मालूम नहीं पड़ती, ऊपर के मनुष्य में जो अपूर्णता थी, उस को संत ने जान कर युक्ति से दिखलाया था, संत का यह मतलब नहीं था कि कोई मारने आवे तो उसे चूं चां किये बिना मारने दे, यदि ज्ञानी का प्रारब्ध मरने में प्रतिबंध रूप हो तो वह भले ही चीखे, अथवा रुकावट करे, ज्ञानी की कोई क्रिया आसक्तिसहित नहीं होती परन्तु केवल प्रारब्ध के प्रवाह से होती है। प्रारब्ध के प्रवाह की कौनसी क्रिया है और आसक्ति युक्त कौनसी, इस को केवल ज्ञानी ही समझ सका है। उस मनुष्य की चिल्लाहट और मरने की तीव्र अनिच्छा उस की आसक्ति को दिखलाती थी, उस को दिखला देना ही संत की युक्ति थी, यह सूक्ष्मता समझ में न आने से ही आत्म बोध के दृढ निश्चय होने में कठिनाई है।

मनुष्य जगत् में के सत्य को ही सत्य समझते हैं इस लिये ऐसा ही कोई विशेषता वाला अबाधित सत्य होगा, ऐसा परब्रह्म को सत् स्वरूप मानते हैं, एक सा, सीधा, सादा, अस्तित्व रूप जो त्रिकालाबाधित सत् है, उस में लोगों को विशेषता नहीं दीखती, इस लिये ऐसे सत् के बदले वे विशेषता वाले, ऐश्वर्य वाले सत् को ढूंढते हैं, इस कारण सत् प्रत्यक्ष होने पर भी उन को सत् का बोध नहीं होता, ऐसे ही जो परमात्मा चित्स्वरूप है, उस में भी चैतन्यता को ढूंढते हैं, वहां सब चैतन्य की कारण चैतन्यता, सामान्य चैतन्यता है, विशेष चैतन्यता नहीं है, विशेष चैतन्यता रहित को लोग जड़ समझते हैं, इस लिये चित् को समझ नहीं सके। यदि कभी समझ भी जांय तो विशेषता न दीखने से उसे तुच्छ समझते हैं, उस पर प्रेम नहीं करते अथवा तो कोई महान् तेज का गोला रूप चैतन्य हो, ऐसा जान कर उसे जानना चाहते हैं, भौतिक तेज के गोले के समान वह है नहीं, इस लिये प्रत्यक्ष चित् को भी वे नहीं समझते। वास्तविक चित् सब का सत्ता स्फूर्ति दाता और भास रूप है, जो कुछ भासित हो रहा है, वह उसी के प्रकाश में भास रहा है, ऐसे महान् को वे लोग समझ नहीं सके, इसी प्रकार परब्रह्म आनन्द स्वरूप है, परमानन्द है, कभी भी नाश न हो, ऐसा आनन्द है, आनंद का ढेर है, जितना आनन्द ब्रह्मांड भर में है, वह सब उस परमानन्द का किंचित् है, ऐसा सुन कर लौकिक आनन्द की विशेषता वाले आनन्द को लोग ढूंढते हैं, विशेषता वाला आनन्द विशेषता ही में होता है, सम सत्ता में कहां? त्रिपुटी युक्त आनन्दाभास को लोग आनन्द मानते हैं, ऐसा आनन्द परब्रह्म में न होने से आनन्द में रहते हुये, आनन्द का अनुभव करते हुये भी आनन्द-परमानन्द को नहीं समझते, इन सब कारणों से पर-

ब्रह्म का जानना, समझना और निश्चय होना पूर्ण अधिकारी हुये बिना और योग्यता बिना कठिन है।

व्यवहारियों के लिये आत्म तत्व का निश्चय होना कठिन है परन्तु अशक्य नहीं है और संस्कारियों के लिये तो कठिन भी नहीं है। निश्चय करने वाली बुद्धि और आत्म तत्व एक अवस्था के नहीं हैं तो भी बुद्धि की अवस्था में भी आत्म तत्व अनुगत है, बुद्धि और बुद्धि की अवस्था की सिद्धि आत्म तत्व–चैतन्य से ही होती है, बुद्धि और बुद्धि की वृत्ति के भाव को अलग करके, उन में रहा हुआ बोध सामर्थ्य जिस का है, वह ही आत्म तत्व है, बुद्धि और आत्म तत्व बिलकुल भिन्न होते तो बुद्धि की वृत्ति से आत्म तत्व जाना नहीं जाता परन्तु ऐसा नहीं है इस लिये बोध करने वाले को अवस्था का भेद बाधक नहीं होता, बुद्धि की अवस्था का बाध कर के बुद्धि तत्व को जान सकी है इसी से शास्त्रोपदेश की सार्थकता है, जैसे दश रुपये के नोट में कागज और दश रुपये की रकम दोनों दीखते हैं, कागज की कीमत दश रुपया नहीं है और दश रुपया भी कागज नहीं है, कागज अधिष्ठान है और दश रुपये का उस में अरोप है, जब रुपया दीखता है तब कागज का भान नहीं होता और रुपये के भाव को छोड़ कर देखने से कागज दीखता है, इसी प्रकार सब प्रपंच के भाव को छोड़ कर, यह प्रपंच जिस में आरोपित है, ऐसा ब्रह्म भी जाना जाता है, दश रुपया अंक मात्र है, उस कागज में दश के बदले सौ अथवा हजार का अंक लिखा हो तो सौ अथवा हजार रुपया समझा जाता है, जिस राज्य का नोट है, उस राज्य में ही उस कागज की कीमत रुपया है, वस्तुतः वह कागज कागज ही है, दश सौ अथवा हजार का नहीं है, दूसरे राज्य में एक रद्दी कागज के समान उस का उपयोग होगा। यह संसार भी कागज रूप परब्रह्म में चित्रित है। चित्र के अनुसार व्यवहारिक दाम हैं, कागज में किसी प्रकार का विकार नहीं हुआ, कागज के समान सब प्रपंच के आधार–अधिष्ठान रूप परब्रह्म को इस प्रकार जाना जाता है, जैसे कागज देखने वाले को दश आदि रुपयों का भाव छोड़ कर जब कागज की वृत्ति करनी पड़ती है तब कागज जाता है इसी प्रकार परमतत्व जानने वाले इं जगत् का भाव छोड़ कर जगत् के अधिष्ठान की करनी होगी, योग्यता न होने से जो इस प्रकार की नहीं कर सक्ता, उस के लिये ब्रह्म तत्व का नि बहुत दूर है!

झूंठे और चलित निश्चय से काम नहीं च जैसे मनुष्य को मैं अमुक नाम वाला, अमुक का अमुक जाति वाला हूं इसका निश्चय कितना प है कि जिन्दगी भर में एक क्षण का भी नहीं ह जब परब्रह्म का निश्चय भी इसी प्रकार हो तब ही निश्चय है। जो कभी हो और कभी चलित हो। उसे निश्चय नहीं कहते। जैसे विष में लोगों पक्का निश्चय है, ऐसा कभी नहीं होता कि वि जाय और विषको अमृत समझने लगें। अमर का निश्चय भी ऐसा ही होना चाहिये। एक हुआ ज्ञान कभी नहीं जाता, उसका कारण यह कि जिस कारण से ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता वह अज्ञान मूल सहित निवृत्त हो जाता है इस ज्ञान अखंडित रहता है। जब काल्पनिक वस्तु निश्चय भी ठीक दृढ़ हो जाने से हटना कठिन है–नहीं जाता तब वस्तु स्वरूप वास्तविक बोध किस प्रकार जाय? जो कुछ देरी है वह समय पक्का निश्चय हो जाने की है।

एक किसान के लड़के को इस प्रकार का हो गया था कि मैं त्रिभुवन विजयि सुन्दरी के ही अपना विवाह करूंगा। घर वालों ने अन्य लड़कियों के साथ शादी करने को कहा परन्तु एक भी न मानी। मामूली खेती करके वह गुजारा किया करता था, श्रीमान् की कन्या मि ही कठिन था तो त्रिभुवन विजयि सुन्दरी की उसे किस प्रकार हो सकती थी? तो भी वह निश्चय में पक्का रहा। उस निश्चय के कारण बहुत सी सुन्दर कन्याओं के साथ विवाह मंजूर नहीं किया। घर वाले उसे एक प्रकार पागल समझते थे। अठारह वर्ष की उसकी

हो गई थी, हमेशा अपना खेतीका कामकर निर्वाह करता था। शादी न करने से माता पिता दुखी थे परन्तु वह किसी की भी मानता न था। एक दिन वह खेत को जा रहा था, मार्ग में उसे एक साधु मिला, लड़के ने साधु को प्रणाम किया। साधु ने आशीर्वाद दिया, "तेरा कल्याण होगा, मनोकामना पूर्ण होगी" लड़का चौंक कर खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर कहने लगा "महाराज! मेरी मनोकामना कैसे पूर्ण होगी? मैं त्रिभुवन विजयि सुन्दरी के साथ शादी करना चाहता हूं!" साधु बोला "कुछ भी हो, मेरा वचन मिथ्या नहीं जायगा, मेरे पीछे एक डोकरी आ रही है, उसके कहे अनुसार करने से तू अपने इच्छित लाभ को प्राप्त करेगा, जा उस से मिल!" किसान का लड़का आगे बढा तो कमर से झुकी हुई बहुत वर्ष की एक पुरानी डोकरी दिखाई दी। शरीर से सुन्दर होते हुये भी वृद्धावस्था न उसकी सब सुन्दरता छीन ली थी। अवस्था के अनुसार वस्त्र भी जीर्ण पहिने हुई थी! लड़के ने आगे बढ कर उसको प्रणाम किया और पैर पकड़ लिये। डोकरी ने कहा "बेटा! सुखी हो! तेरी इच्छा को मैं जान गई हूं, मैं कहूं, ऐसा कर, शरीर तक की परवा न करनी होगी, जाति भाव, अहंकार, और 'मैं अमुक २ हूं' इस भाव को छोड़ देना होगा, इतना साहस तुझमें होना चाहिये!" लड़के ने कहा "माई! त्रिभुवन सुन्दरी के विवाह का बलिदान रूप, मैं यह सब कर सका हूं, मुझमें साहस और उत्साह दोनों हैं, आप आज्ञा कीजिये, मैं क्या करूं!" डोकरी ने कहा "तू उत्तर की तरफ के विशाल वट के वृक्ष के ऊपर चढ जा, मैं यहां ही बैठी हूं, तुझे ऊपर से नीचे तक सुरंग के समान वृक्ष में पोल मालूम होगी, उस पोल में होकर नीचे उतर जाइयो, वहां तुझे एक कुत्ता मिलेगा, वह तुझे काटने को दौड़ेगा, उसे काटने दीजो, घबराइयो मत, जो घबरा गया तो वह तुझे मार डालेगा, नहीं तो वह तुझे काटेगा नहीं, आगे एक सिंह मिलेगा, वह भी गर्जना करता हुआ तेरे ऊपर दौड़ेगा, वहां भी घबराइयो मत, नहीं तो वह तुझे मार डालेगा। वहां से आगे बहुत से रत्न और जवाहरात मिलेंगे, उनको मत छूइयो, उन्हें लेगा तो तू भ्रष्ट हो जायगा! वहां धन दिखाई देगा कोई रोकने वाला न होगा, तो भी धन के लालच को रोक कर उसे छूने की भी इच्छा मत करियो, आगे तुझे एक देवता का दर्शन होगा, तू उससे कहियो कि मुझे सुवर्ण की अनमोल डिबिया दीजिये, वह देवता तुझे डिबिया ला कर देगा, तू उस डिबिया को ले कर ऊपर चढ़ कर उतर आइयो!" साहसी लड़के ने डोकरी के कहे अनुसार किया। कुत्ता काटने को दौड़ा, वह घबराया नहीं, सिंह की गर्जना से भी उसे भय न हुआ, रत्नों को देख कर भी वह प्रसन्न न हुआ, और देवता के दर्शन से भी उसे आनन्द न हुआ, गंभीरता से उसने डिबिया मांगी, देवता ने डिबिया लाकर दे दी, लड़का ऊपर चढ आया और वृक्ष पर से नीचे उतर कर डोकरी को प्रणाम कर के बोला "मा जी! इस डिबिया का क्या उपयोग है?" डोकरी ने डिबिया खोलने की युक्ति बताई। डिबिया आधे भाग से खुलती थी, आधे को अलग करने से डिबिया में से एक सुवर्ण का दंड निकलता था, वह दंड जो इच्छा कर के डिबिया पर ठोका जाय, वह इच्छा पूर्ण होती थी। किसान का लड़का सब युक्ति समझ कर डोकरी का प्रणाम करके अपने घर चला आया। घर पर आकर डिबिया के सहारे प्रथम उसने धन मंगवा कर अच्छा सा मकान बनवाया और सब राजसी ठाठ कर लिये। विजया दशमी के दिन शुभ मुहूर्त में डिबिया में सुवर्ण दंड ठोक कर कहा "त्रिभुवन विजयि सुन्दरी हाजिर हो! मैं आज तुझसे शादी करूंगा!" तुरन्त सुन्दरी हाजिर हुई, सब सामग्री रक्खी हुई थी ही, दोनों की शादी हुई, दोनों आनन्द से रहने लगे! आज भी दोनों परमानंद में मग्न हैं!

किसान का लड़का जीव है, जीव पाप पुण्य खेती किया करता है, पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों से परम शान्ति से विवाह करने का उसका निश्चय होता है, मार्ग में जो साधु मिला था, वह सद्गुरु है, सद्गुरु श्रुति भगवती रूप डोकरी को दिखला देता है। अनादि होने से श्रुति पुरानी डोकरी है। जब जीव श्रुति की सेवा करता है तब श्रुति संसार रूप

वृक्ष को बता देती है और उसके ऊपर से गहराई में उतरने का मार्ग दिखला देती है, संस्कार वाला उत्साही निर्भय जीव सब क्रिया करता है। प्रथम जो कुत्ता मिला था, वह कर्म रूप कुत्ता है, संस्कारी उससे नहीं डरता, सिंह जो मिला था, वह उपासना है, संस्कारी उससे न डर कर आगे जाता है, रत्नादिक जो मिले थे, वे सिद्धियां हैं, संस्कारी उन से प्रेम नहीं करता, देव दर्शन ऐश्वर्य रूप है, संस्कारी ऐश्वर्य में नहीं लुभाता, ज्ञान रूप देव से डिबिया जो मिली, वह महावाक्य की चाबी है, उसको लेकर जीव ऊपर आता है, यानी संसार से बाहर होता है। श्रुति उस डिबिया के दो भाग कर के ठोकर मारने को बताती है, यानी भाग त्याग लक्षणा समझाती है, तत्वमसि महावाक्य से पूर्ण विजय प्राप्त होता है और त्रिभुवन विजयि शान्ति रूप सुन्दरी को प्राप्त कर के जीव परमानन्द में मग्न होता है। देहाभिमान व्यक्ति भाव और धन आदिक की आसक्ति छोड़े बिना परम शान्ति का निश्चय नहीं होता और उसकी प्राप्ति भी नहीं होती।

चर्पट पंजरिका।

रथ्या चर्पट विरचित कंथः
पुण्यापुण्य विवर्जित पंथः।
न त्वनाहं नायं लोक—
स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥१०॥ भज०

अर्थः—मार्ग में पड़े हुये चीथड़ों को बीन कर उन की कंथा बनाने वाला, पुण्य पाप के मार्ग को छोड़ने वाला, तू नहीं, मैं नहीं यह लोक नहीं तो शोक क्यों करता है? गोविन्द का भजन कर।

भाषा पद्य।

चौहट चिथड़न कंथा कीन्हा।
पाप रु पुण्य रहित पथ लीन्हा॥
तू नाहिं, मैं नाहिं, नाहिं यह लोका।
तो किस हेतु कीजिये शोका॥ १०॥ भज०

विवेचन।

जगत् में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं, त्या
और रागी, यथार्थ स्वरूप के बोध बिना दोनों
कोई भी शोक रहित नहीं होता, त्याग से शो
निवृत्ति हो, अथवा राग से शोक की निवृ
ऐसा समझना भूल है, त्याग के भाव से भी त्या
स्वरूप को प्राप्त करने वाले बहुत कम होते हैं
राग के स्वरूप को जानने वाले भी थोड़े
राग और त्याग दोनों ही जगत् से सम्बन्ध र
जब तक उन का यथार्थ स्वरूप नहीं समझा
तब तक उन दोनों के फल की सिद्धि नहीं
राग और त्याग एक दूसरे से निवृत्त हो
परमात्मा में दृढ राग होता है तभी स्वरूप
होता है, स्वरूप के बोध के सिवाय करोड़ों
से भी शोक की निवृत्ति नहीं होती, जिस ने
त्याग कर दिया है, किसी से मांगता भी
ऐसा कोई भिक्षुक चौराहे पर से रद्दी सम
लोकों के फेंक दिये हुये ऐसे जो फटे, पुराने, मैले,
कपड़ों के टुकड़ों को बीन कर, सीकर गुदड़ी
वाला और उसे पहन कर शीत निवारण कर
भी शोक को नहीं छोड़ता, अन्य स्थान पर
चीथड़ों से चौराहे के चीथड़ों की विशेषता है क्यों
प्रेतादि का उतारा चौराहे पर रक्खा जाता है इस
चौराहे पर पड़े हुये पदार्थों में विशेष अशुद्धता
है, ऐसी अशुद्धता को भी न समझने वाला
पुण्य पाप के मार्ग को छोड़ दिया है, ऐसे भिक्षु
आत्म बोध बिना शोक होता ही है, इस से यह दिख
है कि जिस के पास कुछ समृद्धि है, उसे उस समृद्धि
कारण शोक होना संभव है, जिस के पास कु
नहीं, चीथड़ों की गुदड़ी बना कर ही शीत का
रक्षा करने वाला है, गुदड़ी भी ऐसी है कि कोई
कर नहीं लेजा सक्ता, तो ऐसे मनुष्य को शोक
होना चाहिये? ऐसा नहीं है, चाहे कोई पदार्थ
हो या न हो, शरीर इन्द्रियों का निर्वाह सब को
हुआ है, इस लिये वह शोक से रहित नहीं
सक्ता, और पाप पुण्य के मार्ग का विचार
चलने वाले को शोक होना संभव है क्योंकि

कार्य पुण्य का बनता है, कोई नहीं बनता, पाप का कर्म भी न चाहते हुये बनजाता है इसलिये उसको शोक होना चाहिये, परन्तु जिस ने पाप पुण्य के भाव को छोड़ दिया है उसे शोक क्यों होना चाहिये? यह बात भी नहीं है, वह भी शोक रहित नहीं होता, जब तक देहासक्ति है तब तक शोक रहित नहीं हो सक्ता। जिन का फल स्वर्गादिक उत्तम लोकों की प्राप्ति, सुख अथवा ऐश्वर्य हो ऐसे शास्त्रानुकूल कर्म पुण्य कर्म कहलाते हैं और जिन करके नरकादिक की प्राप्ति हो, अधम योनि- जाति में जन्म अथवा दुःख की विशेषता जिन का फल हो, ऐसे कर्म पाप कर्म कहलाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ से उन कर्मों का संबंध है और चौथा जो सन्यस्त आश्रम है वह अतीताश्रम होने से उस में शास्त्रविहित कर्म करने नहीं होते और कर्म कर के अथवा न करके बन्धन भी नहीं होता, ऐसी परम हंस दशा को प्राप्त संन्यासी आचार, विचार की भी परवा न करके विचरता रहता है, ऐसी दशा वाले परम हंस और शास्त्र के अनुकूल संन्यस्त धर्म को आचरण करने वाले, मैं और तू और ये सब लोक वास्तविक में हैं नहीं तब शोच किसका किया जाय? मतलब यह है कि पूर्ण परम हंस दशा की इच्छा की जाय तो व्यर्थ है क्यों कि वह उच्च दशा होते हुये भी वास्तविक नहीं है। व्यक्ति भाव और दशा लौकिक हैं, ज्ञान होने के बाद विशेष कुछ नहीं है। जिसका प्रारब्ध परम हंस दशा के योग्य होता है, उसकी परम हंस दशा होती है, जिसका प्रारब्ध ऐसा न हो किन्तु भोग की विशेषता हो तो ऐसी दशा में विचरना नहीं होता। ज्ञान में कुछ विशेषता न होने से ऐसी दशा प्राप्त होने के निमित्त शोच किया जाय तो व्यर्थ है, जो जो शरीर अथवा दशा दीखती है, आभास मात्र है, आभास मध्य में दीखता है, वस्तुतः नहीं है। जो दीखता है उसका नाश होता है। सच्चा पदार्थ कभी जाता नहीं, मिथ्या अवश्य जाता है तो ऐसे मिथ्या के लिये शोच क्यों करे? सच्चा है ही इस लिये शोच नहीं, मिथ्या जाता रहता है, इस लिये उसका भी शोच नहीं! मैं, तू और यह इन तीन करके सब का विस्तार हुआ है। जब जगत् ही नहीं है तो जगत् में रहे हुये मैं, तू और वह कहां हैं? जैसे एक वृक्ष है, प्रथम वह था नहीं, अन्त में नाश को प्राप्त हो जायगा, तब मध्य में जो दीखता है, उस समय भी वह यथार्थ स्वरूप नहीं है क्यों कि सच्चे का स्वभाव है कि वह हमेशा एक ही हालत में रहता है, सच्चे की उत्पत्ति नाश नहीं है, और जिसकी उत्पत्ति नाश है, वह मिथ्या ही समझना चाहिये, ऐसा समझने से किसी के लिये भी शोच करना नहीं रहता।

आचार्य ने जो उपदेश दिया है, वह सच्चे परम हंस के लिये तो हो नहीं सक्ता, ज्ञान रहित लौकिक दृष्टि से परम हंस के समान भ्रष्ट रहने वाले, शुद्धाशुद्ध न देखने वाले, विचार रहित पाप पुण्य के मार्ग को छोड़ने वाले, उद्धताई से घूमने वाले के लिये हो सक्ता है, उसको उपदेश देते हैं कि तू झूठा ढोंग क्यों करता है? झूठे ढोंग से कार्य की सिद्धि नहीं होगी! तू अपने आत्म स्वरूप को विचार, आत्म तत्व में मैं, तू और वह का भेद नहीं है, तू और तेरी सब कर्तूत मिथ्या है! जो तू यह कहे कि आत्म तत्व का बोध किस प्रकार हो? तो उसका उत्तर यह है कि आशा ममता को छोड़ कर अभिमान का त्याग करता हुआ गोविन्द का भजन कर, गोविन्द के शरण जा, गोविंद का भजन करते करते जगत का मिथ्यापना तुझे दृढ़ हो जायगा और बिना वेष धारण किये ही तू पूरा परम हंस बन जायगा।

जो कुछ है सो सच्चिदानन्द स्वरूप सत्यवस्तु ही है, जिसमें से अनेक आभास की प्रतीति होती है, उसी एक सच्चे पदार्थ में भूल से अनेक प्रकार की कल्पित वस्तुओं का आभास होता है। जैसे तीन मनुष्य अंधेरे में शहर के बाहर जा रहे हों, उनसे थोड़ी दूर पर एक सूखे वृक्ष का ठूंठ खड़ा हो, यथार्थ ठूंठ तो अंधेरे के कारण दीखता न हो, एक मनुष्य उसको अपनी कल्पना से परछांई समझने लगे, दूसरा कोई मनुष्य खड़ा हुआ समझे और तीसरा भूत समझने लग तो विशेष देखने से उसको आंख, नाक और लम्बा विचित्र स्वरूप उसकी कल्पना में खड़ा हो जाता है

और भय भी होता है। अब विचारना चाहिये कि ठूंठ में भय का कारण कौनसा है? भ्रांति के योग से उसमें अनेक कल्पनायें हो गईं और उनका स्वरूप प्रत्यक्ष भासने लगा। जगत् भी ऐसा ही भूल का है, सत्य एक अद्वैत तत्व है, जिसको वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म नाम से कहा है, उस आधार में ही जगत् और जगत् की सब कल्पनायें हो रही हैं। ऊपर के समान अज्ञान अवस्था में जगत् को मिथ्या मानने की बात हृदय में नहीं उतरती। एक विद्वान् ने कहा है कि सब जगत् नाश होने के स्वभाव वाला है और शरीर भी ऐसा ही है तब मनुष्यों को ऐसे मिथ्या के लिये परिश्रम क्यों करना चाहिये? संसार में मेरा तेरा करके ही सब दुःख को प्राप्त होते हैं, जब शरीर भी अपना नहीं है तो अपना और क्या होगा? दीपक की ज्योति के समान यह बात सबको मालूम है परन्तु अज्ञान रूप राक्षस के किंकर बने हुये मनुष्य जानी हुई बात पर भी अमल नहीं कर सके।

शंकाः—जब सब जगह एक अद्वितीय तत्व परब्रह्म ही भरा हुआ है, उसके सिवाय और कुछ है नहीं और जो दीखता है, वह मिथ्या है तब भजन करने से क्या फल होगा? जहां सब मिथ्या है, ऐसे जगत् में किया हुआ भजन भी मिथ्या होगा! शुद्ध तत्व में तो लाभ हानि कुछ है ही नहीं तब भजन करना, विधि निषेध बताना यह सब शास्त्र का कथन क्या बहकाने के निमित्त ही है?

समाधानः—नहीं! बहकाने के निमित्त नहीं है, तू स्वयं अविद्या के अथाह जल में बह रहा है, बहक रहा है, इस लिये अच्छा मार्ग भी बहकाने के निमित्त दीखता है। कैसी विचित्र शंका है! क्या तू अद्वितीय तत्व को समझ गया है? क्या जगत् का मिथ्यापना तुझे निश्चय हो गया है? क्या तुझे एक परम तत्व सिवाय कुछ दीखता ही नहीं है? ऐसा नहीं है, तू मात्र कथन करने वाला है, बोध को प्राप्त नहीं हुआ है! यदि तू बोध को प्राप्त हुआ होता तो तुझमें शंका ही न होती! तुझे शंका है तो निशंक रूप बोध तुझे नहीं है! एक अद्वितीय तत्व भरा हुआ है, यह कथन उसके लिये है जिसकी अद्वितीय दृष्टि है, तुझ जैसे बहिर्मुखों के लिये अद्वितीय त[illegible] है? एक अद्वितीय तत्व के सिवाय कुछ [illegible] यद्यपि यह यथार्थ ही है परन्तु तेरे लिये [illegible] अद्वितीय तत्व उसके लिये ही है, जो उस[illegible] हुआ है, जो अद्वितीय तत्व को जान कर स[illegible] स्थित है, उसने सब कुछ भजन कर लिया[illegible] लिये अब उसको भजन करने की आवश्यक[illegible] है, तेरी तो भोग की लोलुपता अभी निवृत्त न[illegible] है, भजन बिना सांसारिक फल की प्राप्ति भी [illegible] तुझे तो सुख, भोग और ऐश्वर्य चाहिये, ये [illegible] हों तो उनकी प्राप्ति कराने वाला भजन भी झूं[illegible] ऐसा होने से कुछ हानि नहीं है क्यों कि [illegible] सिद्धि झूंठ से ही होती है। यदि तू भोगि[illegible] को न चाहता हो तो भजन और शुभ कर्म [illegible] समझ कर मत कर! मूढ़! इस प्रकार [illegible] से न तो तेरे जगत् के अर्थ की सिद्धि होगी [illegible] परमार्थ की! शुद्ध तत्व में कुछ विकार [illegible] कुछ लाभ हानि नहीं है, यह सच है पर[illegible] तत्व से विमुख हुये ऐसे तुझको शुद्ध तत्व [illegible] कहां है? सच है कि नरक के कीड़े को [illegible] अच्छा लगता है!

शंकाः—सच्ची बात बताइये, कभी कु[illegible] कभी कुछ कहने से यथार्थ निर्णय नहीं हो[illegible] मेरा तो यह प्रश्न है कि जब तुम सब को झूंठ[illegible] हो तो भजन भी उस में आगया, वह भी [illegible] फिर भजन करने को क्यों कहते हो?

समाधानः—तेरा समाधान होना ही [illegible] मालूम होता है, मैं जिस भाव से कहता हूं, [illegible] से तू समझता नहीं है, फिर भी विचार! [illegible] झूंठ की उत्पत्ति होती है और झूंठ से ही [illegible] नाश होता है, विरुद्ध लक्षण वाले होने से [illegible] अवस्था वाले एक दूसरे के साधक बाधक [illegible] जगत् झूंठा होते हुये भी दुःख रूप है, जो [illegible] सच्चा मान रहा है, उसे जगत् में दुःख हो[illegible] लिये वह जगत् को झूंठ नहीं समझ सका, जैसे [illegible] झूंठा होता है, वो भी स्वप्न में स्वप्न को [illegible]

समझ सके इसी प्रकार जब तक जगत् रहेगा तबतक जगत का दुःख निवृत्त नहीं होगा इस लिये हमारा जगत् झूठा होते हुये भी जो सच्चा हो रहा है उसके दुःखों की निवृत्ति हमारे जगत् की निवृत्ति विना नहीं होती, संसार में भजन सांसारिक होते हुये भी जगत की निवृत्ति कर सका है, इसी अंश में अज्ञानियों को भजन करना चाहिये। भजन अज्ञान निवृत्ति का उपाय होने से भजन को सच्चा समझना चाहिये, जब स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है तब भजन की आवश्यकता नहीं रहती, आवश्यकता न रहना ही पारमार्थिक में मिथ्यापना है, जब तक स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक भजन को झूंठा न समझना चाहिये किन्तु कल्याण करने वाला समझना चाहिये, जैसे भूत झूंठा है, झूंठे भूत का उपाय भी झूठा है, झूठा भूत झूंठे उपाय से भाग जाता है। जो भूत को सच्चा समझता हो, उसे भूत की निवृत्ति के उपाय को भी सच्चा समझना चाहिये। यदि झूंठा समझेगा तो भूत की निवृत्ति कभी भी न होगी। सच्ची बात सच्चे में होती है, झूठे में नहीं होती, सच्ची अथवा झूंठी कोई बात है नहीं, अधिकारी के भेद से सच्ची और झूंठी है, जैसा अधिकारी हो, उसके लिये जो उसके उपयोग में आवे, वह ही बात सच्ची है, वह ही अधिकारी जब ऊंचे दर्जे में पहुंचता है तब नीचे के अधिकार वाले की बात उसके लिये उपयोगी न होने से उस के लिये ठीक नहीं होती, शास्त्र की सब रचना इसी प्रकार की है, जो जैसा अधिकारी होता है, उस को वैसा ही उपदेश दिया जाता है, तत्व में तो उपदेश उपदेशक और उपदेश का ग्रहण करने वाला सब एक रूप ही हैं परन्तु ऐसा एकता उपदेश सब को नहीं होता। जो तुझे जगत् के भोग और स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा हो तो शास्त्र के अनुसार शुभ कर्म और ईश्वर भजन कर जो तुझे परलोक-स्वर्ग के ऐश्वर्य की इच्छा हो तो उपासना रूप से गोविन्द का भजन कर और यदि मोक्ष की इच्छा हो तो मोक्ष का अधिकारी हो कर निर्गुण ब्रह्म ऐसा जो गोविन्द है, उसका भजन कर। कोई भी औषधि सच्ची या झूंठी नहीं होती। जैसा रोग होता है वैसी औषधि होती है, जिस रोग की जो औषधि है, वह उस रोग के लिये सच्ची है और अन्य रोगों के लिये झूंठी है, इसी प्रकार शास्त्र वाक्यों को भी समझ!

शास्त्र में अनेक युक्तियों से तत्व को समझाया है, जिस तत्व का जगत् है उसी तत्व का शरीर है, अपने शरीर को समझने से सब जगत् समझा जाता है और जगत को समझने से अपने शरीर को समझा जाता है। इस जगत का मूल तत्व अव्यक्त चेतन है, उस में किसी प्रकार का विकार न होते हुये, मध्य में कुछ आभास प्रतीत होता है और अंत में सब का लय उसी शुद्ध तत्व में हो जाता है। तत्व में विकार, उत्पत्ति अथवा नाश कुछ भी नहीं है, उस तत्व को जानना ही तत्व बोध है, तत्व बोध अज्ञान हटाने के लिये है। प्रत्येक शोक करता है और वास्तविक तत्व में कुछ हुआ है नहीं तो शोक करना मिथ्या ही है। ऐसा जानते हुये भी शोक होता है, शोक निवृत्त करने का गोविन्द के भजन सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, एकत्व भाव से, भिन्न भाव से, और सर्व भाव से भजन हो सका है। इन में से किसी भाव से अपनी योग्यतानुसार भजन करना चाहिये क्योंकि भजन सर्व सिद्धियों का दाता रसायन है।

एक समय एक तपोभूमि में चारों दिशा से चार साधु आये। चारों का रूप, रंग, क्रिया, वेष आदिक विचित्र थे, चारों एक दूसरे से मिलते न थे तो भी उन चारों में एक प्रकार की साम्यता थी। चारों ने एक वृक्ष के नीचे रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। प्रथम तो उन चारों ने जंगल में से फल कंदादिक लाकर कन्द को अग्नि में भून कर और फलों को वैसे ही खाकर पानी पिया, पास से लकड़ियां काट कर, रात्रि भर धूनी जले इतनी जमा करलीं, जाड़ों के दिन थे, रात्रि हो गई थी, बीचमें धूनी जल रही थी और धूनी की चारों दिशाओं में चारों साधु अपना २ आसन लगा कर बैठे थे। उन में से एक साधु बोला "भाइयो! हम चारों साधु हैं, प्रथम कभी मिले नहीं हैं, चारों दिशाओं से चारों आये हैं, हम सब ही चूमे हुये मालूम होते हैं, गृहस्थ

लोग हम को त्यागी कहते हैं, चारों ने अनेक रंग ढंग देखे हैं, अनुभव किया है, इस लिये इस स्थान पर हम चारों को अपने २ अनुभव का वर्णन करना चाहिये, गृहस्थी छोड़ने के बाद घूमते हुये अथवा किसी स्थान पर टिक कर क्या प्राप्त किया है? जब दो चार गृहस्थ मिलते हैं तो जाति, देश, रिवाज, धंधे आदिक की वार्ता किया करते हैं ऐसे ही हम लोगों को ज्ञान चर्चा करनी चाहिये, किस का कौनसा मार्ग है, किस हेतु से मूंड मुंडा कर घूम रहे हैं, सब संसार के वैभव को त्याग कर विचर रहे हैं, घर को छोड़ कर हम ने विशेष क्या प्राप्ति किया, कौन से निश्चय पर स्थिर हुये हैं, इत्यादि ज्ञान गोष्टि करना चाहिये!"

यह सुन कर एक साधु, जिसने इधर उधर से चीथड़े बीन कर शीत निवारण करने के लिये गुदड़ी बना कर धारण कर रक्खी थी, प्रसन्न होता हुआ बोला "बन्धो! तुम ने ठीक विचार किया है, यहां पर अपने २ अनुभव की ही चर्चा करनी चाहिये, तुम लोग मुझे देखते हो कि मैंने अनेक प्रकार के रंग के चीथड़ों की गुदड़ी पहिन रक्खी है, उन में से कई तो नये हैं, कई पुराने हैं, कई छोटे हैं, कई बड़े हैं, कई रेशमी हैं, कई ऊनी हैं, कई सूती हैं, इन चीथड़ों को मैंने घूम २ कर, जहां जो मिल गया, वहां से उठा उठा कर जमा किया है और उन की यह कंथा सी कर धारण कर ली है, लोग मुझे इस गुदड़ी के कारण गुदड़िया बाबा कहते हैं, मैं इस नाम से ही प्रसन्न हूं, गृहस्थ लोग मेरी इस गुदड़ी के मर्म को नहीं जानते, इस गुदड़ी में अनेक जवाहरात भरे हुये हैं, इस गुदड़ी की कीमत मैं ही जानता हूं, दूसरा नहीं जानता, इस गुदड़ी को बना कर धारण करने में मुझे बहुत परिश्रम पड़ा है, और परिश्रम का फल भी मुझे संपूर्ण मिला है, इस गुदड़ी की बदौलत मेरे सब दुःखों की निवृत्ति हो गई है, लोग इस को क्या समझें? मेरी यह गुदड़ी अमूल्य है, इस गुदड़ी ने मुझे श्रीमान् बना दिया है, मेरी गुदड़ी अमोल्य तो है ही, निर्भय भी है, चोर इस की चोरी नहीं करता! बंधो! आप तो मेरी गुदड़ी को समझ ही गये होंगे, फिर भी मैं स्पष्ट वर्णन करता हूं, यह मेरी गुदड़ी जगत् रूप है, जगत् में जो अनेक जाति पांति, नया पुराना, अच्छा बुरा है, उन को मैंने चुन लिया है और उन की एक गुदड़ी ली है। जैसे भिन्न चीथड़े होते हुये भी एक ही है, ऐसे ही जगत् भिन्न होते हुए एक ही है, जब भिन्नता का भाव होता है तब [illegible] है और जब सब को एक कर दिया जाता है तब [illegible] का आधार—अधिष्ठान रूप एक परब्रह्म ही [illegible] इस गुदड़ी को पहिन कर एक ही भाव को [illegible] गया हूं, ऐसा होने से जगत् का किसी प्रकार [illegible] दुःख रूपी शीत मुझ को नहीं सताता, महान [illegible] को निवारण करने वाली चौहट चीथड़ा कंथा [illegible] यह मेरी गुदड़ी है, अद्वय, अखंड, सच्चिदा[illegible] तत्त्वमसि।"

गूदड़ पुराण सुन कर तीनों साधु प्रसन्न [illegible] तीनों में से एक, जो नग्न अवस्था में [illegible] समान चेष्टा करता था, बोला "अब मेरा वर्णन सुन लीजिये, आप लोग जिस हालत में मुझे [illegible] हो, उसी हालत में मैं हमेशा रहा करता हूं। [illegible] वस्त्र धारण नहीं करता हूं, वस्त्र धारण करने से सब उपाधियां आकर खड़ी हो जाती हैं, पूर्व [illegible] से देह रूप उपाधि तो लग ही गई है, अब [illegible] उपाधियां क्यों बढ़ाऊं? यह शरीर उपाधि है [illegible] मैं उसे उपाधि ही समझता हूं, उपाधि के साथ [illegible] मेक भाव को प्राप्त नहीं होता इस लिये [illegible] पुण्य मुझे कुछ नहीं लगता, मेरा मार्ग ही पाप [illegible] रहित है, जो उपाधि से मेल करता है, वह [illegible] पापी है, और पापी होकर अनेक प्रकार के पाप [illegible] ग्रहण करता रहता है, मेरा मार्ग कंटक रहित है [illegible] एक हूं, अकेला हूं, अद्वैत हूं, शरीर होते हुए [illegible] शरीरधारी नहीं हूं, जब मैं शरीरधारी ही [illegible] तो बताओ, पाप पुण्य कौन करे? तुम्हारे [illegible] वाणी से बोलता हूं तो भी मैं वाणी रहित हूं, [illegible] भरा हुआ हूं, सब से अलग हूं, सब का सत्ता [illegible] दाता मैं ही हूं, फिर पाप पुण्य से मुझे क्या? [illegible] से क्या और परलोक से भी क्या? मेरा आना [illegible] नहीं होता, मुझ में ही सब का आना जाना हो[illegible]

आप इस तत्व को समझते ही हो, दुनियादार भला क्या समझें? वे मुझे नंगा बाबा पुकारते हैं, बिना समझे हुये भी उन का पुकारना ठीक ही है, असंग, अक्रिय, अविकारी के पास विकार वाले, मायिक, तुच्छ वस्त्र कहां? इसी से मैं नंगा हूं और सब का अंतिम बाबा हूं तो मुझे लोग नंगा बाबा कहें तो ठीक ही है, मैं व्यक्ति रूप नहीं हूं, मेरा शरीर नहीं है, मैं कुछ करता नहीं हूं, मुझ में कोई विकार नहीं है, मैं आकाश के समान व्यापक हूं, मैं सब तेजों का तत्व रूप तेज हूं, सब आनन्द हूं, यह मेरा निश्चय, यह मेरी स्थिति, यह ही मेरा मोद प्रमोद है, यह ही मेरा आनन्द है, बताइये कोई भूल तो नहीं है? अहंब्रह्मास्मि!"

नंगा बाबा का अनंग प्रकरण सुन कर तीनों साधु वाह !वाह! करने लगे। तीसरा साधु ऊपर वाले दोनों साधुओं से विलक्षण था, आश्रम के चिन्ह धारण किये हुये था, शिर पर जटा थीं, बगल में झोली, कमर में कौपीन था, हाथ में लम्बा चीमटा था, अंग पर भभूति लग रही थी, कहने लगा "मित्रो! मैं तुम को आश्रम के चिन्हों से अंकित शरीर वाला दीखता हूं, यह आश्रम शरीर का ही है, मेरा नहीं है! जब तक शरीर है तब तक आश्रम का व्यवहार करते रहने में मेरी हानि ही क्या है? हे सन्तो! जो तुम हो सो ही मैं हूं, और मैं हूं सो ही तुम हो, दूसरे प्रकार से कहा जाय तो मैं नहीं, तू नहीं और यह लोक भी नहीं, यह सब विवर्त देखने मात्र हैं, वस्तु में कोई विकार नहीं, वस्तु में परिणाम नहीं, सब स्थानों पर आनंद ही आनंद भरा हुआ है, आनन्द में आनंद जाता है, आनंद में आनंद बढ़ता है, आनंद में आनंद कम होता है, सब आनंद का ही तमाशा है, आनंद ही आनंद है, मैंने जो भभूति लगा रक्खी है, लोग मुझे भभूतिया बाबा कहते हैं, भभूति का भाव सुनिये, मैंने अपनी दृष्टि से सब संसार को भस्म कर डाला है। जगत् के भावाभाव को मिटा कर सब को एक कर के, सब की खाक करके, वह खाक ही मैं ने धारण कर रक्खी है, खाक सबका अंतिम स्वरूप है, खाक उढ़ोना, खाक बिछोना, खाक ही में मिल जाना है। खाक ही दूसरे को भस्म से भस्म है, ऐसे सब खाक ही है, तत्व ही सत्य है, इस प्रकार दिखलाने वाली मेरी भभूति है, भभूति नहीं विभूति है, मेरे इस विभूति के भाव से मुझे जगत् में कोई कष्ट नहीं है, मेरे पास वैराग्य और अभ्यास रूप चिमटा है, मेरी लम्बी जटायें परमात्मा का दर्शन कराती हैं, ऊपर से निकली हुई जटायें ब्रह्मरंध्र से बाहर, व्यक्तित्व से रहित परब्रह्म का निश्चय कराती हैं, जो तुम्हारा निश्चय है, वह ही मेरा निश्चय है, सत्य दृष्टि से सब सत्य ही है, चैतन्य है, आनंद है, परमानंद है, प्रज्ञानंद ब्रह्म! अकार, उकार और मकार प्रज्ञानन्द ब्रह्म।"

भभूतिया बाबा की कथा सुन कर सब साधु परमानन्द को प्राप्त हुये। चौथा साधु बोला "जहां अकार, उकार और मकार मिल जांय, वहां अमात्र भिन्न नहीं रहता, सब अमात्र स्वरूप ही हो जाता है, मैंने कुछ बदला बदली नहीं की है, जैसा हूं, वैसा ही हूं, न मैं रागी हूं, न वैरागी हूं, जो हूं सो ही हूं, जो तुम्हारा निश्चय है, वह ही मेरा निश्चय है, मेरा कुछ बिगड़ा है नहीं, तो सुधरेगा क्या? जब मैं ही मैं हूं तब किसे जानूं और क्या जानूं? स्वरूप स्थिति में पर्वत के समान अडिग हूं, मुझे शोक किसका हो? किस कारण शोक किया जाय? शोक, चिंता, भय, दुःख आदिक को मेरे स्थान में अवकाश ही नहीं है, वे सब तो अज्ञान की कल्पना में डूबे हुओं के लिये हैं, कैसा आश्चर्य है! जिसे कभी भी रंचक कष्ट नहीं है ऐसे को कष्ट मानना कितनी मूर्खता है! मैं परमानन्द स्वरूप हूं, मैं क्या कहूं? क्या बोलूं? क्या समझाऊं? शोक का कोई कारण ही नहीं है, मैं तुम को अपना मित्र कहूं या अपना स्वरूप कहूं? अयं आत्मा ब्रह्म! धन्य! धन्य! वार्ता समाप्त! दफ्तर बन्द! यज्ञ की पूर्णाहुति! न करना है न कराना है! लगाइये लम्बी लोट! सच्चिदानंद!"

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

सिद्धान्ती:—इस का समाधान यह है कि अन्य स्मृतियां सांख्य के अनुसार नहीं हैं, यदि सांख्य स्मृति को लेकर ईश्वर कारणवाद पर आक्षेप किया जाय तो अन्य स्मृतियां जो ईश्वर कारणवादी हैं, उन में दोष का प्रसंग आवेगा, इस का उदाहरण यह है:—'यत्तत् सूक्ष्ममविज्ञेयम्' (जो सूक्ष्म है, वह अविज्ञेय है) इस प्रकार परब्रह्म का प्रस्ताव कर के फिर कहा है:—'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' (वह वस्तुतः प्राणियों का अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहलाता है) ऐसा कह कर फिर यह कहा है:—'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' (हे द्विज श्रेष्ठ! उस में से तीन गुण वाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ है), इसी प्रकार दूसरे स्थान पर ऐसा कहा है:—'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे संप्रलीयते' (हे ब्रह्मन्! निर्गुण पुरुष में अव्यक्त लय होता है) पुराण में ऐसा कहा है:—'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्ग काले च करोति सर्वं संहार काले च तदत्ति भूयः॥" (यह अब संक्षेप से तुम सुनो, यह सब, पुराण नारायण है, वह सृष्टि काल में सब को उत्पन्न करता है और संहारकाल में फिर उन का भक्षण कर जाता है) भगवद्गीता में ऐसा कहा है:—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' [भगवगी० ७।६] (मैं सब जगत् का उत्पत्ति स्थान और प्रलय स्थान हूं) और परमात्मा का प्रस्ताव कर के आपस्तम्ब पढ़ता है:—'तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वे समूलं शाश्वतिकः स नित्यः' [ध० सू० १।८।२३।२] (उस ईश्वर में से सब शरीर उत्पन्न होते हैं, वह उपादान है, कूटस्थ है, वह नित्य है) इस प्रकार अनेक रीति से स्मृति के बल से ही उत्तर देना चाहिये, इस हेतु से स्मृतियों में ईश्वर को कारण और उपादान रूप कहा है। स्मृति के बल से सामने खड़े होने वाले को स्मृति के बल से ही उत्तर देना चाहिये, इस हेतु स्मृतियों का मत दिखलाया है, यह तो हम पूर्व में ही दिखला चुके हैं कि श्रुतियों का तात्पर्य तो ईश्वर कारणवाद में ही है। जहां स्मृतियों में विरोध हो, वहां एक स्मृति का ग्रहण और दूसरी का त्याग अवश्य करना चाहिये॥ जो स्मृति श्रुति के अनुसार हो, उस का ग्रहण करना चाहिये और जो स्मृति श्रुति से विरुद्ध हो, उस का त्याग करना चाहिये क्योंकि प्रमाण लक्षण में कहा है:—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' [जै०सू० १।३।८] (श्रुति के साथ विरोध हो तो स्मृति का प्रामाण्य त्यागने योग्य है और विरोध न हो तो स्मृति को प्रमाण माने) जो विषय इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सके उन का ग्रहण करना श्रुति के सिवाय अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता क्योंकि [illegible] का अभाव है। यदि ऐसा कहो कि कपिल आदि सिद्धों को इन्द्रियों के बाह्य विषयों का ज्ञान हो सकता है क्योंकि उन का ज्ञान अप्रतिहत है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धि अपेक्षा वाली है यानी सिद्धि धर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा रखती है और धर्म [illegible] लक्षण वाला है, इसी प्रकार पूर्व सिद्ध प्रमाण [illegible] की पीछे से सिद्ध होने वाले पुरुष के वचन [illegible] से अति शंका करनी योग्य नहीं है। सिद्ध [illegible] हुये हैं इस लिये उन्होंने भिन्न २ कल्पनाओं का निरूपण किया है। जहां दो स्मृतियों का विरोध हो वहां जो स्मृति श्रुति के अनुसार हो, उस का ग्रहण करना चाहिये और उस से विरुद्ध का त्याग करना चाहिये, स्मृति मनुष्यों की बनाई हुई है, मनुष्य परतंत्र बुद्धि वाला है इस लिये मनुष्य की बनाई स्मृति के सम्बन्ध में पक्षपात करना ठीक नहीं, यदि पक्षपात किया जायगा तो पुरुष की बुद्धि [illegible] रूप होने से तत्व की व्यवस्था ठीक न होगी, [illegible] स्मृति में दोष मालूम हो, वहां अमुक स्मृति श्रुति के अनुसार है और अमुक स्मृति श्रुति के अनुसार नहीं है, ऐसा निर्णय कर के सन्मार्ग में बुद्धि को लगाना चाहिये, यद्यपि श्रुति ऐसा कहती है कि कपिल का ज्ञान अद्भुत है तो भी कपिल का मत जहां श्रुति से विरुद्ध हो तो ग्रहण करने योग्य नहीं है। श्रुति में कपिल ऐसा नाम दर्शाया है, कपिल नाम का एक मुनि यह था, जिसने सगर के पुत्रों को भस्म कर दिया था, दूसरा वासुदेव नाम का

कपिल हुआ है, द्वैत के विषय को सूचन करने वाली और श्रुति से विरुद्ध स्मृति का ग्रहण करना योग्य नहीं है, मनु के माहात्म्य को दर्शाने वाली भी श्रुति इस प्रकार है: 'यद्वै किं च मनुरवदत्तद्भेषजम्' [तै० सं० २।२।१०।२] (जो कुछ मनु ने कहा है, वह औषध है) मनु ने एक स्थल पर कहा है:— सर्वभूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि, संपश्य ह्यात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' [१२।९१] (सब भूतों में आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखने वाला आत्मयाजी स्वाराज्य को प्राप्त करता है) यहां ऐसा समझा जाता है कि 'सर्व आत्मा है' ऐसा दर्शाता हुआ मनु कपिल के मत की निन्दा करता है क्योंकि कपिल का मत इस से विरुद्ध है" कपिल तो आत्मा का भेद स्वीकार करता है। महा भारत में भी कहा है:—'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' (हे ब्रह्मन्! आत्मा बहुत हैं या एक ही है) इस प्रकार कह कर आगे कहा है:-'बहवः पुरुषा राजन् सांख्य योग विचारिणाम्' (हे राजन्! सांख्य और योग दर्शन वालों के मत में आत्मा बहुत हैं) पीछे इस पक्ष का खंडन करते हुये कहा है:—'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्व माख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥'. (जैसे बहुत से पुरुषाकार वाले वृक्षों का एक उपादान कहलाता है ऐसे ही उस आत्मा को सर्वात्मक और सर्व गुण संपन्न कहूंगा) ऐसा उपक्रम कर के अंत में कहा है: 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देह संस्थिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥ विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षि नासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथा सुखम् ॥'' (मेरा अन्तरात्मा और तेरा और देह में रहे हुये जो अन्य हैं, उन सब का यह साक्षी है, किसी से भी कभी ग्रहण नहीं किया जा सका, विश्व इस का मस्तक है, विश्व भुजायें हैं, विश्व पाद, आंखें और नासिका है, वह एक ही स्वरूप से सब भूतों में सुख से विचरता है) इस प्रकार सर्वात्मापने का निश्चय किया जाता है, श्रुति भी इसी प्रकार सर्वात्मापना दर्शाती है जैसे 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' [ई० ७] (जिस समय ऐसा ज्ञान होता है कि सर्व भूत आत्मा रूप हैं, तो फिर इस प्रकार एकपने के देखने वाले को मोह और शोक कैसे हो?) इससे सिद्ध होता है कि कपिल का तंत्र शास्त्र वेद से विरुद्ध है और वेद के अनुसारी मनु के वचनों से भी विरुद्ध है। केवल स्वतंत्र प्रकृति की कल्पना से ही ऐसा सिद्ध नहीं होता किन्तु आत्मा के भेद की कल्पना से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। जैसे रूप के विषय में सूर्य का मुख्यपना है वैसे ही वेद का प्रमाण भी अपने विषय में अपेक्षा रहित है। पुरुष के वचनों को अन्य वस्तु की अपेक्षा होती है और वक्ता की स्मृति उसी में शामिल है इस लिये वेद वचन और स्मृति वचन में भेद है, इस लिये वेद विरुद्ध विषय में स्मृति की व्यर्थता रूप दोष का प्रसंग नहीं है ॥ १ ॥

स्मृति के अनवकाश का प्रसंग रूप दोष नहीं है, इसका हेतु कहते हैं:—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और इतरेषां [प्रकृति से] भिन्न की अनुपलब्धेः [वेद में तथा लोक में] अप्रसिद्धि होने से [स्मृति के अनवकाश का प्रसंग रूप दोष वेदान्त में नहीं है]

टीका:—महदादि तत्व जो प्रधान के परिणाम रूप स्मृति में कहे गये हैं, वे लोक में तथा वेद में प्रसिद्ध नहीं हैं, भूत और इन्द्रियां वेद और लोक में प्रसिद्ध हैं इस लिये उनकी स्मृति हो सकी है परंतु लोक में और वेद में प्रसिद्ध न होने से इन्द्रियों के छठे विषय के समान महद् आदि की स्मृति नहीं हो सकी, यद्यपि कहीं कहीं ऐसा भासता है कि श्रुति महद् आदि का प्रतिपादन करने वाली है परंतु ऐसा नहीं है, 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' [ब्रह्म सू० १।४।१] (कोई शाखा वाला प्रधान को अनुमान प्रमाण रूप मानता है) इस सूत्र में ऊपर कहे हुये का व्याख्यान किया है, यदि कार्य स्मृति अप्रमाण रूप हो तो कारण स्मृति भी अप्रमाण हो जाय, यह ठीक है, ऐसा अभिप्राय है, इस कारण

से भी अनवकाश का प्रसंग रूप दोष नहीं है, 'न विलक्षणत्वात्' [ब्रह्म सू० २ ।१ ।४] इस सूत्र से सूत्रकार तर्क के अवलम्बन का खण्डन करेंगे ॥२॥

(२) योग प्रत्युक्तयाधिकरण ।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—एतेन इस के द्वारा (सांख्य स्मृति के निषेध द्वारा) योगः योग स्मृति का [भी] प्रत्युक्तः निषेध किया गया [ऐसा समझना चाहिये]।

टीकाः—यह सूत्र यह जतलाता है कि इस प्रकार सांख्य स्मृति के खंडन करने से यह समझना चाहिये कि योग स्मृति का भी खंडन किया गया। योग में भी श्रुति से विरुद्ध प्रधान को जगत् का स्वतन्त्र कारण रूप माना है और इसी प्रकार महदादि कार्यों की कल्पना की है, जो लोक में और वेद में प्रसिद्ध नहीं हैं।

प्रतिपक्षीः—जब सामान्य न्याय भी ऐसा ही है तो फिर ऐसा निरूपण करने में क्यों आया है? यहां पर मुझे एक भारी शंका होती है, वह यह है कि वेद में कहा है कि सम्यक् दर्शन का उपाय रूप योग है। श्रुति में ऐसा कहा हैः—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृह० २।४।५] (श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये और निदिध्यासन करना चाहिये), फिर ऐसा कहा है—'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' [श्वेता० २।८] योग के समय छाती ग्रीवा और शिर इन तीनों भागों को सीधा रखना चाहिये और शरीर के अन्य भागों के साथ समान रखना चाहिये) इस प्रकार आसन आदि की कल्पना पूर्वक बड़े विस्तार से योग का निरूपण श्वेताश्वतर उपनिषद् में किया है, योग सम्बन्धी हजारों वैदिक वचन देखने में आते हैं जैसे कि 'तां योगमितिमन्यन्ते, स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्' [काठ० २। ६। ११] (इन्द्रियों को दृढ नियम में रखने को योग मानते हैं,) 'विद्यामेतां योग विधिं च कृत्स्नम्' [काठ० २।६।१८] चिकेता ने मृत्यु के प्रसाद से इस ब्रह्म विद्या संपूर्ण योग विधि को प्राप्त करके ब्रह्म को प्राप्त इत्यादि, योग शास्त्र में भी कहा हैः—'अथ दर्शनोपायो योगः' (तत्त्व दर्शन का उपाय योग है) प्रकार योग को सम्यक् दर्शन का उपाय स्वीकार किया है इस लिये योग स्मृति के विषय देश में मिलान होने से यानी श्रुति के अनुसार से योग स्मृति भी अष्टकादि स्मृतियों के अबाधित हो जायगी।

सिद्धान्तीः—इस शंका की निवृत्ति यहां होती है, यद्यपि योग में जो विषय है अमुक भाग श्रुति के अनुसार है अमुक भाग श्रुति से विरुद्ध भी देखने में है, अध्यात्म सम्बन्धी अनेक स्मृतियां हैं सांख्य तथा योग स्मृति के निराकरण का प्रयत्न करने में आया है क्योंकि लोक में प्रसिद्ध है कि सांख्य तथा योग परम पुरुषार्थ साधन रूप हैं और विद्वान् इन दोनों स्मृति प्रमाण मानते हैं और वे दोनों स्मृतियां श्रुति वचनों की पुष्टि करने वाली हैं, श्रुति में कहा 'तत्कारणं सांख्य योगाभिपन्नंज्ञात्वा देवं मुच्यते पाशैः' [श्वेता० ६।१३] (उस कार्यों के कारण सांख्य और योग से प्राप्त हुये देवं को जान कर पाशों से मुक्त होता है) निराकरण तो इस किया है कि सांख्य मार्ग अथवा योग मार्ग के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता क्योंकि श्रुति में कहा कि वैदिक आत्मा के एकत्व विज्ञान के सिवाय कोई भी कल्याण का साधन रूप नहीं है, श्रुति कहा हैः—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः विद्यतेऽयनाय' [श्वेता० ३। ८] (उसको जान कर ही मृत्यु को उल्लंघन करता है, मोक्ष की के लिये अन्य मार्ग नहीं है) दूसरे सांख्य तथा दोनों द्वैत वाद वाले हैं इस लिये वे अद्वैत मार्ग प्राप्ति कराने वाले नहीं हैं, 'तत्कारणं सांख्य योगाभिपन्नं' कारण रूप तथा सांख्य और योग अपूर्व ऐसा जो कहा है, वह वैदिक ही है।

संन्यासोपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

दृश्य और दर्शन के लीन होने पर लय होने वाला और क्षण में नाश होने वाला ॥ १७ ॥ क्षीण जड़ रूप में नहीं हूं, केवल द्रष्टा हूं, गंध जड़ होने से, क्षय होने वाली होने से नासिका से कल्पी हुई है ॥१८॥ तुच्छ, नियत आकार वाली जड़ गंध में नहीं हूं, ममता रहित, चिंतवन रहित, शांत, पांचों इन्द्रियों के भ्रम से रहित ॥१९॥ कला और मैल से रहित मैं शुद्ध चेतन ही हूं, चैत्य से रहित चिन्मात्र प्रकाश करने वाला मैं हूं ॥ २० ॥ मैं कला रहित, बाहर भीतर व्यापक और माया रहित हूं, निर्विकल्प, चिदाभास, सर्वत्र व्यापक एक हूं ॥२१ ॥ मुझ एक चेतन कर के ही ये सब घट पट आदिक सूर्य पर्यन्त दीपक के समान आत्म तेज से प्रकाशित किये जाते हैं ॥ २२॥ जैसे अग्नि से चिंगारियां प्रकाशित होती हैं इसी प्रकार ये विचित्र इन्द्रियों की वृत्तियां मुझ तेजस के अंतरप्रकाश से स्फुरित होती हैं ॥ २३ ॥ अनन्त आनन्द को भोगने वाली, परम शांत स्वभाव वाली, शुद्ध, चेतनमय यह दृष्टि सब दृष्टियों में जय को प्राप्त होती है ॥२४॥ सब भावों के भीतर टिकने वाला, चैत्य से रहित, चेतन आत्मा, प्रत्यक् चैतन्य रूप मेरे लिये ही नमस्कार है, नमस्कार है ॥२५॥ स्वच्छ, सम, निर्विकार, कला और कल्पना से रहित चित् से विचित्र शक्तियां की जाती हैं ॥ २६ ॥ तीनों काल की उपेक्षा करने वाली, दृश्य के बंधन से रहित, चित् और चैत्य की उपेक्षा वाली समता ही शेष रहती है ॥२७॥ वह ही वाणी से अगम्य होने के कारण असत्ता के समान शाश्वत, समान क्रम से आत्म सिद्ध, आत्म दशा को प्राप्त होने पर शेष रहती है ॥ २८ ॥ चेष्टा और अचेष्टा वालों के भीतर रहने वाली चित् मलों से घिरी हुई नहीं है, वह चित् उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है, पाश में बंधी हुई चिड़िया के समान ॥२९॥ इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुये द्वन्द्व रूपी मोह से जंतु हुये हैं। पृथिवी के गड्ढे में गिरे हुये कीड़ों में समता को प्राप्त हुये मुझ अविच्छिन्न चेतन आत्मा को नमस्कार है, मैं चिरकाल से ही परम प्रत्यक्ष हूं, प्राप्त हूं और उदय हूं । मैं विकल्पों से दूर हूं, जो हूं, सो हूं, उस कोनमस्कार है ॥३०॥ तुझ मुझ अनन्त को तुझ मुझ चिदात्मा को (नमस्कार है) तुझ परमेश्वर को नमस्कार है, मुझ शिव को नमस्कार है ॥३२॥ बैठता हुआ भी नहीं बैठता, जाता हुआ भी नहीं जाता, शांत होकर भी व्यवहार करता है, करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता ॥३३॥ यह अत्यन्त सुलभ है, विश्वासु बंधु के समान चतुर है। कमल के छिद्र रूप सब के शरीरों में भ्रमर है ॥ ३४ ॥ न मुझे भोग प्राप्त करने की इच्छा है, न मुझे भोग त्यागने की इच्छा है, जो आता हो, आओ, जो जाता हो वह जाओ ॥३५॥ मन से मन के छिन्न होने पर, अहंकारपने से रहित होने पर और भाव से भाव नाश होने पर मैं केवल स्वस्थ स्थित हूं ॥३६॥ भाव रहित, अहंकार रहित, मन रहित, चेष्टा रहित, केवल, स्पन्द रहित, शुद्ध आत्मा में मेरा शत्रु टिकता है ॥ ३७ ॥ मैं नहीं जानता हूं कि तृष्णारूप रस्सी समूह को काट कर मेरे शरीर रूप पिंजरे में से अहंकार रहित चिड़िया उड़ कर कहां गई ॥३८॥ 'मैं नहीं करता' यह जिस का भाव है, जिस की बुद्धि लिपायमान नहीं होती, और जो सब सुखों में समान है, उसी का जीवन शोभता है ॥ ३९ ॥ जो भीतर शीतल है, जिस की बुद्धि रागद्वेष से रहित है, जो इस (दृश्य) को साक्षी के समान देखता है, उसी का जीवन शोभता है ॥४०॥ जिस ने यथार्थ जान कर त्याग और ग्रहण को छोड़ दिया है और चित्त में चित्त को अर्पण कर दिया है, उसी का जीवन शोभता है ॥४१॥ ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने वाले का सम्बन्ध टूट जाने पर पूर्ण शांति उदय होती है। स्थिति को प्राप्त हुई शांति मोक्ष कहलाती है ॥४२॥ जैसे भुना हुआ बीज फिर जन्मने वाले अंकुर से रहित होता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्तों के हृदय में वासना शुद्ध हो जाती है ॥ ४३ ॥ पवित्र, परम उदार, शुद्ध सतोगुण बखेरने वाली, आत्मध्यान वाली, नित्य (वासना) सुषुप्ति के समान टिकती है ॥४४॥ चित्त रहित चेतन ही प्रत्यक् चेतन कहलाता है, मन रहित स्वभाव होने से वहां कलना रूप मैल नहीं होता ॥ ४५ ॥ वह सत्यता है, वह शिवता है, वह पारमार्थिक अवस्था है, वह

सर्वज्ञता है, यह संपूर्ण तृप्ति है, जहां मन का छिद्र नहीं है ॥ ४६ ॥ बोलता हुआ; त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक खोलता और मूंदता हुआ भी, मनन से मुक्त, आनन्द रूप, सम्वित् मात्र में पर हूं ॥ ४७ ॥ संवेद्य रूप मल को त्याग कर, मन को परम निर्मूल करके, आशा का पाश रूप अग्नि को काट कर मैं सम्वित् मात्र पर हूं ॥४८॥ शुभ और अशुभ संकल्पों से परम शान्त हुआ मैं उपद्रव रहित हूं, इष्ट अनिष्ट प्रवृत्ति से रहित मैं संवित् मात्र पर हू ॥४९॥ अध्यात्म ताप और प्रीति को त्याग कर, विभाग रहित, जगत् में स्थित । वज्र के खम्भ समान आत्मा का अवलम्बन करके मैं स्थिर हूं ॥ ५० ॥ निर्मल, आश रहित अपनी संवित् में मैं स्थित हूं, चेष्टा अचेष्टा से मुक्त हूं, ग्रहण और त्याग से भिन्न हूं ॥ ५१ ॥ स्वप्रकाश पद में स्थित हो कर मैं आंतर संतोष को कब प्राप्त हूंगा ? और कब शांत मनन वाला होकर पर्वत की गुफा में ॥५२॥ निर्विकल्प समाधि में शिला की समानता को प्राप्त होऊंगा । अंश रहित ध्यान की विश्रांति से मूक हुये मेरे मस्तक पर ॥५३॥ कोयलें कब घोंसला बनावेंगी । संकल्प रूप वृक्षों और तृष्णा रूप लताओं को काट कर मन रूप वन ॥ ५४ ॥ विस्तीर्ण भूमि को प्राप्त हो कर मैं यथा सुख विहार करता हूं । अब मैं तत्पद को प्राप्त हुआ हूं, मैं केवल हूं, जय रूप हूं, ॥ ५५ ॥ मैं दुःख रहित हूं, चेष्टा रहित हूं, अंश रहित हूं, इच्छा रहित हूं, स्वच्छता, वीर्यता, सत्ता, हृद्यता, सत्यता, ज्ञता ॥ ५६ ॥ आनन्दता, उपशमता, सदा प्रमुदिता, उदिता, पूर्णता, उदारता, सत्या, कान्ति, सत्ता, सदा एकता ॥ ५७ ॥ इस प्रकार भिक्षु स्वरूप स्थिति रूप तत्वार्थ का चिन्तवन करता हुआ, निर्विकल्प स्वरूप का जानने वाला होकर निर्विकल्प हुआ ॥ ५८ ॥ आतुर जीता हो तो क्रम संन्यास करना चाहिए, शूद्र, स्त्री, पतित और रजस्वला के साथ बात चीत न करे । यती देव पूजन के उत्सव का दर्शन न करे क्योंकि संन्यासियों का यह लोक नहीं है, आतुर और कुटीचक का भूलोक और भुवर्लोक है । बहूदक का स्वर्गलोक है, हंस का तप लोक है, परम हंस का सत्य लोक है, तुरीयातीत और अवधूत को स्वरूप के

अनुसंधान से भ्रमर और कीट के न्याय अपने आत्मा में ही कैवल्य है । स्वरूपानुसं[illegible] सिवाय अन्य शास्त्रों का अभ्यास व्यर्थ है [illegible] को केसर का भार व्यर्थ है, न योग शास्त्र की [illegible] न सांख्य शास्त्र का अभ्यास, न मन्त्र तन्त्र [illegible] पार और न यति के लिये अन्य शास्त्र की [illegible] यदि है तो मृतक के आभूषणों के समान [illegible] आचार है, विद्या से दूर है । संन्यासी नाम [illegible] के परायण न हो क्योंकि जो २ कर्म करता है [illegible] के फल का अनुभव करता है । अरंडी के [illegible] फेन के समान सब को त्याग देवे, न देव [illegible] प्रसाद ग्रहण करे, न बाहर के देव का पूजन [illegible] अपने सिवाय सब को त्याग कर मधुकर [illegible] आहार करता हुआ दुबला हो कर चर्बी [illegible] बढाता हुआ विहार करे, माधुकर से, कर [illegible] अथवा मुख रूप पात्र से काल व्यतीत करे, प्राण [illegible] जानने वाला यती माप से आहार करे, आहार [illegible] भाग हैं और तीसरा भाग जल का है, वायु के [illegible] लिये चौथा भाग खाली रक्खे ॥५९॥ नित्य भिक्षा [illegible] से वर्ते, एक अन्न का भोजन करने वाला कभी [illegible] उद्विग्न रहित राह देखते रहते हों, उनके घर [illegible] से जावे ॥६०॥ क्रियावानों के पांच या सात [illegible] से भिक्षा लेने की इच्छा करे, गौ दोहने मात्र [illegible] करे, एक बार गया हुआ फिर न जावे ॥६१॥ [illegible] में न खाने से उपवास श्रेष्ठ है, उपवास से [illegible] मांगा हुआ श्रेष्ठ है, बिना मांगे हुये से भिक्षा [illegible] है इसलिये भिक्षा से निर्वाह करे ॥६२॥ भि[illegible] समय बायें दायें होकर घरों में प्रवेश न करे [illegible] दोष न हो, उस घर को मोह से छोड़ न जावे [illegible] श्रद्धा भक्ति से रहित श्रोत्रिय के घर में भी [illegible] न करे, श्रद्धा भक्ति से युक्त संस्कार हीन के घर [illegible] करले ॥ ६४ ॥ माधूकर असंक्लिप्त, प्राक्प्र[illegible] अयाचित, तात्कालिक और उपपन्न पांच प्रकार [illegible] भिक्षा कही गई है ॥ ६५ ॥ मन में संकल्प न [illegible] हुये तीन, पांच अथवा सात घरों में शहद की [illegible] के समन भिक्षा करना असंक्लिप्त माधूकर कहलाता [illegible] है ॥६६॥ प्रातःकाल में अथवा पूर्व दिन में [illegible] बारंबार प्रार्थना की गई हो तो वह भिक्षा [illegible] वैसी स्थिति आक्प्रणीत कहलाती है ॥६७॥ [illegible]

Registered No. A 860



ॐ

वेदान्त केसरी।



मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } वैशाख सं० १९८१। मई १९२४ { अंक ७

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३)   एक प्रति का मूल्य ।-)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० ब्यालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चाह आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।) वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्या... मूल्य ।≈) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | वैशाख सं० १९८१ । मई १९२४ | अङ्क ७

जीव और मन का सम्वाद ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

दुख पाय बोला जीव "रे मन ! तू बड़ा ही दुष्ट है।
शठ ! संग से तेरे मुझे होता बहुत ही कष्ट है ॥
नहिं बात मेरी मानता, अपनी हि उलटी तानता ।
अन्धे कुयें में गिर मुझे भी कीच में है सानता ॥

(२)

मैं हूं अपरिमित शक्ति वाला, शुद्ध हूं, निस्संग हूं।
पर संग में तेरे पड़ा तब से प्रतिष्ठा भंग हूं ॥
सर्वज्ञता जाती रही, आई महा अल्पज्ञता ।
भटकूं अनेकों योनियों में भीख घर घर मांगता ॥

(३)

कहलाय तू मेरा हितू, देता मुझे ही कष्ट है।
करता न हित की बात तू पापी महा निकृष्ट है ॥
जितनी सजा मैं दूं तुझे उतनी सजा थोड़ी तुझे।
नहिं चाल बाजी छोड़ता, आश्चर्य अति ही है मुझे" ॥

(४)

कहने लगा मन "वाह ! तू देता मुझे क्यों दोष है।
दिन रात हित तेरा करूं, इसका तुझे नहिं होश है ॥
लाखों तरह के भोग मैं ही तो तुझे भुगवावता ।
उस भोग की खातिर अनेकों जन्म हूं दिलवावता ॥

(५)

सब भोग की सिद्धी तुझे मेरे हि दम से होय है।
उपकार मेरा मान पामर ! क्यों वृथा ही रोय है।
मुझसे हि तब अस्तित्व है, मुझ से हि है तू जीवता ॥
हितकार को दोषी बताना क्या नहीं यह ढीठता ॥

(६)

मुख से हि मिट्ठू बन भले ! अपनी बड़ाई कर घनी ।
तुझ में कहां है शक्ति तेरी शक्ति सब मुझसे बनी ॥
मैंने कहा था आप से कब संग मेरा कीजिये ।
संगी बनाया भोग हित मत दोष मुझको दीजिये ॥"

(७)

झुंझलाय बोला जीव "रे ! है भोग केवल नामका ।
जिसमें भरा हो दुःख ऐसा भोग है किस कामका ॥
दुख जन्म में, दुख मृत्यु में, दुख बीच में भी पावता ।
ले चल शरण में ईश के अब भोग मैं नहिं चाहता ॥

(८)

खींचे विषय में है मुझे, इस से हि मन तू दुष्ट है।
ले जाय ईश्वर शरण में तो तू हितू है श्रेष्ठ है ॥
सच्चा हितू सन्मित्र हो, ईश्वर भजन में दे लगा ।
आभार तेरा हो बहुत !!" जब जीव यों कहने लगा ॥

(९)

मन ने कहा "तैयार हूं, क्या आश तू ने छोड़दी ।
क्या भोग की नहिं लालसा ? क्या प्रीति जगकी तोड़दी ॥
क्या पूर्ण अब वैराग्य है ? क्या ईश में अनुराग है ?।
सुत दार का, घर बार का पूरा किया क्या त्याग है ?" ॥

(१०)

त्यागी हुआ जब जीव तब मन मित्रता करने लगा ।
भव मार्ग से उसको हटा सन्मार्ग में चलने लगा ॥
कौशल्य ! सम्यक् शुद्ध हो कर एक दोनों हो गये ।
आनन्द परमानन्द में लयलीन हो कर सो गये ॥

मन को आज्ञाकारी बनाना।

सज्जन और शास्त्रकारों से ऐसा सुना जाता है कि मन सब अनर्थों का हेतु है परन्तु जिसको मन का पता ही नहीं है, वह मन और मन से होने वाले अनर्थों को क्या समझे? कहने को तो प्रसंगानुसार सभी कहा करते हैं कि हमारा मन ठीक नहीं है, हमारा मन इस स्थान पर था नहीं, आपने क्या कहा? फिर से कहिये, हमने सुना नहीं! परन्तु ऐसा कहने वालों को अपना और मन का भेद मालूम नहीं है। जब तक मन को जाना न जाय, तब तक मन स्वाधीन नहीं हो सका। जीवात्मा का मन ही औजार है, जब वह औजार उलटे भाव से कार्य करता है तब औजार चलाने वाले को ही मारता है, जैसे तलवार में एक तरफ धार होती है, जब किसी को मारना होता है तो धार की तरफ से मारा जाता है। अब जिसको यह खबर न हो कि तलवार की धार किस तरफ है वह उलटी धार की तरफ से मारने लगेगा तब मारते समय तलवार को जोर देने के लिये अपनी तरफ खेंचेगा। विशेष जोर से खेंची हुई तलवार की धार दूसरे को मारने से पहिले चलाने वाले ही पर चोट करेगी इसी प्रकार मन का हाल है, इस लिये सज्जन पुरुष मन को यथार्थ समझ कर उस से काम लेते हैं। मन स्वाधीन होने से ही मन से अपनी इच्छानुसार कार्य ले सके हैं। मन से ही जगत और जगत् के सब बन्धन हैं और मन से ही अखंडित परम शांति रूप मोक्ष है। मन के दुरुपयोग में बन्धन है और मन के सदुपयोग में मोक्ष है।

मन और जीवात्मा का भेद विचार करने से मालूम होता है। जिसकी बुद्धि सूक्ष्म विचार करने के लिये योग्य नहीं है, वह उस भेद को समझ नहीं सका। सदाचरण से और शास्त्र और महानुभावों के समागम से बुद्धि निर्मल हो कर विचार करने को समर्थ होता है, इन्द्रियों का द्रष्टा मन है और जीव भी है, इन्द्रियां दोनों का दृश्य हैं, उस दृश्य में जीव का द्रष्टापना कितना है और मन का द्रष्टापना कितना है, इस का विचार करने से मन का स्वरूप सम[झ] में आजाता है। यद्यपि जीव और मन दोनों [ही] इन्द्रियों के द्रष्टा हैं तो भी उनमें अन्तर है। जो म[न] इन्द्रियों का द्रष्टा है, वह ही मन जीव का दृश्य [है] और जीव तो हमेशा द्रष्टा ही रहता है इस लि[ये] मन आदिक किसी का दृश्य नहीं होता। दोनों में अन्त[र] यह है कि मन एक का दृश्य और दूसरे का द्रष्[टा] है और जीव द्रष्टा ही है। पांचों इन्द्रियों के बोध [का] द्रष्टा मन है इस लिये मन पंच के विभाग का द्रष्[टा] है और जीव बोध से ही द्रष्टा है। मन का बो[ध] इन्द्रियों के पांचों विषय सहित है और जीव [का] बोध पांचों विषय के भेद को छोड़ कर है, यह [ही] दोनों में भेद है, जीव को मन सहित इन्द्रियों [का] बोध होता है इस लिये इन्द्रियों का भेद मन [का] विषय है, जब मन अन्य विषय में प्रवर्त होता है और कोई विषय उपस्थित होता है तो जीवात्[मा] कहता है कि मैंने कुछ न जाना, न सुना, मेरा म[न] दूसरे स्थान पर था, इस से सिद्ध होता है कि जी[व] विषयों को नहीं जानता परन्तु मन को जानता है इस लिये वह मन का द्रष्टा है, जीव के सामने म[न] क्षुद्र है और मन से जीव विशेष व्यापक है। य[ह] मन और जीव का भेद है। जीव के सहारे मन है, म[न] के सहारे जीव नहीं है, जीव न हो तो मन नहीं [रह] सका और जीव तो मन न रहने पर भी रहता है।

कई ऐसी शंका करते हैं कि मन और जीव भिन्न नहीं हैं, भिन्न हों तो दीखने चाहियें। यह शंका बिना विचार की है। सामान्यता से जीव मन सहित रहता है इस लिये वे उसे पृथक् नहीं समझते। मन में जीव की ही चैतन्यता है, जीव की चैतन्यता छोड़ कर मन में चैतन्यता नहीं है इस लिये अबुद्ध लोगों को ऐसा भ्रम होता है कि मन और जीव एक ही हैं व्यक्ति अज्ञान में पड़े हुए कूटस्थ सहित आभास का नाम जीव है और जीव में से अन्तःकरण की वृत्ति में पड़े हुए आभास—चैतन्य का नाम मन है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूप आभास एक ही होने से मन चैतन्य और जीव चैतन्य का भेद स्थूल दृष्टि से मालूम नहीं होता। जैसे समष्टि अज्ञान में पड़े

हुआ आभास समष्टि रूप ईश्वर है और उस आभास से अभिन्न परन्तु व्यष्टि भाव अज्ञान से भिन्न हुआ जीव है इसी प्रकार सब वृत्तियों का समष्टि रूप जीव है और जीव के आभास से अभिन्न होते हुये भी संकल्प विकल्पात्मक एक वृत्ति रूप आभास मन है। उपाधियों से दोनों में भेद है। शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण जीव की उपाधियां हैं और पांचों इन्द्रियों की भिन्नता का बोध कराने वाली मन की उपाधि है। जैसे कोई एक भारी शहर है, उस शहर में के सब मकान शहर से अभिन्न हैं और शहर में का एक मकान अन्य मकानों से भिन्न है इसी प्रकार शरीर रूप उपाधि युक्त जीव शहर के समान है और संकल्प विकल्पात्मक उपाधि वाला मन एक घर के समान है।

मन की क्षुद्र उपाधि और इस उपाधि करके हुआ चैतन्य का परिच्छिन्न अंश जीव है। यद्यपि जीव की सत्ता मन की सत्ता से भिन्न किसी समय भी नहीं दीखती तो भी ऊपर बताये हुये अनुसार उपाधि का भेद है, मन जिस समय कोई कार्य करता है तब जीव के अभिमान को धारण करता है अथवा यों कहो कि अज्ञानता से जीव ही मन रूप हो जाता है—मन के वस्त्र पहिन लेता है और जब जीव मन के दबाव से थोड़ा छूटता है तब विचारने वाले पुरुष को मालूम होता है कि मन ने यह कार्य किया। यद्यपि ऐसे बोध में भी मन होता है परन्तु यह मन रजोगुणी दबाव से रहित सतोगुणी होता है इस लिये जीव के प्रकाश की विशेषता वाला होता है। मन को छोड़ कर जीव सत्ता पृथक् कार्य नहीं करती इस लिये जिसमें विशेष प्रकाश है ऐसे सतोगुणी मन से रजोगुणी मन को दबा देना चाहिये—वश में लाना चाहिये। एक ही मन गुणों के भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। रजोगुणी मन बंधन करने वाला है और सतोगुणी मन निर्मल होने से ज्ञान का दाता है यानी रजोगुण और तमोगुण से शुद्ध हुआ सतोगुण वाला मन मोक्ष मार्ग में ले जाने वाला है। कामना, संकल्प, मनोराज्य, रागद्वेष, मोह, मद, अहंकार आदिक सब विकार रजोगुणी मन में ही होते हैं, ऐसा मन प्रपंच में फँसाता है, इसलिये मन को वैराग्य रूपी साबुन और सत्संग रूप जल से धो कर निर्मल और सतोगुणी बनाना चाहिये।

सब सृष्टि की रचना करने वाला मन है, मन ने ही सब सृष्टि को रचा है, मन की रची हुई सृष्टि मन को दुःखदाई होती है किन्तु संग दोष से जीव मन के दुःख को अपने में मानता है। जब तक लोलुप मन विषयों में भटकता रहता है तब तक बंधन है। अनेक प्रयत्न करने पर भी यदि मन का भटकना बन्द न हो तो समझना चाहिये कि प्रयत्न नहीं हुआ। जब तक मन में रजोगुणी भाव है तब तक बंधन निवृत्त नहीं हो सका, विषयों की तरफ मन की प्रवृत्ति आंतर और बाहर दोनों तरफ होती है। दोनों तरफ पांचों विषयों से सम्बन्ध होता है। प्रत्यक्ष अनुमानादि बाहर के विषय हैं और आंतर के विषय स्मृति रूप हैं। आंतर बाहर दोनों तरफ होते हुये भी यह सब प्रवृत्ति बाह्य प्रवृत्ति है। आंतर तो मात्र आत्म प्रवृत्ति है, आत्म प्रवृत्ति के सिवाय जगत् की प्रवृत्ति बाह्य प्रवृत्ति है यानी आंतर अथवा बाहर किसी भाव से भी मन जगत् में ही भटकता रहता है, मन का ढलाव जगत् को तरफ है, मन की उत्पत्ति जगत् भाव से है, जगत् भाव की धातु से बने हुये मन का मुख जगत् की तरफ ही रहता है। जगत् में लपका हुआ मन काबू में नहीं आता, मन के वश करने की कई युक्तियों की आवश्यकता है। मन में कितना सामर्थ्य है और किस का है? मन का सामर्थ्य किस के सामने चल सका है? विचार से देखा जाय तो मन की स्वयं सत्ता नहीं है परंतु जीव की सत्ता से प्रकाशित होता है। मन का देवता चन्द्र कहा गया है, जैसे चन्द्र स्वयं प्रकाश नहीं है, सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है वैसे ही मन में प्रकाश नहीं है। मन प्रकाश रहित जड़ है, जीव के प्रकाश से मन प्रकाशित होता है। जहां जीव का विशेष प्रकाश नहीं होता, वहां ही मन के प्रकाश का सामर्थ्य है यानी माया रूप अन्धेरे में ही मन का सामर्थ्य है। जैसे चन्द्र सूर्य के सामने निस्तेज है ऐसे ही जीव के सामने मन निस्तेज है। अज्ञान में मन का सामर्थ्य

है, अज्ञान न हो तो मन में सामर्थ्य नहीं है। जीव के सामर्थ्य से मन का सामर्थ्य तुच्छ है, जीव का सामर्थ्य ही क्षीण हो कर मन में आया है इस लिये जीव के सामने मन का सामर्थ्य चल नहीं सका। जब तक जीव अपने सामर्थ्य का भान नहीं करता तब तक ही जीव को मन सामर्थ्य वाला मालूम पड़ता है। जब जीव भाव होता है तो मन की चंचलता टूट जाती है और मन का सामर्थ्य भी कम हो जाता है, प्रथम जो सिंह के समान गर्जना करता था, अब बकरी बन जाता है। मन के सामर्थ्य की यह पोल है, जो मन की पोल जान जाता है और जीव को समझ जाता है, मन उसकी कुछ भी हानि नहीं कर सका।

बाह्य विषय और आंतर स्मृति ये दो मन के घूमने के स्थान हैं, ये दोनों ही मन के विषय रूप होने से इन दोनों ही में मन की लोलुपता है। विषय प्रिय होने के कारण विषयों की तरफ मनकी लोलुपता है इस लिये प्रियता को हटाने के लिये विषयों को अप्रिय बनाना चाहिये। विषयों में राग से प्रियपना है। जब राग के स्थान पर दोष दीखता है तब मन को विषय अप्रिय हो जाता है, उसमें वह नहीं घूमता, वहां से लौट आता है। मन में विषयों का जो राग है, वह अज्ञान-अविवेक से है, ज्ञान-विवेक में राग नहीं टिक सका, जो पदार्थ सुंदर नहीं हैं, रमणीक नहीं हैं, सच्चा नहीं है, और वास्तविक सुख का हेतु भी नहीं है, उसमें अज्ञान विना राग नहीं हो सका। इस लिये मन को विषयों की तरफ से लौटाने के लिये विषयों में दोष दर्शन मुख्य उपाय है। उस दोष दर्शन को ही वैराग्य समझो। परन्तु ऐसे दोष दर्शन को भी विशेष समय तक मन टिकने नहीं देता इस लिये ऐसे दोष दर्शन का बारम्बार विचार करना चाहिये, दोष दर्शन का विचार सतोगुण की अधिकता विना नहीं होता इसलिये सतोगुण की वृद्धि करनी चाहिये, शुभ आचरण, सज्जनों का संग और प्रत्येक कार्य नियमित रीति से विचार सहित करने का अभ्यास करना चाहिये, खान, पान, व्यवहार और जिन में रजोगुण तमोगुण न आवे या न्यून आवे ऐसी सब क्रियायें करनी चाहियें, इ संयोगों से सतोगुण की वृद्धि होती है। वे शास्त्राभ्यास, और संत समागम भी इसमें मदद है। जब सतोगुण की वृद्धि हो जाती है तब रजो तमोगुण में प्रवर्त होता हुआ मन जल्दी से प जाता है, जिस समय मन विषयों में जाने लगे, उ समय उसको रोक देना चाहिये। ऐसा विशेष अ स होने से मन वशीभूत हो कर आज्ञाकारी बन जाता है।

सतोगुण का बार बार अभ्यास करने पर मन का रजो तमोगुण सहज में निवृत्त नहीं हो अभ्यास से प्रथम तो यह भी मालूम नहीं होता रजो तमोगुण में विषयों की तरफ मन भटका या नहीं। जब वैराग्य सहित अभ्यास करने से स गुण की कुछ वृद्धि होती है तब कार्य करने के दो घंटे बाद सतोगुण की छाया आने पर मा होता है कि अमुक २ विषयों में मन भटका था, हमारे विचार और इच्छा से विरुद्ध था। जब वैरा सहित अभ्यास कुछ और बढ़ता है तब कार्य के कोई आधे घंटे बाद सतोगुण की छाया में मन भटकना मालूम होता है। जब इस से भी अधि अभ्यास होता है तब कार्य होने के बाद पांच मिनट में ही मन की चंचलता मालूम होने लगती और जब अभ्यास भली प्रकार बढ़ जाता है तब का के मध्य में ही मन की चंचलता मालूम हो जाती जब ऐसा होने लगे तो जहां मन किसी विषय में लगे, उसी समय पूर्ण तिरस्कार सहित मन को से हटाना चाहिये, जब और अभ्यास बढ़ता है ज्यों ही मन भूल में पटकने को तैयार होता है ही मालूम हो जाता है और साधक पूर्ण सामर्थ्य से रोक लेता है, अब तक मन की चाल तुरंत ही माल न हो, देर में मालूम हो तब तक पूरा तिरस्कार कर चाहिये यानी मन की चालाकी और अपनी भूल पर तिरस्कार करना चाहिये, इस प्रकार अभ्यास करते २ कुछ समय के बाद मन निर्मल होकर व में आजाता है।

मन का कार्य चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो अनर्थ का हेतु ही है क्योंकि संस्कार को पैदा करते

वाला और वासनाओं को दृढ करने वाला मन ही है, स्थूल क्रिया नहीं है। झूंठे संकल्प अथवा मनोराज्य कभी न करने दे, क्योंकि संकल्प कर २ के ही मन ने पहाड़ के समान जगत् और जगत् की अनेक आपत्तियां खड़ी करदी हैं। जब झूंठे भाव सहित किया हुआ संकल्प भी झूंठा नहीं होता, अवश्य फल देता है तो सच्चे भाव से किया हुआ संकल्प क्यों फल न देगा? सच्चे भाव से किये हुये संकल्प के संस्कार बहुत जल्दी दृढ हो जाते हैं और झूंठे भाव से किये हुये संकल्प भी धीरे २ दृढ होते जाते हैं, इसलिये सच्चे अथवा झूंठे किसी भाव से भी मन को प्रपंच की तरफ का संकल्प करने देना न चाहिये। संकल्प और मनोराज्य की रचना करने में मन को आनन्द मालूम होता है, इस लिये मन दृढता से उन में चिपटता है और महा अनर्थ में पटकता है इस लिये ऐसे संकल्प और मनोराज्य की तरफ मन का मुख ही न होने देना चाहिये। मन को वश करना थोड़े दिन का कार्य नहीं है, बहुत समय का है इस लिये श्रद्धा सहित दीर्घ काल तक उस के करने की आवश्यकता है। जोर में भरा हुआ मन जल्दी से वश में नहीं आता क्योंकि मन को वश में करने वाला मन के जोर में दब गया है—उस का गुलाम बन गया है, जैसे हाथी घोड़े धीरे २ वश में लाये जाते हैं इसी प्रकार मन भी धीरे २ वश किया जाता है, जब हाथी घोड़े ताकत वाले होते हैं तब काबू में नहीं आते, हाथी को कई दिन तक भूखा मारा जाता है और घोड़े को थोड़ा चारा देकर कम जोर किया जाता है, बाद लगाम और चाबुक के सहारे चक्कर खिलाया जाता है, फिर झूंठी झूलरी में जोता जाता है, टेढा चले तो चाबुक लगाये जाते हैं इसी प्रकार प्रथम मन को कम जोर किया जाता है, मन का आहार विषय है, उस आहार से ही मन ताकत वाला होता है इस लिये उस का आहार न देकर उसे कम जोर करना चाहिये। वैराग्य रूप लगाम लगानी चाहिये और जब २ टेढा चले तब २ अभ्यास रूप चाबुक लगाना चाहिये, फिर अपनी इच्छानुसार चलाने के निमित्त सत्संग, शुभ कर्म रूप झूलरी में जोतना चाहिये, इस प्रकार करने से मन वशीभूत हो जाता है।

शास्त्रकारों ने मन को जड़ कहा है परन्तु जब मन के अनेक प्रकार के करतुत देखते हैं तो यह समझ में नहीं आता कि वह किस प्रकार का जड़ है, बात सच है, करतूत के समय में मन कहां रहता है? मन के पिंजरे में तुम्हीं विराजमान हो जाते हो, फिर मन चैतन्य हो जाय तो इस में आश्चर्य ही क्या है? बारंबार लोग कहते हैं कि मन बड़ा बदमाश है, हम कुछ करना चाहते हैं और मन कर बैठता कुछ है, यह कहना अविचार से है, विचारना चाहिये कि तुम स्वयं ही भूले, तुम ने अपनी ताकत मन को दी, मन के साथ मिल कर तुम ने ही मन की बदमाशी की वृद्धि की, मन से ऐसा नाता जोडा कि तुम ने अपने आत्म स्वरूप को ही मन बना डाला, अब उस नाते को एक विचार के साथ तोड़ना चाहते हो परन्तु मन इतना बदमाश नहीं है कि पुराने नाते को क्षण भर में ही छोड़ दे, मन का इस में कुछ दोष नहीं है! जैसे सैकड़ों चूहों को खाकर क्षण भर के लिये भजन करने को बैठी हुई बिल्ली कहे कि मैं भक्त हूं, ऐसा ही तुम्हारा मन को दोष देना है! बिचारा जड़ मन क्या कर सकता है? मन में घुस कर तुम ही करते हो, इलका नाम हवालदार का, इस प्रकार मन को दोष देते हो! तुम अपनी विशेष राग द्वेष वाली सत्ता मन में से हटाओ, फिर मन को देखो कि कैसा सीधा है! अपनी सत्ता तो तुम से मन में से हटाई नहीं जाती, जब दुःख पड़ता है तब मन को दोष देने को तैयार हो जाते हो! तुम्हारी मूर्खता ही तुम को कष्ट में डालती है, मन का कुछ दोष नहीं है! जो अपनी विकारी विशेष सत्ता को मन में से खेंच लेने को समर्थ है, उसे ऊपर बताये हुये अभ्यास की भी आवश्यकता नहीं है परन्तु ऐसा सामर्थ्य पूर्व के पुण्य और अभ्यास से ही प्राप्त हुआ होता है। सर्प को तुम दूध पिलाते हो, दूध से सर्प के विष की वृद्धि होती है, सर्प में जाकर दूध ही विष बन जाता है! तुम्हारा निर्मल प्रकाश-निर्मल सत्ता विशेषता युक्त होकर मन रूप सर्प में जाता है, उसी सर्प के विष से बारंबार मृत्यु हुआ करता है, इस प्रकार अपने ही अमृत-दूध का विष बना कर अपने नाश का हेतु मत बनाओ! मन को वश करो, अथवा मन से राग द्वेष युक्त विशेष नाते को तोड़ दो!

कर्म धर्म में प्रवर्त ऐसा नरोत्तम नाम का एक ब्राह्मण था, उस को यजमानों का कार्य कराना पड़ता था, मनजी भाई को उसने अपने मददगार रूप से रख लिया था, मनजी भाई चतुर, चालाक और जल्दी से काम करने वाला था परन्तु वह हित के बदले मालिक का अहित ही विशेष कर के करता था, नरोत्तम मनजी भाई को अपना हितु समझता था, जैसे जैसे मनजी भाई कहता था नरोत्तम वैसे ही करता था, नरोत्तम शुद्ध ब्राह्मण था, मनजी भाई क्षुद्र था, मनजी भाई के करतूत से नरोत्तम को बहुत सी आपत्तियां भोगनी पड़ती थीं परन्तु नरोत्तम को मालूम न था कि सब आपत्तियों का कारण मनजी भाई है, नरोत्तम कभी २ एक संत के पास जाया करता था, जब नरोत्तम संत के पास जाने लगता तो मनजी भाई उसे जाने से रोक दिया करता था परन्तु जब कभी मनजी भाई को किसी अन्य कार्य में प्रवर्त हुआ देखता तो नरोत्तम संत के पास चला जाया करता था, मनजी भाई संत के पास भी पहुंच जाता और अनेक ऐसी तर्क वितर्क, संकल्प विकल्प उठाया करता था जिस से नरोत्तम की श्रद्धा संत के ऊपर जमने न पावे, मनजी भाई में बड़ा सामर्थ्य था, कभी तो वह स्थूल और कभी सूक्ष्म रूप धारण कर लेता था, इस प्रकार स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से नरोत्तम के साथ ही साथ रहता था, एक दिन मनजी भाई की प्रकृति स्वस्थ न थी, उसी दिन नरोत्तम संत के पास पहुंचा, मनजी भाई सूक्ष्म रूप से उस के साथ था, परन्तु सुस्त पड़ा हुआ था, वहां प्रसंगानुसार मनजी भाई,मनजी भाई के विस्तार, मनजी भाई की चालाकियों और आपत्तियों के ऊपर बहुतसा ऊहापोह हुआ तब नरोत्तम को मालूम हुआ कि मनजी भाई बड़ा चलाक है, वह विचारने लगा "अब मैं मनजी भाई की एक भी बात न मानूंगा, जो कुछ कार्य करना होगा, विचार युक्त बुद्धि से किया करूंगा!" ऐसा विचार कर जब नरोत्तम संत के पास से लौट कर घर की तरफ आरहा था तब मन जी भाई कहने लगा "पंडित जी! ऐसे भिखारियों के पास तुम्हारा रोज रोज का जाना अच्छा नहीं है, तुम गृहस्थ हो, बहुत से यजमानों के कार्य की जिम्मेदारी तुम्हारे शिर पर है, सब काम छोड़ कर आज इतना समय व्यर्थ ही खोदिया!" नरोत्तम को भाई की बात ठीक मालूम हुई, विचारने लगा कहता तो ठीक है!" उसी समय संतके वाक्यों की आई,जीमें कहने लगा "अरे! दुष्ट मनजी छलने के लिये तो कहीं ऐसी बातें नहीं बनाता डालना चाहिये!" ऐसा विचार कर बोला "दुष्ट तू संत महात्माओं को भिखमंगा बताता है! निन्दा करता है! स्वयं भगवान् भी संतों की को भंग नहीं करते! संत महाराज से मैंने तेरी क्रियां जानली हैं, मैं तेरी नहीं मानता, तू मुझे कार्य में प्रवर्त होने नहीं देता! गृहस्थी का मानों में क्या धरा है? वह कार्य तो ऐसे हुआ ही करता है! सत्संग तो अमोल्य है उस के लिये तू मने करता है और कहता फोकट में समय क्यों बिताते हो, यह तेरा काम नहीं है!" मनजी मन में विचारने लगा "इस नरोत्तम को बहका दिया है, मेरी पोल खोल भ आ! मेरे बिना उस का काम कब चल सकता नरोत्तम घर पर पहुंचा तो मालूम हुआ कि सेठ उसे बुलाने को आया था, आधे घंटे ठहर अंत में उसके न आने से निराश हो कर वह मनजी भाई घुरीता हुआ नरोत्तम के सामने हो कर बोला "देखा! आपने भिखारी के पास से समय खोदिया, घर पर आई हुई सोने की उड़ गई! वह नगर सेठ था, कोई न कोई दे देता कि हजार पांच सौ रुपये मिल जाते था!" नरोत्तम विचारने लगा "मनजी नहीं है, उस की बात में तन्त है, वह आगे की है! नहीं! नहीं! साधु का वचन असत्य मनजी तुच्छ सुवर्ण का लोभ दिखलाता है पर से मेरी श्रद्धा और भाव को हटाने की रहा है! जगत् के ऐश्वर्य की लालसा दुःख परमात्मा की तरफ जाने में रुकावट करने ऐसा विचार कर प्रत्यक्ष बोला "मन जी! भले ही सच्ची हो परन्तु मैं नहीं मानता फँसाता है!" मन जी बोला "मैं क्या फँसाता आपको नुकसान हुआ, उसकी चेतावनी दे

मेरा क्या बिगड़ा ? आप नाराज होते हो तो मैं चुप होता हूं !" संध्या का समय हो गया था, नरोत्तम संध्या करने को बैठा। मन जी सूक्ष्म रूप धारण कर के संध्या के भीतर घुस कर कहने लगा "नगर सेठ किस कारण आया होगा ? उसके पास जाकर मिलना चाहिये, मिले विना क्या मालूम हो ?" नरोत्तम को होश आया "अरे ! दुष्ट मनजी फिर तू संध्या में भी घुस आया ! हट ! अभी संध्या करने दे !" ऐसा कह कर नरोत्तम फिर संध्या करने लगा। मनजी फिर धीरे से बोला "कहीं नगर सेठ अपना कार्य कराने को दूसरे पंडित को नियत न कर दे ! उस से जल्दी मिलना चाहिये, बड़ा आदमी है, कहीं खा खाने को बाहर न चला जाय !" फिर नरोत्तम को होश आया, कहने लगा "दुष्ट मनजी ! तू मेरा पीछा ही नहीं छोड़ता ! मुझे संध्या करने देता है या मुझसे नगरसेठ का जाप—उपासना कराता है ? तेरी दुष्टता ने हद करदी !" मनजी ने फिर अपनी दृष्टि फैलाई "अजी ! मुन्नालाल सेठ के यहां जाने को कहा था वे राह देख रहे होंगे ! संध्या से जल्दी निवृत्त हो कर वहां चलना चाहिये !" फिर नरोत्तम को होश आया, मनजी को ढूंढने लगा और बोला "दो चार लाठियां लगा दूं, पाव घन्टे की संध्या भी विधि से करने नहीं देता !" मनजी भाई छिप गया, नरोत्तम हाथ मलता ही रह गया, मनजी की बातों में न आने का निश्चय कर के फिर संध्या करने लगा। मनजी कान में कहने लगा "देखो ! मुन्नालाल सेठ आ रहा है, उसका कोई विशेष अगत्य कार्य होगा, इस सेठ से हमेशा अच्छी आमदनी हुआ करती है !" नरोत्तम को होश आया, कहने लगा "मनजी तंग कर रहा है, आज संध्या नहीं करने देगा, सेठ जी भी आ गये हैं, चलो !" ऐसे तैसे संध्या के खेल को समाप्त कर के नरोत्तम सेठ जी के पास पहुंचा। मनजी जीत गया ! हाय ! बहुत यत्न करने पर भी मनजी ने नरोत्तम को पछाड़ ही दिया !

मुन्नालाल सेठ एक अपने पुत्रकी और दूसरी एक लड़की की दो जन्म पत्री दे गये थे। दोनों के ग्रह मिलाने थे, मुन्नालाल के पुत्रकी कुन्डली अनेक लड़कियों की कुन्डलियों से मिलाई गई है, किसी से मिलती नहीं है, ग्रह न मिलने के कारण अच्छे अच्छे घरों की लड़कियों को छोड़ देना पड़ा है, यह सब बातें नरोत्तम को मालूम थीं। उस शहर में नरोत्तम भी एक प्रतिष्ठित पंडित समझा जाता था। नरोत्तम ने लड़के लड़की दोनों के ग्रह देखे तो एक दूसरे से विरुद्ध पाये इस लिये जी में विचार कर रहा था कि क्या कह दूं, इतने में ही मनजी बोल उठा "ग्रह ठीक हैं, मिल गये हैं, ऐसे कह दो !" नरोत्तम बोला "अरे मनजी ! झूंठ क्यों बोलूं ?" मनजी बोला "वाह ! झूंठ कहां का ? अपना लाभ देखोगे कि झूंठ देखोगे ! ग्रह न मिलने से सेठजी परेशान हो रहे हैं, अब भी तुम कह दोगे कि ग्रह नहीं मिलते तो सेठजी नाखुश हो जांयगे ! सेठजी की खुशी में ही तुम्हारी प्राप्ति है ! संसार ही ऐसा है, थोड़ा सा झूंठ बोलना कुछ पाप नहीं है, और झूठ भी कहां है ? ग्रह सच्चे थोड़े ही होते हैं ! ग्रह सच्चे हों तो ज्योतिषी को मरना ही न चाहिये ! सब यों ही चलता है !" नरोत्तम बोला "अरे मनजी ! मुझसे ऐसा अधर्म मत करा !" मनजी बोला "नहीं ! ग्रह मिल गये कहने में ही तुमको लाभ है ! शादी में तुमही बुलाये जाओगे ! पुजे जाओगे ! भेंट शिरोपा मिलेगा ! झूंठ कुछ नहीं है ! मैं तुम को फिर सब समझा दूंगा !" नरोत्तम फिसल गया, मन के जाल में फँस गया, कहने लगा "सेठजी ! इन दोनों कुन्डलियों के ग्रह ठीक ठीक मिल गये हैं, प्रथम जो जो कुन्डलियां आप लाये वे मिलती न थीं, जैसा योग इन कुन्डलियों में मिला है वैसा किसी में ही मिलता है !" मुन्नालाल बोला "तब मैं लड़की कबूल करता हूं !" नरोत्तम बोला "हां ! हां ! खुशी से !" मुन्नालाल पांच रुपये नरोत्तम के सामने रख बोला "पंडित जी ! यह पत्र पुष्प आपकी भेंट है, कल आप मेरे घर पर आइये, शादी का दिन भी निश्चय किया जायगा, अभी लड़की वाले यहां ही हैं।" इतना कह आज्ञा मांग कर मुन्नालाल चल दिया। नरोत्तम बोला "मनजी ! अब ग्रह कैसे मिलाये जांय ? किसी दूसरे ज्योतिषी को दिखायेंगे तो मेरी पोल खुल जायगी !" मनजी बोला "इतने ना हिम्मत क्यों होते हो ? ज्योतिष के अनेक शास्त्र हैं, एक दूसरे

में अन्तर है, पोथी पुस्तक देखने से ग्रह अनुकूल हो जांयगे नहीं तो कह देना कि ग्रह की शुद्धि करके मैंने कुण्डली बनाई है, अपना ज्योतिष शास्त्र समुद्र है, जिसे अनुकूल करना चाहें अनुकूल कर सके हैं, जिसे विरुद्ध करना चाहें उसे विरुद्ध कर सके हैं!" मनजी के कहे अनुसार इधर उधर से पोथियां खोल कर ग्रह अनुकूल कर दिये और प्रसन्न होता हुआ बोला "मन जी! तू बड़ा चतुर है। क्या युक्ति बताई! अब तो मैं झूठा भी नहीं होऊँगा! शाबाश! मनजी शाबाश!" पाठक! देखिये, भोले भाले ब्राह्मण को मनजी ने कैसी उलटी पट्टी पढ़ाई !!!

मुन्नालाल को नरोत्तम के ग्रह मिलाने में कुछ शंका हुई, उस ने दूसरे ज्योतिषी से पूछा तो ग्रह विरुद्ध जान पड़े, तब से मुन्नालाल की नरोत्तम के ऊपर से श्रद्धा जाती रही, इस प्रकार मनजी की दाव पट्टी में आने से कुछ दिनों में नरोत्तम की प्रतिष्ठा लोगों में भंग हो गई, जो लोग प्रथम उसे सद्गुणी विद्वान् समझते थे अब वे उसे बुरा समझने लगे। एक दिन वह अपनी दशा का विचार करने लगा तो उसे मालूम हुआ कि मनजी की सम्मति अनुसार चलना, उसकी दशा बिगड़ जाने का कारण है, वह जी में सोचने लगा "साधु जी ने मनजी की सब बदमाशियां बतादी थीं, मैं ने मनजी का कहा न मानने का निश्चय किया था, उस निश्चय में मैं दृढ न रहा, इसी से मेरी दुर्दशा हुई है। अब सब कार्य छोड़ कर साधु के पास जाया करूंगा, उन का उपदेश ग्रहण करूंगा, अब मनजी के मोह जाल में नहीं फसूंगा!" ऐसा विचार कर नरोत्तम साधु के पास पहुंचा और प्रणाम कर के मन जी से तंग होने का हाल सुनाकर बोला "महाराज! अब मुझे क्या करना चाहिये?" संत ने कहा "भोले ब्राह्मण! तू मनजी को पूर्ण रूप से जानता नहीं है, जब तक इस बदमाश को ठीक न करेगा तब तक तुझे शांति न होगी, सुन! मैं तुझे मनजी की करतूत सुनाता हूं:-दुष्ट स्वभाव वाला मनजी अपने अवगुणों को नहीं देखता, दूसरे के अवगुणों को ही देखता है और निन्दा करता है। उत्तम से उत्तम कार्य में छिद्र का ढूंढना उसे अच्छा लगता है, रात्रि दिन ऐसी दुष्टता में ही प्रवर्त रहता है, अपने जलती हुई आग इसे नहीं दीखती और दूसरे उपदेश देने को चतुर बन जाता है, अंतर दु[ष्टता] रखता है, ऊपर से मीठी २ बातें बनाता है, [अपना] कार्य सुधरता न हो तो भी दूसरे का कार्य बि[गाड़ने] में उसे मौज आती है! अपना भी नुकसान [करता] है और दूसरे को भी हानि पहुंचाता है! क्षण में [एक] स्थान से दूसरे स्थान पर ऐसे हमेशा भटकता [रहता] है, लाभ हो या न हो, उसे क्षण भर भी चैन [नहीं] पड़ता! होने योग्य और न होने योग्य सब [में] भटकता रहता है, आकाश, पाताल और देश दे[शान्तर] में घूमता रहता है! जैसे चील मांस को देख[कर] लपकती है ऐसे ही विषयों को देख कर झपटता [है!] संत, शास्त्र और गुरु को नहीं मानता, चोरी, [जुआ] डकैती आदि के सब दाव पेचों को जानता है! [भोले भाले लोगों को] पटक कर अपने जाल में फंसाने की विद्या [अनेक] प्रकार पढ़ा हुआ है! ऋषि, मुनि, और सदाचा[री पुरुषों] को भी अपना किंकर बनाने में नहीं चूकता! [...] से प्रीति करता है—उस का गुलाम बनता है, [...] लोकों से भ्रष्ट होता है! नरोत्तम! तेरा नरोत्तम[पना] मनजी के संग से चला गया है! यदि तू शांति चा[हता] हो तो मेरे उपदेश के अनुसार चल, मनजी की [किसी] बात को मत मान, यह मनजी मनजी नहीं है, दुष्ट [चोर] है, तू उसे अपना पक्का वैरी समझ! जैसे चौकी[दार] जागता रह कर चौकी देता है, चोरों को आने नहीं [देता] ऐसे ही तू मनजी के ऊपर चौकी करने वाला चौकी[-] दार बनजा! यदि चौकीदारी के भाव से क्षण भर [भी] हटेगा तो मनजी चोर तेरे शुभ गुणों को चुरा ले[गा]। जैसे शत्रु के दाव पेचों से सावधान रहना पड़ता [है] ऐसे ही शत्रु रूप मनजी से जब तू सावधान र[हेगा] तब अनर्थ करने वाला मनजी तेरे पास नहीं आवे[गा]। शरीरधारी चोर को पकड़ना सहज है क्योंकि [वह] दीखता है, मनजी सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं [देता] और घर का है इस लिये उसे पकड़ने के लिये [तुझे] द्रष्टा रूप बन जाना चाहिये और दृढ़ सामर्थ्य [वाला] भी होना चाहिये, यह सामर्थ्य सत्संग, शास्त्र [विचार] और ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से ही प्राप्त हो[ता है] इस लिये उन का अभ्यास करते हुये दृढ़ हो[...]

चाहिये, वैराग्य बिना मनजी को जीतना कठिन है! मनजी कभी २ डाकू का काम भी कर बैठता है! जब वह ऐसा करने लगे उसी समय सामर्थ्य से उस दुष्ट को पराजित करना चाहिये!"

नरोत्तम बोला "महाराज! आपने जैसा कहा, मनजी ऐसा ही दुष्ट है, आपने जो विवेक, वैराग्य और सत्संग कहे हैं, मैं उन्हें अवश्य करूंगा, और भी मुझे क्या क्या करना चाहिये, वह भी कृपा करके बताइये!" संतने कहा "भाविक! रजोगुण और तमोगुण की क्रियाओं में आसक्ति युक्त प्रवृत्ति को छोड़ कर संतोष को धारण कर! आत्म विचार से संपूर्ण संतोष प्राप्त होता है, संतोषी होने से मन का जोर नहीं चलता, जब संतोष रूप धन की प्राप्ति होती है तब इच्छायें निवृत्त हो जाती हैं, इच्छा रहित होने से मनजी का पैर ढीला पड़जाता है। जहां लोभी रहते हैं, वहां धूर्त भूखे नहीं मरते! लोभियों के सामने धूर्त विद्या चलती है! मन जी धूर्त है, जब तू लोभ रहित हो जायगा तो मन जी तुझे ठग न सकेगा! प्रपंच और प्रपंच के मन जी से प्रेम हटा दे! जब २ वह तेरे सामने आवे तब २ उसका तिरस्कार कर! उस की पोल खुल जायगी! तू सचेत हो कर द्रष्टा भाव में आ जायगा!" नरोत्तम सन्त के कहे अनुसार वर्तने लगा, कुछ समय के बाद शत्रु रूप मन जी सन्मित्र के समान होने लगा!

नरोत्तम मनुष्य है, मन जी भाई मन है। जो मन को जानता है, वह ही मन को वश कर सक्ता है। कभी २ ऐसा होता है कि हम आये हुये विचार को हटाना चाहते हैं परन्तु मन हटाने नहीं देता। ऐसा देख कर हम दुखी होते हैं, मन को गालियां देते हैं तो भी बलिष्ठ हुआ मन विचार को हटाने नहीं देता। इस समय पर जिस विचार को हटाना हो उस विचार को छोड़ कर दूसरे विचार में लग जाना चाहिये। ऐसा करने में असमर्थ हो तो कुंभक प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम भी नहीं कर सके हो तो एक आधी मिनट तक 'यह नहीं, यह नहीं' ऐसा खयाल करते हुये शिर हिलाते रहना चाहिये। ऐसा करने से उस समय मन विचार को अवश्य छोड़ देगा परन्तु थोड़ी देर के लिये ही छोड़ेगा। उस समय दूसरे विचार में लग जाना चाहिये अथवा देखना, सुनना, छूना आदि किसी अन्य विषय में प्रवर्त होना चाहिये। ऐसे दृढ़ अभ्यास से धीरे २ मन स्वाधीन होता है। ऊपर जो नरोत्तम और मन जी का दृष्टांत दिया है, उसमें यह दिखलाया है कि मन की चाल किस प्रकार होती है। प्रतिक्षण मन इसी प्रकार का व्यवहार करता है। यदि कोई मन की सुबह से शाम तक की डायरी लिखे तो हजारों पृष्ठ का एक बड़ा भारी ग्रन्थ बन जाय! जैसे के साथ तैसा हुये बिना ऐसे चंचल और छली मन को वश नहीं कर सके, पाठ, भजन, उपासना, संध्या, ज्ञान आदि जितनी शुभ क्रियायें हैं और सांख्यादि जितने शास्त्र हैं, सब मन को ही ठीक करने के उपाय रूप हैं, मन को वश करने के निमित्त ही अनेक प्रकार की तपश्चर्या, जंगल—एकान्त का निवास और योग की महान् २ क्रियायें हैं। मन वशीभूत हो जाय तो शांति और परम पद दूर नहीं है। मन लालच में पटकता है, लालच व्यर्थ है, क्यों कि प्रत्येक का भोग प्रारब्ध के अनुसार होता है। भोग की विशेषता के लिये मन की दौड़ धूप दुःख का हेतु है। भोग में सन्तोष धारण करना चाहिये और शुद्ध हो कर मन की प्रवृत्ति आत्मा में करनी चाहिये! जब आत्मनिष्ठा स्थिर होती है तब ही मन सम्पूर्ण वश होता है। आत्मनिष्ठा से प्रथम कई अंश में मन वश हो सका है, मनके कुछ वश होने से ही आत्म-बोध होता है। जो अपना कल्याण करना चाहे, उसे पूर्ण प्रयत्न से मन को स्वाधीन करना चाहिये। जिस का मन की जितनी वश्यता होगी, उतनी ही उसे व्यवहार में शांति अवश्य होगी। जिसे व्यवहार को शांतिमय बनाना हो, उसे भी मन रूप औज़ार को शुद्ध रखना चाहिये। मन बहुत प्रबल है तो भी ऐसा नहीं है कि वश में न आवे। मन को रोकने के सब उपायों में वैराग्य ही मुख्य उपाय है। जो मन को स्वाधीन कर सका है, वह संसार भर को स्वाधीन कर सक्ता है! मन के अमन होने में परम

पद है ! मन में राग द्वेष रूप जो विष भरा हुआ है, वह विष यदि निकल जाय तो मन शुद्ध है। शुद्ध मन ही जीवात्मा से शुद्धात्मा हो कर परमात्मा हो जाता है।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ।

प्रारब्ध की आकृति किसी ने देखी नहीं है, कार्य होनेके प्रथम फल रूप प्रारब्ध का यथार्थ अनुमान किसी को नहीं होता तो भी प्रारब्धवाद के कथन करने वालों का संसार में टोटा नहीं है। प्रारब्धवादियों का वाद केवल वाणी में रहता है, बर्ताव में आता हुआ देखने में नहीं आया। अवश्य होने वाले को प्रारब्ध कहते हैं और अपनी इच्छानुसार प्रयत्न करने का नाम पुरुषार्थ है। प्रारब्ध कर्मों का फल है और फल भी क्रिया सहित होता है इस लिये फल को केवल क्रिया में समझना भूल है। काल भेद से कर्म तीन प्रकार का है। भूत काल के खजाना रूप संचित कर्म हैं, वर्तमान भोग रूप प्रारब्ध कर्म हैं और आगे के लिये होने वाले क्रियमाण कर्म हैं। जिन संचित कर्मों में से वर्तमान शरीर उत्पन्न हुआ है और वर्तमान शरीर में जो निश्चित् भोग होने वाला है, वह प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। अथवा जो प्रबलता से प्राप्त हुआ है, वह प्रारब्ध है, अथवा जिस कर्म का फल भोगे विना नाश न हो, वह प्रारब्ध है। प्रत्येक प्रारब्ध कर्म क्रिया की अपेक्षा सहित होता है यानी अमुक प्रकार की क्रिया से प्रारब्ध अमुक फल देता है। प्रारब्ध का प्रथम से पता है नहीं, इस लिये प्रारब्ध, प्रारब्ध के कर्म और भोग के साथ नवीन भाव जुड़ जाता है, वह भाव क्रियमाण कर्म कहा जाता है। क्रियमाण से प्रारब्ध को अलग रखना, सम्पूर्ण ज्ञान सिवाय बन नहीं सक्ता इसलिये कर्म की गति गहन कही गई है। कर्म का यथार्थ सूक्ष्म स्वरूप समझना कठिन है क्योंकि भाव सहित कर्म से ही संसार की उत्पत्ति है। जिस प्रकार समग्र संसार को समझना कठिन है इसी प्रकार कर्म की सूक्ष्मता समझना कठिन है। कर्म दो प्रकार के होते हैं बाधक और अबाधक। तीव्र अहंभाव सहित के[…] बाधक होते हैं और जिन में अहंभाव की […] नहीं होती, वे बाधक नहीं होते। सब मनु[…] दोनों प्रकार के कर्म होते हैं। ज्ञानी को विशे[…] में भी अहंभाव की तीव्रता नहीं होती, […] विशेष में विशेष कर्म भी ज्ञानी को अबाधक है, प्रत्येक मनुष्य को प्रारब्ध कर्म और उसके […] में सामान्य अहंभाव ही होता है तो भी अज्ञा[…] वश में विशेष अहंभाव लगाया जाता है […] करने से प्रारब्ध के भोग समाप्त होने के साथ क्रियमाण बन जाता है, ऐसा होते रहने से […] अन्त कभी भी नहीं आता। जब तक कर्म […] तब तक उसका फल भोगने को शरीर होता है […] होने से सुख दुःख होता है। कर्मों की निवृत्ति से कभी नहीं हो सक्ती क्योंकि कर्म केवल स्थू[…] वाले नहीं हैं किन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण[…] तक कर्मों के परमाणु भरे हुये होते हैं, अज्ञा[…] कर्मों का भाव नहीं होता। जब तत्व […] बोध हो जाता है तब कर्मों का भाव नहीं […] जब तक संसार और संसार के कर्मों में […] प्रतीत होता है तब तक ही कर्मों का भाव […] जब अज्ञान निवृत्त हो कर ज्ञान हो जाता है […] दृश्य की तुच्छता-असत्यता प्रतीत होती है […] कर्मों का भाव नहीं रहता। ज्ञान सिवाय […] कर्मों से मुक्ति नहीं होती।

प्रारब्ध तीन प्रकार का है, इच्छा प्रारब्ध […] च्छा प्रारब्ध और परेच्छा प्रारब्ध। जो इच्छा[…] किया जाय वह इच्छा प्रारब्ध है, जो इच्छा […] हुये करना पड़े वह अनिच्छा प्रारब्ध है […] दूसरे की इच्छा से किया जाय, वह परेच्छा […] है। व्यास जी ने राजा परीक्षित से कहा […] कि तेरे हाथ से ब्रह्महत्या होने वाली है। […] को भविष्य में होने वाली ब्रह्महत्या का […] तो भी उस ने स्वेच्छा से यज्ञ में हास्य कि[…] ऐसा करने से उसे ब्रह्महत्या का दोष लगा। […] प्रारब्ध था। महा भारत के युद्ध के समय […] को देख कर मोह को प्राप्त हुये अर्जुन को […]

साथ युद्ध करने की इच्छा नहीं थी, प्रारब्ध की प्रेरणा से उस को युद्ध करना पड़ा, यह अनिच्छा प्रारब्ध था।

एक राजकुमार अपने पास के राजा की कन्या से विवाह कर के स्वदेश जाने को तैयार हुआ, तब राज कुमारी के साथ उसी की उमर की और उसी के समान सुन्दर एक दासी भी चली। राजकुमारी और राजकुमारी की मा की उस दासी पर कृपा थी इस लिये दासी को बहुत इनाम दिया गया था, उस इनाम के धन से दासी ने राजकन्या के साथ चलने वाले सब नोकरों को अपने वश में कर लिया। राजधानी के समीप पहुंच कर दासी ने राज कन्या से कहा "मैं राजकन्या हूं और तू मेरी दासी है इस लिये अपने वस्त्र मुझ को उतार दे और मेरे वस्त्रों को तू पहिन ले, राजधानी में जा कर यदि तू ने एक शब्द भी कहा तो मैं तुझे अवश्य मार डालूंगी !" दासी का कथन सुन कर राजकन्या थर २ कांपने लगी, और सब नोकर विरुद्ध जान कर उस ने अपने सब कपड़े उतार दिये और दासी के कपड़े पहिन लिये। सब राजधानी में पहुंच गये। तीसरे दिन राजकुमार के सामने बनी हुई रानी ने कहा "मैं इस (राज कन्या की तरफ अंगुली करके) दासी को अपने साथ रखना नहीं चाहती !" राजकुमार ने दासी को निकाल देने की आज्ञा दी। राजकन्या महल से बाहर निकाल दी गई, महल के बाहर निकलते ही एक गोपाल खड़ा हुआ मिला, उस ने राजकन्या से कहा "बाई ! मेरे संतान नहीं है, यदि तू मेरे घर चली चले तो मैं तुझे अपनी पुत्री समान रक्खूंगा।" राजकन्या गोपाल के साथ चली गई और उस के घर रहने लगी, दासी का कृत्य याद करके और अपनी दुर्दशा देख कर राजकन्या को वारंवार दुःख होता था, जब ग्वाला घर में न होता तब रोया करती थी और यह पद कहा करती थीः—

मैं अभागिनी राजकुमारी, दासी मेरी नमक हराम।
मैं तो गोबर मूत उठाऊं, दासी भोगे भोग तमाम ॥

एक दिन घर में आते हुये ग्वाले ने राजकन्या को ऊपर का पद कहते हुये सुन लिया, उस को बड़ा आश्चर्य हुआ, यह राजा का पुराना विश्वासु मनुष्य था, राजा के पास जाकर राजा को ले आया, राजा ने भी राजकन्या के मुख से ऊपर का पद सुना, ग्वाला और राजा दोनों घर में गये, राजा ने कहा "दासी ! अभी तू क्या बोल रही थी ?" राजकन्या बोली "महाराज ! ऐसा मालूम होता है आपने मेरे शब्द सुन लिये हैं, यदि मैं आप से कहूं तो आप को विश्वास न आवेगा !" राजा बोला "जो तेरी बात सच्ची होगी तो प्रमाण प्राप्त कर के भी निश्चय करूंगा !" राजकन्या बोली "मुझे सच्ची बात कहने से डर लगता है !" राजा बोला "किस का डर लगता है ?" राजकन्या ने कहा "आप की बनी हुई पुत्रबधू का ! आप मेरी रक्षा करो तो मैं सच्चा हाल कहूं !" राजा ने यह बात मानली, राजकन्या ने सब वृत्तांत कह सुनाया। राजा ने कहा "तेरा कहा हुआ सच होगा परंतु इस में प्रमाण क्या है ?" राजकन्या ने अपने पास छिपा कर रक्खी हुई, विवाह के समय राजकुमार की दी हुई राजकुमार के नाम की अंगूठी निकाल कर राजा को दी, राजा ने कहा "यह अंगूठी अवश्य राजकुमार की है, परन्तु संभव है कि दासी होने से तू ने किसी बहाने से अंगूठी लेली हो !" राजकन्या थोड़ी देर विचारने के बाद बोली "महाराज ! आप ही अनाथ के बेली हो, शादी के पहिले मेरा एक चित्र आप के पास आया था, यदि वह चित्र आप के पास हो तो उस से मेरा मिलान कर लीजिये, और भी निश्चय करना हो तो मेरे माता पिता को बुलवा कर पहिचान करवा लीजिये !" ये सब बातें सुन कर राजा को निश्चय हो गया कि अवश्य यह राजकुमारी है, राजा ने महल में जाकर पुरानी चिट्ठियों में से चित्र निकाला तो वह उसी राजकुमारी का चित्र था, उस को देख कर राजा बहुत दुखी हो कर जी में कहने लगा "हाय ! कितनी दगा ! दगा करने वाले क्या नहीं करते ? सब ही करते हैं !" तुरन्त ही राजकुमार को बुला कर राजा ने कहा "हे पुत्र ! तू अपनी स्त्री से जाकर पूछ कि जो कोई दूसरे के सुख का नाश

करे तो उसे क्या शिक्षा मिलनी चाहिये ? यह प्रश्न मैं ने पुछवाया है, ऐसा मत कहियो ! " राजकुमार ने महल में जाकर रानी से यह प्रश्न पूछा, यह प्रश्न सुन कर रानी फूल कर कुप्पा हो गई, जी में कहने लगी " मेरा पति मेरे वश हो गया है ! राजकार्य में भी मेरी अनुमति लेता है, कोई ऐसा ही मुकद्दमा आया होगा ! " ऐसा विचार कर बोली " प्राणनाथ ! ऐसे मनुष्य पर शिकारी कुत्तों को छोड़ देना चाहिये ! जब कुत्ते शरीर को काट कर घायल कर दें तो घावों में नमक भरना चाहिये, और अत्यन्त कष्ट देकर मारना चाहिये, जिस से ऐसा कार्य फिर कोई दूसरा न करे !" राजकुमार ने रानी के सब शब्द ज्यों के त्यों राजा से जाकर कहे तब राजा बोला " प्यारे पुत्र ! जो तेरी स्त्री बन कर अंतः-पुर में बैठी है, वह तेरी सच्ची पत्नी नहीं है, किन्तु तेरी पत्नी की दासी है ! तेरी सच्ची पत्नी तो ग्वाले के यहां गोबर मूत उठाती है, तेरी पत्नी ने जो शिक्षा बताई है, वह ही मैं उस को देता हूं !" ग्वाले के यहां से राजकन्या सत्कार सहित बुलाई गई और दासी बुरे हाल से मारी गई ! राजकुमारी ने जो कष्ट भोगा था वह परेच्छा प्रारब्ध था और दासी ने जो फल पीछे भोगा वह दासी की इच्छा न होने से अनिच्छा प्रारब्ध था और पूर्व में रानी होकर जो सुख भोगा, वह क्रिया सहित स्वेच्छा प्रारब्ध था।

प्रारब्ध को मानने वाले कट्टर प्रारब्धवादी भी अज्ञान दशा में प्रारब्धानुकूल वर्त नहीं सके, प्रारब्ध को मानने वाला कोई भी जान बूझ कर के 'मेरा प्रारब्ध होगा तब ही मैं मरूंगा' ऐसा समझ कर अग्नि में नहीं गिर पड़ता, सिंह सर्पादि के सामने भी नहीं जाता और प्रारब्ध के भरोसे छुटती तोप के सामने भी खड़ा नहीं रहता, प्रारब्ध मानने वाले भी कर्म करते हुये देखने में आते हैं, मुख में रक्खे बिना पेट नहीं भरता, यह सब जानते हैं, जब प्रारब्ध के भरोसे रह ही नहीं सके तो प्रारब्धवादी कहलाना व्यर्थ है । अज्ञान ही ऐसी भूल का हेतु है, प्रारब्ध एक प्रकार का कर्म—भोग है, इस के सिवाय प्रारब्ध कुछ नहीं है। कर्म पुरुषार्थ रूप है, जितने कर्म हैं, वे सब काल भेद से भेद वाले हैं, पूर्व का हुआ पुरुषार्थ ही वर्तमान में प्रारब्ध का पहिन लेता है, ऐसा होते हुये भी पुरुषार्थ से की विशेषता मानना मूर्खता है, बिना पुरुषार्थ आया ही कहां से !? प्रारब्ध बलिष्ठ होते हुए पुरुषार्थ का पुत्र है, पुरुषार्थ करते हाथ से निकल पड़ा हुआ प्रारब्ध है ! का अमुक प्रारब्ध है, ऐसा कोई पट्टा लि साथ नहीं लाता ! पुरुषार्थ दीखता है, प्रार दीखता। पुरुषार्थ में स्वतंत्रता मालूम हो प्रारब्ध में परतंत्रता है। न दीखते हुये परतंत्र प्रारब्ध के भरोसे बैठना और पुरुषार्थ को तुच्छ अज्ञान का परिचय देता है, प्रारब्ध शब्द मात्र के हेतु है। जिस में अन्य कोई कारण मालूम कर्ता की कोई भूल या कर्तव्य प्रतीत न हो और संयोग वश सुख दुःख हो, उन सब ग्रहण करने के निमित्त प्रारब्ध समझना ऐसा करने से शांति होती है, कोई कष्ट कि किये हुये प्राप्त हुआ हो, अपना दोष न दीख और कष्ट हो ही रहा हो तो मन में संतोष करने के निमित्त ऐसा समझना चाहिये कि प्रारब्ध का है, ऐसा मानने से दुःख न्यून इसी प्रकार किसी संयोग वश प्रयत्न कि सुख की प्राप्ति हो जाय तो विशेष अहंकार हुये प्रारब्ध समझना चाहिये, फल प्राप्ति शांति के निमित्त प्रारब्ध समझना ठीक है करने के प्रथम कार्य करते हुये और फल प्रथम जो प्रारब्ध को समझ बैठते हैं वे करने में शिथिल पड़ जाते हैं, इस प्रकार प्रा मानना दुःख में वृद्धि करने वाला होता है। पु गाड़ी का बैल रूप है और प्रारब्ध चलती हु के पीछे उड़ती हुई धूल है, यदि पुरुषार्थ को गाड़ी के पीछे जोत दिया जाय और प्रार धूल को आगे उड़ाया जाय तो परिणाम क्या गाड़ी रुक जायगी, आगे चल न सकेगी प्रारब्ध में गाड़ी खेंचने की शक्ति नहीं है पा ! जो गाड़ी को खेंच सका है, पीछे रह गया है इस लिये उपयोगी नहीं है, आगे धू

से दीखता नहीं, गाड़ी चलती नहीं और गाड़ी चलाने वाला स्वयं भी प्रारब्ध धूल से अंधा हो जाता है इस लिये पुरुषार्थ प्रथम है और प्रारब्ध पीछे उस की पूंछ है।

जिस ने अपना परम पुरुषार्थ साध्य कर लिया है जिसे इस लोक तथा पर लोक में कुछ भी करना शेष नहीं है, ऐसे तत्व वेत्ता को कुछ भी कर्तव्य शेष न होने से अब शरीरादि का जितना व्यवहार उस से होता है, वह शेष प्रारब्ध है, पश्चात् उस को प्रारब्ध मानने की आवश्यकता नहीं है परन्तु जिस का कर्तव्य शेष है, उसे प्रारब्ध को सन्मुख रखना न चाहिये, पुरुषार्थ से ही अपनी चाल को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये, विचार से देखा जाय तो ज्ञान होने के बाद ज्ञानी का प्रारब्ध ही नहीं है, शरीर का शेष कर्म-फल है, अज्ञानी की दृष्टि से दिखाई देता हुआ होने से, उसे प्रारब्ध कहा है। जो कोई संपूर्ण प्रारब्ध को ही मानने वाला हो तो उसे किसी प्रकार का दुःख न होना चाहिये क्योंकि प्रारब्ध में किसी का वश अथवा कर्तव्य नहीं है तब प्रारब्ध के दुःख को क्यों ग्रहण किया जाय? जो कोई संपूर्ण प्रारब्ध को मानने वाला और उसी के अनुसार वर्तने वाला हो तो उसे अवश्य तत्व ज्ञानी मानना चाहिये, तत्व ज्ञान के बिना निर्मल व्यवहार नहीं होता, तत्व ज्ञानी में अज्ञान है नहीं, इस लिये उस से नया क्रियमाण नहीं होता, जो कुछ होता है, प्रारब्ध ही समाप्त होता है, अज्ञानी ऐसा नहीं कर सका किन्तु एक प्रारब्ध की समाप्ति के साथ, उस के सम्बन्ध में अनेक क्रियमाण यानी आगामी फल दाता कर्म उत्पन्न होते रहते हैं, कर्म का कर्ता होकर फल में प्रारब्ध होता है इस लिये प्रारब्ध को प्रथम मानने से हानि ही होती है क्योंकि प्रारब्ध को मानने से पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है और उस से दुष्ट आगामी अवश्य बनता है। प्रारब्ध कर्म और फल प्रवाह रूप हैं, वे सामान्यता से निकल कर भोग में आते हैं, उन में विशेष असर लगाने से नया आगामी बन जाता है। यह सूक्ष्म भेद जल्दी से समझ में नहीं आता इस लिये प्रारब्धवादियों और पुरुषार्थ वादियों का झगड़ा नहीं निबटता, प्रारब्ध और पुरुषार्थ को न समझने से दोनों ही झगड़ते हैं, कुशल तैराक नदी के प्रवाह में पड़ कर निश्चिंतता से तैरता है और न तैरने वाला प्रवाह के साथ तैरता हुआ भी हाथ पांव पीटता जाता है, प्रवाह मार्ग को छोड़ कर नये प्रवाह में पड़ जाता है, इसी प्रकार जो तत्व ज्ञानी है, वह बिना परिश्रम प्रारब्ध रूप प्रवाह को समाप्त करता है और जैसे न तैरने वाला हाथ पैर चलाते हुये, जल से ऊपर रहने की शक्ति होते हुये भी अज्ञान और भय से डूब जाता है इसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ को न जानने वाले अज्ञानियों का हाल होता है, तैरने में दो प्रकार की शक्ति मदद रूप है, एक प्रवाह की शक्ति और दूसरी तैरने वाले की हाथ पैर चलाने की शक्ति, इसी प्रकार अज्ञानियों के प्रारब्ध में भी दो प्रकार की शक्ति है, प्रवाह की शक्ति के समान प्रारब्ध की शक्ति है, जो सामान्य है और हाथ पैर की शक्ति पुरुषार्थ रूप है, जैसे तैरने वाला एक अपनी शक्ति से काम लेता है, प्रवाह की शक्ति का भरोसा नहीं करता इसी प्रकार अज्ञानियों को पुरुषार्थ से काम लेना चाहिये और प्रारब्ध को सन्मुख रखना नहीं चाहिये।

जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है इसी प्रकार सब कार्य सूक्ष्म से स्थूल में आते हैं, प्रत्येक कर्म का यह ही हाल है। प्रारब्ध का भी इसी प्रकार का समझो। सामान्यता से प्रारब्ध को स्थूल कर्म और स्थूल कर्मों से होने वाले फल को समझो, क्योंकि वह पूर्व के सूक्ष्म का फल है। पूर्व में सूक्ष्म भावना रूप जो संस्कार पुरुषार्थ रूप थे वे ही वृद्धि को प्राप्त हो कर वर्तमान काल में भोग रूप स्थूल भाव को प्राप्त हुये हैं, उन का नाम प्रारब्ध है, अब जो जो सूक्ष्म भाव के संस्कार प्रारब्ध के भोग के समय में दृढ़ होते चले जायेंगे, वे ही सूक्ष्म संस्कार वृद्धि को प्राप्त हो कर आगे-भविष्य में प्रारब्ध हो जायेंगे, प्रारब्ध की प्रतीति न होते हुये भी प्रारब्ध तीव्र होने से उस में सब की परतंत्रता है और पुरुषार्थ सूक्ष्म रूप होने से उस में सब की स्वतंत्रता है, जिस में स्वतंत्रता है, ऐसे पुरुषार्थ में

परतंत्रता मानना मूर्खता है, इस लिये प्रत्येक को पुरुषार्थ में ही लगना चाहिये, प्रारब्ध और पुरुषार्थ मनुष्य के दो पैरों के समान हैं, जिस प्रकार दोनों पैरों को एक दूसरे की जब सहायता मिलती है तब चला जाता है इसी प्रकार पुरुषार्थ का प्रारब्ध से सम्बन्ध है और प्रारब्ध का पुरुषार्थ से सम्बन्ध है, दोनों में सम्बन्ध होते हुये भी प्रथम चाल पुरुषार्थ की है, प्रयत्न और ईश्वर कृपा दोनों साथ २ हैं, प्रथम ईश्वर कृपा और पीछे प्रयत्न, ऐसा कोई नहीं कहता, जो स्थूल प्रारब्ध के भोग होते हैं, वे भी प्रथम सूक्ष्म में से निकल कर स्थूल क्रिया में आते हैं, सूक्ष्म में से निकलना सामान्य होता है, अज्ञान से वह सामान्यता प्रतीत नहीं होती इस लिये जब उस में आसक्ति से तेजी आजाती है तब वह केवल प्रारब्ध न रहते हुये उस में से प्रारब्ध का भोग और नया क्रियमाण दोनों बन जाते हैं। ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म केवल सूक्ष्म में से निकल कर समाप्त हो जाता है। सूक्ष्म में विशेष जोर—आसक्ति न लगने से सूक्ष्म में नया क्रियमाण नहीं बनता। ज्ञानी का प्रारब्ध बैठा हुआ होता है, अब उसे आगे चलना नहीं है, चलते चलते जो कुछ थकावट हुई है, वह थकावट भी निवृत्त होने वाली है, थकावट दूर होने तक ही ज्ञानी के परम पद होने में देरी है।

एक साधु के पास दो मनुष्य आये, उन में एक प्रारब्ध वादी था और दूसरा पुरुषार्थ वादी था, दोनों ही प्रारब्ध और पुरुषार्थ को यथार्थ समझने वाले नहीं थे, दोनों आपस में वारंवार प्रारब्ध और पुरुषार्थ की चर्चा किया करते थे। दूसरे को झूठा ठहराने और आप सच्चा बनने को दोनों साधु के पास आये, पुरुषार्थवादी साधु को हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हुआ बोला "माहराज! यह मेरा मित्र प्रारब्धवादी है वारंवार प्रारब्ध का कथन किया करता है, पुरुषार्थ को नहीं मानता। मैं पुरुषार्थ का मानने वाला हूं। हम दोनों में झगड़ा हुआ करता है, उसके निर्णय करने के निमित्त हम दोनों आप के पास आये हैं।" साधुने प्रारब्धवादी की तरफ देख कर कहा "क्या तू प्रारब्ध वादी है?" उसने कहा "हां! माहराज!" साधु ने कहा "तेरा प्रारब्ध कहां २ है? किस २ में तू अपना प्रारब्ध मानता है?" प्रारब्ध वादी बोला "मैं अपनी सब क्रियाओं और उन के फल में अपना प्रारब्ध मानता हूं, केवल मेरा ही प्रारब्ध नहीं, प्रत्येक भूत प्राणी की सब चेष्टा और सुख दुःख का भोग प्रारब्ध के आधीन है। प्रारब्ध विना कोई प्राणी एक तृण को भी इधर से उधर नहीं कर सक्ता। सब प्रारब्ध के साथ बंधे हुये हैं। मैं पुरुषार्थ को नहीं मानता, पुरुषार्थ कोई वस्तु नहीं है" साधु ने कहा, "तू ने जो कहा, वह एक प्रकार से तो ठीक, परन्तु तेरा कहना तेरे लिये ठीक नहीं है, मैं पूछता हूं कि तेरा प्रारब्ध और सब का प्रारब्ध बना किस प्रकार?" प्रारब्धवादी बोला "पूर्व के कर्म के अनुसार प्रारब्ध बना है, उसी के अनुसार सब चेष्टा करते हैं।" साधु ने कहा "तो प्रारब्ध पूर्व में भी होगा! तेरे कहे अनुसार सब क्रिया प्रारब्ध से होती है तब पूर्व में कर्म किये कैसे? यदि पूर्व में कर्म न हुये तो यहां का प्रारब्ध बना कैसे? यहां कुछ हुआ अवश्य है, जिसका भोग—प्रारब्ध आ भोगता है!" प्रारब्ध वादी बोला "यहां मैं अपने को परतन्त्र देखता हूं!" साधु बोला "परतन्त्र अवश्य है परन्तु कुछ स्वतन्त्रता भी है, केवल परतन्त्रता मानने से कार्य नहीं चलता! क्योंकि कर्ता ही भोग के भाव युक्त होता है इस लिये तू प्रारब्ध का भोक्ता है और प्रारब्ध जिन से बनता है ऐसे संस्कारों का करने वाला भी है!" प्रारब्धवादी बोला "मेरी स्वतन्त्रता कहां है?" साधु बोला "यह बात पीछे समझाई जायगी, यदि प्रारब्ध सिवाय कुछ न होता हो तो सब शास्त्र व्यर्थ हो जांय! क्योंकि प्रारब्ध ने जिसे बांध लिया है, उसको अमुक कर्म करने की और अमुक न करने की आज्ञा शास्त्र किस प्रकार दे सक्ता है? यदि प्रारब्ध को ईश्वर का दिया हुआ मानें तो ऐसा होने से ईश्वर पक्षपाती ठहरता है और ईश्वर के दिये हुये प्रारब्ध से बुरे कर्म करने का दोष भी तुझे क्यों लगना चाहिये? इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण प्रारब्ध नहीं है, लोकोक्ति भी है 'दैव दैव आलसी पुकारे' प्रारब्ध का दूसरा नाम दैव है। जो आलसी है, वही दैव को पुकारता है

कार्य करने के निमित्त दैव को पुकारना अनर्थ का हेतु है। इस लिये तू जिस प्रकार के प्रारब्ध वाद को मानता है, वह झूंठा है! तू प्रारब्ध वादी कहला कर प्रत्येक कार्य को प्रारब्ध के भरोसे पर छोड़ नहीं सका! इसलिये तू झूंठा है!" पुरुषार्थ वादी की तरफ देख कर साधु ने कहा "अब तू भी अपने वाद को कह!" पुरुषार्थ वादी बोला "जो कर्म किया जाता है, उसके करने से ही फल होता है इसलिये कर्म के करने को ही मैं पुरुषार्थ कहता हूं! उद्यम का नाम ही पुरुषार्थ है क्योंकि वह पुरुषों के अर्थ होता है इस लिये पुरुषार्थ है। प्रारब्ध कुछ करता हुआ नहीं दीखता, उसके भरोसे बैठा नहीं जाता इस लिये प्रारब्ध व्यर्थ है। जो कार्य मैं करना चाहता हूं, वह क्रिया करने से ही होता है, करने में मेरा अधिकार है, उद्यम से ही धन विद्या आदि की प्राप्ति होती है।" साधु बोला "क्या तू प्रारब्ध को बिलकुल नहीं मानता?" पुरुषार्थ वादी बोला "ना! महाराज! प्रारब्ध तो आलसियों के आलस्य को ढांकने की एक चादर है! प्रारब्ध कुछ है नहीं, करने से ही सब कुछ होता है! और जैसा करता है वैसा भरता है!" साधु बोला "जब तू कोई कार्य करना प्रारम्भ करे और कार्य निष्फल जाय तो निष्फलता का हेतु तू प्रारब्ध को मानेगा या नहीं!" पुरुषार्थ वादी बोला "ना! महाराज! कार्य करने में कोई न कोई गलती हो जाने से ही कार्य निष्फल जाता है, मैं ऐसे प्रसंगों में भी प्रारब्ध को नहीं मानता।" साधु बोला "नहीं! ऐसा नहीं है, विवेकी मनुष्यों का शुद्ध बुद्धि से किया हुआ जिसमें कोई भूल न हो ऐसा कार्य भी निष्फल हो जाता है अथवा उलटा फल देने वाला होता है और अज्ञानी का किया कार्य भी कभी २ सफल—सुख दाता होता है इस लिये वहां तो प्रारब्ध मानना ही पड़ेगा!" पुरुषार्थ वादी बोला "महाराज! प्रारब्ध को मानने से आलसी हो जाते हैं इस लिये प्रारब्ध को उड़ा देना ही अच्छा है!" साधु बोला "ठीक है! कार्य के आरम्भ में प्रारब्ध को मत रख परन्तु कार्य निष्फल होने में सन्तोष धारण करने के निमित्त प्रारब्ध को मान!" पुरुषार्थ वादी बोला "ना! ना! महाराज! सन्तोष धारण करने की कुछ जरूरत नहीं है, ऐसा मानने से भूल करते रहेंगे! प्रारब्ध के सिर पटकते रहेंगे तो कभी भी यथार्थ कार्य न कर सकेंगे! कर्म ही दैव है, कर्म से मुक्ति है, और कर्म से ही ईश्वर बन जाते हैं! जो २ पराक्रमी हुये हैं, सब कर्मों से ही हुये हैं! प्रारब्ध ने किसी शूरवीर को पैदा नहीं किया! सब कर्तव्य है! अकर्तव्य रूप प्रारब्ध को मैं नहीं मानता!" साधु ने दोनों की तरफ दृष्टि घुमा कर कहा "तुम दोनों को अपना २ आग्रह है! तुम दोनों ही झूंठे हो, केवल प्रारब्ध वादी झूंठा है ऐसे ही केवल पुरुषार्थ वादी झूंठा है। अज्ञानियों को पुरुषार्थ का सहारा लेना चाहिये और ज्ञानियों को प्रारब्ध का। और भी सुनोः—कार्य करने में पुरुषार्थ का लक्ष होना चाहिये और फल प्राप्ति में प्रारब्ध का। प्रारब्ध फल है और पुरुषार्थ स्वेच्छा है, प्रारब्ध कर्म के संयोग की अपेक्षा रखता है और पुरुषार्थ प्रारब्ध के संयोग से सम्बन्ध वाला है, पुरुषार्थ प्रथम है और प्रारब्ध पीछे है, सामान्यता से समझने के लिये स्थूल कर्म और फल प्रारब्ध है और सूक्ष्म भाव पुरुषार्थ रूप है, सूक्ष्म को भी प्रारब्ध मानना ठीक नहीं है, ऐसे ही स्थूल में पुरुषार्थ मानना ठीक नहीं है जिसको प्रारब्ध और पुरुषार्थ का सूक्ष्म भेद मालूम हो जाता है, वह अपने कल्याण के मार्ग में बहुत शीघ्र आगे बढ़ता है, तुम दोनों अपनी २ भूल को सुधारो! तुम्हारा हित होगा!" अपूर्ण।

चर्पट पंजरिका।

नारीस्तन भर जघन निवेशं
दृष्ट्वा माया मोहावेशम्।
एतन्मांस वसादि विकारं
मनसि विचारय वारंवारम् ॥ ११ ॥ भज०

अर्थः—नारी के स्तनों का भार जघन (पेडू) की रचना देखकर, मिथ्या मोह का आवेश उत्पन्न होता है

वे मांस और चरबी आदि के विकार हैं, इस प्रकार मन में वारंवार विचार कर, गोविन्द का भजन कर।

भाषा पद्य।

नारि पयोधर पीन जघन को।
देखत मोह मृषा हो मन को॥
ये चरबी मांसादि विकारा।
फिर २ मन में करा विचारा॥ ११॥ भज०

विवेचन।

आचार्य जी का उपदेश भगवत् प्राप्ति का अथवा भगवत् प्राप्ति के साधनों का है। जिस प्रकार भगवत् प्राप्ति हो, उसके निमित्त कथन करते हैं, जगत् के सब भोग पदार्थ भगवत् प्राप्ति में आड़ रूप हैं, जब मनुष्य भोगों की तरफ आसक्ति वाला होता है तो वह आसक्ति भगवत् प्राप्ति में रुकावट करती है, ऐहिक पारलौकिक अनेक प्रकार के पदार्थ हैं उन सब को क्रम २ से हटाना असम्भव है इस लिये जिस एक ही पदार्थ में पांचों इन्द्रियों के भोग आ जाते हैं, ऐसे एक पदार्थ के ऊपर विरुद्ध भावना करने का उपदेश है। ऐसा पदार्थ एक स्त्री है क्योंकि एक स्त्री में पांचों ही इन्द्रियों के भोग की सिद्धि होती है। जब भोग में चित्त लुब्ध होता है तब विषय सुन्दर दीखते हैं, पदार्थ सुन्दर दीखे बिना मन की प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। पदार्थ का सुन्दर दीखना चित्त को खैंच लेता है और जब पदार्थ में दोष दीखता है, तो मन वहां से विरक्त हो कर लौट आता है परन्तु ऐसा लौटा हुआ मन विशेष समय तक स्थिर नहीं रहता, उसी पदार्थ में अथवा अन्य में सुन्दरता दीखते ही मन फिर उस तरफ दौड़ जाता है इस लिये मन को विषय से हटाने के लिये उस विषय के दोषों का वारम्वार चिन्तवन करना चाहिये, ऐसा करने से विषय की सुन्दरता से होने वाला मोह धीरे धीरे निवृत्त हो जाता है। कवियों ने स्त्री की सौंदर्यता की अतिशयोक्ति भरी अनेक उपमायें दी हैं, वे मन को फसाने वाली हैं, इनके बदले क्या भावना करनी चाहिये, यह ऊपर के पद में आचार्य जी ने दिखलाया है, स्त्री के पीनस्तन और पेडू में मांस चरबी आदि भरे हुये हैं, वे उन्हीं का विकार है, ऐसा वारम्वार चिन्तवन करे ऐसा करने से स्त्री सम्बन्धी मोह की निवृत्ति होती है, ऐसा होने पर ही गोविन्द के भजन की सिद्धि होती है।

प्राणियों का शरीर पृथिवी आदि पंच भूतों का बना हुआ है। मनुष्य प्राणी भी उन्हीं से बना है। मनुष्य के दो वर्ग किये गये हैं, पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग। पांचों विषय जिस प्रकार पुरुष वर्ग को बंधन करने वाले हैं इसी प्रकार स्त्री वर्ग को बंधन कारक हैं। जब पुरुष भजन का अधिकारी होता है तब स्त्री और स्त्री के विषय पुरुष को बंधन कारक होते हैं जब स्त्री भजन की अधिकारिणी होती है तब स्त्री को पुरुष और पुरुष के विषय बंधन कारक होते हैं। ऊपर के पद में पुरुष को अधिकारी मान कर पुरुष को उपदेश किया है। ऐसे ही जब स्त्री अधिकारी हो तो पुरुष का रूप और पुरुष का अवयव स्त्री को मोह उत्पन्न करने वाले हैं इस लिये स्त्री अधिकारी को भी पुरुष को मांस चरबी आदि का विकार ही समझना चाहिये। ऐसा किये विना स्त्री अधिकारी में से पुरुष का मोह निवृत्त नहीं हो सक्ता। यह उपदेश सब पुरुषों के लिये नहीं है और सब स्त्रियों के लिये भी नहीं है किन्तु जो अधिकारी हैं, उन्हीं के लिये है, चाहे स्त्री अधिकारी हो, चाहे पुरुष हो, उन्हीं के लिये यह उपदेश है। इस उपदेश के अनुसार बर्ताव करने से मोह की निवृत्ति होती है।

बाल्यावस्था को जिस ने उल्लंघन किया है, ऐसा स्त्री जाति नारी कही जाती है। उस के स्तन, जघन आदि अवयव किसी सुगंधित पदार्थ के बने हुये नहीं हैं, जैसे मांस चरबी आदि अपवित्र और दुर्गंधि युक्त पदार्थों से सब का शरीर बना है, ऐसे ही स्त्री का शरीर भी उन्हीं पदार्थों से बना है, स्त्री पुरुष में अवयवों के अंतर के सिवाय भीतर भरे हुये पदार्थों में कुछ अंतर नहीं है, जो ऊपर चमड़ीन हो तो यह शरीर किस प्रकार विभत्स लगे, यह

प्रत्यक्ष है। ऐसा होते हुये भी जिसमें सार नहीं है, सुख नहीं है, ऐसे शरीर में बहिर्दृष्टि विचार रहित पुरुषों को आसक्ति होती है इस लिये ऐसा कहा है कि ये अवयव मूढ पुरुषों को मोह के मिथ्या आवेश को उत्पन्न करने वाले हैं। विचार दृष्टि से ऊपर का कथन ठीक ही है। जैसे गधे की लीद पर खांड चढ़ा दी जाय, और ऊपर से देखने में सुन्दर और स्वादिष्ट लगने लगे, और कोई विचार रहित पुरुष उसे खरीद ले ऐसे ही स्त्री के शरीर का हाल है। उसमें मूल पदार्थ क्या है, यह जाना नहीं जाता परन्तु स्त्री पुरुष के अंग- अवयवों में रही हुई वस्तु की सब को खबर है तो भी मोह को प्राप्त होते हैं, यह कितनी मूर्खता है! यह मिथ्या मोह अनेक प्रकार की आपत्तियों को उत्पन्न करने वाला है। स्त्री प्रत्यक्ष माया की प्रतिमा है इस लिये देखने के साथ ही विद्वान् और अविद्वान् सब ही बिना विचार मोह को प्राप्त होते हैं, अपना और वस्तु का तत्व क्या है, इस बात को भूल जाते हैं, उन मलिन अवयवों को, कोई महान् चिंतामणि हो, इस प्रकार समझते हैं, यह माया की प्रबल शक्ति है। अवयवों की मोह करने वाली शक्ति के जानने वाले को भी विशेष करके यह माया शक्ति भुला देती है। सब को अनुभव है कि जब कभी व्रण होता है तब उसमें से दुर्गंधियुक्त पीब और लोहू बहने लगता है अथवा गीधादि पक्षी जब मरे हुये जानवर को खाते हैं तब उसके शरीर में से दुर्गंधि ही निकलती है। ऐसा जानते हुये भी मोह में सब बात भूलजाते हैं। बड़े २ ग्रंथकार और काव्यकर्ताओंने इन दुष्ट अवयवों को अलंकार दे दे कर शृंगार करने में कमी नहीं रक्खी है तो भी स्त्री के मल मूत्र आदिक को कोई भी अलंकार नहीं दे सका, यदि उनमें भी कोई अलंकार चलता होता तो कवि लोग उनको भी अलंकार से सुशोभित कर देते! जिस मूर्ख ने इस प्रकार के मोह में ही आयु को समाप्त किया है, उस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय! जब विद्वानों का ही यह हाल है तो पामरों का कहना ही क्या है! माया की मोहनी शक्ति निवृत्त करने से भी जल्दी निवृत्त नहीं हो सकी और व्यवहार में ऐसा देखना ही अशक्य होता है इसलिये मोह को निवृत्त करने के लिये यह मांस चरबी का विकार है ऐसा वारंवार विचार करना चाहिये।

इस प्रकार वारंवार विचार करने से शरीर के ऊपर होने वाला मिथ्या मोह दूर होता है और अपने और स्त्री के शरीर में सब पदार्थ अपवित्र भासने से सत्य वस्तु के शोधन की इच्छा होती है। वारंवार विचार करो, ऐसा कहने का अर्थ यह है कि विचार को समझ कर हृदय में दृढ़ ठहराने का अभ्यास करो क्यों कि एक समय ही विचार कर छोड़ देने का यह विषय नहीं है। जब तक ऊपर की आकृति का अभाव न हो, और सब शरीर मांसमय ही है, ऐसा लक्ष न हो तब तक अभ्यास को बढ़ाते ही रहना चाहिये। जब यह दृढ हो जाता है तब शरीर के अवयवों में कभी मोह नहीं होता, जब अवयव और सुन्दरता ही न दीखे तो मोह किस प्रकार हो। सब में ईश्वर देखने की दृष्टि जिस को हुई है उसके लिये यह साधन नहीं है, जिसका चित्त विषयासक्त है और जो विषयासक्ति से हटने की इच्छा करता है, उसी के लिये यह साधन है। ग्लानि हुये बिना, मिथ्या दृष्टि हुये बिना, अथवा दुःख दृष्टि बिना वैराग्य नहीं होता और वैराग्य बिना ज्ञान संपादन करना भी बन नहीं सका इस लिये मांस चरबी आदिक के बने हुये स्तनादि अवयव विचारना वैराग्य का साधन है। नरक का द्वार नारी है, ऐसा वाक्य कहने का भी यह ही मतलब है। ऐसे वचन के मनन और अभ्यास से भी मोह की निवृत्ति होती है। वाणी का विलास, भ्रकुटी का घुमाना, स्तन जघन का दृश्य मोह को उत्पन्न करने वाला है। मोह नरक का द्वार रूप है इस लिये स्त्री मोह को उत्पन्न करने वाली नरक का द्वार रूप है।

मन महा नीच है, क्षण भर में भुला देता है, छल लेता है, चंचल और कपटी है, जब मोह के साथ मिलता है तब उसके प्राबल्य का कुछ ठिकाना ही नहीं रहता इस लिये किसी समय भी इसका भरोसा करना न चाहिये। मन बुद्धि को हमेशा नीचे मार्ग में लेजाता है। तूफान का पवन जिस प्रकार जहाज को

खडक के ऊपर चढा देता है अथवा ठोकर लगा कर चूरा कर देता है इसी प्रकार मन विषय रूप पवन के वेग से मनुष्य को महा अनर्थ में पटक देता है। विद्वान् और ज्ञानी पुरुष इसी कारण मन का विश्वास नहीं करते। जब २ विषयों की तरफ वृत्ति जाय तब तब दोष दर्शन द्वारा अनित्य विचार कर मन में ठोकर मारना चाहिये। जिससे वैराग्य उत्पन्न हो, दृढ हो, यह उन्नति का मार्ग है। किशोर अवस्था बीतने पर ज्यों २ उमर बढती जाती है त्यों २ मन भी दृढ और विशेष विषयासक्त बनता जाता है इस लिये प्रथम से ही मन को सच्चे मार्ग में लेजाने का अभ्यास करके भूल में पटकने के कारण को रोक देना चाहिये। इस मार्ग से ही परम कल्याण सम्पादन हो सका है। सब संसार व्यवहार को छोड़-कर जंगल में जाने वाले त्यागी को यह बात जितनी उपयोगी है उतनी ही संसार में रहने वाले को उप-योगी है। ऊपर २ से समझ कर ऐसा विचार न करना चाहिये कि इस प्रकार बर्तने से वर्णाश्रम धर्म की हानि होगी किन्तु यथार्थ समझ कर इस प्रकार बर्तना चाहिये कि जिस से आंतर अथवा बाहर किसी में भी हानि न होने पावे। संसार का और मनुष्य का अन्तिम सार परब्रह्म ही है इसलिये इसी प्रकार बर्ताव करना चाहिये, जिस से परब्रह्म में प्रेम बढ़े। जब संसार के विषयों का प्रेम कम होता है तब ईश्वर की तरफ प्रेम होता है। संसार के सब विषयों में स्पर्श विषय महा बलवान् है। स्पर्श विषय में अन्य विषय गौण हैं इसलिये सब विषयों की प्रतिमा नारी है। स्त्री के स्तनादि की प्रीति दुग्धपान ही करावेगी यानी बारम्बार जन्म धारण करना पड़ेगा। बाल्यावस्था में दूध ही पीना पड़ेगा। जघन के प्रेम से गर्भवास में जाना पड़ेगा। जिसको जन्म धारण करने की इच्छा न हो उसे अन्य विषयों के भाव के साथ इस भाव को अवश्य छोड़ना चाहिये। नियम यह है कि विषयों की तरफ भाव होने से उनके प्राप्त करने की इच्छा होती है, ऐसा भाव दृढ़ हो कर संस्कार उत्पन्न करता है। संस्कार और भाव एक दूसरे को दृढ करते हैं। दोनों ही दृढ़ वासना रूप हो कर अदृश्य बनते हैं। अदृश्य बनने से आगे के लिये जन्म मरण और भोग का तारतम्य चालू रहता है इस लिये दर्शन द्वारा विषयासक्ति को हटाना चाहिये। ऊपर के पद्य में सब विषयों में दोष दर्शन करके उनके हटाने को कहा है, ऐसा समझना चाहिये। जब विषयों की आसक्ति छुटती है और विषयों में मिथ्यात्व दृढ होता है तब अन्तःकरण उन से नहीं खिंचता और सद् विचार में प्रवृत्त होता है। जिसे सच्चा मान रक्खा है, वह झूठा है, जिसे सुख मान रक्खा है, वह दुःख रूप है, शरीर के सब अवयव दुर्गंधि युक्त हैं, सब विषय जहां के तहां रहजाते हैं, मरण के समय कुछ काम नहीं आते, किन्तु विशेष दुःख ही देते हैं, ईश्वर भजनादि सत्कर्म ही काम आते हैं।

जगत् का उत्पत्ति स्थान स्त्री है, स्त्री ही जगत् रूप है, ऐसा कहा जाय तो भी ठीक ही है इस लिये वर्णाश्रम आदिक धर्मों के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक स्त्री का भाव त्याग ही कल्याण के मार्ग में ले जाने का मुख्य साधन है। जिसने स्त्री की कामना छोड़ दी है, उसने सब कुछ छोड़ दिया है और सब कुछ छोड़ते हुये भी जिस की स्त्री वासना निवृत्त न हुई, उस ने वास्तविक में कुछ भी नहीं छोड़ा। एक स्त्री की कामना में ही सब कामनाओं का समावेश है। इस एक कामना के चले जाने पर अन्य कामनाओं का चला जाना सहज है।

शंकाः—जगत् में जो कुछ सुख है, वह स्त्री में ही है, ऐसे मुख्य जगत् के सुख को छोड़ने से तो जगत् ही मिथ्या हो गया---निरस हो गया। जब ईश्वर ने स्त्री पैदा की है तब हम उस का त्याग कर के क्या अपराधी नहीं होंगे? शास्त्र में ऐसा भी सुना है कि पुत्र रहित मरने वाले की गति नहीं होती, पुत्र होने के साधन रूप स्त्री का जब त्याग कर दिया तो पुत्र रहित ही रहेंगे, पुत्र रहित की गति नहीं होती तब आप का उपदेश हमको नरक में डालने का ही हुआ!

समाधानः—अज्ञानता के कारण स्त्री, पुत्र, धनादिक में सुख प्रतीत होता है परन्तु उनमें दु-

नहीं है, सुख तो परब्रह्म का ही है। स्त्री आदिक में क्षणिक आभास और मिथ्या सुख की प्रतीति है, ऐसा जानने से अखंड सुख की प्राप्ति होती है। जगत् तो प्रथम से ही मिथ्या है, वह मिथ्या क्या होगा ? तुझे जगत् मिथ्या नहीं दीखता, जगत् को मिथ्या दिखलाने के लिये ही हमारा कथन है। यदि तू पूछे कि परब्रह्म का अखंड सुख कैसा है तो उसे जानने के लिये तुझे सत् शास्त्र के मार्ग से चलना चाहिये, ऐसा करने से ही तुझे परब्रह्म के स्वरूप का अनुभव होगा। ईश्वर ने केवल स्त्री को ही नहीं पैदा किया, सब को ही पैदा किया है। जब सब ईश्वर ने ही पैदा किया है तो कुछ तुझे छोड़ना ही न चाहिये। फिर तू मल मूत्रादि बहुत सी वस्तुओं का क्यों त्याग करता है? त्याग के रहस्य को समझना कठिन है। वास्तविक त्याग आंतर से होता है। आंतरिक त्याग वर्णाश्रम धर्म से विरोध वाला नहीं है, भावरहित, सामान्य, कर्तव्य रूप कोई भी क्रिया दोष रूप नहीं है जो कर्म में ही आसक्त हैं, ऐसे मनुष्यों के लिये ही, पुत्र रहित की गति नहीं होती, ऐसा कथन है। जो परम जिज्ञासु अथवा ज्ञानी है, उसके लिये यह कथन नहीं है, स्त्री आदिक व्यवहार होते हुये भी स्त्री की आसक्ति का त्याग—भाव त्याग हो सकता है परन्तु इस प्रकार से त्याग के करने वाले विरले ही होते हैं। राग और त्याग दोनों ही मार्ग परंपरा से प्राचीन काल से चले आये हैं। मार्ग कोई भी हो, यथार्थ होना चाहिये। जो अत्यंत कर्मासक्त हो तो शास्त्र विधि युक्त कर्म मार्ग को ग्रहण करे। शास्त्र का कथन यह नहीं है कि पुत्र ही पिता को स्वर्ग भेज देगा। यदि ऐसा हो तो जब एक पुत्र पैदा करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो सुअरिया और कुतिया तो कितने ही पुत्र उत्पन्न करती हैं, उन को भी स्वर्ग की प्राप्ति हो जायगी! विशेष कर के यह उपदेश मुमुक्षुओं के निमित्त है, चाहे वे किसी आश्रम वाले हों, स्त्री के मोह में फंसे हुये ऋषि मुनि, देव, दानव आदिक का हाल इतिहासों में सुना है कि वे स्त्री के मोह में फंसने से ही भ्रष्ट हुये हैं। इस से भी समझने वाला समझ सकता है कि स्त्री का मोह दुःख दायक है। स्त्री के मोह में पड़े हुये का एक इतिहास नीचे देते हैं:—

ईडर की गद्दी का मालिक सामलिया सोड़ एक भील था। वह जवान राजा कुछंदी था। उसके समय गोविन्दराय मुख्य दीवान था। यह दीवान अब वृद्ध हो गया था, सामलिया के पिता के समय से ही यह कारभारी था। गोविन्दराय काबिल मुसद्दी कसोटी पर चढ़ा हुआ राजद्वारी था। सामलिया सोड को राज्य की व्यवस्था, राज नीति आदि सिखलाने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह उन्मत्त, व्यसनी और कुछंदी होने से कुछ न सीखा। गोविन्दराय सब राज काज करता था। एक समय गोविन्दराय ने अपने यहां देवी पुजन का उत्सव करना आरंभ किया। मंडप पूर्ण रीति से सजाया गया था, और न्याति मुलाकात वाले सब उच्च श्रेणी के मनुष्यों का निमंत्रण किया गया था, सब आने वालों से सभा मंडप शोभित हो रहा था। प्रधान के बहुत आग्रह से थोड़े मनुष्यों सहित सामलिया भी वहां आया। जब गोविन्दराय को राजा के आने की खबर मिली तो वह बाहर जाकर सन्मान सहित राजा को मंडप में ले आया और एक बहुमूल्य आसन पर बैठाया। सामलिया का चित्त सभा और मंडप में नहीं था, वह किसी विचार में डूबा हुआ था। गोविन्दराय समझ गया परन्तु किस विचार में है, यह कुछ उसकी समझ में न आया। बात ऐसी थी कि जब सामलिया वहां आया था, तब मकान के झरोखे में एक कन्या पर उसकी दृष्टि पड़ी थी। उस कन्या का मुख भराऊ, गोल, तेजस्वी था। साथियों को पूछने से सामलिया को मालूम होगया कि यह बाला गोविन्दराय की सब से छोटी पुत्री है, अभी उसका विवाह नहीं हुआ। सामलिया का चित्त इस विचार में पड़ने से सभा मंडप में नहीं था। थोड़ी देर में हवन पूर्ण हुआ, सब लोग दर्शन करने के लिये हवन कुन्ड के समीप आगये। वस्त्राभूषण से सजी हुई वह बाला भी वहां आई। सामलिया ने उस समय भी इसको देखा। युवावस्था के आरंभ में आई हुई सरदार बा. (उस लड़की का नाम था) अप्सरा के समान शोभती थी। उत्सव पूर्ण होने तक सामलिया मुश्किल से बैठ रहा, फिर राज महल में चला गया।

रात्रि के समय उत्सव क्रिया से निश्चिंत होकर जब सब सो रहे थे तब गोविन्दराय के घर पर सामलिया के भेजे हुये चार घोड़े सवार आये। गोविन्दराय के नोकरों ने सवारों का सामना किया। दो मनुष्यों को मार कर सवार ऊपर चढ कर सरदार बा. को लेकर राजमहल की तरफ चल दिये। नोकरों ने जाकर गोविन्दराय को यह अशुभ समाचार सुनाया। वृद्ध गोविन्दराय शान्ति रखते हुये दो विश्वासु दृढ मनुष्यों को अपने साथ लेकर राजमहल की तरफ चला। गोविन्दराय से सब डरते थे इस लिये राज मंदिर में दाखिल होने में कोई आपत्ति न हुई। सामलिया के एक मनुष्य ने जाकर सामलिया को खबर दी कि गोविन्दराय आये हैं। सामलिया सामने गया तो गोविन्दराय ने नमन किया। सामलिया बोला "प्रधानजी! इस समय पर आप क्यों आये हो? मैं तुम्हारे आने के कारण को जानता हूं, तुम्हें इस कार्य में सफलता न होगी! जो कुछ होगा सब मिथ्या होगा क्यों कि मैं राजा हूं, या तो प्रकट रीति से सरदार बा के साथ मेरा विवाह करने को स्वीकार करो, नहीं तो चुप चाप चले जाओ!" गोविन्दराय विचार कर धीरज से बोला "नव लाख की गद्दी के मालिक! तेरी मांगनी को मिथ्या करने वाला कोई राजा गुजरात में नहीं है, तो मैं तेरा नोकर तेरी बात क्यों न मानूंगा? ऐसा फितूर शोभा नहीं देता, तेरी इच्छा के अनुसार मैं आनन्द पूर्वक सब सामग्री तैयार करके सरदार बा की तेरे साथ शादी करने को तैयार हूं!" सामलिया हृदय में फूल गया और कहने लगा "अच्छा! तब सरदारबा को ले जाइये, चाहो जितना रुपया खजाने से लेकर जल्दी से शादी कर दीजिये!" गोविन्दराय सब बात कबूल करके सरदार बा को लेकर घर पर लौट आया।

कुछ रोज बाद गोविन्दराय एक बारोट को लेकर सोनिग्रा ग्राम में गया। यह ग्राम एक कसबे के समान आबाद था और वहां का स्वतंत्र राजपूत राजा सोनिंग राठोर था। गोविन्दराय ने उस से मिलकर सामलिया का सब हाल कहा और मदद मांगी। सोनिंग राठोर मदद देने को राजी होगया। गोविन्दराय घर पर लौट आया और शादी की विधिवत् सब तैयारी करने लगा। राज्य के सब लोग और जाति वाले आश्चर्य में पड़े थे परन्तु यह पता किसी को नहीं था कि शादी किस प्रकार होने वाली है। शादी के दिन सोनिंग राठोर के कई राजपूत बाहर से मुलाकातियों के वेष में आये और गोविन्दराय के मकान पर ठहरे। सोनिंग राठोर भी वेष बदल कर आया हुआ था, समय पर सामलिया दुल्हा बनकर गोविन्दराय के मकान पर ब्याहने को आया। जब वह भीतर घुस आया तब मनुष्यों ने किवाड़ बन्द कर दिये और राजपूतों ने सामलिया के साथ में आये हुये मनुष्यों को मार डाला। सोनिंग राठोर ने सामलिया का घात किया, बाहर हल्ला मच गया, भील लोग एकत्र होकर चढ़ आये परन्तु राजपूतों ने सब को मार हटाया और ईडर सोनिंग राठोर के ताबे में हो गया।

मोहासक्ति के परिणाम से सामलिया का राज और प्राण दोनों गये। एक समय की दृष्टि ने कितना अनर्थ किया। ऐसे मोह की दृष्टि यदि अनेक बार हो तो कितना अनर्थ करती होगी। अनर्थ प्रकट मालूम नहीं पड़ता परन्तु संस्कार अवश्य पड़ते हैं, और समय पाकर दुःख का भोग अवश्य कराते हैं, इस लिये मोह के आवेश का पैदा करने वाले भाव के सामने विरुद्ध भावना—तिरस्कार बराबर करने को और गोविन्द का भजन करने को आचार्य जी का उपदेश है, कौरवों का नाश, रावण का नाश आदि मोहावेश के दृष्टान्त भी यह ही सूचित करते हैं। मोहावेश से बचने का पूर्ण प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

वाक्य सुधा।

श्लोक।

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥१॥

आत्मा द्रष्टा है, माया दृश्य है, इन दोनों का विवेक करने को समझाते हैं, कि द्रष्टा और दृश्य इन दोनों में वास्तविक द्रष्टा आत्मा है, जो अन्य दृश्य हैं, वे भी दूसरे दृश्य के द्रष्टा होते हैं जैसे कि रूप दृश्य है, रूप किसी का द्रष्टा नहीं है, रूप का द्रष्टा नेत्र है, रूप नेत्र का दृश्य है, यह नेत्र जो रूप का द्रष्टा है, वह ही मन का दृश्य है, मन नेत्र का द्रष्टा है, मन जो बुद्धि की वृत्ति रूप है, वह साक्षी के सामने दृश्य है और साक्षी बुद्धि वृत्ति का द्रष्टा है, जो साक्षी है, वह किसी का भी दृश्य नहीं है, देखने वाले को द्रष्टा कहते हैं, दीखने वाले को दृश्य कहते हैं, इसी प्रकार श्रोता मंता आदिक को भी समझना चाहिये। जो जिसका विषय होता है, वह ही उस का ग्रहण करता है यानी इन्द्रियां और अन्तःकरण अपने २ विषय को ग्रहण करते हैं।

नील पीत स्थूल सूक्ष्म–ह्रस्व दीर्घादि भेदतः।
नाना विधानि रूपाणि पश्येल्लोचन मेकधा ॥२॥

अब नेत्र जिन रूपों का द्रष्टा है, उनकी भिन्नता को दिखलाते हैं:—एक ही नेत्र नीले, पीले, स्थूल, सूक्ष्म, छोटे बड़े आदिक भेद से अनेक प्रकार के रूपों को देखता है, सब प्रकार के रूप एक ही नेत्र के दृश्य हैं, द्रष्टा नेत्र एक है और दृश्यों में अनेक भेद हैं।

आंध्य मांद्य पटुत्वेषु नेत्र धर्मेषुऽनेकधा।
सङ्कल्पयेन्मनः श्रोत्र त्वगादौ योज्यतामिदम् ॥३॥

रूप के अनेक भेदों को नेत्र देखता है, वह ही नेत्र रूप मन का दृश्य होता है तब अन्धापना, मन्दपना, चंचलपना आदि नेत्र के धर्मों के विषय में एक मन संकल्प करता है। इसी प्रकार श्रोत्र, त्वचा आदिक में भी समझ लेना चाहिये।

काम सङ्कल्प संदेहौ श्रद्धाऽश्रद्धे धृतीतरे।
ह्री धीर्भी रित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः ॥४॥

काम, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, ह्री (लज्जा), धी (बुद्धि), भय इत्यादि मन के धर्मों को एक चिति आत्मा, प्रकाश करती है। तात्पर्य यह है कि तीनों पदों में कहे हुये दृश्य के नाना होने पर भी द्रष्टा एक ही है, एक चिति के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही सब अपने २ विषयों के द्रष्टा होते हैं और जो जिसका विषय होता है वह उसका दृश्य बनता है।

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना ॥५॥

यह चिति (आत्मा) न उदय होती है, न अस्त होती है, न वृद्धि को प्राप्त होती है और न क्षय को प्राप्त होती है, स्वयं प्रकाशित होती है और साधन विना ही दूसरों को भी प्रकाशित करती है। नेत्र मनादिक इस प्रकार नहीं हैं, वे विषय हैं और विषयी भी हैं, उदय और अस्त होते हैं, वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं और दूसरे की सहायता से कार्य करने में समर्थ होते हैं, चिति (आत्मा) इस प्रकार की नहीं है।

चिच्छायाऽऽवेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधास्थिता।
एकाऽहंकृति रन्यास्या दन्तःकरणरूपिणी ॥६॥

अब ज्ञान के लिये कहते हैं:—बुद्धि में चिति की छाया (चिदाभास) के प्रवेश से ज्ञान होता है, बुद्धि दो प्रकार की है एक अहंकार रूप और दूसरी अन्तःकरण रूप।

छायाऽहंकारयोरैक्यं तप्तायःपिण्ड वन्मतम्।
तदहंकार तादात्म्या देहश्चेतनतामियात् ॥७॥

छाया (चिदाभास) और अहंकार की एकता से देह चेतनता को प्राप्त होता है। छाया और अहंकार का तपे हुये लोहे के पिण्ड के समान तादात्म्य सम्बन्ध है इसी से अहंकार चेतनता वाला प्रतीत होता है।

अहंकारस्यतादात्म्यं चिच्छाया देह साक्षिभिः ।
सहजं कर्मजं भ्रान्ति जन्यं च त्रिविधं क्रमात् ॥८॥

यह तादात्म्य सम्बन्ध कितने प्रकार का है, यह दिखाते हैं:—अहंकार का चिदाभास, देह और साक्षी के साथ सहज (स्वभाविक] कर्म जन्य और भ्रांतिजन्य ऐसे क्रम से तीन प्रकार का तादात्म्य संबंध है । यानि अहंकार का चिदाभास के साथ स्वाभाविक तादात्म्य सबन्ध है, अहंकार का देह के साथ कर्म जन्य तादात्म्य संबंध है और अहंकार का साक्षी के साथ भ्रान्ति जन्य तादात्म्य सम्बन्ध है ।

संबंधिनोः सतोर्नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु ।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्तेते क्रमादुभे ॥ ९ ॥

चिदाभास और अहंकार इन दोनों सम्बन्धियों के रहते हुये स्वभाविक तादात्म्य सम्बन्ध की तो निवृत्ति नहीं होती किन्तु दूसरे दो तादात्म्य सम्बन्धों की निवृत्ति कर्म के नाश से और ज्ञान से क्रम से हो जाती है यानी कर्म के नाश से कर्म जन्य तादात्म्य सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाती है और ज्ञान से भ्रान्ति जन्य तादात्म्य सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाती है ।

अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहोप्यचेतनः ।
अहंकार विकासार्धः स्वप्नःसर्वस्तु जागरः॥ १०॥

सुषुप्ति में जब अहंकार का लय हो जाता है तब देह अचेतन के समान जड़ हो जाती है, स्वप्न में अहंकार का आधा प्रकाश होता है और जाग्रत में पूरा प्रकाश होता है ।

अन्तःकरण वृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता ।
वासनाःकल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षै र्विषयान्बहिः॥११॥

अंतःकरण की वृत्ति, चिति और चिदाभास के साथ एकता को प्राप्त हो कर स्वप्न में वासनाओं की कल्पना करती है और जाग्रत में इन्द्रियों द्वारा बाहर के विषयों की कल्पना करती है, यानी स्व[illegible] में वासनामय सृष्टि को अंतर में देखती है [illegible] जाग्रत में इन्द्रियों से बाहर व्यवहार करती है ।

मनोऽहंकृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकं ।
अवस्था त्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ॥१२॥

मन और अहंकार का उपादान कारण जड़ [illegible] जो एक लिंग है, वह तीनों अवस्थाओं को [illegible] होता है, जन्मता है और मरता है । यहां [illegible] शब्द का अर्थ माया—अज्ञान लेना चाहिये ।

शक्ति द्वयंहि मायाया विक्षेपावृत्ति रूप[illegible]
विक्षेप शक्ति लिंङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्[illegible]

माया की दो शक्तियां हैं, विक्षेप रूप [illegible] आवरण रूप । विक्षेप शक्ति लिंग (सूक्ष्म [illegible] से ले कर ब्रह्मांड पर्यन्त जगत् को उत्पन्न करती [illegible] विक्षेप शक्ति चंचलता वाली है और आवरण [illegible] परदा रूप है । अपूर्ण ।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका ।

(गतङ्क से आगे ।)

इसमें रहस्य यह है कि ज्ञान तथा ध्यान [illegible] तथा योग द्वारा प्राप्त होता है क्योंकि ज्ञान [illegible] ध्यान के संबध में ये दोनों स्मृतियां श्रुति के [illegible] बहुत ही निकट का संबंध रखती हैं । [illegible] में श्रुति का विरोध न आता हो, उसमें सांख्य [illegible] योग स्मृति का संपूर्ण ग्रहण करना चाहिये, जैसे बृहदारण्यक में कहा है:—'असंगो ह्ययं पुरुषः' [illegible] ४।३।१६] (यह पुरुष संग से रहित है) इस [illegible] पुरुष का विशुद्धपना जैसे श्रुतिमें प्रसिद्ध है इसी [illegible] निर्गुण पुरुष का निरूपण करता हुआ सांख्य [illegible] भी ऐसा ही सूचन करता है । इसी प्रकार योग [illegible] करता है:—'अर्थ परिव्राडविवर्ण वासा मुण्डो[illegible]

[जाबा० ५] (संन्यासी किसी भी रंग से रहित वस्त्र वाला, मुंडा हुआ और परिग्रह रहित होना चाहिये) इसी प्रकार श्रुति में भी प्रसिद्ध है कि सन्यासी निवृत्ति धर्म के लक्षण वाला है। इस प्रकार सब तर्क स्मृतियों का निराकरण किया है। यदि ऐसा कहो कि ये भी तो तर्क तथा युक्ति द्वारा तत्वज्ञान में उपकारी हैं तो वे उपकारी भले हों। तत्व ज्ञान तो वेदान्तवाक्य द्वारा ही होता है, जैसा कि श्रुति में कहा है:—'नावेदविन्मनुते तंबृहन्तम्' [तै० ब्रा० ३। १२। ९। ७] ' वेद न जानने वाला उस ब्रह्म का मनन नहीं करता), 'तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' [बृह० ३। ९। २६] (उपनिषद गम्य उस आत्मा को पूछता हूं) ॥ ३ ॥

(३) नविलक्षणत्वाधिकरण।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वंच शब्दात् ॥४॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अस्य इसका (इस जगत् का) विलक्षणत्वात् [ब्रह्म से] विलक्षणपना होनेसे न [ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण] नहीं च और शब्दात् शब्द से [भी] तथात्वं तैसापना (विलक्षणपना) [सिद्ध होता है]

टीका:—ब्रह्म इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण है, इसके संबंध में स्मृति के निमित्त वाले आक्षेप का परिहार किया, अब तर्क निमित्त वाले आक्षेप का परिहार करने के लिये प्रतिपक्ष उठाते हैं :—

प्रतिपक्षी:—शास्त्र के अर्थ का निश्चय हो जाने पर तर्क निमित्त के आक्षेप का अवकाश कैसा ? धर्म के समान ब्रह्म के संबंध में भी शास्त्र सब प्रकार की अपेक्षा रहित है, यदि इसमें निमित्तप्रमाण का अवलम्बन न किया जाय और आचरणीय धर्म के समान शास्त्र का अर्थ प्रमेय रूप हो तो पीछे यह दृष्टांत योग्य है:—ब्रह्म का स्वरूप परिपूर्ण है, ऐसा कहा है, जैसे पृथ्वी के सम्बंध में है इसी प्रकार परिपूर्ण वस्तु में भी अन्य प्रमाण का अवकाश है। जिस प्रकार जहां श्रुतियों में विरोध होता है वहां एक को प्रधान रूप और दूसरी को गौण रूप माना जाता है इसी प्रकार जहां अन्य प्रमाण का विरोध आता हो, वहां प्रमाण के अनुसार की श्रुति को ग्रहण करना चाहिये। परोक्ष विषय के अर्थ का बोध कराने वाली युक्ति में तर्क की प्रधानता होती है क्योंकि तर्क की सहायता से अपरोक्ष विषय के साथ परोक्ष विषय की समानता करने में आती है, श्रुति भी परोक्ष वाद द्वारा अपने ही विषय का यानी मोक्ष के सम्बन्ध में निरूपण करती है इस लिये अनुभव प्रमाण श्रुति प्रमाण से बढ़ कर है। और ब्रह्म विद्या से अविद्या का नाश होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है इस प्रकार से ब्रह्म ज्ञान प्रत्यक्ष फल वाला तथा अनुभव में आने वाला है। श्रुति में कहा है:—'आत्मा श्रोतव्यो मंतव्यः' (आत्मा श्रवण करने योग्य तथा मनन करने योग्य है) इस प्रकार श्रवण के सिवाय मनन का विधान भी करने में आया है इस प्रकार तर्क की प्रधानता श्रुति दर्शाती है इस लिये तर्क के बल से आक्षेप करने में आता है कि ब्रह्म जगत् से विलक्षण होने से जगत् का कारण रूप नहीं है इस लिये चेतन ब्रह्म जगत का कारण रूप तथा प्रकृति रूप है, यह जो कहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म के विकार रूप प्रकृति से जगत् की विलक्षणता देखने में आती है और ब्रह्म का कार्य रूप निरूपण किया हुआ जगत् ब्रह्म से विलक्षण अचेतन रूप तथा अशुद्ध रूप देखने में आता है और ब्रह्म तो जगत् से विलक्षण चेतन स्वरूप तथा शुद्ध स्वरूप निरूपण किया गया है। प्रकृति का विकार प्रकृति से विलक्षण कभी नहीं हो सका। सुवर्ण के विकार माला आदि मृत्तिका के विकार रूप नहीं होते इसी प्रकार घट शरावादि मृत्तिका के विकार सुवर्ण के विकार नहीं हो सके। मृत्तिका से मृत्तिका का ही विकार होता है और सुवर्ण से सुवर्ण का विकार ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अचेतन रूप तथा सुख दुःख और मोह वाला जगत् भी अचेतन स्वरूप तथा सुख दुःख और मोहात्मक कारण का ही कार्य होना चाहिये, ऐसे

गुणों से विलक्षण अर्थात् चेतन स्वरूप तथा सुख दुःख से रहित ब्रह्म का कार्यरूप जगत् नहीं हो सक्ता। ब्रह्म से जगत् का विलक्षणपना अर्थात् अशुद्धि, अचेतनपना शास्त्र में निरूपण किया गया है। अशुद्ध जगत् में सुख, दुःख तथा मोहात्मकता है इस लिये जगत् प्रीति, दुःख तथा विषाद आदि का कारण रूप है और स्वर्ग तथा नरक आदि अनेक प्रकार के प्रपंच वाला है, और जगत् अचेतन है क्यों कि कार्य कारण भाव से चेतन के लिये उपकरण भाव को प्राप्त हुआ है यानि चेतन के उपकार के लिये जगत् है। जिन वस्तुओं में समानता होती है, उनमें उपकार्य और उपकारक भाव नहीं होता यदि कहो कि जैसे स्वामी अपने सेवक पर उपकार करता है इसी प्रकार कार्य का कारण रूप चेतन भी भोक्ता का उपकारक होगा। तो ऐसा नहीं है क्यों कि स्वामी तथा सेवक में भी अचेतन अंश का चेतन पर उपकारकपना होता है। चेतनको ग्रहण करने वाले बुद्धि आदि का जो चेतन भाग है, वह ही अन्य चेतन पर उपकार करता है। एक चेतन दूसरे चेतन पर कभी भी उपकार अथवा अपकार नहीं कर सक्ता क्योंकि सांख्य दर्शन वाले चेतनों को निरतिशय रूप जन्म मरणादि का अभाव रूप तथा अकर्ता रूप मानते हैं इस लिये अचेतन कार्य का कारण रूप हो सक्ता है और काष्ठ लोष्ठ आदि के चेतनपने में कोई प्रमाण नहीं है। लोक में चेतन और अचेतन का विभाग प्रसिद्ध है। इस लिये ब्रह्म से विलक्षण होने से इस जगत् की प्रकृति ब्रह्म नहीं है। यदि कोई ऐसा कहे कि श्रुति के अनुसार जगत् की प्रकृति चेतन है तो मैं कहता हूं कि इस प्रकार तो सब जगत् चेतन स्वरूप है क्योंकि जैसा स्वरूप प्रकृति का है वैसा ही स्वरूप प्रकृति के विकार का भी होना चाहिये, अंतःकरणादि चैतन्य के विशेष परिणाम होने से वे व्यक्त नहीं होते, जैसे स्वप्न तथा मूर्छादि अवस्थाओं में स्पष्ट चैतन्य रूप आत्माओं का चैतन्य व्यक्त नहीं होता इसी प्रकार लकड़ी और ढेले आदि का चैतन्य भी व्यक्त रूप न होता, और रूप आदि का भाव तथा अभाव व्यक्त तथा अव्यक्तपने के कारण से है, इस लिये कार्य तथा कारण रूप आत्मा में चेतनपना सामान्य रूप से होने से गुण ... प्रधानपने का विरोध नहीं आता, जैसे कि मांस ... ओदन आदि में सामान्य रूप से पृथिवी का वि... है तो भी वैषम्य धर्म होने से उन में उपकार्य... देखने में आता है इसी प्रकार यहां पर भी जा... चाहिये, इस प्रकार तर्क का ग्रहण करने से चे... और अचेतन के विभाग में विरोध नहीं आवेगा, ऐ... कोई कहे तो इस से चेतनत्व और अचेतनत्व... लक्षित विलक्षणपने का परिहार तो किसी प्र... हो भी जाय परन्तु शुद्धि और अशुद्धि से ह... हुये विलक्षणपने का परिहार नहीं हो सक्ता ... अन्य विलक्षणपने का भी परिहार नहीं होगा।... प्रकार का विलक्षणपना श्रुति में भी कहा है, ... सब वस्तुओं का चेतनपना जानने में नहीं आता ... श्रुति कहती है कि प्रकृति चेतन रूप है, यदि ... के अनुसार सब में चेतनपना प्रतिपादन करने में ... तो फिर श्रुति के वचन से ही विरोध आता है ... श्रुति से भी विलक्षणपना सिद्ध होता है '... स्वरूप' है यानी श्रुति कहती है कि प्रकृति के ... क्षणपना है, यहां पर शब्द का अर्थ विज्ञान ... अविज्ञान है, किन्तु २ विभाग को अचेतनता ... पादन करती हुई श्रुति ही ऐसा कहती है कि ... ब्रह्म से जगत् विलक्षण है ॥४॥

श्रुति में कहीं २ अचेतन स्वरूप पंच महाभूत ... इन्द्रियों का भी चेतनपना निरूपण किया है जै... 'मृदब्रवीत्' [श० प० ब्रा० ६।१।३।२] (मृत्तिका ने... 'आपोऽब्रुवन्' [श०प०ब्रा० ६।१।३।४] (पानी ने... और 'तत्तेज ऐक्षत [छा० ६।२।३] (उस तेज ने ... 'ता आप ऐक्षन्त' [छा० ६।२।४] (उस पानी ने ... इत्यादि पंच महा भूतों को चेतन स्वरूप नि... है। और कहीं २ इन्द्रियों को भी चेतन स्वरूप ... लाया है जैसे कि 'ते प्राणा अहंश्रेयसे वि... ब्रह्म जग्मुः' [बृ० ६।१।७] (इस प्रकार अपनी २ ... का विवाद करते हुये ये प्राण ब्रह्म के पास ... और यह भी कहा है 'ते ह वाचमू चुरुत्वं न उ... [बृह० १।३।२] (उन देवताओं ने इस प्रकार ... करके वाणी की अभिमानिनी देवता से कहा ... हमारे लिये उद्गीथ का कर्म कर) इसका ... ने को अगली आगे का सूत्र पढ़ता है—

संन्यासोपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

भिक्षा के लिये जाने के समय किसी से निमंत्रण किये हुये मुमुक्षुओं को उस अयाचित भिक्षा का भोजन करना चाहिये ॥ ६८ ॥ भिक्षा के समय कोई ब्राह्मण आकर भिक्षा के लिए कहे तो उस तात्कालिक नाम की भिक्षा का यती भोजन करे ॥ ६९ ॥ बना हुआ अन्न जो ब्राह्मण कर के मठ पर लाया जाय, उसको मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि उपपन्न कहते हैं ॥७ ॥ यती माधूकर भिक्षा म्लेच्छ के घर में भी कर लेवे किंतु बृहस्पति के समान पंडित से दिये हुये एक अन्न का भोजन न करे। याचित अथवा अयाचित भिक्षाओं से निर्वाह करे ॥ ७१ ॥ वायु स्पर्श के दोष से, अग्नि जलाने के कर्मों से, जल और मूत्र पुरीष से, अन्न के दोष से संन्यासी दूषित नहीं होता ॥ ७२॥ धुयें रहित में, मूसल के शब्द रहित, जहां मनुष्य भोजन कर रहे हों, वहां बहुतों में तीसरे पहर बैठ कर भिक्षा करे ॥७३॥ निंदित, पतित, पाखंडी और देव पूजक को छोड़कर यती आपत्ति में सब वर्णों के यहां भिक्षा करले ॥७४॥ घी कुत्ते के मूत के समान, शहद मदिरा के समान है। तेल सूकर के मूत्र के समान है, लहसन संयुक्त रसोई ॥७५॥ उड़द, पूपादि, गौ के मांस के समान है, दूध मूत्र के समान है। इस लिये घृत आदिक को प्रयत्न पूर्वक त्याग देवे। घृत रस आदि संयुक्त अन्न कभी न खावे ॥७६॥ हाथ ही उसका पात्र है इस लिये उससे सदा स्थिति करे। हाथ रूपी पात्र वाला योगी दूसरी बार भोजन न करे ॥७७॥ जो मुनि गौ के समान मुख से आहार करता है तो वह सब में समान हो जाता है और अमृत होने के योग्य समझा जाता है ॥७८॥ घी को रुधिर के समान त्याग दे, एकत्र अन्न को मांस के समान, गंध लेपन करने को अशुद्ध लेपन के समान, क्षार को भंगी के समान, वस्त्र को झूंठे पात्र के समान, अभ्यंग स्नान को स्त्री के समान, मित्रों के आह्लाद को मूत्र के समान, स्पृहा को गौ के मांस के समान, पहिचानने वालों के देश को चंडाल की वाटिका के समान, स्त्री को सर्पिणि के समान, सुवर्ण को विष के समान, सभा स्थान को श्मशान के स्थान के समान, राजधानी को कुम्भीपाक के समान, एकत्र अन्न को मृतक पिंड के समान त्याग दे, देव पूजन न करे। प्रपंच वृत्ति को त्याग कर जीवन्मुक्त होवे। आसन, पात्र लोप का संचय, शिष्य संचय, दिनका सोना, वृथा बोलना, ये छः यती को बंधन करने वाले हैं ॥७९॥ वर्षा सिवाय जो स्थान है, वह आसन कहलाता है। कहे हुए तूंबी आदि पात्रों में से एक का भी संचय करना ॥८०॥ यति के व्यवहार के लिये, वह पात्र लोप कहलाता है ग्रहण किये दंडादि के सिवाय दूसरे का ग्रहण ॥८१॥ दूसरे काल में उपभोग के लिये, संचय कहलाता है। शुश्रूषा, लाभ, पूजा अथवा यश के लिये परिग्रह करना ॥८२॥ शिष्यों का, जो करुणा से न हो, वह शिष्य संग्रह कहलाता है। प्रकाश रूप होने से विद्या दिन और अविद्या रात्रि कहलाती है ॥८३॥ विद्या के अभ्यास में जो प्रमाद है, वह दिन का सोना कहलाता है। अध्यात्म कथा को छोड़कर, भिक्षा की बात के सिवाय तथा ॥८४॥ अनुग्रह और उत्तर देने के सिवाय अन्य वृथा जल्प कहलाता है। मद और मात्सर्य एकान्न है, गंध पुष्प भूषण है ॥८५॥ ताम्बूल और तेल लगाना क्रीड़ा है, भोगों में इच्छा न होना रसायन है। खुशामद, निन्दा, स्वस्ति और ज्योतिष क्रय विक्रय ॥८६॥ क्रिया, कर्म और विवाद गुरु के वाक्य का उल्लंघन है। संधि और विग्रह वाहन है। पलंग शुक्ल वस्त्र है ॥८७॥ वीर्य का छोड़ना दिन का सोना है, भिक्षा का आधार तैजस् है। विष और आयुध बीज की हिंसा है तीक्ष्णपना मैथुन है ॥ ८८ ॥ संन्यासयोग से धर्मादिक का छोड़ना व्रत है। गोत्रादि के सब आचार और पिता माता का कुल धन इन सब निषेध किये हुओं के सेवन करने से नीच गति को प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥ वृद्ध हुआ विद्वान् भी वृद्ध स्त्री का विश्वास न करे। (क्योंकि) पुरानी कंथा में पुराना वस्त्र ही लगता है ॥ ९० ॥ स्थावर, जंगम

बीज, तीक्ष्ण, विष, आयुध इन छः को मूत्र पुरीष के समान यती ग्रहण न करे ॥ ९१ ॥ आपत्ति के सिवाय मार्ग के लिये कोई वस्तु भी यती ग्रहण न करे। आपत्ति में जब तक अन्न न मिले पक्कान्न को ग्रहण करे ॥ ९२ ॥ निरोगी और युवा भिक्षु किसी के घर में वास न करे। दूसरे के लिये न लेना चाहिये न कुछ देना चाहिये ॥ ९३ ॥ जीवों के सौभाग्य के लिये यती दीन भाव का आचरण करे, पका हुआ अथवा न पका हुआ मांगने से अधोगति को प्राप्त होता है ॥९४॥ अन्न पान परायण भिक्षु वस्त्रादि का ग्रहण करने वाला, ऊनी कपड़ा, बिना ऊन का कपड़ा तथा और वस्त्र ॥९५॥ यती इन को ग्रहण करने से पतित होता है, इसमें संशय नहीं है, अद्वैत नाव का आश्रय कर के जीवन्मुक्त को प्राप्त करे ॥ ९६ ॥वाणी के दण्ड में मौन रहे, काया के दण्ड में भोजन रहित रहे। मन को दण्ड देने के लिये प्राणायाम किया जाता है ॥ ९७ ॥ जीव कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है और विद्या से मुक्त होता है इस लिये पारदर्शी यती कर्म नहीं करते ॥९८॥ मार्गों में बहुत से वस्त्र और भिक्षा सवर्त्र मिल जाती है पृथिवी विस्तार वाली शय्या है, यती किस को दुखी हों ॥ ९९ ॥ यती ज्ञान के अग्नि से समस्त प्रपंच को जला देवे। जो भली प्रकार से आत्मा में अग्नियों का आरोप कर दे, वह महा यती अग्नि होत्र करने वाला है ॥ १०० ॥ प्रवृत्ति दो प्रकार की है, मार्जारी और वानरी। ज्ञान के अभ्यास वालों की तो वानरी नामकी है ॥१०१॥ बिना पूछा हुआ किसी से न बोले, अन्याय से पूछा भी न बोले, बुद्धिमान जानता हुआ भी जड़ के समान लोक में आचरण करे ॥१०२॥ वह पापों के समूह के उपस्थित होने पर बारह हजार तारक मन्त्र का अभ्यास करे वह पापों का काटने वाला है ॥१०३॥ जो प्रतिदिन बारह हजार प्रणव का जाप करे उसको बारह महीने में ही परब्रह्म का प्रकाश होता है ॥ १०४ ॥ यह उपनिषद् है ॥ ॐ तत्सत् ॥ इति द्वितीय अध्याय ॥

॥ इति संन्यास उपनिषद् समाप्त ॥



Registered No. A 860



ॐ

वेदान्त केसरी।



मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } ज्येष्ठ सं० १९८१ । जून १९२४ { अंक ८

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

की।
की॥
कभी।
भी॥
वती।
ती॥



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० बमालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य।≈) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू वर्ष के आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की साजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।≈), वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य।≈)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीता" मूल्य।≈) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | ज्येष्ठ सं० १९८१ । जून १९२४ | अङ्क ८

घड़ी ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

हे री घड़ी ! सद्गुरु तुझे था कौन ऐसा मिल गया ।
जिसने तुझे उपदेश दे अभिमान तेरा हर लिया ॥
दो हाथ से अरु शब्द से घन्टे मिनट बतलाय है ।
दिन रात करती काम, नहिं विक्षेप तुझ में आय है ॥

(२)

हे री घड़ी ! तू ब्रह्मवित् के लक्षणों से युक्त है ।
सम्पूर्ण तुझ में ज्ञान है, तू सिद्ध जीवन्मुक्त है ॥
करनी अलौकिक स्वच्छ तेरो मोद मन उपजाय है ।
चल एक से बारह तलक फिर एक ही पर आय है ॥

(३)

चारों दिशा में घूम फिर कर एक पर आ जाय है ।
यह चाल तेरी हे घड़ी ! अद्वैतता दिखलाय है ॥
कितने बजावे क्यों नहीं, पर एक एक बजावती ।
करती टनन टन बार बहु, पर एक को नहिं त्यागती ॥

(४)

दूने करे, तिगुने करे, या चौगुने कर डालती ।
कायम रखे है एक को, वेदान्त पक्का जानती ॥
सिद्धान्त तेरा है अचल, समता सभी में राखती ।
चाहे निशा हो या दिवस दोनों बराबर मानती ।

(५)

घन्टे, घड़ी, पल अरु विपल बहु बार जाते हैं बदल ।
तू एक ज्यों की त्यों रहे, तुझमें नहीं कुछ चल विचल ॥
नहिं छोड़ती निज केन्द्र, अन्तर काल में दिखलाय है ।
ज्यों ब्रह्म है स्थिर एक रस, संसार आवे जाय है ॥

(६)

केवल नहीं तू ब्रह्मवित आचार्य है विद्वान की ।
चुप चाप नहिं रहती कभी चर्चा करे नित ज्ञान की ॥
खट खट करे नित एक सी, नहिं भेद जिसमें हो कभी ।
द्रष्टा सभी कुछ देखता, घन्टा, मिनट सेकिन्ड भी ॥

(७)

सामान्य खट खट अधिष्ठान - स्वरूप तत्व बताती ।
उसमें विविध विध भिन्नता अध्यस्त जग दिखलावती ॥
ग्यारह तलक आरोप कर बारह तलक गिन जावती ।
अपवाद करके सर्व, का फिर एक तत्व लखावती ॥

(८)

हे री घड़ी ! प्यारी घड़ी ! क्या भागवत तू है पढ़ी ।
करती उसी का पाठ है आठों पहर साठों घड़ी ॥
या स्कन्ध बारह की कथा तू बैठ आसन गा रही ।
मुनि परम हंसों की दशा का दृश्य है दिखला रही ॥

(९)

हे सत्य ! लीवर-सूत्र के लाखों हजारों शब्द से ।
होता कथन जिसका वही सच्चा परम है सर्व से ॥
ऋषि सत्र रूपी चक्र का सारांश तू जतलाय है ।
हे री घड़ी ! तू धन्य है ! तू धन्य है !! तू धन्य है !!! ॥

(१०)

हे री घड़ी ! उपदेश तेरे को समझना है कठिन ।
अधिकारि सच्चा होय सोही कर सके उसको ग्रहण ॥
जग में सदा चिल्ला रही नहिं ध्यान कोई देय है ।
कौशल्य ! दे जो ध्यान तो निश्चय परम पद लेय है ॥

प्रारब्ध और पुरुषार्थ।

(गताङ्क से आगे)

पुरुषार्थ सामान्य शब्द है, उसकी गहराई बहुत है। पुरुष के अर्थ को पुरुषार्थ कहते हैं। शरीर वाला पुरुष यानी शरीर ही पुरुष है, ऐसा मानने वाला पुरुष-शरीर के साथ संबंध वाला जीव रूप पुरुष और शरीर में रहा हुआ आत्मा रूप पुरुष इस प्रकार पुरुष के भेद होने से, पुरुष के अर्थ—मतलब में भेद है। पुरुषार्थ तीन प्रकार का है, लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक। कोई २ मात्र कर्म को ही पुरुषार्थ कहते हैं परंतु जिसमें पुरुष का अर्थ—हित न हो, वह उलटा पुरुषार्थ है। शास्त्र और लोक के अनुसार हित का कार्य ही पुरुषार्थ कहा जाता है। पुरुष का हित चार प्रकार का है, धर्म रूप, अर्थ रूप, काम रूप और मोक्ष रूप। धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ लौकिक और पारलौकिक फल को देने वाला है और चौथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ आद्यतत्व की प्राप्ति रूप है इसलिये परम पुरुषार्थ है। जो अर्थ, धर्म और काम रूप तीन लौकिक पुरुषार्थ और चौथे मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ से रहित प्रयत्न है, वह नरकादिक वास का हेतु, क्रिया और संस्कार रूप है इस लिये उसको पुरुषार्थ कहना ठीक नहीं है। यद्यपि पूर्ण अज्ञान में घिर जाने से पुरुष उस में ही अपना हित भले ही समझता हो तो भी वह पुरुषार्थ नहीं है। उपरोक्त चारों पुरुषार्थ का प्रयत्न बुद्धि की विकसित् ऐसी जाग्रत् अवस्था में होता है। धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ में वह सामान्य अवस्था है और परम पुरुषार्थ में कुछ विलक्षणता है। परम पुरुषार्थ का प्रयत्न भी व्यवहारिक जाग्रत् अवस्था में होता है परंतु परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति उससे विलक्षण है यानी प्रयत्न व्यवहारिक सत्ता में होता है और मोक्ष स्वरूप की प्राप्ति पारमार्थिक है।

जिस प्रयत्न से शास्त्र के अनुसार धर्म का संचय हो, उस प्रयत्न को धर्म रूप पुरुषार्थ कहते हैं यह पुरुषार्थ विशेष करके सूक्ष्म भाव रूप होता स्थूल क्रिया धर्म रूप फल को उत्पन्न नहीं किन्तु उस क्रिया के साथ में जो शुभ भाव हो वह ही शुभ संस्कारों को उत्पन्न करके धर्म का देने वाला होता है। चाहे तो क्रिया के शुभ भाव हो, चाहे क्रिया रहित अन्य द्रव्य में शुभ भाव हो, किसी प्रकार से शुभ भाव धर्म रूप पुरुषार्थ है। प्रारब्ध से पुरुषार्थ को समझना कठिन है। सामान्यता से स्थूल भोग क्रिया में शुभ भाव का होना, क्रम २ से बढ़कर को उत्पन्न करता है। किसी २ प्रसंग में स्थूल सहित भी धर्म रूप पुरुषार्थ का होना संभवित है में प्रारब्ध रूप स्थूल प्रतिबंध की आड़ न हो प्रसंगों में स्थूल क्रिया भी पुरुषार्थ की करने वाली समझी जाती है परन्तु वह भेद सूक्ष्म होने से समझ में आना कठिन है। जो और लोक के अनुकूल हो, जिसमें अपना शुद्ध प्रसन्न हो ऐसा भाव धर्म रूप पुरुषार्थ है। जो वश, लोभ वश, मोह वश न हो, जिसमें शास्त्र का उल्लंघन न हो, जिसमें अपना कर्तव्य छूट किंतु कर्तव्य से भी कुछ विशेष शुभ संस्कार वह धर्म रूप पुरुषार्थ है। दान देना, दीनों पर करना, सज्जनों के ऊपर प्रेम होना, शास्त्र में हुई धार्मिक और व्यवहारिक क्रिया का यथार्थ दूसरे का हित चाहना, शास्त्रानुसार इन्द्रि होना, शास्त्र निषिद्ध कार्यों से निवृत्त होना, निर्मल रखना, व्रत, तपश्चर्या, आदिक में प्रवृत्त बड़ों को पूज्य समझ कर यथायोग्य उनकी करना, ये सब धर्म रूप पुरुषार्थ के हेतु हैं। उनमें भी स्थूलता वाले कई प्रारब्ध के अंश भी विशेष करके सूक्ष्म होने से करने के समझे जाते हैं। जो धर्म रूप पुरुषार्थ करता धर्म के फल की प्राप्ति होती है। यदि प्रारब्ध प्रतिबन्ध न हो तो धर्म रूप जो २ पुरुषार्थ और फल देने को पक जांय, देश, काल, और शरीर भी अनुकूल हो तो इसी शरीर हो सका है नहीं तो इस शरीर के बाद साथ फल होता है। धर्म का फल इस संसार

में होता है। जिसने धर्म रूप पुरुषार्थ में पैर रक्खा है, वह क्रम २ से बढ़ता जाता है। उसको बढ़ने में अनुकूलता होती है, चारों प्रकार के पुरुषार्थ का धर्म ही प्रथम पैर है। जिसने धर्म छोड़ा है, वह चारों प्रकार के पुरुषार्थों में से किंचित् भी प्राप्त नहीं कर सक्ता, सब सृष्टि धर्म के ऊपर टिकी हुई है, जिसका धर्म चला जाता है, उसका सब चला जाता है और जिसका धर्म बनता है, उसको अन्य का बनना भी संभव है। मनुष्य जन्म धारण करने का पूर्ण फल तो परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त करने से ही सिद्ध होता है परन्तु धर्म ही उसमें मुख्य है, आरंभ में धर्म ही साध्य है। धर्माधर्म का निर्णय करना भी सामान्य बुद्धि का कार्य नहीं है तो भी शुद्ध बुद्धि से निर्णय करके धर्म का वर्ताव करना चाहिये।

जो धर्म नहीं करता, वह पशु कहलाता है। शौच, स्नान, संध्योपासन, अग्नि होत्र, और विश्व-देवादिक नित्य कर्म नित्य धर्म हैं और देश काल निमित्त से स्नान, दान, श्राद्ध और जाप आदिक नैमित्तिक धर्म हैं, पुण्य तीर्थ और पुण्य योगादि में, संक्रांति और ग्रहण आदिक में ऐहिक भोग के लिये जो कर्म करने में आता है, वह काम्य धर्म है और विशेष यज्ञादि जो सूक्ष्म इच्छा सहित किये जाते हैं वे भी काम्य धर्म हैं, कृच्छ्र चान्द्रायणादिक व्रत जो पाप निवृत्ति के लिये करने में आते हैं, उन का करना प्रायश्चित्त धर्म कहलाता है। उन में भी जो कामना से हो, वह काम्य कहलाता है। इसी प्रकार के अन्य कर्म जो सूक्ष्म संस्कारों को उत्पन्न करें, ये सब धर्म रूप हैं, इस प्रकार धर्म प्रथम लौकिक पुरुषार्थ है।

एक किसान, घर में विशेष खर्च होने के कारण और खेत पर जल वृष्टि अनुकूल न पड़ने के कारण दिन पर दिन गरीब होता चला जाता था, खेत में जो कुछ पैदा होता था, उस से सरकार की भेज और घर के खर्च का पूरा नहीं पड़ता था, इस कारण से कई खेत उसे बेच देने पड़े थे, ऐसा होने पर भी किसान अंतःकरण से शुद्ध था, कई बार भोजन की तैयारी के समय कोई अतिथि आ जाता तो आप भूखा रह कर भी उस का सत्कार किया करता था, मोटी बुद्धि वाला होने से शास्त्र के सूक्ष्म रहस्य को वह जानता नहीं था तो भी अपनी समझ के अनुसार प्रयत्न पूर्वक धर्म का ही आचरण किया करता था, कई बदमाशों ने उसे अपने में मिलाना चाहा, मिलाने के लिये कई प्रकार का लालच भी दिया परन्तु किसान लालच में न आया और कंगाल हालत में ही संतोष पूर्वक अपना निर्वाह करता रहा, व्यवहार में अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते थे, तो भी वह धर्म मर्यादा से विचलित नहीं होता था, धर्मी के घर पर डकैती और मधर्मी की कुशल देखता हुआ भी अधर्माचरण नहीं करता था। उस में इतनी सत्यता थी कि मार्ग में पड़ी हुई वस्तु को कभी न उठाता। जब कभी किसी सौदे में सौदा देने वाले का एक पैसा भी बढ़ती आजाता तो जब तक वह उसे दे न आता तब तक उसे नींद नहीं आती थी, उस ने प्रथम कई खेत बेचे थे। खेत खरीदने वालों में से एक खेत खरीदने वाला एक दिन सुवर्ण मुद्राओं से भरी हुई एक देगची उस के पास लाया और कहने लगा "मैं आप से लिये हुये खेत को जोत रहा था, उस में से सुवर्ण मुद्राओं से भरी हुई यह देगची निकली है, यह आप का माल है, आप इस को ले लीजिये!" सद्गुणी किसान बोला "यह मेरे बेचे हुये खेत में से निकली है, मेरी नहीं है, मैं उस को ले नहीं सक्ता! मैंने मुद्रा गाड़ी नहीं थीं, मुझे इस बात की खबर भी नहीं है कि सुवर्ण मुद्रा की देगची मेरे खेत में है! मैं आप को खेत बेच चुका हूं, अब जो खेत में निकले, उस के मालिक आप हो!" सुवर्ण मुद्रा लेकर आने वाला किसान बोला "मैंने तुम से खेत की जमीन मोल ली है, सुवर्ण मुद्राओं की देगची मोल नहीं ली है, मैंने खेत के ही दाम दिये हैं, इस देगची के दाम नहीं दिये इस लिये मैं उस को नहीं ले सक्ता।" कोई दूसरा सामान्य मनुष्य होता तो ऐसी मीठी बातों से अवश्य अपने निश्चय से डिग जाता परन्तु हमारे मित्र धर्म निष्ठ किसान के हृदय में इन बातों का कुछ भी असर न हुआ, उसने देगची लेने से साफ इनकार कर दिया।

सामने वाला किसान भी अपने निश्चय में दृढ़ था ! धर्म निष्ठ किसान के मने कर देने पर भी वह देगची को छोड़ कर अपने घर को चल दिया। धर्म निष्ठ किसान को निश्चय हो गया कि वह देगची को लेने वाला नहीं है इस लिये वह देगची को लेकर राजा के पास पहुंचा और कहने लगा " महाराज! यह माल मेरा नहीं है तो भी अमुक किसान मेरे यहां पटक गया है!" राजा ने दूसरे किसान को बुला कर पूछा तो उस ने भी कह दिया कि यह माल मेरा नहीं है, मैं उस को नहीं ले सक्ता! राजा धर्मात्मा था, जी में विचारने लगा "इस का क्या न्याय करना चाहिये ? रक्षा के निमित्त जमीन का महसूल लेना, इतना ही मेरा अधिकार है, जमीन में से निकली हुई वस्तु का मैं मालिक नहीं हो सक्ता!" ऐसा विचार राजा ने धर्म निष्ठ किसान से कहा " क्या तेरी कोई संतान है ?" धर्म निष्ठ किसान बोला " हां ! महाराज ! ईश्वर की कृपा से मेरे एक लड़का और दो लड़कियां हैं, लड़के की उमर कोई बारह वर्ष की होगी, और लड़कियां उस से छोटी हैं !" राजा ने दूसरे किसान से कहा "तेरे क्या क्या संतान है ?" उस ने कहा " महाराज ! प्रथम एक लड़का हुआ था, कुछ दिन हुये, वह मर गया, अब एक पांच साल की लड़की है!" राजा प्रसन्न हो कर बोला " तुम दोनों एक ही जाति के होने से तुम्हारे लड़का लड़की की आपस में शादी होने में कोई आपत्ति तो नहीं है ?" दोनों बोले " नहीं ! महाराज! कुछ हर्ज नहीं है ।" तब राजा ने दूसरे किसान से कहा " अच्छा ! तो तू अपनी लड़की की शादी उस खेत बेचने वाले के लड़के के साथ कर दे और इस देगची को दहेज में दे दीजो, इस प्रकार वर वधू दोनों इस के मालिक होकर अपने काम में लावेंगे, " दोनों किसानों ने यह बात मान ली, राजा की आज्ञानुसार शादी की गई और वर वधू देगची के मालिक बनाये गये। प्रथम किसान धर्म निष्ठ था, अपना प्रारब्ध भोग भोगते हुये भी वह धर्म रूप शुभ संस्कारों को संचय करता था। प्रारब्ध भोग भोगते हुये शुभ संस्कारों का संचय करना धर्म रूप पुरुषार्थ है, दूसरा किसान भी धर्म वाला ही था।

जो धन की कामना से कार्य किया जा[ता] वह अर्थ के निमित्त कहा जाता है, सब प्रका[र के] ऐश्वर्य का समावेश अर्थ में होता है। कुटुम्ब, [...] गौ आदिक सभी धन रूप हैं। उन के लिये जो [...] की जाय, प्रयत्न अथवा अनुष्ठान किया जाय, [...] उन के करने से जो सूक्ष्म संस्कारों की दृढ़ता [...] वह अर्थ रूप पुरुषार्थ कहा जाता है। ऐसी क्रि[या] चाहे वर्तमान शरीर के भोग निमित्त हों या [...] अन्य शरीर के भोग निमित्त हों, अर्थ रूप पुरु[षार्थ] है, जब इस शरीर में उस का भोग—फल [...] है तब अनुकूल संयोग और प्रारब्ध का अंश भी [...] में मिला हुआ होता है तो भी सूक्ष्म प्रयत्न [...] पुरुषार्थ रूप है।

एक अत्यन्त दरिद्री ब्राह्मण था। वह [...] स्त्री सहित कठिनता से गृह रूप संसार को [...] था। ब्राह्मण भिक्षा से अपना निर्वाह करता था। [...] ग्राम में वह रहता था, उस ग्राम में एक नया जि[मीं]दार आया। ब्राह्मण भिक्षा मांगने के लिये जब [...] जिमींदार के पास गया तो उस के पास [...] मुख्य नम्बरदार और अन्य प्रतिष्ठित पुरुष बैठे [...] और एक प्रकार से वहां शोर गुल मच रहा [...] ब्राह्मण वहां जाकर बैठ गया। एक मनुष्य [...] " भाइयो ! यहां से थोड़ी दूर पर पंचानन [...] स्थान पर एक विशाल वृक्ष है, लोग उसे भूत[...] वृक्ष कहते हैं। लोगों की मानता है कि उस वृ[क्ष] [...] एक भयंकर भूत रहता है इस लिये दिन में [...] विशेष कर के लोग उस मार्ग से नहीं जाते, [...] को तो कोई मनुष्य वहां जा ही नहीं सक्ता! [...] ने रात्रि में वहां जाने का साहस किया है, वे पा[गल] हो गये हैं या मर गये हैं! एक बार फ्रैंच का [...] उस वृक्ष के नीचे आया था, उस वृक्ष के पत्ते [...] से वह पागल हो गया था! थोड़े दिन हुये उस [...] के गोविन्द नाम के ब्राह्मण ने रात्रि के अंधेरे में [...] वृक्ष के नीचे जाने का साहस किया था, वह [...] तक वहां से जीता हुआ लौट कर नहीं आया [...] जिमींदार युवावस्था का था, उस ने भूत [...] बात सुन कर कहा " जो मनुष्य रात्रि में [...]

अकेला जाकर उस भूत वाले वृक्ष की डाली तोड़ कर मेरे पास ले आवेगा, उसे मैं एक सौ बीघे जमीन इनाम दूंगा और उस जमीन का कर आदि हमेशा के लिये माफ कर दूंगा ! जिस को इतना इनाम लेने की इच्छा हो, वह रात्रि को जाकर वृक्ष की डाली तोड़ कर ले आवे, रात्रि को जाते समय अकेला जाना होगा, दूसरे मनुष्य को साथ ले जाने की बन्दी है !" यह सुन कर किसी प्रकार के कर रहित सौ बीघे जमीन प्राप्त करने का लोभ बहुत से मनुष्यों को हो आया परन्तु भूत वृक्ष की डाली तोड़ कर ले आने का साहस किसी को भी न हुआ ! जब जिमीदार के सन्मुख बैठे हुये मनुष्यों में से कोई भी खड़ा न हुआ तब दरिद्री ब्राह्मण विचारने लगा, "मैं धन रहित होने से अनेक प्रकार के दुःखों से दुखी हो रहा हूं, ऐसे दुःखों से तो भूतों के हाथों से मर जाना अच्छा है ! कदाचित् भूत के हाथ से छूट कर वृक्ष की डाली ले आ सका तो सौ बीघे जमीन की आमदनी से सुख पूर्वक निर्वाह करूंगा ! दोनों प्रकार से सुख ही दीखता है, मरना तो पड़ेगा ही, आज मरा या दो दिन पीछे मरा ! मरण के भय से भविष्य की आशा का त्याग क्यों करना चाहिये ? जो डाली तोड़ कर ले आया तो जमीन का मालिक बन जाऊंगा और भूत से मरण को प्राप्त हुआ तो जगत् जंजाल से छूट जाऊंगा ! दोनों हाथ लड्डू हैं !" ऐसा विचार कर बोला "जिमीदार महाशय ! यदि आप की आज्ञा हो तो मैं भूत वृक्ष की डाली ले आने को तैयार हूं क्योंकि मुझे भूत अथवा मृत्यु का भय नहीं है ! मैं भूखा मरने से मृत्यु के मुख में आ पड़ा हूं इस लिये कृपा करके मुझे भूत वृक्ष की डाली ले आने की आज्ञा दीजिये !" जिमीदार ने प्रसन्न हो कर जाने की आज्ञा दी । वहां बैठे हुये मनुष्य ब्राह्मण का साहस देख कर आश्चर्य करने लगे ! एक बोला "क्या ब्राह्मण पागल हो गया है ?" दूसरे ने कहा "लोभ के कारण उसका चित्त भ्रमित हो गया है !" तीसरा बोला "हां ! ऐसा ही है ! नहीं तो जान बूझ कर मृत्यु के मुख में क्यों जाता ?" इस प्रकार कोई कुछ और कोई कुछ कहने लगा । ब्राह्मण ने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और अपने निश्चय में दृढ़ रहा । घर आकर ब्राह्मण ने स्त्री से सब वृत्तांत कहा । स्त्री ने भी मने किया । ब्राह्मण ने स्त्री की बात पर भी कुछ लक्ष न दिया । जब रात्रि को स्त्री सो गई तो स्त्री से कहे बिना ही ब्राह्मण उठ कर भूत वाले वृक्ष की तरफ चल दिया । जाते समय ब्राह्मण ने अपना जी कड़ा कर रक्खा था । दूर से भयंकर दृश्य देखने में आया और हृदय को आघात पहुंचाने वाले शब्द सुनाई दिये तो भी ब्राह्मण दृढ़ता धारण किये हुये आगे ही चलता रहा । मार्ग में उसे एक मनुष्य मिला, उसने कहा "हे सज्जन ! यहां से लौट जा, सामने भूतों का कुलाहल हो रहा है, वे तुझे मार डालेंगे !" ब्राह्मण ने कहा "महाशय ! मैं भूतों से नहीं डरता, मुझे मरने का भय नहीं है !" उस मनुष्य ने कहा "भाई ! अपने प्राण सब को प्यारे होते हैं ! तू मरना क्यों चाहता है ?" ब्राह्मण ने कहा "मित्र ! मैं दरिद्रता के दुःख से दुखी हूं, भूत वृक्ष की डाली लेने जाता हूं, यदि डाली ले आया तो मैं सौ बीघे जमीन का मालिक बन जाऊंगा, नहीं तो मेरे लिये मरना भी अच्छा ही है !" उस मनुष्य ने कहा "देख ! इतना साहस मत कर, मैं वही जिमीदार हूं, मैं तुझे डाली बिना तोड़े ही सौ बीघे जमीन इनाम देता हूं !" ब्राह्मण बोला "नहीं ! महाशय ! मैं आपके कहे अनुसार कार्य करूंगा, आज तक मुझ से किसी ने भी नहीं पूछा कि तू ने खाया है या तू भूखा है ! मेरे साहस के निश्चय में इतना सामर्थ्य है कि आज आप मुझे इनाम देने को तैयार हो रहे हो, मैं कार्य किये बिना इनाम नहीं लूंगा, डाली ला कर ही लूंगा !" यह कह कर जिमींदार को छोड़ कर ब्राह्मण आगे चल दिया । उसकी दृढ़ता के सामने भूतों का दृश्य अदृश्य हो गया ! मरने तक के निश्चय पर पहुंचे हुये ब्राह्मण का भूत कुछ भी न कर सके ! ब्राह्मण ने वृक्ष के पास आ कर उसकी डाली तोड़ी और ला कर जिमींदार को दे दी । जिमींदार प्रसन्न हुआ । सौ बीघे जमीन ब्राह्मण को प्राप्त हुई और दिन पर दिन उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी । ब्राह्मण का साहस, निश्चय और प्रयत्न पुरुषार्थ है । धन के निमित्त होने से यह पुरुषार्थ अर्थ रूप पुरुषार्थ है ।

भारी में भारी आपत्ति से न डरते हुये प्रयत्न से संस्कारों को जो दृढ़ करना है वह पुरुषार्थ है।

अनेक प्रकार की कामनाओं की तृप्ति के निमित्त जो प्रयत्न किया जाता है, वह काम रूप पुरुषार्थ कहा जाता है, पांचों इन्द्रियों के विषय का भोग रूप ही काम होता है। संसार में सब भोग के निमित्त प्रयत्न करते हैं, प्रयत्न करने पर भी इच्छानुकूल पूर्ण भोग की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि भोग की प्राप्ति में प्रारब्ध का अंश विशेष है इस लिये प्रयत्न के अनुकूल फल नहीं होता, प्रारब्ध के अनुकूल फल होता है। यद्यपि भोग में प्रारब्ध का अंश विशेष है तो भी भोगों की प्राप्ति के हेतु यत्न करना पुरुषार्थ कहा जाता है। वर्तमान के लिये या आगे के लिये जिस कर के भोग के संस्कार एकत्र किये जाते हैं, वह काम रूप पुरुषार्थ है।

एक राजकन्या की प्रतिज्ञा थी कि जो कोई मेरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर देगा, उसके साथ मैं अपनी शादी करूंगी, चाहे वह किसी जाति का अथवा उमर का हो, रंक या राना कोई भी हो, सब बातों के विचार किये बिना यथार्थ उत्तर देने वाले से ही मैं शादी करूंगी। कितने ही वर्षों से राज कुमारी की यह प्रतिज्ञा प्रकट थी, और हजारों मनुष्य अपने भाग्य की परीक्षा करने को आये थे परन्तु किसी से यथार्थ उत्तर नहीं दिया गया था। जो उत्तर देने की प्रतिज्ञा कर के यथार्थ उत्तर नहीं दे सके थे, उन को राज कन्या कैद खाने में कैद करवा देती थी। इस प्रकार राजकुमारी की लालसा से हजारों मनुष्य कैद खाने में पड़े थे। एक दिन राजकुमारी के साथ शादी करने की इच्छा से तीन मनुष्य उत्तर देने की प्रतिज्ञा करके उसके पास पहुंचे! राजकुमारी ने उनमें से एक से कहा "बताओ मेरे शिर के बालों का रंग कैसा है?" उसने कहा "काला है!" राजकुमारी ने हंस कर कहा "जाओ, झूठे हो, जेल खाने में जाओ!" फिर दूसरे से भी राज कन्या ने वही प्रश्न पूछा। उसने विचार किया कि यदि मैं भी काला कहूंगा तो झूठा ठहरूंगा, ऐसा विचार कर उसने कहा "तुम्हारे शिर के बालों का रंग लाल है!" राजकुमारी ने तिरस्कार सहित उसे भी झूठा क[ह] कर जेल खाने भिजवा दिया। तीसरा जुलाहा ए[क] राजकुमारी ने उससे भी वही प्रश्न किया। जुलाहे [ने] कहा "तुम्हारे शिर के बालों का रंग काला सू[फ़ेद] है!" राजकुमारी के शिर के बालों की दो ल[ट] बाल्यावस्था में ही पक गई थीं, जुलाहे के मुख [से] सत्य उत्तर मिलजाने से राज कुमारी का मुख [उतर] गया, कहने लगी "तुम्हारा उत्तर सच्चा है पर[न्तु] तुमको मेरे पाले हुये रीछ के पिंजरे में एक रा[त] रहना पड़ेगा, जो सुबह को तुम उसमें से जी[ते] निकले तो मैं अवश्य तुम्हारे साथ शादी करूंगी!" जुलाहा विचारने लगा "इस दुनियां में भय [का] सामना किये बिना कोई कुछ भी प्राप्त नहीं [कर] सका, जब मेरा उत्तर सच्चा निकला तो कि[सी] प्रयत्न से रीछ के पिंजरे में रात्रि रह कर भी [जीता] रहना बन सकता है। प्रयत्न के साथ धैर्य [और] साहस अवश्य चाहिये!" ऐसा विचार कर जुला[हे] ने राजकन्या की बात मान ली। रात्रि के स[मय] जुलाहा विकराल रीछ के पिंजरे में बंद कर दि[या] गया और ताला लगा दिया गया। रीछ को [उस] समय क्षुधा नहीं लगी थी, वह धीरे से जुलाहे [के] पास आया, जुलाहा उसके पैर को खुजाने लगा, [रीछ] को अच्छा मालूम हुआ, वह कुछ न बोला। जुला[हा] रीछ के शरीर को खुजाने लगा, रीछ को नींद आ[ई] और वह सोगया। जुलाहा अपने साथ एक छुरा [ले] आया था जब उसने देखा कि रीछ सोगया तो उ[स] छुरा निकाल कर रीछ के पेट में घुसेड़ दिया, रीछ [के] पेट में से भक् २ लोहू निकलने लगा और एक भा[री] शब्द करके वह मर गया। सब ने जाना कि जुला[हा] मारा गया। जुलाहा निश्चिंताई से सो गया। सुब[ह] होते ही राजकन्या रीछ के पिंजरे के पास पहुंची [तो] क्या देखती है कि जुलाहा खर्राटे की नींद ले रहा [है] और रीछ पिंजरे में मरा हुआ पड़ा है। पिंजरा खो[ला] गया, जुलाहा जाग्रत् हुआ और राजकन्या को दे[ख] कर कहने लगा "हे राजकुमारी! अपने वचन [के] अनुसार अब तू मेरे साथ शादी कर!" राजक[न्या] प्रसन्न मुख से बोली "कोई देवता तुम्हारा स[हायक]

यक मालूम होता है, जुलाहे के स्वरूप में तुम कोई तप भंग तपस्वी हो! मैं मन वचन और कर्म से अब तुम्हारी हूं!" दूसरे दिन दोनों की शादी की गई और दोनों आनन्द से रहने लगे। जो साहस और प्रयत्न जुलाहे ने किया, वह पुरुषार्थ का स्वरूप है। भाग्य वश चाहे राजकन्या का मिलना न भी होता तो भी साहस और निश्चय पुरुषार्थ था।

ऊपर कहे हुये तीनों पुरुषार्थ लौकिक पुरुषार्थ हैं। इनसे फल प्राप्त होता है परन्तु अन्य पुरुषार्थ की निवृत्ति नहीं होती, मोक्ष परम पुरुषार्थ है, एक ही समय करने का है। मोक्ष रूप पुरुषार्थ के करने के बाद अन्य किसी के निमित्त फिर पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, इस लिये यही पारमार्थिक सच्चा पुरुषार्थ है। यह ही पुरुषार्थ है अन्य पुरुषार्थ लौकिक होने से गौण हैं और मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ मुख्य है। जब मनुष्य तीनों पुरुषार्थ के फल में भी दुःख देखे और उनके ऊपर भी वैराग्य हो तब चौथे पुरुषार्थ में ठीक २ लग सक्ता है। वैराग्य बिना चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। तीनों अहंभाव सहित लौकिक फल वाले और राग वाले हैं, चौथा परम पुरुषार्थ लौकिक वैराग्य सहित, पारमार्थिक अखंड फल वाला और अहंभाव रहित है, और आदि तत्व के बोध—प्राप्ति रूप है।

नचिकेता नाम का ऋषि पुत्र यमराज के पास उपदेश लेने को गया। जब नचिकेता ने यमराज से आत्म बोध के विषे प्रश्न किया तब यमराज ने परीक्षा लेने के निमित्त कहा "हे नचिकेता! तू आत्मबोध का क्या करेगा? तू मुझ से सौ वर्ष जीने का और पुत्र पौत्रादि प्राप्त करने का वरदान मांग ले, बहुत से पशु, हाथी, घोड़े आदिक मांग ले, भूमि का विशाल भाग और इसके सिवाय तेरी इच्छा में आवे उतनी शरद ऋतु जीने को मांग ले, धन और दिव्य आयुष मांग ले, भूमि पर राजा हो जा, मैं तुझे सब कामनाओं का भोक्ता बनाऊंगा, जो कामनायें मृत्यु लोक में पूरी होना दुर्लभ हैं, ऐसी कामनाओं का वरदान मुझ से मांग ले, रथ सहित तुरई नाम धा-जिन्त्र सहित स्वर्ग की सुन्दर स्त्रियों को मांग ले, मैं सब दूंगा, आत्मसम्बन्धी प्रश्न मत कर!" नचिकेता इस बात में सम्मत न होता हुआ बोला "ये सब भोग क्षणिक हैं, हे अन्तक! ये भोग इन्द्रियों के सम्पूर्ण तेज को नाश करते हैं, जीवन भी अवधि वाला होने से अल्प है, इन सब भोगों को आप अपने पास ही रहने दीजिये, जब तक आप का अनुग्रह है तब तक ही हम जीते रह सके हैं, मुझे अनित्य भोगों में रुचि नहीं है, मैं इन सब को तुच्छ समझता हूं, मुझे तो आत्म बोध—श्रेय ही चाहिये!" पश्चात् यमराज ने इसी प्रकार बहुत लालच दिखलाया परन्तु नचिकेता ने कुछ भी पसन्द न किया, यमराज से आत्म-तत्व ही ग्रहण किया। इस प्रकार सब को तुच्छ समझते हुये आत्म तत्व का जानने का जो प्रयत्न है, जिस कर के परम पद की प्राप्ति होती है, वह ही परम पुरुषार्थ मोक्ष है। जब तक जगत् में वैराग्य नहीं होता तब तक जगत् में से हटने का विचार नहीं होता। सामान्य विवेक के बाद वैराग्य होता है, वैराग्य से जगत् पर अरुचि होती है, और बुद्धि अपने आप तत्व आत्मा की खोज में प्रवर्त होती है। पश्चात् षट् सम्पत्ति से युक्त मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, बाद सद्गुरु के शरण में जा कर उपनिषद् का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर के अधिकारी ब्रह्म साक्षात्कार करता है। ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त जो प्रयत्न है, वह परम पुरुषार्थ है। जाग्रत् अवस्था से ले कर मोक्ष पर्यन्त जीव सृष्टि है इस लिये जीव का परम कल्याण अन्तिम मोक्ष में है। मोक्ष तक जीव का कर्तव्य-अधिकार है। धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ नाम मात्र के पुरुषार्थ हैं, वास्तविक पुरुषार्थ तो परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। प्रारब्ध का बनना भी पुरुषार्थ रूप है इस लिये पुरुषार्थ के सिवाय प्रारब्ध की कोई भिन्न सत्ता नहीं है, वर्तमान समय का पुरुषार्थ स्वाधीन है और पूर्व का किया हुआ शुभाशुभ पुरुषार्थ जो स्थूल होने से अधिकार से बाहर निकल गया है, वह प्रारब्ध के नाम से कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य का पुरुषार्थ ही कर्तव्य है और परम पुरुषार्थ मुख्य कर्तव्य रूप है। प्रारब्ध के भरोसे रहने से कभी भी मोक्ष की सिद्धि नहीं

होगी। जो जिसने पाया है, पुरुषार्थ से ही पाया है, अनित्य पदार्थों के लिये प्रयत्न करना, उन में दिल को फसाना अज्ञान ही है, प्रवाह रूप से व्यवहारिक कार्य करते हुये मानसिक विकार रहित उच्च भाव रखना चाहिये, प्रारब्ध का यथार्थपना ही नहीं है, निष्फलता में सन्तोष धारण करने के निमित्त प्रारब्ध है, कार्य के प्रयत्न में शिथिल होने के लिये प्रारब्ध नहीं है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों साथ २ कार्य करते हैं इस लिये भिन्न २ प्रतीत नहीं होते। जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष का पुरुषार्थ समाप्त हो जाने से, उस के शरीर से जो कुछ होता है वह प्रारब्ध है। अशांति का हेतु प्रयत्न है और शान्ति का हेतु परम पुरुषार्थ है।

उपदेश।

उपदेश दो प्रकार का होता है, सामान्य और विशेष। सामान्य उपदेश सब को सामान्यता वाला और अनेकों का एक ही होता है। जिस में देश, काल, पात्र, संयोग, ग्राहक शक्ति, अनुकूलता, हानि, लाभ आदिक का संपूर्ण विचार न हो सका हो, ऐसा उपदेश सामान्य उपदेश कहा जाता है। सामान्य उपदेश फल दायक होय और न भी होय, जैसे चिरायता बुखार की दवा है, यह सामान्य उपदेश है, इस उपदेश में देश यानी जंगल शहर आदिक का विचार नहीं है, कैसा रोगी, किस उमर का है, कितनी मात्रा देनी चाहिये, यह कथन भी नहीं है, किन संयोगों में, किस अनोपान के साथ दिया जाय, यह भी नहीं है, कैसी हवा और पथ्य अनुकूल है, कौनसी बीमारी में प्रतिकूल है, कितना लाभ, कितनी हानि और कितने काल में आराम होगा, इत्यादि विचार भी नहीं है इस लिये यह सामान्य उपदेश है। विशेष उपदेश में ऊपर वाले सब संयोगों को देख कर, रोगी और रोग का निदान कर के खास रोगी को नफा नुकसान विचार कर अमुक औषधि देना, यह विशेष उपदेश है, विशेष रूप से दिया हुआ उपदेश अवश्य फल देता है, बहुत कम व्यर्थ जाता है और व्यर्थ जाने में भी संयोगों की कु[छ] कुछ विपरीतता होती है, तत्त्वोपदेश, स्व[र्ग] निमित्त उपदेश, नीति का उपदेश और व्यवहार[िक] उपदेश इत्यादि सभी सामान्य और विशेष दोनों [होने] वाले हैं, जिस से तत्त्व का बोध हो वह तत्त्वो[पदेश] है। सामान्य तत्त्वोपदेश से परब्रह्म का परोक्ष [ज्ञान] होता है, योग्य अधिकारी को योग्य संयोगों में [दिये] हुये विशेष तत्त्वोपदेश से परब्रह्म का अपरोक्ष [ज्ञान] होता है। सामान्य उपदेश भी सामान्य रूप से [और] विशेष रूप से दिया जाता है, विशेष रूप से [दिया] हुआ सामान्य उपदेश बहुत जल्दी फल देता है [और] सामान्य रूप से दिया हुआ विशेष उपदेश अ[क्सर] फल दाता नहीं होता, विशेष कर के उपदेश [के] ग्रहण कर्ता और उपदेश के कर्ता के ऊपर फल[का] आधार है। जिन कर्मों करके शास्त्र में स्वर्ग [प्राप्ति] दिखलाई है, उन का उपदेश स्वर्ग प्राप्ति के लि[ये] का सामान्य उपदेश है और स्वर्ग प्राप्ति के लि[ये] अमुक यज्ञ, अमुक वर्ण वाले को करना चा[हिये] शुभ कर्मों का ऐसा उपदेश विशेष उपदेश है, नीति[का] सामान्य उपदेश मनुष्य मात्र के लिये एकसा हो[ता] है जैसे कि झूठ न बोलना, चोरी न करना, [किसी] को हानि न पहुंचाना, हिंसा न करना, इत्यादि [सब] के लिये सामान्य हैं। ये ही विशेष भेद [से] विशेष हो जाते हैं और देश, काल, पात्र और सं[योग] आदि के सूक्ष्म विचार सहित होने से भिन्न २ [हो] जाते हैं। व्यवहारिक उपदेश जैसे व्यवहार[के] निमित्त हो, उस के संपूर्ण व्याख्यान सहित हो[ने से] विशेष हो जाता है और ऊपर २ का सा[मान्य] होता है।

सब उपदेशों का स्थान व्यवहारिक सत्ता [है,] जिस में जगत् का व्यवहार होता है, वह ही व्यव[हारिक] हारिक सत्ता है चाहे उस में किये हुये उपदेश[ों का] फल व्यवहार में हो, स्वर्गादि में हो, परलोक में [हो] चाहे पारमार्थिक सत्ता में हो। मनुष्य जन्म और [इस] भूमि को कर्म भूमि कहते हैं। बीज का बोना य[हां] होने से उपदेश भी इसी में होता है। विशेष [कर] विशेष उपदेश तो फल दाता ही है, सामान्य उप[देश] के लिये यह नियम नहीं है, विशेष करके

निष्फल ही होता है, कभी २ थोड़ा फल देने वाला होता है। जो जितना जानता है, दूसरे को उतने का उपदेश देने में समर्थ नहीं होता, उपदेश लेना और उपदेश देना, इन दोनों प्रकार की योग्यता भिन्न २ होती है, जिस में दोनों प्रकार की योग्यता हो, वह ही उपदेशक होसका है। उपदेश लिये विना विषय ज्ञात नहीं होता, जिस को विषय ज्ञात है, उसने उपदेश लिया है। यदि उस में दूसरों को समझाने का सामर्थ्य भी है तो वह उपदेशक है। जिस में उपदेश ग्रहण करने का सामर्थ्य है और जिस ने उपदेश ग्रहण किया है किन्तु दूसरों को समझाने का सामर्थ्य नहीं है तो वह अपना ही कल्याण करने वाला है, दूसरों के लिये विशेषउपयोगी नहीं है। ऐसे को वेदान्त भाषा में केवल ब्रह्म निष्ठ कहते हैं और जो ब्रह्मनिष्ठ हो कर समझा भी सक्ता है, वह ब्रह्मनिष्ठ और विद्वरिष्ठ दोनों ही है। तत्व बोध के उपदेश में ही यह भेद हो, ऐसा नहीं है किन्तु नीति, व्यवहार और स्वर्ग प्राप्ति आदि के उपदेश में भी इसी प्रकार का भेद देखा जाता है।

सब प्रकार के व्यवहारिक उपदेश में और तत्व बोध के उपदेश में अन्तर है, तत्व बोध का विशेष उपदेश व्यवहारिक दशा में होते हुये भी लक्ष में पारमार्थिक है, यह उस की विशेषता है इसी लिये यह उपदेश लक्षणा से ही हो सका है। जो शिष्य लक्षणा द्वारा लक्ष पहुंचाने में कुशल नहीं है, उसे उपदेश का फल नहीं होता इसी कारण उपदेश कर्ता और उपदेश ग्रहण कर्ता दोनों ही व्यवहारिक सत्ता में आश्चर्य रूप हैं। तत्व बोध—जीव ब्रह्म की एकता में तत्वमसि आदि महावाक्यों में भाग त्याग लक्षणा ही संभवीत है, अन्य लक्षणा अथवा वाच्यार्थ से जीव ब्रह्मकी एकता का बोध नहीं हो सक्ता। त्वं ऐसा जो संसारी जीव और तत् ऐसा जो असंसारी ईश्वर ऐसे संसारी और असंसारी विरुद्ध धर्म वालों का अभेद करने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध होता है इस लिये महा वाक्य का मुख्य वाच्यार्थ ग्रहण करने से जीव ब्रह्म का अभेद वेद से नहीं हो सक्ता और प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध किये विना, एक ही रीति से यह अभेद बन सक्ता है इस लिये लक्षणा करना ही उचित है। लक्षणा से ही जीव ब्रह्म की एकता का बोध होता है इस लिये अन्य बोधों से इस एकता के बोध की विलक्षणता है। अन्य जितने बोध हैं, वे प्रमाण आदि के आधीन हैं, परोक्ष बोध तक ही व्यवहारिक प्रमाण काम में आते हैं। आत्मा प्रमाण का विषय नहीं है क्यों कि आत्मा से ही सब प्रमाणों की प्रामाण्यता है। आत्मा से प्रामाण्यता को प्राप्त हुये प्रमाण आत्मा को सिद्ध करने के लिये असमर्थ हैं, जिससे सब की सिद्धि होती है, उसको किस करके सिद्ध किया जाय, इसी से यह विलक्षण है। योग्य अधिकारी और योग्य उपदेश से ही तत्व बोध की सिद्धि होती है।

उपदेशक को उपदेश देने के पात्र को यथार्थ जानना चाहिये। यदि अपात्र को उपदेश दिया जायगा तो फल की प्राप्ति न होगी। इतना ही नहीं कदाच उपदेशक को भी हानि होना संभव है। क्रम उपदेश में उपदेश सच्चा ही हो, यह नियम नहीं है। उपदेश चाहे सच्चा हो, चाहे झूठा—व्यवहारिक हो, चाहे प्रातिभासिक हो, जिसमें शिष्य का हित हो, क्रम से ऊपर चढ़ने में मदद रूप हो, ऐसा ही उपदेश उपयोगी होता है। सच्चा होते हुये भी जो उपदेश शिष्य का हित करने वाला न हो, वह उपदेश नहीं कहलाता। शिष्य किस कक्षा में है और उस में कक्षा को उत्तीर्ण करने का कितना सामर्थ्य है, यह सब विचार उपदेशक को करना होता है। उपदेश परोक्ष हो अथवा अपरोक्ष हो जो संपूर्ण विचार सहित होता है, वह विशेष उपदेश कहलाता है। विशेष इस लिये है कि इसमें शिष्य का हित है। फल चाहे संपूर्ण हो चाहे अल्प हो, परमार्थ का उपदेश बहुत सूक्ष्मता और शुद्धि होने के बाद ही लगता है। व्यवहारिक स्थूल उपदेश में भी पात्रादिक को अवश्य देखना पड़ता है। यदि उपदेशक पात्रादिक का यथार्थ विचार न करे तो व्यवहारिक में भी उपदेश का फल बुरा होता है। अपात्र को उपदेश देने से बुरा फल होने के लौकिक में भी अनेक दृष्टांत मिलते हैं।

जिस समय बंगाल के समुद्र में मेघा नदी के तट पर बसने वाले शहर पोर्चूगीज और अन्य लुटेरों के आक्रमण से अशांत हो रहे थे और अंग्रेज और फ्रेंच लोग व्यापार के लिये उनमें दृढता से बसने लगे थे, उस समय अपने नाना अलीवर्दीखां के राज्यासन के ऊपर सिराजुद्दौला अधिष्ठित हुआ। अलीवर्दीखां के मरने के बाद ४० दिन तक नवाबी रिवाज के अनुसार शोक मनाया गया। अमीर, उमराव और छोटे २ राजाओं ने नौबत बजाना बंद कर दिया, सब शादियां बंद रहीं, और किसी प्रकार का भी आनंदोत्सव न मनाया गया। बाद सिराजुद्दौला के राज्यासन पर आरूढ होने के दिन प्रातःकाल से सब लोग भव्य मंडप के पास इकट्ठे होने लगे। अमलदार और उमराव लोगों की भी धूम रही। डंका, निशान, बाजा शहनाई का ठाठ जगमगा रहा था। हथियार बद्ध सिपाही अपनी पोशाकों से सजे हुये खड़े थे। राज भुवन में से सिराजुद्दौला एक भारी जलूस के साथ मंडप में आ रहा था, उसकी अकड़ कर चलने की धज, दुपट्टे से ढका हुआ शीतला के दागों से युक्त चेहरा और लाल नेत्र, उसके क्रूर स्वभाव को दर्शा रहे थे। धीरे २ सवारी मंडप के नीचे आ पहुंची, सिपाहियों ने अपने शस्त्र झुका कर नवाब को मान दिया, तोपों की सलामी दी गई और भूल में पड़े हुये भोले मनुष्यों ने गंभीर ध्वनि से नवाब का जय शब्द उच्चार किया !!

नवाब के सिंहासन पर बैठने के बाद धर्म क्रिया सहित परंपरा से चले आये हुये नियम के अनुसार योग्य रीति से नवाब का राज्याभिषेक किया गया। बाद क्रम से एक २ सरदार पास जाकर नमन करने लगा। इस प्रकार बहुत समय से राज्यासन पर बैठने की लोलुपता वाले युवान की तख्त नशीनी की क्रिया पूर्ण हुई, इसके बाद एक करुणा जनक बनाव हुआ! जिससे राज्याभिषेक का स्थान ऐसा पाप स्थान बन गया कि यदि उसे नरक की उपमा दी जाय तो थोड़ी है। जब दरबारी लोग नमन कर चुके तो सिराजुद्दौला ने क्रिया कराने वाले धर्म गुरु से कहा "क्या मैं नवाब हो चुका?" धर्म गुरु ने कहा "हां! जहांपनाह! आज से आप प्रतापी अलीवर्दीखां के स्थान पर स्थापित हुये! मुरशिदाबाद की सब प्रजा जिस दृष्टि से आप के पूर्वजों की तरफ देखती थी, उसी दृष्टि से अब आप को देखेगी।" नवाब बोला "क्या अब मैं हुक्म चला सकता हूं!" मुख्य वजीर ने कहा "बेशक! एक दफे नहीं सो दफे!" नवाब बोला "मेरे उस्ताद कुलीखां को बुलवाओ!" सब समझ रहे थे कि नवाब अपने शिक्षक को भारी शिरोपा देगा और अपने को शिक्षा देने का आभार मानेगा! कुलीखां वहां हाजिर ही था, इनाम के लालच से नवाब के सामने आ खड़ा हुआ। सब दरबारी टिकटिकी बांध कर देख रहे थे कि नवाब अपने शिक्षक को किस प्रकार गुरु भक्ति दिखलाता है परन्तु नवाब के प्रथम शब्द से ही उनकी शुभ धारणा जाती रही! नवाब नम्रता के बदले क्रोधित होकर कठोर स्वर से बोला "हरामजादे! क्या तुझे खबर न थी कि एक दिन मैं इस शाही तख्त पर बैठूंगा?" ये शब्द किस कारण कहे गये, यह कोई समझ न सका!

बात यह थी कि जब सिराजुद्दौला कुलीखां के पास पढता था तब सिराजुद्दौला दिये हुये पाठ को ठीक याद नहीं करता था, उसका चित्त खेलने में बहुत रहता था, इस लिये अयोग्य शिष्य को सुधारने के निमित्त जिस प्रकार शिक्षक शिष्य को मारता है और योग्य शिक्षा देता है इसी प्रकार कुलीखां भी किया करता था। सिराजुद्दौला छोटपने से ही ईर्षा वाला और क्रूर स्वभाव का था। उसने अपने राज्य काज में सबसे प्रथम ही शिक्षक को शिक्षा का बदला चुकाने का दृढ़ निश्चय कर रक्खा था, जब उस पर बेंत पड़ते थे तब इसे बहुत त्रास होता था, उस कारण उसने सुधरने के बदले मार का बदला चुकाने का निश्चय कर रक्खा था। बेंतों का बदला तलवार से देने के लिये सोच लिया था।

कुली खां थर २ कांप रहा था, उसको देख कर सिराजुद्दौला बोला "शैतान! बोलता क्यों नहीं है! उस वक्त का तेरा जोर कहां गया? अब बेंत क्यों नहीं

लगाता ? नापाक ! आज मैं तेरी जान लूंगा ! जल्लाद ! सामने आ ।" तुरन्त जल्लाद सामने आ खड़ा हुआ। सिराजुद्दौला ने हुक्म दिया "बस ! उड़ा दे इस बदजात का सिर ! कत्ल कर दे !" कुलीखां के गात्र शिथिल हो गये थे, श्वास रुक गया था, मौत सामने खड़ी देख कर "अल्लाह अल्लाह" पुकारने लगा। नवाब गर्जना करता हुआ बोला "कहां है तेरा बचाने वाला अल्लाह ? यहां का अल्लाह तो मैं हूं ! तुम मोलवी लोग ! बच्चों के बेंत लगाते हुये उन की पीठ और हाथों को क्या लकड़ी पत्थर का समझते हो ? तुम्हारे तो चमड़ी होती है ! क्या लड़कों के बदन लोहे के होते हैं ? चिल्ला मत ! मरदूद ! झुका गरदन ! जल्लाद ! कर दे सिर अलग ! आज मैं अपनी ख्वाहिश पूरी करूंगा !"

इस समय मीर जाफर, राजा राजवल्लभ, आदि वृद्ध और प्रतिष्ठित मनुष्यों ने बहुत विनीत भाव से कुली खां का अपराध क्षमा करने को कहा परन्तु जिद्दी नवाब ने किसी का कहना न माना और कहा "अगर ज्यादा गड़बड़ करोगे तो इस बदमाश के साथ मैं तुम को भी कत्ल कर दूंगा !" प्राण जाने के भय से सब चुप हो गये। जल्लाद को हाथ जोड़े देख कर नवाब बोला "मेरे हुक्म की तामील कर, नहीं तो मैं अपने हाथ से मोलवी का सिर उड़ा दूंगा !" तब जल्लाद कुलीखां का हाथ पकड़ कर बाहर ले जाने लगा। ऐसा देख कर नवाब बोला "नहीं ! इसको बाहर मत ले जा, मेरे सामने इसी स्थान पर कत्ल कर !" शोक और करुणा से युक्त सब ने मस्तक नीचे कर लिये, भय और त्रास से बाहर भी न जा सके ! चुप चाप बैठे रहे ! जल्लाद की तलवार के एक ही झटके से निरपराधी गुरु—मोलवी का शिर कट कर धड़ से अलग जा पड़ा !

जिस प्रकार अयोग्य शिष्य को शिक्षा देने का फल कुलीखां को मिला इसी प्रकार सिराजुद्दौला भी अन्त में बुरे हाल से मारा गया ! उपदेश देने वाले की जिम्मेदारी कम नहीं है। उपदेश से पात्र के अनुसार सुधार अथवा बिगाड़ होता है। जैसे कुत्ते के चमड़े में रक्खा हुआ पवित्र अमृत समान दूध भी अपवित्र विष होजाता है ऐसे ही अपात्र को दिया हुआ उपदेश हानि ही करता है। व्यवहारिक उपदेश से परमार्थिक उपदेश की विशेषता और भयंकरता भी है। ज्ञानोपदेश अज्ञान से मुक्त होने के लिये दिया जाता है परन्तु अपात्र को देने से अज्ञान निवृत्त होने के बदले ज्ञानवद्ध हो जाता है जो अज्ञान से भी बुरा है। चाहे जितना प्रयत्न करके उपदेश दिया जाय योग्य पात्र न होने से उपदेश लगता नहीं है। ऐसे को तो प्रथम पात्र बनने का ही उपदेश देना चाहिये, जहां तक ज्ञानोपदेश का अधिकारी न हो तहां तक उसे ज्ञान का उपदेश न दे, उपासना में ही लगावे। अर्जुन को भगवद्गीता में श्री कृष्ण भगवान् ने जो उपदेश दिया था वह अनेक युक्तियों से पूर्ण और अर्जुन को हितकारक था, ज्ञान का उपदेश देते हुए भी युक्ति से कर्म की आवश्यकता दिखला कर उसे कर्म योग में ही प्रवृत्त किया गया ! हीन अधिकार का उपदेश देते हुए भी अर्जुन को समझने न दिया कि यह कर्म योगका उपदेश न्यून है। अर्जुन कर्म योग का अधिकारी था, उसी में उसका कल्याण था। युक्ति पूर्वक पात्र की योग्यता आदि की संपूर्ण परीक्षा के बाद ही उपदेश दिया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो फल में विपरीतता होती है।

एक समय अश्विनी कुमारों ने दध्यङ्ग ऋषि के पास जाकर ब्रह्म विद्या प्राप्त करने की याचना की तब ऋषि ने कहा "हे अश्विनी कुमारो ! विषयों की तरफ तुम्हारी आसक्ति है इसलिये अभी तुम विद्या के अधिकारी नहीं हो। जैसे बिना काल की पड़ी हुई वर्षा निष्फल जाती है, जैसे सूर्य के सामने दीपक निष्फल है, जैसे अजीर्ण वाले को अन्न भक्षण निष्फल है, ऐसे ही विवेकादि साधन चतुष्टय रूप अधिकार के बिना उपदेश की हुई ब्रह्म विद्या निष्फल जाती है इसलिये तुम ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिये विवेकादि साधन सम्पन्न होकर मेरे पास आओ तब मैं तुमको ब्रह्म विद्या का उपदेश करूंगा।" यह सुन कर अश्विनी कुमार ऋषि की आज्ञा लेकर वहां से चले गये, कितने ही दिन बाद स्वर्गाधिपति इन्द्र

ऋषि के आश्रम में आया। ऋषि ने इन्द्र को बहुत आदर सहित आसन पर बैठाया और प्रसन्न हो कर कहा "हे तीन लोक के पति इन्द्र! तुम मेरे आश्रम में अतिथि आये हो, मैं तुम्हारा कौनसा हित करूं? जो कहो सोही मैं करूं!" इन्द्र ने कहा "हे ऋषि राज! आपने मुझे प्रसन्न करने को कहा है, यह आपके योग्य ही है, जो सब प्राणियों को दुर्लभ्य ऐसी ब्रह्म विद्या है, उस विद्या का उपदेश कीजिये! ऋषियों का ब्रह्म विद्या ही धन है!" ऋषि इन्द्र के ऐसे वचन सुन शंका को प्राप्त हुए और जी में विचारने लगे "यह इन्द्र ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं है, विषयो में लोलुप है और गुरु भक्ति से भी रहित है इसलिये इसको उपदेश की हुई ब्रह्म विद्या निष्फल जायगी, मैं वचन दे चुका हूं, जो उपदेश न करूंगा तो मेरा वचन मिथ्या होगा! वचन मिथ्या होने देना भी ठीक नहीं है!" ऐसा विचार कर उपदेश देने का निश्चय करके बोले "हे इन्द्र! अश्विनी कुमार मेरे शिष्य हैं उन दोनों ने ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के निमित्त मुझ से प्रार्थना की थी परन्तु उन दोनों को वैराग्यादि साधनों से रहित देखकर जिस विद्या का उपदेश मैंने उनको नहीं किया, उसी विद्या का उपदेश तुझको करता हूं। लोग अनेक प्रकार के सुखों का कथन करते हैं परंतु मुख्य सुख आत्म स्वरूप आनन्द ही है, उससे भिन्न जितने प्रकार के सुख हैं वे सब गौण हैं, नाम मात्र के सुख हैं और क्षणिक हैं। ब्रह्म विद्या अज्ञान को निःशेष निवृत्त करती है और वैराग्यादि साधन संपन्न को आनन्द स्वरूप आत्मा को देती है। हे इन्द्र! वेदांत शास्त्र के प्रतिपादन करने योग्य जो ब्रह्म पुरुष है वह सच्चित् आनंद करके सब जगत् को व्याप्त कर रहा है। असत् शब्द का अर्थ और असत् शब्द जन्य ज्ञान का विषय जो तत्पद का अर्थ है वह परोक्ष ईश्वर है और सत् शब्द का अर्थ और सत् शब्द जन्य ज्ञान जो त्वंपद का अर्थ है, वह अपरोक्ष जीव है। उन दोनों को तू सत् चित् आनंद कर के पूर्ण परमात्मा जान!" ऐसे युक्ति और दृष्टांत पूर्वक श्रुति संमत उपदेश देकर फिर ऋषि ने कहा "हे इन्द्र! ब्रह्म विद्या से अन्य कोई विद्या अज्ञान निवृत्त करने वाली और परमानंद को प्राप्त कराने वाली नहीं है, तू अपने को मिथ्या भिन्न करके 'मैं इन्द्र' ऐसा मानता है। तुझमें इन्द्रपने का अभिमान और कुत्ते में कुत्तेपने का अभिमान समान है। विचार कर देखें तो ब्रह्म साक्षात्कार युक्त जो ईश्वर है वह ही एक इन्द्र है। अज्ञान से ही तू इन्द्रपने के अभिमान को धारण कर रहा है, ऐसे ही कुत्ता भी कुत्तेपने के अभिमान को धारण करता है। तुझे अनेक प्रकार का ऐश्वर्य, देवता का उत्तम शरीर और तीनों लोक का राज प्राप्त है। स्वर्ग की स्त्रियों को तू जो रमणीक समझता है, यह आसक्ति है; इसी प्रकार कुत्ते को भी अपनी ऐश्वर्यता, एक मोहल्ले का अथवा एक घर का राज और कुतियों में रमणीकता बुद्धि आसक्ति से होती है। यदि तू कहे कि कुत्ते के सामने सुंदर पदार्थ कोई नहीं है तो यह कहना अंध बुद्धि का है। मनुष्यों की अपेक्षा से जैसे तुझ में विशेषता का अभिमान है ऐसे ही कुत्ते को भी कुत्तों से क्षुद्र प्राणियों की अपेक्षा से कुत्तेपने का अभिमान है, कुत्ते को भी उस की दृष्टि से भारी ऐश्वर्य है। मनुष्यादि से जैसे तेरा शरीर विशेष कोमल है ऐसे ही कुत्ते का शरीर भी सुअर आदि से कोमल है। तुझे जैसे इन्द्राणी आदि अप्सराओं में प्रेम है, उन के संग से तुझे आनन्द आता है ऐसे ही कुत्ते को कुतियों में प्रेम है और उसे भी संग से आनन्द वैसा ही आता है जैसा तुझे आता है, कुत्ते का आनन्द तुझ से किंचित् भी न्यून नहीं है। जैसे तुझे अमृत प्रिय है ऐसे ही कुत्ते को वमन प्रिय है। यदि तू कहे कि मुझ में उपकार करने की विशेषता है तो कुत्ता भी अपने मालिकका उपकार करता है। तू अपने शत्रुओं पर क्रोध करता है तो कुत्ता भी अपने शत्रुओं पर क्रोध करता है! हे इन्द्र! अज्ञान से भोगों में तेरी और कुत्ते की समानता है, भोगों में तेरी विशेषता कुछ भी नहीं है, इस का विचार कर। तू असंग, अक्रिय और व्यापक है, अज्ञान करके अपने को अज्ञानी मत बना, तू कुछ नहीं करता! हे इन्द्र! प्राणियों में रहे परमदेव से सब प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, वह सब में ही समान है, न्यूनाधिक को शरीर के अभिमान

कर, स्वर्ग और अप्सरा आदि में ममता को त्याग करके आनन्द स्वरूप आत्मा का निश्चय कर !" इन्द्र ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं है, ऐसा जानते हुये भी ऋषि ने अपने वचन सार्थक करने के लिये अनेक प्रकार से वैराग्य होने के वचन कहे, इस प्रकार संपूर्ण ब्रह्म विद्या का अनेक प्रकार से उपदेश किया गया, परन्तु उस उपदेश से इन्द्र को बोध न हुआ इस लिये वह प्रसन्न न हुआ, उलटा क्रोधित हुआ ! जिस को जिस में विशेष आसक्ति होती है, उस को उस की निन्दा सुन कर क्रोध आता है, ऐसा इन्द्र क्रोध युक्त हो विचार करने लगा "यह ब्राह्मण मेरे शत्रुओं का भेजा हुआ दीखता है, मेरे शत्रुओं ने इस के द्वारा मुझे राज्य त्यागने का उपदेश कराया है, यह दुरात्मा है, मिथ्या वचन बोलता है। मैं तीनों लोकों का राजा इन्द्र हूं, मुझे यह कुत्ते के समान बताता है।" ऐसा विचार कर प्रत्यक्ष बोला "हे ब्राह्मण! जिस ब्रह्म विद्या का तूने मुझे उपदेश दिया है, उसका उपदेश यदि तू आज से लेकर कभी भी किसी अन्य पुरुष को करेगा तो मैं उसी समय आकर वज्र से तेरा शिर काट डालूंगा !" ऋषि ने ऐसे वचन सुन कर क्रोध भी नहीं किया, दुःखी भी नहीं हुए, उन्होंने इस आज्ञा को अपना हित करने वाली समझा और शाप न देते हुए आज्ञा के अनुसार चलने का निश्चय किया तब से ऋषि मौन व्रत धारण करके चुपचाप ब्रह्म निष्ठा में रहने लगे, कितनेक समय के बाद अश्विनी कुमार साधन सम्पन्न हो कर आये और ऋषि से ब्रह्म विद्या का उपदेश करने को विनति करने लगे, ऋषि विचार करने लगे "अश्विनी कुमारों को उपदेश देने का मैं वचन दे चुका हूं, यदि उपदेश न दूं तो मेरा वचन मिथ्या हो जायगा और उपदेश दूं तो इन्द्र आकर मेरे शिर को काट डालेगा ! शिर का कट जाना अच्छा है, वचन का मिथ्या होना अच्छा नहीं ! इस पंच भौतिक मायिक शरीर की ममता मुझे है नहीं, शिर कट जाने से मेरा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है इस लिये अश्विनी कुमारों को, जो अधिकारी होकर आये हैं ब्रह्म विद्या का उपदेश अवश्य करना चाहिये !" ऐसा विचार कर ऋषि ने अश्विनी कुमारों से कहा "मैं तुम को उपदेश करने को तैयार हूं, तुम्हारे जाने के बाद इन्द्र मेरे पास आया था, उस ने मुझ से ब्रह्म विद्या का उपदेश लिया किन्तु अधिकारी न होने से, वह क्रोधित हुआ और कह गया है कि अब से आगे जिस समय तुम किसी को ब्रह्मविद्या का उपदेश करोगे, उसी समय मैं आकर वज्र से तुम्हारा शिर काट डालूंगा ! वह अवश्य मेरा शिर काटेगा परन्तु मुझे उस की परवा नहीं है, मैं तुम को अवश्य उपदेश दूंगा !" तब अश्विनी कुमारों ने कहा "महाराज ! हम मृतसंजीवनी विद्या जानते हैं, सामने यह घोड़ा खड़ा हुआ है, उस का शिर काट कर हम आप के धड़ पर और आप का शिर काट कर उसके धड़ पर रख कर दोनों को सजीव किये देते हैं। आप घोड़े के धड़ पर रक्खे हुये शिर से उपदेश कीजिये, जब इन्द्र आकर आप के शिर को काट डालेगा, तब हम घोड़े का शिर काट कर घोड़े के धड़ पर और आप के कटे हुये शिर को आप के धड़ पर रख कर दोनों को सजीव कर देंगे !" ऋषि इस बात में सम्मत हुये, घोड़े के धड़ पर रक्खे हुये ऋषि के शिर से अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया गया, उपदेश पूर्ण होते ही इन्द्र ने आकर वज्र से शिर काट डाला, अश्विनीकुमारों ने घोड़े का शिर काट कर ऋषि के कटे हुये शिर को ऋषि के धड़ पर और घोड़े का शिर घोड़े के धड़ पर रख कर दोनों को सजीव कर दिया, इस प्रकार दोनों ही सजीव बने रहे।

अनाधिकारी को उपदेश देने का यह फल हुआ, इन्द्र को ब्रह्म विद्या फल वाली न हुई और ऋषि भी आपत्ति में पड़े ! ऋषि ज्ञानी थे इस लिये उस आपत्ति से उन की कुछ हानि न हुई परन्तु आपत्ति तो थी ही ! योग्य सामर्थ्यवान् शिष्य होने से ऋषि के शरीर का नाश न हुआ, अश्विनी कुमार अधिकारी हो कर आये थे इस लिये उन को दिया हुआ उपदेश सफल हुआ, जो ज्ञाननिष्ठ ज्ञान से परिपूर्ण है, ब्रह्मभाव में टिका हुआ है, उस का हृदय कमल प्रफुल्लित रहता है। शिष्यों की जांच करने की और समझाने की युक्तियां अनेक हैं, ब्रह्मनिष्ठ

महात्मा अधिकारियों को तो उपदेश करते ही हैं, यदि अनाधिकारी भी श्रद्धालु हो तो उसे भी उपदेश देकर बहुत जल्दी अधिकारी बना देते हैं। सत् का संग संतों के संग के सिवाय और कहीं नहीं है। जो सच्चे दिल से सत् को चाहता है, उसे संतों के समागम से ही सत् की प्राप्ति होती है। अन्य उपदेशों से तत्वोपदेश बहुत विलक्षण है। श्रेष्ठ वस्तु के रखने वाले और लेने वाले थोड़े ही होते हैं, जिस ने तत्वनिष्ठ के पास से तत्व बोध के उपदेशामृत का पान किया है, वह स्वयं तत्व स्वरूप ही हो जाता है।

चर्पट पंजरिका।

गेयं गीता नाम सहस्रं
ध्येयं श्रीपति रूपमजस्रम्।
नेयं सज्जन निकटे चित्तं
देयं दीन जनाय च वित्तम् ॥१२॥भज०

अर्थ—गीता और विष्णु सहस्र नाम को गाना चाहिये, विष्णु का सदा ध्यान करना चाहिये, सज्जन के पास चित्त को ले जाना चाहिये और दीन जनों को दान देना चाहिये। गोविन्द का भजन कर।

भाषा पद्य।

गीता सहस नाम जपि गाओ।
श्रीपति का नित ध्यान लगाओ॥
संत निकट चित को ले जाओ।
दीन जनों में द्रव्य लुटाओ ॥१२॥ भज०

विवचन।

विशेषता से होने वाले जगत् के व्यवहार को देख कर खेद ही होता है। मनुष्य को प्राप्त हुये शरीर, इन्द्रिय और मन का सच्चा उपयोग होता हुआ कम देखने में आता है। प्रपंच के भाव में अंधेरा रहा है, मनुष्य शरीर और इन्द्रियों का सदुप[illegible] नहीं करते। जिनको इस बात का कुछ भी विचार [illegible] उन पुरुषों के लिये आचार्य का उपदेश है। ऊप[illegible] पद में चार बातें बताई हैं:–गाना, ध्यान करना, [illegible] को सज्जन के पास ले जाना और दान देना। [illegible] रूप कर्म विशेष करके स्थूल इन्द्रियों का है, [illegible] और चित्त को सज्जन के पास ले जाना सूक्ष्म [illegible] और ध्यान करना सब से सूक्ष्म है। इस बताये [illegible] के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक सदु[illegible] योग को समझना चाहिये।

कोई तो अनेक प्रकार के अलंकार-नायिका[illegible] भेद की कविताओं को गाते हुए दिखाई देते हैं, [illegible] स्त्रियों का वर्णन करते हुये देखने में आते हैं, कोई [illegible] पुरुषों का विलास कथन करते हुये दीखते हैं, [illegible] विभत्स शब्दों का उच्चारण करते हुये, कोई [illegible] भोग का व्याख्यान करते हुये, कोई विषयों [illegible] अलाप करते हुय और कोई तो दूसरे को कष्ट [illegible] अनर्थ बढे ऐसी वाणी का बकवाद करते हुये [illegible] में आते हैं। इसके सिवाय अनेक प्रकार से वाणी [illegible] दुरुपयोग करते हुये दूसरे की निंदा करने से [illegible] को दूपित करते हैं, यह ठीक नहीं है। मनुष्य के [illegible] अन्य पशुओं की वाणी नहीं है। जब ईश्वर ने म[illegible] को युक्त बुद्धि दी है तो अपने अंतर्यामी परम[illegible] पहिचानने के साधनों में वाणी का उपयोग कर[illegible] वाणी का सदुपयोग है। जिनमें ईश्वर का [illegible] पूजन ध्यान और ज्ञान है, ऐसी पुस्तकों को [illegible] चाहिये, उन को ही गाना चाहिये। वैसे ग्रंथ [illegible] हैं परंतु सूक्ष्मता से दिखलाने के निमित्त [illegible] भगवद्गीता और विष्णु सहस्र नाम पढने को [illegible] है। श्रीमद्भगवद्गीता सब शास्त्रों, वेदों और [illegible] का सारांश रूप और सूक्ष्म है, इतना छोटा और [illegible] मान्य ग्रंथ अन्य नहीं है। इसी प्रकार विष्णु [illegible] नाम, जिसमें विष्णु के सहस्र नामों का वर्णन [illegible] प्रत्येक नाम के अर्थ में सब तत्व रहस्य भरा [illegible] इसे गाना-पढना चाहिये। ऐसा करने से अंत[illegible]

की शुद्धि होती है। लौकिक विषय वाले ग्रंथ सुन्दर राग वाले हों, कंठ से मधुरता के साथ निकलते हों, कर्ण को प्रिय हों तो भी उनमें ईश्वर संबंधी कुछ भी उच्चार न होने से, उनके सुन्दर गायन का कुछ भी उपयोग नहीं है, उन से तो वार्जित्र से निकलने वाला धुनात्मक स्वर ही अच्छा है क्यों कि उस से बंधन करने वाला शब्द तो सुनने में नहीं आता।

अनादि काल के अभ्यास से लोगों का विशेष प्रेम विषयों की तरफ है। ऐसे लोगों के बनाये हुये श्लोक और काव्य उस प्रेम की ही वृद्धि करते हैं। संसार बंधन रूप है, यह बंधन किस प्रकार निवृत्त होता है, ऐसा कोई भाव उन श्लोकों में न होने से वे व्यर्थ हैं। विषयों के गीतों की कोई आवश्यकता नहीं है क्यों कि वे तो बिना गीत ही चौबीसों घंटे गाये ही जाते हैं तब जो कुछ गाया जाय वह प्रपंच की निवृत्ति का हेतु होना चाहिये। शुभाचरण, उपासना अथवा ज्ञान के ग्रंथ पढ़ने चाहियें। उनके पढने से संसार बंधन की निवृत्ति होना संभव है। व्यवहार में बोले बिना रहा नहीं जाता इस लिये जब बोलने की आवश्यकता हो तब शुद्ध व्यवहार के लिये ही बोलना चाहिये, इससे विपरीत बोलना कष्ट दायक है। अहंकार छल और कपट के आधीन हो कर दुष्ट इच्छा सहित बोलना ठीक नहीं है। जिसमें काम्यपने का अंश हो, ऐसे बोलने का भी कुछ उपयोग नहीं है, उस से कल्याण नहीं होता। हनूमान जी को जब मोती माला दी गई तो उन्हों ने एक २ दाने को दांतों से तोड़ फोड़ कर फेंक दिया। जब ऐसा करने का कारण पूछा गया तो उत्तर मिला कि मैं राम नाम को देखता हूं दानों में कहीं भी राम नाम नहीं है, जिसमें राम नाम नहीं, वह किस काम का? सज्जनों को वाणी के व्यापार में इसी प्रकार की बुद्धि धारण करनी चाहिये। कल्याण करने वाले ग्रंथों में भगवद्गीता मुख्य है क्यों कि उसमें सब रहस्य का निचोड़ है। इस को कंठ करना अथवा स्पष्ट उच्चारण सहित उस का पाठ करना चाहिये और पाठ भी अर्थ समझकर करना चाहिये। गीता त्यागी और रागी, गृहस्थ और सन्यासी सब के लिये उपयोगी है। इस के प्रति दिन के अभ्यास से जगत और जगत् के विषयों की तरफ अरुचि होती है, केवल कर्तव्य बुद्धि से अंतः करण की शुद्धि होती है, और अंतः करण शुद्ध होने से स्वरूप की पहिचान होती है, युवावस्था और दुष्ट संग से भ्रांत हुये मनुष्य इस बात को नहीं समझते और कभी समझ भी जांय तो आचरण नहीं करते। बुरा मालूम हो तो भी औषधि रूप इस कथन के ग्रहण करने वाले को अंत में अविचल सुख-शांति की प्राप्ति होती है।

मनुष्य शरीर की प्राप्ति महान् पुण्य का फल है क्योंकि मनुष्य शरीर में ही ईश्वर का ध्यान करने की शक्ति होती है। यदि शक्ति प्राप्त होने पर भी ईश्वर का ध्यान न किया जाय तो शक्ति व्यर्थ चली जाती है इस लिये सज्जन पुरुष को उस शक्ति का यथार्थ उपयोग करना चाहिये। युवावस्था में लोग अवस्था के अनुकूल पदार्थों का ध्यान करते हैं और वृद्धावस्था में अनेक प्रकार की चिन्ताओं का ध्यान परवश होकर करना पड़ता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच विषय शरीर को सुख देने वाले हैं, ऐसा माना जाता है। इन विषयों में संसार के सब पदार्थ आ जाते हैं। उन्ही पदार्थों की प्राप्ति, रक्षा, उन्हीं सम्बन्धी विचार और स्मरण रूप रात दिन उन्ही का ध्यान हुआ करता है परन्तु ईश्वर की सर्वोत्तम कारीगरी रूप, अमूल्य होते हुये भी क्षण भंगुर देह किस निमित्त प्राप्त हुआ है और क्या करने से उस देह का मिलना सार्थक होगा, इसका किसी को विचार नहीं होता। जो इन्द्रियों के सुख को ही सुख मानते हैं, उन्हें इतना भी विचार नहीं होता कि हम जिसे सुख मानते हैं, वह वस्तुतः सुख है भी या नहीं, जब सुख है तो चला क्यों जाता है, सुख के आगे पीछे और मध्य में दुःख रहता है इस लिये यह वस्तुतः सुख नहीं है, सुखाभास, मिथ्याभास है, कल्पना सिवाय कोई भी पदार्थ सुख रूप नहीं है, थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि कुछ सुख है अवश्य तो भी आता रहता है, चला भी जाता है, प्रयत्न से आता है और प्रयत्न बिना भी आता है, स्वभाव से ही आने जाने वाला है, ऐसे के साथ चित्त वृत्ति जोड़ने से दुःख ही होता

है। जो जिस का भोग है, प्रयत्न विना ही प्राप्त होता है क्योंकि भोग पूर्व के प्रयत्न का फल है इस लिये उस के निमित्त का प्रयत्न मिथ्या है, सच्चे सुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये, सच्चा सुख प्रयत्न विना नहीं मिलता परन्तु जिनका चित्त विषय भोग की लालसा में डूबा हुआ है ऐसे मूढ़ मनुष्यों को अवकाश ही कहां है, जो सच्चे सुख के लिये ध्यान और प्रयत्न करें! विषय सुख तो पशु आदि देहों में भी प्राप्त होता है तो उसके लिये प्रयत्न कर के मनुष्य- शरीर को खो देना पशुपना ही है! पानी नीचे की तरफ सहज में चला जाता है, पानी का ऊपर चढ़ना कठिन है, प्रयत्न विना नहीं चढ़ता इसी प्रकार विषय सुख नीचे की तरफ है, उसमें चित्त वृत्ति स्वाभाविक चली जाती है, ईश्वर का ध्यान उचान में और जगत् की जाल को छुड़ाने वाला है, पूर्व का अभ्यास न होने से उसके लिये अवश्य प्रयत्न करना पड़ता है इस लिये लक्ष्मी-पति-मायापति का ध्यान सब विषयों को छोड़ कर करना चाहिये। जो जगत् के ऐश्वर्य रूप लक्ष्मी की चाहना करता है, चाहे प्राप्त हो चाहे न हो उसी का गुलाम बना रहता है, वह लक्ष्मीपति से दूर ही रहता है।

जगत् में जितनी शोभा है, जितनी कांति है, जितना ऐश्वर्य है, वह सब जिस की सत्ता से स्फुरित होता, है, वह लक्ष्मीपति है, लक्ष्मी लक्ष्मीपति से भिन्न नहीं है। जब तुम लक्ष्मी को चाहोगे तो पति रहित लक्ष्मी कैसे प्राप्त होगी? इसीलिये लक्ष्मी चाहने वालों को अनेक कष्ट होते हैं और जब तुम लक्ष्मीपति को ही चाहोगे तो लक्ष्मी की परवा न करने पर भी भाग्य वश लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होगी, रुक नहीं सकी, लक्ष्मीपति रहित लक्ष्मी निर्जीव है। लक्ष्मी-पति की प्राप्ति से तुम को लक्ष्मी की परवा नहीं रहेगी, और यदि वह उसी समय तुम्हारे चरण प्रक्षालन करने को आजाय तो आश्चर्य नहीं है। यदि तुम पूछो कि लक्ष्मीपति कहां रहता है तो उस का उत्तर सुनो, वह तुम से दूर नहीं है, वह सब का अंतरात्मा हो कर प्रत्येक के अंतःकरण में विराजमान है। उसके

स्वरूप का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके। को जानना चाहिये, उसी का पूर्ण निश्चय क चाहिये, ध्यान भी उसी के निमित्त किया जाता यदि निर्गुण निराकार का ध्यान करने की योग्य हो तो साकार का ध्यान करना चाहिये और करते हुये प्रपंच के ध्यान को छोड़ना चाहिये। आदि प्रपंच का ध्यान करना तो अंतः करण सुवर्ण पात्र में मलमूत्र के भरने के समान ऐसा करना उचित नहीं है, अंतःकरण से ही चैतन्यता है। निर्मलता के कारण करण को स्फटिक मणि की उपमा दी जाती निर्मल अंतःकरण में निर्मल ईश्वर का ध्यान है, निरंतर ध्यान करने से जन्म मरण का कष्ट नहीं पड़ता, ध्यान करने योग्य तत्व का नाम परंब्रह्म के सिवाय अन्य कोई ध्यान करने ध्येय नहीं है। परब्रह्म के सिवाय अन्य ध्यान नहीं है और परब्रह्म में रहा हुआ ध्येय ध्येय नहीं है, अन्य के ध्यान का परिणाम है, इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के कष्टों को खींच ले आने वाला है, जिस का होता है, उसे छोटपने से ही ईश्वर का ध्यान

हिरण्यकशिपु नाम का एक महा दैत्य जगत् विख्यात राजा था, उस के चार उन में सब से छोटे का नाम प्रह्लाद था, बाल्यावस्था से ही विष्णु का परम भक्त रात दिन विष्णु का ध्यान रहता था, विद्याभ्यास करने को गुरु के पास भेजा। आज्ञा से कुछ दिन तक प्रह्लाद विद्याभ्यास करता रहा, एक दिन पिता ने कहा "पुत्र! तू है? जो तुझे अच्छा लगता हो, सो मेरे सामने प्रह्लाद बोला "हे पिता जी! यह घर समान है, मरु जल को जैसे हरिण सच्चा कष्ट पाता है वैसे ही मिथ्या जगत् को उद्वेग वाले अज्ञानी मनुष्य अंधे कूप में अंध कूप रूप घर की आसक्ति छोड़कर आश्रय करना ही उत्तम है, मुझे इसी हिरण्यकशिपु पुत्र प्रेम से हास्य कर बोला तेरा कहना ठीक नहीं है!" फिर गुरु

कर कहा "प्रह्लाद को कोई विष्णु भक्ति उपदेश देता है, ऐसा मालूम होता है, कोई उसे ऐसा उपदेश देने न पावे, आप इस बात का प्रबंध करना!" गुरु ने प्रह्लाद को एकांत में बुलाकर कहा "हे वत्स! मैं तुझे मारूंगा नहीं, सच बोल, विष्णु भक्ति रूप विपरीत बुद्धि तुझे किस लड़के से प्राप्त हुई है?" प्रह्लाद ने कहा "गुरु जी! मुझे किसी लड़के से प्राप्त नहीं हुई है, जिसकी माया से हमारी और दूसरे पुरुषों का मैं और मेरा ऐसा मिथ्या भाव हुआ है, उस विष्णु भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं, जिस की माया ब्रह्मादि महात्माओं को भी मोह को प्राप्त कराती है, उस विष्णु भगवान् ने ही मेरी बुद्धि इस प्रकार की करदी है!" प्रह्लाद के ऐसे वचन सुनकर गुरु कोपायमान हो कर तिरस्कार करता हुआ बोला "बालको! बेंत लाओ, दुष्ट बुद्धि प्रह्लाद को मार मारने के सिवाय दूसरा उपाय नहीं है, वह मेरे कहे अनुसार नहीं वर्तता! कुशिष्य को पढ़ाने से यश कहां से प्राप्त हो? यह अपकीर्ति कराने वाला है! चंदन वन में बबूल के समान दैत्य कुल में यह (प्रह्लाद) उत्पन्न हुआ कुपुत्र है!"

इस प्रकार तिरस्कार करके गुरुने प्रह्लाद को भय दिखलाया परंतु उसने कुछ भी न सुना, वह तो परमात्मा में ही लीन रहा! फिर गुरु ने फुसलाते हुये प्रह्लाद को धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का उपदेश देना आरंभ किया, कुछ काल तक ऐसा ही करता रहा और एक दिन अच्छे २ वस्त्र पहिना कर हिरण्यकशिपु के पास ले गया। प्रह्लाद ने पिता को साष्टांग दंडवत् किया। पिता ने पुत्र को गोद में ले कर पुचकार कर कहा "हे प्रिय पुत्र! गुरु से जो कुछ तूने पढ़ा हो, और जो तुझे याद हो, सो बोल!" प्रह्लाद बोला "विष्णु चरित्र का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, विष्णु चरण की सेवा, पूजा, वंदन, दास भाव, सखा भाव और आत्म निवेदन, इस प्रकार मनुष्यों को विष्णु की नवधा भक्ति करनी चाहिये और जो साक्षात् विष्णु को अर्पण होता है, उस को मैं उत्तम अध्ययन मानता हूं!" इस प्रकार विष्णुकी भक्ति युक्त वचनों को सुनकर दैत्यराज ... हो गया, ... हो गई, होठ फड़कने लगे, चिल्लाकर गुरु से कहने लगा "हे नीच ब्राह्मण! क्या तू ने मेरे शत्रु विष्णु का आश्रय करके मेरे पुत्र को अयोग्य ऐसी विष्णु की भक्ति सिखाई है?" दैत्यराज के ऐसे वचन सुनकर अध्यापक थर २ कांपने लगा, और बोला "हे राजन्! तुम्हारा पुत्र जो बोलता है, वह मेरा पढ़ाया हुआ नहीं है, ऐसे ही अन्य किसी का पढ़ाया हुआ भी नहीं है, स्वाभाविक ही इसकी ऐसी बुद्धि है। मुझ पर क्रोध न कीजिये!" तब हिरण्यकशिपुने प्रह्लाद की तरफ देख कर कहा, "हे दुष्ट! यह तूने किससे पढ़ा है?" प्रह्लाद बोला "हे पिता जी! भगवत् की कृपा से विष्णु भगवान् में प्रीति होती है, अथवा सत्संग से होती है, अपने आप या दूसरे किसी से नहीं होती!" ऐसा सुनते ही दैत्य राजा ने पुत्र को गोद में से फेंक दिया, और क्रोधित हो कर नौकरों से कहा "इस दुष्ट को जल्दी से मार डालो, विलम्ब मत करो!" सेवक विचारने लगे "यह राज कुंवर है, हम से कैसे मारा जाय?" एक दैत्य बोला "महाराज! यह आप का पुत्र है, हम उसे कैसे मारें?" हिरण्यकशिपु बोला "पुत्र भले हो, अपनी अंगुली में जब सर्प काट खाता है तो अंगुली को काट देना ही अच्छा होता है, नहीं तो विष सारे शरीर में फैल जाता है, मैं आज्ञा करता हूं, कुछ भी विचार किये बिना किसी भी उपाय से तुम इस दुष्ट को मार डालो!" ऐसा सुन कर दुष्ट राक्षस त्रिशूल आदि हथियार लेकर 'छेदो, भेदो, मारो, ताड़ो,' इस प्रकार चिल्लाते हुये प्रह्लाद की तरफ दौड़े। प्रह्लाद किंचित् भी चलायमान न हुआ, परमात्मा में निश्चल मन लगाये हुये निर्विकार और निर्भय बैठा रहा! दैत्यों ने बहुत से प्रहार किये परंतु प्रह्लाद को उन से कुछ भी दुःख न हुआ! जब प्रहार निष्फल गये तब विषधर सर्पों से कटवाया गया, उन से भी कुछ कार्य सिद्ध न हुआ! तब मारण आदि प्रयोग किये गये, उन से भी कुछ न हुआ! पश्चात् हिरण्यकशिपुने अनेक कष्ट दिये परंतु प्रह्लाद परम तत्व के अनुसंधान से किंचित् भी न डिगा! ध्यान इसी प्रकार का होता है। यथार्थ ध्यान यह ही है। अंत में विष्णु भगवान् ने नरसिंह रूप से प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का वध किया।

यदि चित्त को ले जाना हो तो कहां ले जाय ? इसके उत्तर में कहा है कि सज्जन पुरुषों के निकट चित्त को ले जाना चाहिये। चित्त अत्यंत चंचल है, चित्त की चंचलता के कारण चित्त को किसी की उपमा नहीं दे सके। चंचलता से ही चित्त अनादि काल से बंधन को प्राप्त होता आया है। तोता जैसे अपनी जिह्वा-मधुर उच्चारण के कारण बंधन को प्राप्त होता है ऐसे ही चित्त अपनी चंचलता से बंधन को प्राप्त होता है। एक क्षण में हजारों प्रकार के भिन्न २ विचार कर डालता है। स्वर्ग, मृत्यु अथवा पाताल लोक को इस शरीर में रह कर देखा नहीं है तो भी सुनी हुई बात से क्षण से भी न्यून काल में सब स्थानों पर घूम आता है। मन को युरुप, अफ्रीका अमरीका आदि में जाने आनेमें देरी नहीं लगती और स्वप्न में तो थोड़ी देर में ही अनेक जन्मों के सुख दुःख का भोग भोग कर जाग्रतावस्था में आ जाता है। जिस प्रकार मन में चंचलता है इसी प्रकार अस्थिरता भी है। किसी विषय में स्थिर न रह कर भटकता ही रहता है। दीपक की ज्योति जैसे बिना हिले नहीं रहती ऐसे ही मन चंचलता बिना नहीं रहता, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयों में ही चित्त भटका करता है क्यों कि वे उसे प्रिय लगते हैं परंतु स्थिर होकर वहां भी नहीं टिकता! वास्तविक विचार से देखा जाय तो पदार्थों में सुख है नहीं! जैसे कुत्ता हड्डी चबा कर अपने ही मुख का रक्त चाट कर हड्डी में सुख मानता है ऐसे ही मन अंतःकरण के धर्म पदार्थों में मानकर सुखी होता है! आहा! माया की कैसी महिमा है! जो पदार्थ-विषय महा दुःख देने वाले हैं और उपाधि रूप हैं, उन में सुख मान कर चित्त लगाया जाता है! परंतु जिस कर के चित्त में चैतन्यता है, जिस करके सुखादिक धर्मोंकी प्रतीति होती है, उस में चित्त को नहीं लगाते! इसी कारण अंतर्यामी जन्म मरण के बंदी खाने में पड़कर आधि व्याधि और उपाधि का दंड भुगतता है इसी लिये प्राप्त हुई बुद्धि का सदुपयोग करके दुःख से छूटने के निमित्त सज्जनों के पास चित्त को ले जाना चाहिये क्यों कि सज्जनों का समागम सब बंधनों को काटकर व्यवहार और परमार्थ [illegible]

जिस प्रकार सब मनोरथों को पूर्ण करता है इसी प्र[illegible] सज्जनों का समागम भी सब मनोरथों को पूर्ण [illegible] वाला है। सज्जनों में चित्त का लगाना दो प्रका[र] होता है, एक तो निकट में रह कर और दूसरे [illegible] रह कर। जैसा संग होता है, वैसा रंग चढ़[ता] यह नियम है। सज्जनों के संग से सज्जनता [illegible] है, सत्पुरुषों का उपदेश श्रवण करने से [illegible] उन की सेवा शुश्रूषा करने से भी चित्त का [illegible] संत और संत के विषय से होता है। [illegible] सज्जन पास न हो, तब भी उन का ध्यान कर[ने] की बातों का वारंवार विचार करने और उपदे[श] धारण करने से भी सज्जनों के साथ चित्त [illegible] संग होता है। ऐसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों [illegible] से सज्जनों से चित्त का मिलान होता है परन्तु [illegible] सज्जन लोक में कोई एकाद ही होता है, जि[स] शुभाचरण, निष्ठा, और विचार उपदेश रूप हो। [illegible]

जगत् में दो प्रकार की दीनता है, एक [illegible] मार्थिक और दूसरी व्यवहारिक, जैसे [illegible] महात्मा सिवाय पारमार्थिक में सब दीन हैं ऐसे [illegible] व्यवहारिक दीनता में उस महात्मा को छो[ड़] [illegible] सब दीन हैं। श्रीमान् हो, कीर्तिमान् हो, [illegible] और मानसिक बल वाला हो, सब कुछ हो [illegible] यदि अज्ञानी है तो वह व्यवहारिक और पार[मार्थिक] दोनों ही में दीन है, ऊपर के पाद में दोनों प्र[कार] दीनता को समझना चाहिये, जिस प्रकार की [illegible] दीनता हो, उस प्रकार की उसकी दीनता जिससे [illegible] हो, उस के लिये वह चित्त है। इस प्रकार सब [illegible] और प्राणी दीन हैं, उन में बहुत से तो ऐसे [illegible] जो दीन होने पर भी अपने को दीन नहीं [illegible] दीनता गरीबी को कहते हैं, दीन हो और [illegible] दीन समझे, यह शुभ लक्षण है। इस से [illegible] निवृत्त करने के उपाय में प्रवर्त होता है। आत्म[illegible] दीनता अवश्य उपयोगी है, गरीबी में ईश्वर [illegible] होना विशेष संभव है तो भी जगत् में देख[ने] [illegible] ऐसा नहीं दीखता, दुखी चित्त दुःख के [illegible] विस्मरण ही नहीं करता, दुःख से [illegible] को ईश्वर [illegible] ही नहीं, जिस [illegible]

दुःख सूझ जाय और वह सच्चे प्रयत्न में लगे तो उस का अवश्य हित होता है, स्थूल और सूक्ष्म जितना जो कुछ जगत् में देने को है, जिस के विना जो दीन हो, उस को वह देना वित्त कहा जाता है, ऐसे दीन लोगों को अपने सामर्थ्य और अधिकार के अनुसार जो देना है, वह दीनों को दान देना कहलाता है, धन एक प्रकार का नहीं, पशु, लक्ष्मी, धान्य, विद्या, पृथ्वी, पुत्री, मित्रता आदि सब ही धन गिने जाते हैं, सारांश यह है कि अपने पास जिस प्रकार का धन हो, उस को उस के अधिकारी को देना चाहिये, भूखे को अन्न, प्यासे को पानी, तप्त को शीतलता, शीत वाले को वस्त्र, और शरीर से अथवा मन से जिस को जो आश्रय चाहिये वह देना दान है। इन में भी द्रव्य की विशेषता है क्योंकि द्रव्य कर के सब वस्तुयें प्राप्त हो सक्ती हैं, शरीरधारी मनुष्य के कर्तव्य को न समझने वाले पामर मनुष्य यदि किसी को दीन देखे तो समृद्धिवान् होने पर भी उसे कुछ नहीं देते, उलटे दुःख देने में ही तत्पर होते हैं। निंदा करना, हास्य करना, चोरी करना, मारना और सब बातों में दोष दृष्टि करना इत्यादि ही करते हैं, इस प्रकार धन के बदले कष्ट ही देते हैं, धन के मद में छके हुये यहां चाहे जितने उन्मत्त हों परन्तु वह उन्मत्तता ईश्वर के पास तो उनको सजा का पात्र ही बनायेगी, यदि दीन अपात्र मालूम हों तो भी उसे कष्ट देना उचित नहीं है, दान देना उचित न समझे तो उदासीन रहे।

जैसा बोता है वैसा ही काटता है, यह जगत् प्रसिद्ध न्याय है। दीन रूप क्षेत्र में उत्तम भाव युक्त उत्तम बीज बोने से उत्तम ही फल होता है। किसी प्रकार की समृद्धि से युक्त होकर उस की दीनता वाले को यदि पात्र हो तो उसे अवश्य देना चाहिये क्योंकि यह समृद्धि रहने वाली नहीं है, जितनी उस में से दोई जायगी उतनी ही बच रहेगी नहीं तो नाश तो अवश्य ही होगी, ऐसी परोपकार दृष्टि से उदार होना चाहिये। न देने से जितना घटता है, उतना देने से नहीं घटता। सब से विशेष दान ब्रह्म विद्या का है, यदि अधिकारी पुरुष को ब्रह्म विद्या का दान दिया जाय तो अखण्ड काल तक के लिये उसकी दीनता निवृत्त हो जाती है। अन्य दान से थोड़े समय के लिये ही कष्ट की निवृत्ति होती है और ब्रह्म विद्या के दान से हमेशा के लिये कष्ट निवृत्त हो जाता है और परमानन्द प्राप्त होता है, जिसके पास आत्म तत्व रूप समृद्धि हो उसे तो अवश्य लुटाना चाहिये। ऐसा करने से दान देने वाले का निश्चय पक्का होता है और लेने वाला परम कल्याण का भागी होता है, ऊपर के पद्य का समग्र अर्थ यह है कि रस की लोलुप और दुष्ट शब्द बोलने वाली जिह्वा से ईश्वर का गुण गाना, सब के अन्तर्यामी परमात्मा का अपने अधिकार के अनुसार निरन्तर ध्यान करना, सत्शास्त्र और सत्पुरुषों का संग करना और दीन जनों को दान देना, इन चारों बातों के करने से व्यवहार और परमार्थ दोनों सुधरते हैं इस लिये उन का अवश्य आचरण करना चाहिये।

वाक्य सुधा।

(गताङ्क से आगे)

सृष्टि नाम ब्रह्म रूपे सच्चिदानन्द वस्तुनि।
अब्धौ फेनादि वत्सर्व नाम रूप प्रसारणम्॥१४॥

समुद्र के फेन आदि के समान ब्रह्म रूप सच्चिदानन्द वस्तु में समस्त नाम रूप की उत्पत्ति को सृष्टि कहते हैं, ब्रह्म रूप वस्तु में तत्व से कोई विकार न होते हुये नाम रूप की प्रतीति मात्र का नाम सृष्टि है, यह विक्षेप शक्ति है।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्चब्रह्म सर्गयोः।
आवृणोत्यपराशक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥१५॥

दूसरी आवरण शक्ति भीतर द्रष्टा और दृश्य के भेद को और बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को करती है, वह (आवरण शक्ति) संसार का कारण,

है, प्रथम अंधेरा रूप परदा करना आवरण शक्ति का है और नाम रूप की प्रतीति रूप विक्षेप शक्ति है।

साक्षिणः पुरतो भाति लिङ्गदेहेन संयुतः।
चितिच्छाया समावेशाज्जीवःस्याद्व्यवहारिकः १६

साक्षी के समान स्फुरण होता हुआ, स्थूल देह से मिला हुआ सूक्ष्म शरीर चिति की छाया के प्रवेश से व्यवहारिक जीव कहलाता है यानी साक्षी, आभास और अन्तःकरण तीनों एक भाव को प्राप्त हो कर व्यवहारिक जीव कहलाता है।

अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टाया भेद जातं प्रयाति तत् ॥१७॥

इसका जीव भाव आरोप से साक्षी में भी भासता है। आवरण के नष्ट हो जाने पर भेद से भान होने वाला यह जीव भाव जाता रहता है, जीव भाव का बाध होता है और साक्षी आत्म रूप से प्रकाशित होता है।

तथा सर्गं ब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति।
या शक्तिस्तद्वशाद् ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥१८॥

इसी प्रकार जो शक्ति, सृष्टि और ब्रह्म के भेद को कर के स्थित है, उसके प्रभाव से ब्रह्म विकारी हो, ऐसा भासता है। कुछ का कुछ दीखना यह ही आवरण शक्ति का कार्य है।

अत्राप्यावृति नाशेन विभाति ब्रह्म सर्गयोः।
भेदस्तयो विंकारःस्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥१९॥

यहां पर भी आवरण शक्ति के नाश होने पर ब्रह्म और सृष्टि दोनों का ज्ञान होता है। विकार सृष्टि में है, ब्रह्म में कुछ विकार नहीं है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
आद्य त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥२०॥

अस्ति (होनापना), भाति (प्रकाश), प्रि[य] (आनन्द), रूप और नाम ये पांच अंश हैं, [इन] में से पहिले तीन ब्रह्म के रूप हैं और पिछले [दो] जगत् के हैं।

खवाय्वग्नि जलोर्वीषु देव तिर्यङ्नरादिषु।
अभिन्नात्सच्चिदानंदा द्भिद्येते रूप नामनी ॥२[१]॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी [में], देवता, तिर्यक् (पशु पक्षी) और मनुष्य आदि [सब] में सत्, चित् आनन्द यानी अस्ति, भाति और प्रि[य] अभिन्न-एकसा है और नाम रूप भिन्न हैं। [इन] तत्व का किसी प्रकार से किसी में भेद नहीं [है] और असत् ऐसे नाम रूप किसी प्रकार समान [नहीं] होते इस लिये

उपेक्ष्य नाम रूपे द्वे सच्चिदानंद वस्तुनि।
समाधिं सर्वदा कुर्यात् हृदये वाथवा बहिः ॥[२२]॥

नाम रूप दोनों की उपेक्षा करके—दोनों [को] त्याग कर के सच्चिदानन्द वस्तु में हृद[य] अथवा बाहर हमेशा समाधि करे। प्रत्यक्ष [नाम] रूप अंश को त्याग कर शेष रहे हुये सच्चिदा[नन्द] अंश में स्थिर होवे।

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधि र्द्वि विधो हृदि।
दृश्य शब्दानुवेधेन सविकल्पः पुन र्द्विधा ॥[२३]॥

हृदय में सविकल्प और निर्विकल्प दो [प्रकार] की समाधि होती है। उन में से सविकल्प स[माधि] दो प्रकार की है, एक दृश्य से सम्बन्ध वाली [और] दूसरी शब्द से सम्बन्ध वाली।

कामाद्याश्चित्त सादृश्या तत्साक्षित्वेन चेतनः।
ध्यायेद् दृश्यानु विद्धोयं समाधि सविकल्पकः ॥[२४]॥

दृश्य जो कामादिक धर्म हैं, वे चित्त [के] हैं, और चेतन उनका साक्षी है, ऐसे साक्षी [रूप] चेतन का ध्यान करे, दृश्य का साक्षी, ऐसे [ध्यान] से यह समाधि दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि [है]।

असंगः सच्चिदानन्दःस्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीति शब्द विद्धोयं समाधि सविकल्पकः॥२५॥

मैं असंग, सच्चिदानन्द, स्वयं प्रकाश अद्वितीय हूं, 'मैं हूं,' ऐसे शब्द से सम्बन्ध वाली होने से यह शब्दानुविध सविकल्प समाधि है।

स्वानुभूति रसावेशाद् दृश्य शब्दानुपेक्ष्यतु ।
निर्विकल्पःसमाधिःस्यान्निवात स्थल दीपवत् ।२६।

दृश्य और शब्द की उपेक्षा करने वाले योगी को अपने अनुभव के आवेश से वायु रहित स्थान में धरे हुये दीपक के समान निर्विकल्प समाधि होती है । दृश्य और शब्द को छोड़ कर तत्व को ग्रहण करने वाली निर्विकल्प समाधि है।

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कास्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधि राद्यःसन्मात्रा न्नाम रूप पृथक् कृतिः॥२७।

हृदय के समान बाहर के देश में भी किसी वस्तु में सत् मात्र से नाम रूप को अलग करना दृश्यानुविध सविकल्प समाधि है।

अखंडैक रसं वस्तु सच्चिदानन्द लक्षणम् ।
इत्यविच्छिन्न चिन्तेयं समाधि र्मध्यमो भवेत् ॥२८॥

सच्चिदानन्द रूप वस्तु अखण्ड एक रस है, ऐसा लगातार चिन्तवन करना शब्दानुविध सविकल्प समाधि है।

स्तब्धी भावो रसास्वादात् तृतीयः पूर्ववन्मतः ।
एते समाधिभिः षड्भि र्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥२९॥

रसास्वद से स्तब्ध भाव (निश्चल) हो जाना पूर्व के समान निर्विकल्प समाधि है इन छः समाधियों से काल को निरन्तर व्यतीत करे। आंतर बाह्य भेद से दो दृश्यानुविध, दो शब्दानुविध ऐसे चार सविकल्प समाधि और दो निर्विकल्प समाधि, इस प्रकार छः समाधियां हैं । अपूर्ण ।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—तु यह शब्द आशंका की निवृत्ति के लिये है विशेषानुगतिभ्याम् विशेष और अनुगति से अभिमानिव्यपदेशः अभिमानि का कथन [है]।

टीकाः— तु शब्द शंका की निवृत्ति करता है। 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) इस प्रकार की श्रुति से यह शंका नहीं करनी चाहिये कि भूत और इन्द्रियां चेतन हैं क्योंकि यह अभिमानी देवता का कथन है । यहां पर केवल भूत और इन्द्रियों का कथन नहीं है किन्तु मृत्तिका आदि के अभिमानी तथा वाणी आदि के अभिमानी चेतन-स्वभाव वाले देवों का वाद विवाद रूप चेतन योग्य व्यवहार में कहा है क्योंकि विशेष भाव और गति से ऐसा ही सिद्ध होता है कि भोक्ता तथा भूत और इन्द्रियों के चेतन तथा जड के विभाग वाला विशेष भाव पूर्व में दर्शाया है। यदि सब चेतन रूप हों तो इस प्रकार का विभाग बन न सके, कौषीतकि उपनिषद में प्राण के संवाद में इन्द्रियों की आशंका का निराकरण किया है और अधिष्ठाता रूप चेतन का ग्रहण किया है इस लिये इन्द्रियों को देवता रूप से निरूपण किया है। जैसे कि 'एता ह वै देवता अहं-श्रेयसे विवदमानाः' (अपनी श्रेष्ठता के लिये इन देवताओं ने विवाद किया) और 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' [२।१४] (इन सब देवताओं ने प्राण में श्रेष्ठता जानकर) इस प्रकार मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, तथा पुराण आदि द्वारा जानने में आता है कि सब स्थानों पर अपने २ अभिमानी देव चेतन स्वरूप से रहते हैं। जैसे कि 'अग्नि-र्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' [ऐ० आ० २।४।२।४] (अग्निने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया) इत्यादि श्रुतियां सूचन करती हैं कि इन्द्रियों में अनुग्रह करने वाले देव रहे हुये हैं। जहां श्रुति में प्राण संबंधी वाद

विवाद है, वहां अंत के भाग में कहा है कि 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' [छान्दो० ५।१।७] (उन प्राणों ने प्रजापति पिता के पास जाकर कहा) इस प्रकार प्राणों का प्रजापति के पास जाना श्रेष्ठता के निश्चय करने को कहा है। प्रजापति के कहे अनुसार एक २ इन्द्रिय अपने २ स्थान से निकल कर पीछे अपने २ स्थान पर आगई। इस प्रकार मिली रहने और अलग हो जाने से ऐसा दर्शाया है कि प्राण की श्रेष्ठता है। जैसे कि कहा है:-'तस्मै बलि हरणम्' [बृह० ६।१।१३] (उसके लिये बलि ले जाया गया) इस प्रकार अस्मदादि सब नामों का जो जो व्यवहार है, उस से उन में रहे हुये अभिमानी देवों के उपदेश का दृढ़ करना है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेज ने देखा) इस में अधिष्ठाता रूप देव का जो अपने विकार को प्राप्त होना है, यह ही उस का देखने रूप से उपदेश है, ऐसा सिद्ध होता है। यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण है और विलक्षण होने से ब्रह्म प्रकृति रूप नहीं है।

इस आशय का निराकरण भगवान् सूत्रकार आगे के सूत्र से करते हैं:-

दृश्यते तु ॥६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—तु यह शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति करता है दृश्यते [विलक्षणपने से ब्रह्म जगत का कारण नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्यों कि ऐसी विलक्षणता लोक में] देखने में आती है।

टीकाः—सिद्धान्तः—यह मूल में तु शब्द जो लगाया है, वह पूर्व पक्ष की निवृत्ति करता है। विलक्षणता होने से ब्रह्म इस जगत् का कारण नहीं है, ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य आदि प्रसिद्ध चेतनों में चेतन से विलक्षण केश तथा नख आदि की उत्पत्ति देखने में आती है। इसी प्रकार गोबर आदि अचेतनों से भी बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखने में आती है, यदि कहो कि पुरुष आदि के शरीर अचेतन हैं और अचेतन शरीर ही केश नख आदि का कारण है, इसी प्रकार बिच्छू आदि के शरी[र] भी अचेतन हैं और उन अचेतन शरीरों के अचेतन गोब[र] आदि कारण रूप हैं तो इस सम्बन्ध में मैं जो कहता हूं, उस को सुनः—कोई चेतन तो अचेतन के आश्रय भाव को प्राप्त होते हैं और कोई नहीं भी प्राप्त होते, इस प्रकार की विलक्षणता देखने में आती है और स्वाभाविक रीति से परिणाम भाव भी महान् भिन्न होता है क्योंकि पुरुष आदिकों का और केश, नख आदि का भी स्वरूप से भेद है। इसी प्रकार गोबर आदि तथा बिच्छू आदिक का स्वरूप से भेद है। अत्यंत सारूप्य में प्रकृति का विकार लय भाव को प्राप्त हो जाता है, जैसे कि पुरुषादि के केश तथा नख आदि में पृथिवी आदि[का] विकार रूप स्वभाव रहा हुआ है और बिच्छू में गोबर आदि का विकार रहा हुआ है। इसी प्रकार ब्रह्म का सत्ता लक्षण रूप स्वभाव भी आकाशादि में रहा हुआ देखने में आता है, कारण रूप से ब्र[ह्म] की प्रकृति जगत् से विलक्षण है, इस प्रकार दो[ष] देने वालों से पुछना चाहिये कि क्या संपूर्ण ब्र[ह्म] स्वभाव का विलक्षणपना नहीं रहता अथवा कि[सी] चैतन्य का विलक्षणपना नहीं रहता? प्रथम पक्ष में कहना चाहिये कि यदि ब्रह्म स्वभाव विलक्षण [ता] से सब वस्तुओं में न रहता हो तो सर्व प्रकृति [के] विकार का नाश हो जाय क्योंकि अत्यन्त अस्तित्व का जहां अभाव हो, वहां प्रकृति का विकार किस प्र[कार] रह सके? और दूसरा विकल्प तो सिद्ध ही [नहीं] होता क्योंकि सत्ता लक्षण वाला ब्रह्म स्वभा[व] आकाशादि में रहा हुआ है ऐसा देखने में आता है, और तीसरे पक्ष में तो दृष्टांत का अभाव ही है, [क्योंकि] चैतन्य से युक्त नहीं है, वह ब्रह्म की प्रकृति ही [नहीं] है। इस के सम्बन्ध में ब्रह्मवाद के मानने वालों [को] तुम्हारा कौनसा आक्षेप होगा? क्योंकि ब्रह्म [वादी] ऐसा मानता है कि सर्व वस्तु समूह ब्रह्म की प्र[कृति] रूप है। जगत् ब्रह्म की प्रकृति रूप नहीं है, इस सम्बन्ध में शास्त्रों ने तो अपना विरोध जताया है क्योंकि शास्त्र में कहा है कि चेतन ब्रह्म [जगत्] का कारण रूप तथा प्रकृति रूप है, इस प्रकार निश्चय शास्त्र में तो हो ही चुका है। ब्रह्म ...

विछन्न न होने से अर्थात् सब प्रमाणों का अविषय होने से उस में अन्य प्रमाण संभव हैं, ऐसा जो कहा है, वह मनोरथ मात्र है, ब्रह्म में रूपादि का अभाव है इस लिये ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और ब्रह्म में लिंगादि का अभाव है इस लिये ब्रह्म अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है, जैसे धर्म के सम्बन्ध में शास्त्र प्रमाण रूप समझा जाता है ऐसे ही ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्र प्रमाण रूप माना जाता है, श्रुति में कहा है: 'नैषातर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' [काठ० १।२।९] (हे प्रियतम! यह मति तर्क से प्राप्त नहीं हो सक्ती और हटभी नहीं सक्ती, जो नास्तिक न हो ऐसे गुरु से प्राप्त की जाती है) और कहा है:-' अद्धावेदको इह प्रवोचत् ' [ऋ० सं० १।३०] (कौन साक्षात् जानता है और (यह सृष्टि) यहां किस को समझाई है) 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' [ऋ० सं० १।६] (यह अनेक प्रकार की सृष्टि जिस से उत्पन्न हुई है) ये दोनों ऋचायें ऐसा दर्शाती हैं कि सिद्ध ईश्वरों को भी जगत् का कारण दुर्बोध है, स्मृति भी इसी प्रकार दर्शाती है जैसे कि ' अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केणयोजयेत्' (जो पदार्थ अचिंत्य हैं, इन में तर्क न लगावे) और ' अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' [गी० २।२५] (यह अव्यक्त है, यह अचिंत्य है और यह विकार रहित कहलाता है) और ' नमे विदुःसुर गणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥' [गी० १०।२] (देवता और महर्षि मेरे जन्म को नहीं जानते क्योंकि मैं सब देवों और महर्षियों का आदि हूं) और ऐसा जो कहा है कि श्रवण के बाद मनन का विधान करती हुई श्रुति ही तर्क का आदर करने को कहती है, उस का मतलब यह है कि यहां शुष्क तर्क के लिये मने किया है क्योंकि शुष्क तर्क से आत्म लाभ नहीं हो सका,श्रुति के अनुसार तर्क का अनुभव द्वारा आश्रय करने को कहा है, स्वप्नावस्था और जाग्रता वस्था दोनों एक दूसरी से भिन्न होने से आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं करातीं, सुषुप्ति अवस्था में सब प्रकार के प्रपंच का त्याग है इस लिये सुषुप्ति अवस्था सत् स्वरूप आत्मा के साथ मिलान करानेवाली होनेसे निष्कलंक सत् स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है, प्रपंच की उत्पत्ति ब्रह्म में से होती है, कारण से कार्य भिन्न नहीं होता इस लिये प्रपंच ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इस प्रकार की जो तर्क है, उस का खंडन 'तर्का प्रतिष्ठानात्' [ब्र० सू० २।१।११] इस सूत्र से आगे करने में आवेगा, श्रुति के प्रमाण से जो कोई ऐसा मानता है कि चेतन कारण रूप होने से जगत् चेतन रूप है उस के लिये विज्ञान और अविज्ञान ऐसे दो विभाग श्रुति में दिखलाये हैं। व्यक्त और अव्यक्त होने के कारण चेतन्य के दो विभाग चेतन और अचेतन हैं, ऐसा समझना चाहिये। श्रुति से परब्रह्म के विभाग कहना योग्य नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा है कि परम कारण की ही जगदात्म स्वरूप से स्थिति हुई है,जैसे कि 'विज्ञानं चा विज्ञानं च अभवत्' (विज्ञान तथा अविज्ञान हुआ) जिस प्रकार विलक्षणता के कारण चेतन का अचेतन भाव कहना योग्य नहीं है इसी प्रकार अचेतन में से चेतन हुआ, यह कहना भी योग्य नहीं है इस लिये ऐसा समझना चाहिये कि श्रुति में विलक्षणपने का निराकरण किया हुआ होने से चेतन ही कारण स्वरूप है ॥६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—असत् [उत्पत्ति का पहिला कार्य] असत [था, ऐसा प्राप्त होगा] इति ऐसा [कहो] तो प्रतिषेधमात्रत्वात् प्रतिषेध मात्रपने से न [यह दोष] नहीं [है]।

टीका:—सिद्धान्तीः—यदि तू ऐसा कहे कि चेतन, शुद्ध, शब्दादि से रहित ब्रह्म से विपरीत अचेतन, अशुद्ध शब्दादि युक्त, कार्य का कारण माना जाय तो ऐसा प्रसंग आता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य था ही नहीं और यह प्रसंग तुझ सत् कार्य वादी को अनिष्ट हो तो हम कहते हैं कि यह दोष नहीं है क्यों कि प्रतिषेध मात्र है यानी यह प्रतिषेध मात्र ही है, इस प्रतिषेध का प्रतिषेध्य-जिसका प्रतिषेध किया जाय वह-नहीं है यह प्रतिषेध उत्पत्ति से पूर्व कार्य का प्रतिषेध करने को समर्थ नहीं है क्यों कि जिस प्रकार वर्तमान में यह कार्य कारण स्वरूप से विद्यमान है इसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाता है, अब भी

कारण स्वरूप के सिवाय कार्य स्वतन्त्र नहीं है क्यों कि श्रुति इस प्रकार कहती है:—"सर्वं तं परादाद्यो ऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' [बृह २।४।६] (जो सब को आत्मा से भिन्न जानता है, उसका 'सर्व' पुरुषार्थ से भ्रष्ट करता है)। उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण स्वरूप से होना तो कुछ विशेष नहीं है, शब्दादि रहित ब्रह्म जगत् का कारण है यह ठीक है परन्तु शब्दादियुक्त कार्य कारण स्वरूप से रहित न तो उत्पत्ति से पूर्व था और न अब है इस लिये ऐसा नहीं कह सके कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अविद्यमान था। जब कार्य कारण का अनंतपना कहेंगे तब इसको विस्तार से कहेंगे ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अपीतौ प्रलय में तद्वत् इसी प्रकार प्रसङ्गात् [अशुद्धि आदि के) प्रसंग से असमञ्जसम् [औपनिषद दर्शन असमीचीन [है]

टीकाः—पूर्वपक्षीः—स्थूलता, अवयवों से युक्तपना, अचेतनपना, परिच्छिन्नपना अशुद्धि आदि धर्म वाले कार्य का कारण ब्रह्म माना जाय तो प्रलय में कारण के साथ अभिन्नता को प्राप्त होने वाला कार्य अपने धर्म से कारण को दूषित करे, इस प्रकार प्रलय में ब्रह्म जो कारण है, उसका भी कार्य के समान अशुद्धि आदि रूप का प्रसंग आने से यह उपनिषद् का दर्शन युक्त न होगा कि सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है और समस्त विभाग का अविभाग प्राप्त होगा फिर उत्पत्ति में नियम कारण का अभाव होने से भोक्ता, भोग्य आदि विभाग से उत्पत्ति नहीं होगी, यह अयुक्त है, और परब्रह्म के साथ अविभाग को प्राप्त हुये भोक्ताओं के कर्म आदि को प्रलय होने पर भी पुनः उत्पत्ति मानी जाय तो मुक्तों की भी पुनः उत्पत्ति का प्रसंग आने से ठीक न होगा। यदि यह जगत् प्रलय में भी परब्रह्म से भिन्न ही रहे तो ऐसा प्रलय भी नहीं हो सका और कारण के बिना कार्य हो नहीं सका ॥ ८ ॥

न तु दृष्टान्त भावात् ॥९॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—दृष्टान्त भावात् दृष्टान्त होने से न [पूर्वोक्त दूषण] नहीं तु ही।

टीकाः—सिद्धान्तीः—हमारे दर्शन में कुछ भी अयुक्त नहीं है। कारण में लीन हुआ कार्य अपने धर्मों से कारण को दूषित करे, ऐसा जो कहा है, वह दोष नहीं है। क्योंकि दृष्टान्त है। कारण में लीन हुआ कार्य अपने धर्मों से कारण को दूषित नहीं करता, इस का दृष्टांत है। जैसे शराव आदि विकार जिन का कारण मिट्टी है, वे विभाग की अवस्था में ऊंचे, नीचे और मध्यम प्रकार के हो कर फिर कारण में लीन होकर अपने धर्म से उस को मिश्रित नहीं करते। और रुचक (हार) आदि सोने के विकार सुवर्ण को प्रलय में अपने धर्म से मिश्रित नहीं करते, इसी प्रकार चारजात पृथिवी का विकार भूत समुदाय पृथिवी को प्रलय में अपने धर्म से मिश्रित नहीं करता। तो पक्ष का कोई भी दृष्टांत नहीं है। वस्तुतः तो यदि कार्य अपने धर्म से ही कारण में स्थित रहे तो प्रलय ही न हो सके, यद्यपि कारण और कार्य अनन्य हैं तो भी कार्य कारण स्वरूप है किन्तु कारण कार्य स्वरूप नहीं है, इस को 'आरम्भण शब्दादिभ्यः' [ब्र० सू० २।१।१४] इस सूत्र में कहेंगे, और प्रलय में कार्य अपने धर्म से कारण को दूषित करे, यह जो कहा है, वह थोड़ा ही कहा है, स्थिति में भी यह प्रसंग समान ही है क्योंकि कारण और कार्य अनन्य हैं, ऐसा माना जाता है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृह० २।४।६] (श्रवणादि योग्य यह सब आत्मा है) 'आत्मैवेदं सर्वम्' [छान्दो० ७।२५।२] (यह सब आत्मा ही है), ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' [मु० २।२।११] (पूर्व में अमृत ब्रह्म ही है), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छान्दो० ३।१४।१] (यह सब निश्चय ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुति तीनों काल में भेद रहित—समान रीति से कार्य कारण से अनन्यपना प्रतिपादन करती है। उन में कार्य और कार्य का धर्म अविद्या से आरोपित होने से कार्य के साथ कारण मिश्रित नहीं होते अपूर्ण। यह परिहार प्रलय में भी समान है।

परमहंस परिव्राजक उपनिषद्

पितामह (ब्रह्मा) ने अपने पिता आदि नारायण के पास जाकर प्रणाम करके पूछा "हे भगवन्! वर्ण आश्रम के धर्म कर्म सब आपके मुख से सुन कर मैं ने जान लिये हैं। अब मैं परमहंस परिव्राजक के लक्षण जानना चाहता हूं, परिव्रजन का अधिकारी कौन है? परिव्राजक लक्षण कैसे हैं? परमहंस कौन है? परिव्राजकपना कैसा है? यह सब मुझ से कहिये!" उन भगवान् आदि नारायण ने कहा 'सद्गुरु के समीप सब विद्याओं को परिश्रम से जानकर, विद्वान् इस लोक और परलोक के सुख को भ्रम रूप जानकर, तीनों एषणा, तीनों वासना, ममता, अहंकारादिक को वमन किये हुये अन्न के समान त्यागने योग्य समझ कर मोक्ष मार्ग के मुख्य साधन रूप ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थ होवे, घर से वानप्रस्थ होकर जावे। अथवा दूसरी रीति से ब्रह्मचर्य से ही जावे अथवा घर से जावे अथवा वन से जावे। व्रत वाला या व्रत रहित, स्नातक या अस्नातक, अग्नि वाला या अग्नि रहित जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन जावे, इस प्रकार जानकर, सब संसार से विरक्त हो कर, ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ पिता माता, स्त्री पुत्र और प्राप्त बांधवों से और उनके अभाव में शिष्य और साथियों से सलाह लेकर उस दिन प्रजापति संबंधी यज्ञ करे अथवा न करे। अग्नि होत्र ही करे। 'अग्नि ही प्राण है' अग्नि प्राण को करता है इस मंत्र से तीन धातु संबंधी यज्ञ करे। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, ये ही तीन धातु हैं। 'हे अग्नि! यह प्राण तेरा कारण रूप है, प्राण से उत्पन्न हुये तुम प्रकाश को प्राप्त हो, प्राण के जानने वाले हे अग्नि देव! तुम वृद्धि को प्राप्त हो और हमारी सम्पत्ति विशेष करो, इस मंत्र से अग्नि को सूंघे! 'जो प्राण अग्नि का कारण रूप है, उस प्राण में अग्नि देव तुम प्रवेश करो' ऐसे कह कर आहुति दे। ग्राम से श्रोत्रिय के स्थान से अग्नि लाकर अपनी कही हुई विधि के अनुसार पूर्व के समान अग्नि को सूंघे। जो आतुर हो और अग्नि न मिले तो जल में हवन करे। 'जल ही सब देवता हैं, सब देवताओं के लिये हवन करता हूं, स्वाहा' इस प्रकार हवन कर के उठ कर घृत सहित पवित्र हवि का भोजन करे। यह विधि श्रेष्ठमार्ग में या अनाशक में या संप्रवेश में या अग्नि प्रवेश में या महा प्रस्थान में है। जो आतुर (रोगी) हो मन से या वाणी से इस मार्ग को त्याग दे। स्वस्थ क्रम से ही आत्म श्राद्ध और विरजा होम करे। अग्नि को आत्मा में आरोप कर के लौकिक, वैदिक सामर्थ्य को और अपनी चौदह करण प्रवृत्ति को पुत्र में आरोप करके, पुत्र के अभाव में शिष्य में और शिष्य के अभाव में अपने आत्मा में आरोप करके 'तू ब्रह्मा है, तू यज्ञ है' यह मंत्र बोल कर ब्रह्म भावना से ध्यान करके सावित्री के प्रवेश पूर्वक जल में सब विद्याओं के अर्थ स्वरूप वाली, ब्रह्म रूपी आधार वाली, वेद माता को, क्रम से तीनों व्याहृतियों में लय करके, तीनों व्याहृतियों को अकार, उकार और मकार में लय करके सावधान होकर जल का पान करे। प्रणव से शिखा को उखाड़ कर, यज्ञोपवीत को काटकर, वस्त्र को भूमि या जल में छोड़ कर 'ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ स्वः स्वाहा' इस मंत्र से शुद्ध रूप होकर स्वरूप का ध्यान करता हुआ, फिर पृथक् प्रणव, और व्याहृति पूर्वक मन से और वाणी से 'मैंने संन्यास किया, मैंने संन्यास किया, मैंने संन्यास किया' इस प्रकार मंद, मध्यम और उच्च ध्वनि से तीन बार तीन गुण प्रेष मंत्र का उच्चारण करके, एक प्रणव के ही ध्यान परायण हो कर, सब भूतों से अभय मानकर 'स्वाहा' इस प्रकार कहकर ऊंची भुजाओं वाला होकर 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार 'तत्वमसि' आदि वाक्य के अर्थ से स्वरूप का अनुसंधान करता हुआ उत्तर दिशा को चला जावे। शुद्ध होकर विचरे। यह सन्यास है। यदि उस का अधिकारी न हो तो गृहस्थ की प्रार्थना पूर्वक सब भूतों से अभय मान कर सत्र में प्रवर्त होता है। 'हे सखा! मेरे बल की रक्षा कर, तू सखा है, तू वृत्रासुर को मारने वाला इन्द्र का वज्र है, मुझ को शांति देने वाला हो, जो पाप हो, उसको निवारण कर!' प्रणव सहित इस मंत्र से लक्षण सहित बांस के दंड को, कटिसूत्र को, कौपीन को, कमंडलु को, नीचे के एक वस्त्र को ग्रहण करके सद्गुरु के पास जाकर नमस्कार करके गुरु मुख से 'तत्वमसि महा

अक्षय को प्रणव सहित प्राप्त कर के पुराने छाल के वस्त्र अथवा मृग चर्म को धारण कर के जल के किनारे ऊंचे स्थान पर एक भिक्षा के समय को त्याग कर तीनों काल के स्नान का आचरण करता हुआ, वेदान्त के श्रवण पूर्वक प्रणव का अनुष्ठान करता हुआ, ब्रह्म मार्ग में भली प्रकार संपन्न हो कर अपने भाव को आत्मा में छुपा कर, ममता रहित आत्म निष्ठा वाला, काम, क्रोध, लोभ मोह, मद, मात्सर्य, दंभ, दर्प, अहंकार, असूया, गर्व, इच्छा, द्वेष, हर्ष, आमर्ष, ममता, आदि को त्याग कर, ज्ञान वैराग्य से युक्त हो कर, धन और स्त्री से विमुख होकर, शुद्ध मन वाला होकर सब उपनिषदों के अर्थ को विचार कर ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य की यत्न पूर्वक रक्षा करता हुआ, इन्द्रियों को जीत कर, बाहर और भीतर स्नेह रहित होकर शरीर धारण करने के निमित्त निन्दित और पतित को छोड़ कर तीनों वर्णों में पशुओं के द्रोह से रहित भिक्षा करता हुआ ब्रह्म होने के योग्य होता है, सब समय में लाभ और हानि को समान कर के हाथ रूपी पात्र में माधुकर अन्न का भोजन करता हुआ, चरबी को न बढ़ाता हुआ, कृश होकर 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार भावना करता हुआ गुरु के अर्थ ग्राम में जाकर दृढ़ शील होकर आठ मास अकेला विचरता हुआ दो के समान आचारण करे, जब अलं बुद्धि होवे तब कुटी-चक या बहूदक या हंस या परम हंस उस २ के मंत्र सहित कटि सूत्र कौपीन दंड कमंडलु सब को जल में छोड़कर शुद्ध होकर विचरे, ग्राम में एक रात, तीर्थ में तीन रात, शहर में पांच रात, क्षेत्र में सात रात, घर रहित, स्थिर बुद्धि, अग्नि की सेवा रहित, निर्विकार, नियम अनियम को छोड़ कर, प्राण धारण करने के ही निमित्त वाला होकर, लाभ हानि को समान कर के गोवृत्ति से भिक्षा करता हुआ, जल के स्थान को कमंडलु जानकर अबाधक एकांत स्थान में वास करने वाला, लाभ हानि में फिर प्रीति न करता हुआ, शुभ अशुभ कर्मों को काटने के परायण हो कर सर्वत्र भूतल में शयन करने वाला होकर, क्षौर कर्म को त्याग कर, चार मास के नियम व्रत वाला, शुक्ल ध्यान के परायण, धन स्त्री और शहर से विमुख, अनुन्मत्त भी उन्मत्त के समान आचार करता हुआ, अप्रकट लिंग वाला, अप्रकट आचार वाला, दिन रात में स्वप्न समान अज्ञान रहित स्वरूप का अनुसंधान, ब्रह्म प्रणव के ध्यान मार्ग से युक्त संन्यास से देह का त्याग करता है, वह परम हंस परिव्राजक होता है," ब्रह्मा पूछता है "हे भगवन् ब्रह्म प्रणव किस प्रकार का है?" उन नारायण ने कहा "ब्रह्म प्रणव सोलह मात्रा वाला है, वह चार अवस्था वाला और चार विषय वाला है, जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चार अवस्था, स्वप्न में स्वप्न आदि चार अवस्था, सुषुप्ति में सुषुप्ति आदि चार अवस्था और तुरीय में तुरीय आदि चार अवस्थायें होती हैं, जाग्रत् अवस्था में विश्व चार प्रकार का है, विश्व विश्व, विश्व तैजस, विश्व प्राज्ञ और विश्व तुरीय। स्वप्न अवस्था में तैजस चार प्रकार का है, तैजस विश्व, तैजस तैजस, तैजस प्राज्ञ और तैजस तुरीय। सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ चार प्रकार है, प्राज्ञ विश्व, प्राज्ञ तैजस, प्राज्ञ प्राज्ञ और प्राज्ञ तुरीय, तुरीय अवस्था में तुरीय चार प्रकार का है, तुरीय विश्व, तुरीय तैजस, तुरीय प्राज्ञ और तुरीय तुरीय, वह क्रम से सोलह मात्रायुक्त है, अकार में जाग्रत् विश्व, उकार में जाग्रत् तैजस, मकार में जाग्रत् प्राज्ञ और अर्ध मात्रा में जाग्रत् तुरीय, बिन्दु में स्वप्न विश्व, नाद में स्वप्न तैजस, कला में स्वप्न प्राज्ञ, कलातीत में स्वप्न तुरीय, शांति में सुषुप्त विश्व, शान्ति अतीत में सुषुप्त तैजस, उन्मनी में सुषुप्त प्राज्ञ, मनोन्मनी में सुषुप्त तुरीय, वैखरी में तुरीय विश्व, मध्यमा में तुरीय तैजस, पश्यन्ती में तुरीय प्राज्ञ, परा में तुरीय तुरीय। जाग्रत् की चार मात्रायें अकार अंश वाली हैं, स्वप्न की चार मात्रायें उकार अंश वाली हैं, सुषुप्ति की चार मात्रायें मकार अंश वाली हैं, तुरीय की चार मात्रायें अर्ध मात्रा अंश वाली हैं, यह ही ब्रह्म प्रणव है, वह तुरीयातीत परमहंस अवधूत का उपास्य है, उस से ही प्रकाशता है, उस से विदेह मुक्ति है।" ब्रह्मा पूछता है "भगवन् यज्ञोपवीत रहित, शिखा रहित, कर्मों को त्याग कर कैसे ब्रह्म निष्ठा परायण कैसे ब्राह्मण होता है?"

अपूर्ण

Registered No. A 860



ॐ

वेदान्त केसरी ।



मासिक पत्र ।

पुस्तक ६ } आषाढ़ सं० १९८१ । जुलाई १९२४ { अंक ९

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा ।

एक प्रति का मूल्य ।-)

वार्षिक मूल्य ३)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० दयालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता ।

(४) एक अंक का मूल्य ।~) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अंक लेने होंगे ।

सूचना ।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।/), प्रत्येक वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।~)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीतावली" मूल्य ।=) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा ।

प्रकाशक ।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | आषाढ सं० १९८१ । जुलाई १९२४ | अङ्क १

पूरा संत ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

जग में बसत जग में न रत सत् से सदा भर पुर है।
है तनु सहित भी तनु रहित सब मांहि सब से दूर है॥
जिस ने अखिल ब्रह्मांड का अत्यंत कीन्हा अंत है।
निज तत्व में अनुरक्त नित ही सो हि पूरा संत है॥

(२)

शास्त्रार्थ सम्यक् जानता संशय रहित सर्वज्ञ है।
विदिताविदित पर एक रस निज तत्व में ही मग्न है॥
सागर सरिस गंभीर दृढ ममता रहित निश्चिंत है।
जग में अचल का लक्ष राखत सो हि पूरा संत है॥

(३)

ध्यानादि सब ही कर चुका करना न अब कुछ शेष है।
विद्या अविद्या से परे सविशेष भी अविशेष है॥
तम औ उजाले से रहित निज एक तत्व अनंत है।
अपरोक्षता ब्रह्मांड भर में सो हि पूरा संत है॥

(४)

मानों ऋचायें वेद की वाणी मधुर है बोलता।
श्रुति शास्त्र के अनुकूल संशय—भेद सारे तोड़ता॥
एक जान कर सब जान लीन्हा इस लिये ही शांत है।
नहिं जानना बाकी रहा अब सो हि पूरा संत है॥

(५)

करुणा दया का सिंधु है अपना पराया भेद गत।
उपकार-कर्ता हेतु बिनु निज हित समझता सर्व हित॥
लेना नहीं कुछ चाहता दानी समाहित चित्त है।
दौलत बखेरत रत्न चहुं दिशि सो हि पूरा संत है॥

(६)

निज वर्ण आश्रम कर्म करि पूरी हुई मन शुद्धता।
अभिमान तजि कर्तृत्व का स्वस्वभाव में ही वर्तता॥
ऐश्वर्य तन धन राखता भी सर्व से एकांत है।
आती कभी भी नहिं विषमता सो हि पूरा संत है॥

(७)

सब पंथ-मजहब से अलग सब पंथ-मजहब एक से।
निरपेक्ष सम निर्द्वन्द्व अनुसंधान अंतिम तत्व से॥
परमात्म सब में एक सा निस्संग शुद्ध महंत है।
निर्भेद है परमात्म से जो सोहि पूरा संत है॥

(८)

निर्दोष चेष्टा होय सब तो भी नहीं कोई नियम।
चेष्टा सभी प्रारब्ध की उस की नहीं सम या विषम॥
वर्णादि के लिंगों सहित अथवा रहित निर्पंथ है।
संपूर्ण निष्ठा तत्व में ही सो हि पूरा संत है॥

(९)

नाहिं आतु से मोहे कभी जो मर्म उस का जानता।
कैसे अविद्या में फसे जो तत्व को पहिचानता॥
जिस को अविद्या दीखती सो मंद मति ही भ्रांत है।
नाहिं भासती जिसको अविद्या सो हि पूरा संत है॥

(१०)

तृण से लगा ब्रह्मा तलक चैतन्य जड़ जो विश्व है।
कौशल्य! है परमात्म ही नाहिं अन्य कोई तत्व है॥
ऐसा जिसे है बोध जिसका एक ही सिद्धांत है।
उपदेश उसका ही सफल हो सो हि पूरा संत है॥

जगत् में अज्ञानी कौन है ?

जीव का स्वभाव ऐसा है कि जैसे के साथ तैसा हो हो जाता है, अनेक योनियों में भटकता है परन्तु जिस समय जिस योनि में जाता है, उसी योनि का बन जाता है, वह ही योनि उसे प्रिय लगने लगती है, उस योनि को छोड़ना नहीं चाहता। जब जीव ऊंची योनि में होता है तब नीच योनियों की निन्दा करता है, उन्हें तुच्छ समझता है। जब वह आप किसी नीच योनि में जाता है तब वह योनि उसे बुरी नहीं लगती। सारांश यह है कि जो जिस योनि में है, उसी में मग्न है। यह अज्ञान से है तो भी उसे ऐसा बोध नहीं होता कि यह अज्ञान से है, अज्ञान उसे ऐसा बोध करने नहीं देता फिर भी आश्चर्य यह है कि अज्ञान का कार्य करते हुये, अज्ञानी होते हुये भी सब अपने को अज्ञानी नहीं मानते, ज्ञानी और बुद्धिमान् ही समझते हैं। जब सब ही अपने को ज्ञानी मानते हैं तब यह प्रश्न होता है कि जगत् में अज्ञानी कौन है ? किसी को विशेष योग सिद्धियां प्राप्त हों और पशु पक्षियों की भाषा का ज्ञान हो, सब पशु पक्षियों से बात चीत करना जानता हो तो उसे अवश्य ऐसा मालूम होगा कि जिन को हम तुच्छ और अबुद्ध कहते हैं ऐसे पशु, पक्षी, मनुष्य और देवता कोई भी अपने को बुद्धिहीन नहीं बताते, अपनी २ समझ से सब ही बुद्धिमान् हैं यानी ज्ञानी समझते हैं। कहा भी जाता है कि जब ब्रह्मा ने सब प्राणियों में बुद्धि को बांटा तब तीन भाग मुझ को दिये और एक भाग सब संसार को बांट दिया। इस लिये प्रत्येक अपने को बुद्धिशाली मानता है। जब सब ही ऐसा मानते हैं तब जगत् में अज्ञानी कौन है ? जो अज्ञान में पड़े हुये हैं वे अज्ञान की बुद्धि से मापते हैं, अज्ञान की बुद्धि के सामने अज्ञान कहां से दीखे ? सब अपने माप से मापते हैं, अपना माप सच्चा और अन्य का माप झूंठा मानते हैं, इस लिये अपने को अज्ञानी होना कोई स्वीकार नहीं करता। अब रहा ज्ञानी, वह तो ज्ञानी है ही, वह अपने को अज्ञानी कैसे कहे ? अज्ञानी अपने को अज्ञानी नहीं कहता और ज्ञानी भी अपने को अज्ञानी नहीं कहता। ज्ञानी और अज्ञानी के सिवा तीसरा कोई है नहीं, तब जगत् में अज्ञानी कौन है ? जब कोई अज्ञानी निकलता ही नहीं तब शास्त्र किस को उपदेश करता है ? ज्ञानी के लिये तो उपदेश है नहीं क्योंकि ज्ञानी को उपदेश का फल प्रथम ही प्राप्त है, अज्ञानी अपने को अज्ञानी मानता नहीं, न मानने से जो उपदेश अज्ञान में दिया जाता है, अज्ञानी उसका अधिकारी नहीं है इस लिये अज्ञानी को ज्ञान का उपदेश लग नहीं सका और ज्ञानी को उपदेश की आवश्यकता नहीं है तब ज्ञान का उपदेश किस के लिये है ?

ज्ञान बहुत व्यापक अर्थ वाला है, एक तुच्छ ज्ञान से परब्रह्म तक का ज्ञान ज्ञान कहलाता है, जिसको कुछ न कुछ ज्ञान न हो, ऐसा सजीव प्राणी कोई नहीं है, एक दूसरे की अपेक्षा से बुद्धि ज्ञान न्यूनाधिक भले हो। ज्ञान-बोध बुद्धि से होता है इस लिये ऐसा नहीं कह सके कि जिस में बुद्धि है, उसमें ज्ञान नहीं है। जिसमें लौकिक चेतनता-बुद्धि है उसमें ज्ञान अवश्य है, ऐसे ज्ञान से सब प्राणी ज्ञान वाले ही हैं, अज्ञानी कौन है ? वृक्ष पाषाण आदि को ही अज्ञानी कहना चाहिये स्थूल दृष्टि से उन में बुद्धि नहीं है तब ही वे ... हैं। बुद्धि ही ज्ञान और अज्ञान वाली होती है बुद्धि के अभाव में उनको भी अज्ञानी कहना ... बन सका। जड़ ज्ञानी क्या और अज्ञानी क्या ... सारांश यह है कि जो बुद्धि वाले प्राणी हैं वे अपनी बुद्धि से ज्ञानी ही हैं, अज्ञानी कोई नहीं है। तब अज्ञानी कौन है और किस बुद्धि से अज्ञानी है ? अन्य की बुद्धि से अज्ञानी होने की किसी को परवाह नहीं है तब अज्ञानी कौन है, और अज्ञान किस प्रकार का है ?

बुद्धि कर के प्रपंच के पदार्थों में तो अपनी योग्यता के अनुसार एक दूसरे से न्यूनाधिक होते हुये भी सब ज्ञानी हैं, प्रपंच का पदार्थ चाहे ... में महान् हो, उसका ... में तुच्छ हो, चाहे ...

संपूर्ण हो या थोड़ा हो, बोध ही है यानी पदार्थ का थोड़ा बहुत ज्ञान सब को है इसलिये इस विषय में तो कोई अज्ञानी नहीं है अब परमार्थ ज्ञानको देखना चाहिये। प्रापंचिक ज्ञान व्यवहार का ज्ञान है, और पारमार्थिक ज्ञान व्यवहार से श्रेष्ठ और वस्तु स्वरूप है। व्यवहारिक ज्ञान मौयिक है और पारमार्थिक ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है। पारमार्थिक तत्व सब का अपना आप है। 'मैं हूं' यह ज्ञान सब को है, इस लिये अपने होनेपने का ज्ञान प्राणी मात्र को है। ऐसे पारमार्थिक ज्ञान में भी कोई अज्ञानी न रहा! 'मैं हूं' यह ज्ञान है और 'मैं नहीं हूं' यह अज्ञान है, जब 'मैं' है तो 'मैं नहीं हूं,' ऐसे कौन कहे? इस लिये पारमार्थिक में भी सब ज्ञानी हैं, व्यवहारिक और पारमार्थिक में सब ज्ञानी हैं तब जगत् में अज्ञानी कौन है? व्यवहारिक ज्ञान व्यक्ति भाव की बुद्धि से होता है और बुद्धि व्यक्ति स्वरूप का ही ज्ञान कर सक्ती है, अव्यक्त स्वरूप के बोध करने का सामर्थ्य बुद्धि में नहीं है। 'मैं हूं' ऐसा अपने शरीरादिक को लेकर एक व्यक्ति का बोध जो बुद्धि करती है, वह यथार्थ में आत्मा का बोध होते हुये—अव्यक्त का बोध होते हुये भी बुद्धि का किया हुआ बोध व्यक्तता का होने से उस बोध को अज्ञान ही कहते हैं क्योंकि प्रापंचिक बुद्धि प्रपंच के मैंपने का ही बोध करती है। जगत् में चाहे कोई अपने को अज्ञानी भले न माने परन्तु जब तक अपने स्वरूप आत्म तत्व अव्यक्त स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता तब तक सब अज्ञानी हैं। जगत् में सब अज्ञानी हैं स्वयं जगत् ही अज्ञान का बना हुआ है तो जगत में जितने हैं सब अज्ञानी ही हैं, तब प्रश्न होता है कि ज्ञानी भी जगत् में ही रहता है तब तुम्हारे कहे अनुसार वह भी अज्ञानी होगा! ऐसा कोई कहे तो ठीक नहीं है क्योंकि देखने में आने वाले को ही जगत् नहीं कहते किन्तु संसरण रूप संसार जो अज्ञान का स्वरूप है, वह जिस का निवृत्त हो गया है वह पुरुष ज्ञानी है, अज्ञान निवृत्त हो जाने से वह संसारी नहीं है। अज्ञानी ज्ञानी को अपने समान जगत् में भले समझे, उस अज्ञानी का समझा हुआ अज्ञान स्वरूप है, ज्ञान नहीं है, कोई कहे कि ज्ञानी अपने मन से ही मियां मिट्ठू बनते हैं, अज्ञानी भी ऐसे ही हैं, तो ज्ञान की विशेषता ही क्या है? ज्ञानी अज्ञानियों को अज्ञानी कहते हैं और अज्ञानी ज्ञानियों को अज्ञानी कहते हैं। प्रश्न ठीक है, इस प्रश्न का समाधान करने के लिये अज्ञान और ज्ञान दोनों से भिन्न हों तब ज्ञान और अज्ञान का निर्णय हो सक्ता है, वादी प्रतिवादी का निर्णय वादी प्रतिवादी के भाव से हट कर रहा हुआ तटस्थ पुरुष ही कर सक्ता है। ज्ञान की कक्षा अज्ञान की कक्षा से भिन्न नहीं है, ज्ञान और अज्ञान एक ही कक्षा के हैं तो भी वे एक दूसरे से विरुद्ध हैं। जो दुःख और बंधन का हेतु है, वह अज्ञान कहा जाता है और जो दुःख और बंधन रूप अज्ञान का निवारण करने वाला है, वह ज्ञान कहलाता है। 'मैं जीव हूं' यह अभिमान जिस को है, वह अज्ञानी है और 'मैं तत्व स्वरूप प्रत्यक् आत्म स्वरूप हूं' यह अभिमान जिस को है, वह ज्ञानी है, ज्ञानी और अज्ञानी के झगड़े को निवारण करने के लिये ज्ञानी और अज्ञानी से तीसरा कोई जगत् में है नहीं, तब ऐसा तटस्थ पुरुष कहां मिलेगा? जो तटस्थ है वह अज्ञानियों को दिखाई नहीं देता, जब अज्ञानी अज्ञान के अभिमान को छोड़ देता है तब ज्ञानी होता है और जब वह ब्रह्म में स्थिर होकर 'मैं ज्ञानी हूं' इस अभिमान को भी छोड़ देता है तब वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है, वह ही तटस्थ है, वह ही ज्ञानी अज्ञानी के झगड़े का निर्णय कर सक्ता है, सामान्यतः से ऐसे ब्रह्मनिष्ठ को लोग नहीं जानते, उस को ज्ञानी कहते हैं परन्तु वह ज्ञानी के दर्जे से आगे गया हुआ है, शास्त्र, संत, और वेद उपनिषद् का मद् बोध-वेत्ता उस तटस्थ पुरुष को ही समझना चाहिये, ज्ञान अज्ञान से उसे सम्बन्ध नहीं है तो भी परोपकार दृष्टि से वह ज्ञान और अज्ञान के अंतर का दिखलाता है। जो आस्तिक और श्रद्धा वाले हैं, वे उन के कहे को अवश्य मानते हैं चाहे वर्त सके न सकें।

अज्ञानी ज्ञानियों को अज्ञानी कहें और ज्ञानी अज्ञानियों को अज्ञानी कहें, इन दोनों के कथन में ऊपर से समानता दीखती है, परन्तु विचार दृष्टि से देखा

जाय तो दोनों में महान् अंतर है क्योंकि अज्ञानी जो अपने को ज्ञानी मानता है, उस का ज्ञानीपना हमेशा नहीं रहता, कई प्रसंगों में वह ही अपने को अज्ञानी मानने लगता है, कभी तो वह ज्ञानी बनता है और कभी अज्ञानी बन जाता है। यदि वह वास्तविक ज्ञानी होता तो कभी अपने को अज्ञानी न मानता, वह अज्ञानी मानता है इस लिये अज्ञानी है, ज्ञानी का निश्चय कभी पलटता नहीं है, एक बार ज्ञान हो जाने के बाद कभी उस को ऐसा विचार नहीं होता कि मैं अज्ञानी हूं इस लिये वह ज्ञानी है, अज्ञानी जो ऐसा कहता है कि मैं ज्ञानी हूं, उस का यह कहना भ्रम से है और ज्ञानी का कहना ब्रह्म लक्ष से होता है। भ्रम स्वयं भ्रांति स्वरूप है और ब्रह्म निश्चय स्वरूप यथार्थ है तब ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का ज्ञानीपना समान कैसे हो? अमुक अमुक पदार्थ या कार्य का ज्ञान होने से अज्ञानी अपने को ज्ञानी मानता है, पदार्थ परिवर्तन वाले हैं, तब इन का ज्ञान परिवर्तन रहित किस प्रकार रहे? नहीं हो सका, प्रपंच के पदार्थों का ज्ञान होने से कोई तत्वज्ञानी नहीं कहलाता, मायिक पदार्थ भ्रम रूप हैं इस लिये इन का ज्ञान भी भ्रम रूप है। ज्ञानी तो ब्रह्म के ज्ञान वाला होता है। ब्रह्म तत्व स्वरूप है और स्थिर है। स्थिर होने से ब्रह्म का ज्ञान भी स्थिर है। वास्तविक तत्व ज्ञान एक बार होने के बाद फिर कभी अज्ञान में नहीं बदलता। जो ज्ञान बदलता रहता है वह तत्व ज्ञान किसी प्रकार नहीं हो सका इस लिये अज्ञानी का 'मैं ज्ञानी हूं' ऐसा कहना ठीक नहीं है, वह अज्ञानी है और अज्ञानी को ज्ञानी कहना ठीक नहीं है क्यों कि वह अपने को अज्ञानी न मानते हुये भी अज्ञानी सिद्ध हो चुका है। अज्ञानी, ज्ञान को जान नहीं सका। जैसे कोई मनुष्य पागल हो तो जो पागल नहीं हैं, वे उसे पागल कहते हैं, पागल अपने को पागल न बताते हुये अन्य सब को पागल बताता है परंतु पागल ही है, यह जानने के लिये उस की बोल चाल, चेष्टा का असंबन्ध ही उसके पागल होने को सिद्ध करता है। ऐसे ही अज्ञानियों का बर्ताव तथा २ बुद्धि का पलटना, अनित्य पदार्थों में अत्यंत आसक्ति इत्यादि अज्ञान को दिखलाने वाले हैं। ज्ञानी कभी अज्ञानी नहीं होसक्ता क्यों कि ज्ञानी कभी नहीं बद[ल]... और अज्ञानी तो बदलता ही रहता है। अमुक प्र[कार] की हद वाला अज्ञानी ज्ञानी—यथार्थ ज्ञानी नहीं [हो] सक्ता इस लिये चाहे कबूल करे या न करे पर[न्तु] अज्ञानी ही है।

सत्शास्त्र अनेक प्रकार की युक्तियों से ज्ञान [का] उपदेश करते हैं, उस उपदेश का अधिकारी कौन[?] जो बीमार होने पर भी अपने को बीमार नहीं सम[झता] वह औषधि लेने की प्रवृत्ति में नहीं पड़ता, वैद्य [के] ऊपर उसे श्रद्धा नहीं होती, और वह रोग में वृ[द्धि] करने वाले खान पान का भी निरोध नहीं करता, उस[का] न तो रोग जाता है और न वह निरोगी होता है[।] अज्ञानी होने पर भी अपने को अज्ञानी न सम[झने] वाले का भी यह ही हाल होता है। इस लिये ऐसा [अज्ञानी] ज्ञानोपदेश का अधिकारी नहीं है। यदि कोई उ[से] अज्ञानी कहे तो वह नाराज होता है। ऐसे के लि[ये] शास्त्र में कर्म और उपासना का ही उपदेश है। य[द्यपि] ज्ञानोपदेश का अधिकारी भी अज्ञानी ही होता है [तो] भी वह शुद्ध होता है। जैसे पागल दो प्रकार के हैं एक तो पूरा पागल और दूसरा पागलपने की ... वाला थोड़ा पागल। थोड़े पागलपने वाले को कभी... यह भी मालूम होता है कि मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है[,] मैं पागल हो गया हूं। ऐसा पागल अपना पागलपन दूर करने के निमित्त दूसरे से प्रार्थना करता है और दवा खाता है। वह पागल है तो भी पागलपने [के] बोध वाला है ऐसे ही जो अज्ञानी होते हुये भी 'मैं अज्ञानी हूं,' ऐसा जानता है, वह अज्ञान निवृत्त करने के उपाय में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार का जो अज्ञानी है, वह ज्ञान के साधन चतुष्टय से संपन्न हो कर श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि प्रयत्न से ज्ञानी हो सका है। मूढ अज्ञानी और जिसकी मूढता ... हुई है ऐसा अज्ञानी ये दो प्रकार के अज्ञानी हैं। दू[सरे] अज्ञानी बारंबार कर्म उपासना करते और उनका फल भोगते हुये जब तक तिरस्कार न हो, जब तक दुःख ... न भासे तब तक ज्ञान के अधिकारी के ल[क्षण] युक्त नहीं बनता, जैसे अत्यंत, क्रोधावेश में कुछ ... समझता इसीप्रकार मूढ अज्ञानी को कुछ नहीं दृष्ट...

जो पुरुष तत्व निश्चय में पूर्ण है और ब्रह्म भाव में टिका हुआ है, ब्रह्म स्वरूप हुआ है, सामान्यता से जिसे ज्ञानी कहते हैं, वह अज्ञान की कक्षा से भिन्न है। ज्ञान और अज्ञान जो एक दूसरे की अपेक्षा से हैं, और एक दूसरे के विरोधी हैं, उन ज्ञान और अज्ञान दोनों से ज्ञानी भिन्न है, वह ब्रह्मनिष्ठ है। अज्ञान का नाश करने वाला ज्ञान है जो ज्ञान अज्ञान का नाश करने वाला है, उस ज्ञान की ज्ञान होने के बाद आवश्यकता न रहने से, वह भी नहीं रहता ऐसा जो स्वरूप बोध है वह ही सच्चा ब्रह्मनिष्ठ और ज्ञानी कहलाता है। ऐसे ज्ञानी बहुत कम होते हैं, ऐसे के सिवाय सब ही अज्ञानी हैं, ऐसा ज्ञानी संसार में भी नहीं है क्योंकि वह अज्ञानियों के जानने का विषय नहीं है, अज्ञानी उसके शरीर को जानते हैं, शरीर संसार में होने से शरीर वालों को संसारी दीखता है परन्तु अब न तो वह शरीर वाला है और न संसारी है, थोड़े में कहा जाय तो तत्व दृष्टि से तत्व ज्ञान रहित होने से जगत् में सब ही अज्ञानी हैं। ब्रह्मनिष्ठा—ज्ञान प्राप्त होते ही ब्रह्म निष्ठ का संसार—जगत् कुछ भी नहीं रहता, जो संसारी हैं, वे सब ही अज्ञानी हैं, जगत् अज्ञान का बना हुआ अज्ञान से भरा हुआ है।

ज्ञान और अज्ञान शरीर से नहीं है। ज्ञान और अज्ञान वाली बुद्धि है, बुद्धि सूक्ष्म है, जो बुद्धि व्यक्ति भाव—जीव भाव शरीरादिक के अहंभाव को धारण करने वाली है, उस बुद्धि वाला अज्ञानी कहलाता है। जो बुद्धि व्यक्ताव्यक्त भाव से रहित शरीरादिक के अहंभाव को तोड़ कर स्वरूप के अनुसन्धान वाली है, ऐसी बुद्धि वाला जो अकथनीय शुद्ध अद्वितीय स्वरूप है, वह लोक व्यवहार में ज्ञानी कहलाता है, बुद्धि के भेद से ही ज्ञानी अज्ञानी का भेद है, शरीर, क्रिया आदिक भेद से ज्ञानी अज्ञानी का भेद नहीं है, अनेक मलिन संस्कार युक्त अन्तःकरण जिसकी उपाधि है, वह अज्ञानी है और जिस का सब प्रकार का संसार ज्ञानाग्नि से दग्ध हो, भस्म भूत हो गया है—जला हुआ प्रतीति मात्र [illegible] ज्ञानी कहलाता है।

एक बुद्धिमान् दृढ चित्त वाला, और राग द्वेषादि विकारों से रहित ब्राह्मण पृथिवी पर नस्पृह विचरता था। उसे देख कर बुद्धिमान् प्रह्लाद राजा ने कहा "हे ब्राह्मण! तुम को विषय खैंच नहीं सक्ते, दंभ तुम को छू नहीं सका, तुम दयालु और जितेन्द्रिय हो, सत्य भाषण करते हो, बुद्धिमान् हो, किसी कार्य का आरम्भ नहीं करते, सब स्थानों पर गुणों को ही देखते हो, किसी स्थान में भी दोष नहीं देखते, विचार करके भाग त्याग करने में कुशल हो, और तत्व ज्ञानी हो, ऐसे हो कर भी बालक के समान चेष्टा करते हुये क्यों विचरते हो? तुम को लाभ की इच्छा नहीं है, हानि से शोक भी नहीं है। हे ब्राह्मण! तुम नित्य तृप्त हो कर किसी पदार्थ की अवज्ञा नहीं करते। यह सब संसार की प्रजा तो काम, क्रोधादिक के महा प्रवाह में खिंच कर बही चली जा रही है, और तुम तो अव्याकुल चित्त वाले दीखते हो, धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्य में घृत्त के समान व्यापार रहित दीखते हो! तुम्हारा चित्त धर्म, अर्थ अथवा काम में नहीं है, इन्द्रियों के विषयों का अनादर करके और मुक्त हो कर साक्षी के समान विचरते हो! मुने! तुम्हारा तत्व दर्शन (सिद्धान्त) क्या है? उस सिद्धान्त का मूल भूत शास्त्र क्या है? उस शास्त्र के अर्थ का अनुष्ठान किस प्रकार है? हे ब्रह्मन्! जो आप को मेरे कल्याण की इच्छा हो तो मुझ से शीघ्र कहो!"

तब जन्म जरादि लोक धर्म के कारण रूप, अविद्या काम और कर्म इत्यादि के जीतने वाले और बुद्धिमान् उस मुनि ने अर्थ संयुक्त मधुर वचनों से इस प्रकार कहा "हे प्रह्लाद! प्राणी मात्र जगत की उत्पत्ति, ह्रास, वृद्धि और विनाश जिस कारण हीन अद्वितीय ब्रह्म से है, उस को तू जान! उसमें इस प्रकार की युक्ति है—शून्य में कुछ बन नहीं सका, इस लिये जगत् की उत्पत्ति शून्य में से नहीं हो सकी। जगत् को ही अनादि कहें तो अचेतन ऐसा प्रधान परमाणु आदि कोई अधिष्ठाता न होने से उन का संघटन नहीं हो सका, जगत् का

कारण स्वभाव न, ऐसा मान ने संसार की मुक्ति होता दुष्कर है। इस लिये स्वप्न, माया अथवा इन्द्रजाल के समान जगत् अविद्या कल्पित ही मानना पड़ेगा, अविद्या मिथ्या भ्रम के समान है इस लिये मिथ्या है जगत् में ब्रह्म सिवाय अन्य कुछ है नहीं और मैं भी ब्रह्म स्वरूप हूं, तब किस से भय को प्राप्त होऊं ? और किस की इच्छा रक्खूं ? ऐसा विचार कर मैं हर्ष अथवा खेद को प्राप्त नहीं होता, जगत् में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह स्वरूप सत्ता से ही उत्पन्न हुआ है और सब प्रकार की प्रवृत्ति उसी में हो रही है, और सब का लय भी स्वरूप सत्ता में ही होता है, ऐसा जान कर ब्रह्म लोक का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाय तो भी उस के लोभ से क्षोभ को प्राप्त होना न चाहिये, इस जगत् के पदार्थों का प्रथम संयोग हो कर फिर वियोग हो जाता है, उस को तू देख! जिन धन जन आदिक का संयोग होता है, परिणाम में उन का वियोग—नाश होता है, इस लिये मन को उन में आसक्त करना उचित नहीं है, जो मनुष्य इन पदार्थों को अंत वाला और मायिक मानता है, उन के लय और उत्पत्ति को जानता है, उसे कुछ करना शेष नहीं रहता! मैं इस संसार रूप महा समुद्र के जल में उत्पन्न हुये बड़े शरीर वाले और सूक्ष्म शरीर वाले प्राणियों का क्रम कर के नाश होता देखता हूं, हे प्रह्लाद! मैं जंगम स्थावर और पृथिवी में उत्पन्न हुये जीवों के नाश को सर्व काल में सर्व स्थल में देखता हूं। अंतरिक्ष में घूमने वाले दानव उत्तम पक्षी और बलवान् मनुष्यों का भी मृत्यु समय पर आकर खड़ा हो जाता है। आकाश में भ्रमण करने वाले, छोटे और बड़े तेज का समय आने पर पतन होना देखता हूं, इस प्रकार सब प्राणियों को मृत्यु लगा हुआ देख कर, सर्व सामान्य ऐसे ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होकर और कृत कृत्य होकर सुख से सोता रहता हूं! जो दैव योग से मुझे श्रेष्ठ भोजन के पदार्थों की प्राप्ति हो तो उन को खाकर मैं आनन्द नहीं मानता और कभी २ बहुत दिन तक भूखा ही सो रहता हूं, कभी तो मुझे स्वादिष्ट मिलता है और कभी क्षुद्र भोजन मिलता है और कभी बहुत कम मिलता है, और कभी मिलता ही नहीं! कभी कच्चा अन्न खाकर रहता हूं, कभी कं[illegible] खाकर रहता हूं, कभी शालि खाता हूं, कभी अ[illegible] भोजन खाता हूं कभी थाली कूपी खाता हूं परन्तु [illegible] प्रकार के भोजन अभोजन आदिक में मैं समान [illegible] हूं! कभी मैं पलंग पर सोता हूं, कभी बिना बि[illegible] पृथिवी पर ही पड़ रहता हूं! कभी मुझे मल्[illegible] सोना मिलता है, कभी शाल दुशाले मिलते हैं, [illegible] मृग चर्म पहनता हूं और कभी कीमती जरी के [illegible] पहिनता हूं, जब कभी मुझे दैव योग से धर्म यु[illegible] भोग प्राप्त होता है तो मैं उस की मना नहीं करता [illegible] अत्यंत दुर्लभ ऐसा यह उपभोग प्राप्त न हो तो [illegible] की इच्छा भी नहीं करता! इस प्रकार दृढ़ मृत्यु [illegible] नाश करने वाले, कल्याण करने वाले, शोक [illegible] हरण करने वाले जिस को कोई न कह सके [illegible] ज्ञानी पुरुषों के जाने हुये ब्रह्म में मेरा प्रवेश है, [illegible] मूढ पुरुष जिस को स्वीकार नहीं करते, [illegible] में नहीं ला सके ऐसे ज्ञान स्थिति रूप अजगर [illegible] का मैं पवित्र हो कर आचरण करता हूं! मेरी बु[illegible] आचरण से व्रत में दृढ है, मैं धर्म से भ्रष्ट हो[illegible] इस प्रकार के व्रत का आचरण करता होऊं, ऐसा [illegible] नहीं है! मेरी गति मर्यादा में है! 'मुझे यह चाहि[illegible] यह न चाहिये' इस प्रकार की तृष्णा से परास्त [illegible] और धन प्राप्त न होने से खेद को प्राप्त हुये [illegible] को देख कर, तत्व बुद्धि से विचार कर और [illegible] होकर मैं इस व्रत का आचरण करता हूं! मैं दे[illegible] है कि कोई २ सज्जन होते हुये भी द्रव्य [illegible] दीन होकर अनार्य—दुष्ट पुरुषों का बहुत प्रक[illegible] आश्रय करते हैं। समगुण में प्रीति करके, [illegible] होकर, दृढ और पवित्र होकर मैं इस [illegible] रहता हूं, सुख दुःख, लाभ हानि, प्रीति अ[illegible] और मरण जीवन सब दैव के आधीन हैं, [illegible] से समझ कर मैं पवित्र रहता हूं, मैंने भय, [illegible] मोह, गर्व इन सब का त्याग किया है, ज्ञान और [illegible] से मैं युक्त हुआ हूं, इस लिये शांत हूं, अजगर [illegible] प्रकार दैवयोग से जो भोग प्राप्त होता है, उसी [illegible] से संतुष्ट रहता है इसी प्रकार दैव योग से प्रा[illegible] भोग में मैं संतुष्ट रहता हूं। मेरे शयन और [illegible] का कोई नियम नहीं है। स्वभाव से बने [illegible]

इन्द्रियों के निग्रह, नियम, व्रत शौच और सत्य से मैं युक्त हूं। तात्पर्य यह है कि साधक योगी के समान मुझको यह बलात्कार से करना नहीं पड़ता, मुझे योग के फल स्वरूप की इच्छा नहीं है इस लिये मैं सदा आनंद में रहता हूं। इच्छा के विषय रूपादिकों को देख कर आत्मा से विमुख हुये, परिणाम में दुःख दायक विषयों की इच्छा से विषयों से जो तृप्त नहीं हुये हैं, विषय जिनके स्वाधीन नहीं है, पशुओं के समान मैं आशा तृष्णा सहित नहीं घूमता हूं जिसकी समाप्ति आत्मा में है, ऐसे मन को स्वाधीन रखने की बुद्धि मुझे प्राप्त हुई है। बुद्धि, मन और वाणी इन सब की उपेक्षा करता हूं क्यों कि उन में आत्मा का प्रिय सुख नहीं है, उन में भासमान सुख अनित्य है, वे स्वयम् अनित्य हैं, ऐसे नित्य अनित्य के विचार से मैं पवित्र हुआ हूं। बुद्धिमान् और विद्वानों ने अपनी कीर्ति फैलाने के लिये तत्व के ऊपर बहुत २ तर्क किये हैं जैसे कोई तो कहता है कि आत्मा शून्य है, कोई कहता है कि आत्मा निर्विषय ज्ञान वाला है, कोई कहता है कि आत्मा जड है, कोई कहता है कि आत्मा बुद्धि आदिक विशेष गुणों से हीन है, कोई कहता है कि आत्मा का स्वरूप सत्ता मात्र है, और कोई कहता है कि चिन्मात्र है, इत्यादि तैसे २ स्थल में अपनी २ बुद्धि अनुसार बहुत से तर्क किये हैं तो भी सब ने इस अजगर व्रत को बहुत श्रेष्ठ माना है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होते हुये इस जगत् को बुद्धिहीन मनुष्यों ने आत्मा से भिन्न मानकर ग्रहण किया है इस लिये पर्वत के शिखर पर से खाई में गिर कर नाश होने के समान नाश करने वाला है, ऐसा मान कर मैं संसार में विचरता हूं। जगत् के देश, काल और गुण तीनों का किसी स्थान पर अंत नहीं है, ऐसे नाश और दोष की सीमा नहीं है इस लिये दोष बुद्धि को त्यागकर, तृष्णा को दूर कर के लोक में भ्रमण करता हूं। क्षमा ही प्राणी मात्र की स्थिति है, और क्षमा का लाभ ही परम लाभ है। इस प्रकार की क्षमा ही कल्याण करने वाली है। सत्पुरुषों ने क्षमा को ही स्वर्ग रूप माना है!" प्रह्लाद इस प्रकार के वचनों को सुनकर प्रसन्न हो चला गया।

ऊपर के लक्षणों से युक्त अथवा अन्य प्रकार से जिस का प्रमाण आत्म तत्व में प्रतिष्ठित हुई है, वह ही ज्ञानी है, उस के सिवाय जगत में सब अज्ञानी हैं। जगत् में फंसे हुये मायिक पडल से अंधे हुये अज्ञानी होते हुये भी अपने को अज्ञानी न मान कर अज्ञान से निकल नहीं सके, वे सब ही अज्ञानी हैं। जिस का आंतर जगत् निवृत्त नहीं हुआ, बाहर के जगत् के लाभ की आशा नहीं टूटा, इन्द्रियों के विषयों की लोलुपता नहीं छूटी, वह अज्ञानी है। चाहे बुद्धि में श्रेष्ठ हो, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता हो, योग क्रियाओं में निपुण हो, जब तक आत्म स्थिति नहीं होती तब तक वह अज्ञानी है। मैं जीव हूं, अमुक सामर्थ्य वाला हूं, यह भाव न छूटे, ब्रह्म आत्म की एकता का निश्चय और स्थिति न हो तब तक अज्ञानी है। सारांश यह है कि जब तक अपने स्वरूप को प्राप्त न हो तब तक संसार में रहने वाले सब अज्ञानी हैं। ऊपर का प्रश्न यह है कि जगत् में अज्ञानी कौन है? इस का उत्तर यह है कि जिन का संसार निवृत्त नहीं हुआ जो आत्मा में स्थित नहीं हुये वे सब अज्ञानी हैं।

ज्ञान की सात भूमिका।

जगतपुर नाम का एक बड़ा शहर था। वहां देश परदेश के सब व्यापारियों का धन्धा बहुत चलता था। राजधानी का शहर होने से यह शहर बहुत रौनक वाला था। अनेक स्थानों पर पाठशालायें थीं। यज्ञशालाओं में वेद मन्त्रों की ध्वनि हुआ करती थी। सब वर्णों के लोग वहां बसते थे। सेठ, साहूकार, जिमींदार और सरदार लोगों का वहां निवास था। कई कल के कारखाने भी शहर की शोभा में वृद्धि कर रहे थे। वहां से चारों दिशाओं में रेल जाती थी। शहर में इलेक्ट्रिक ट्राम्बे थी। दक्षिण की तरफ कुछ दूरी पर समुद्र का तट था। वहां दूर दूर के देशों का माल आता था और शहर से बहुत माल ले कर विदेश को जाया करते थे, शहर की तीनों दिशाओं में राज्य की तरफ के सर-

दारों और साहूकारों के बगीचे और बंगले थे। शहर के चारों तरफ कोट था, कोट के मुख्य नव द्वार थे। उत्तर की तरफ कोई भी प्रकट द्वार नहीं था। मुख्य बाजार की शोभा बहुत थी, सब प्रकार की सब देशों की वस्तुयें वहां मिलती थीं। ऐसा कहा जाता है कि माता पिता के सिवाय धन से सब कुछ खरीद कर सके हैं परन्तु इस शहर में तो माता पिता को भी यदि कोई चाहे तो धन से खरीद कर सक्ता था। जितने पदार्थ संसार में होते हैं, सब वहां थे, मुख्य मार्ग पर गाड़ी, घोड़ा, ट्राम बग्घी और मोटरों का शब्द हुआ करता था। जगत् का सब सामान, सब प्रकार के मनुष्य, पशु पक्षी देखने हों तो संसार के प्रदर्शन रूप नुमायशगाह इस शहर में देख सक्ते थे, सब प्रकार के मजहब वाले वहां रहते थे इस लिये सब के आचार्यों के स्थान, मन्दिर, मसजिदें, गिरजे आदिक थे। यदि इन्द्र भी एक बार इस नगरी को देखता तो अपनी इन्द्रपुरी से किसी प्रकार भी कमती न देख कर आश्चर्य को प्राप्त हुये विना न रहता। उत्तर की तरफ आनन्दारण्य नाम का जंगल था। उस तरफ लोगों का आना जाना नहीं होता था। वहां जाने से लोग डरते थे। उन्हों ने उस जंगल को शून्य, कांटों वाला और भयंकर समझ रक्खा था। आनंदारण्य में बहुत ऊंचे २ और खुशबूदार पेड़ थे। वायु शीतल था। परन्तु शहर वालों को उन पेड़ों की हवा अच्छी नहीं लगती थी, वहां की शीतल हवा को वे लोग विषैली समझते थे और वहां शेर, बघेरा रीछ आदि होने की भी शंका करते थे, इस लिये वहां कोई जाता न था। शहर के आस पास के सब स्थानों से यह स्थान निर्जन था, आनंदारण्य के आरम्भ होने के स्थान पर एक मनुष्य एक पर्ण कुटी डाल कर रहा करता था। उसकी जाति मालूम नहीं होती थी, वह साधु है या गृहस्थ है, यह भी देखने से मालूम नहीं होता था, वह किस मजहब का है, यह भी जानने में नहीं आता था। इस पुरुष की रहनि सहनि विलक्षण थी, कभी राज ठाठ से रहता था, कभी लंगोटिया बन जाता था, कभी सूखे टुकड़े खाने लगता था और कभी माल मलीदे उड़ाता था। अपने स्थान से वह शहर में कभी नहीं जाता था और किसी मजहब का पक्षपाती था। कभी २ कोई २ मनुष्य उसके पास आया जाया करता था। खाने पीने आदिक वस्तुयें शहर में से उस के पास पहुंच जाती थीं। कभी तो वह महा पंडित हो, इस प्रकार शास्त्र का प्रवचन करता था, कभी पागल के समान बकता था। कोई २ उसके उपदेश को ग्रहण करने के लिये सुनते थे परन्तु उपदेश इतना उच्च कोटि का था कि उसका श्रवण करना और ग्रहण करना दोनों ही कठिन थे तो भी पृथिवी निर्बीज न होने के कारण श्रवण करने वाले और ग्रहण करने वाले विरले ही आते थे, वह पुरुष आनंदारण्य के दरबान रूप से बैठा हुआ था, जब किसी को आनंदारण्य में जाना होता तो वह वहां जाकर उस की परवानगी लेकर, उस की तरफ से मिला हुआ पास लेकर ही जा सकता था, यह दरबान है, किस की तरफ से बैठा है, किसने बैठाया है, यह बात इस नगर के राजा आदिक कोई भी नहीं जानते थे, न जानते हुये भी सब उस पुरुष का सन्मान करते थे, इस विलक्षण पुरुष का नाम स्वामी उपदेशानंद था, उसको आनंदारण्य का एक ठेकेदार ही समझो! जो थोड़े मनुष्य कभी २ उपदेश श्रवण करने आते थे, वे उपदेश सुन कर फिर शहर में चले जाते थे, बहुत कम मनुष्यों को आनंदारण्य में जाने की परवानगी मिलती थी, कभी कोई मूढ़ हुआ से स्वामी की आज्ञा लिये बिना आनंदारण्य में घुसता था तो उसे कष्ट पाकर अंधा हो कर लौटना पड़ता था!

(१) एक दिन स्वामी को विचार हुआ कि कितने ही मनुष्य मेरे पास आकर, परवाना लेकर आनंदारण्य में गये हैं, उन में से कई तो अपने स्थान पर पहुंच गये होंगे और कई आनंदारण्य में ही होंगे, उन को जाकर देखना चाहिये कि उन की क्या हालत है। यह आनंदारण्य ज्ञान की भूमिका रूप है, लौकिक ज्ञान—अज्ञान की भूमिका रूप नहीं है। आनंदारण्य तत्व ज्ञान आत्म ज्ञान अथवा जिसे ब्रह्म ज्ञान कहते हैं, उस की सीढ़ियां हैं, लौकिक ज्ञान परिच्छिन्न है और आत्म ज्ञान अपरिच्छिन्न है।

इस भाव से तो आत्म ज्ञान की भूमिकाओं का कहना भी संभवित नहीं है । आत्म भाव में व्यवहारिक ज्ञान की स्थिति की तारतम्यता से ज्ञान की सात भूमिकाओं का भेद ज्ञान में नहीं है, अज्ञान में ही है तो भी मुमुक्षुओं को अपनी स्थिति समझने के लिये और ज्ञानकी न्यूनता कम करनेके लिये उपयोगी है। सातों भूमिकाओं का पूर्ण होना ही ज्ञान है, सच्चिदानंद रूप है। यह ही अज्ञान निवृत्ति से ब्रह्म कहलाता है। सत्यावबोध और मोक्ष दोनों उसके नाम हैं। गये हुये मुमुक्षुओं से जाकर पूछना चाहिये। अपनी २ भूमिका के अनुसार वे अपने मुख से ही अपनी स्थिति का वर्णन करेंगे। ऐसा विचार कर स्वामी ने आनंदारण्य में प्रवेश किया, लोगों को जंगल दीखता था परंतु स्वामी को वह नंदन वन के समान दीखता था। यद्यपि स्वामी का भूमिकाओं से संबंध नहीं था तो भी भूमि में टिके हुये पुरुषों को जानने के निमित्त वह भूमिका वाला होकर विचरता था। इस प्रकार स्वामी की चेष्टा अक्रिय चेष्टा ही थी, विहार मात्र थी, आनंदारण्य ऊंचाई-पहाड़ पर था। थोड़ी दूर जाकर स्वामी को एक मनुष्य दिखाई दिया। उस की दृष्टि कुछ २ पहाड़ के ऊपर की तरफ थी और विशेषता से नीचे के रमणीक दीखते हुये शहर पर थी। वह शहर-ऐश्वर्य की तरफ से अपनी वृत्ति को हटाता था परंतु उसकी वृत्ति वारंवार ऊपर जाती हुई भी शहर की तरफ चली आया करती थी।

स्वामी ने कहा "हे पथिक ! तेरा क्या नाम है ? तेरा क्या आचार है ?" मनुष्य बोला "गुरु महाराज ! नमस्कार ! दंडवत् नमस्कार ! मेरा नाम शुभेच्छुक लाल है ! मैं आप के पास से ही इस अरण्य में आया हूं ! मैं ऊपर चढ़ना चाहता हूं, परंतु मुझ से जल्दी से ऊपर नहीं चढ़ाजाता, प्रयत्न में लग रहा हूं !" स्वामी ने कहा "शुभेच्छुक ! ठीक है ! अनेक जन्मों के कर्मों से मलिन हुआ अंतःकरण शुद्ध हुये विना सद्विचार की प्राप्ति नहीं होती, तू ने अंतः करण कुछ शुद्ध किया है, कुछ और शुद्ध करना चाहिये। निरंतर प्रवाह रूप से चलने वाली अविद्या नदी को शास्त्र और सत्संग विना [illegible] कठिन है। सत्संग से ही शुभ विचार का उदय होता है। जिसने ज्ञान के अधिकारी के चारों साधन विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता का न्यूनाधिक प्रमाण में भी सेवन किया है, उसे ही सत्संग की प्राप्ति होती है। ग्रहण करने योग्य क्या है और त्यागने योग्य क्या है, इस का विचार सत्संग से ही होता है।" शुभेच्छुक बोला "महाराज ! मैं सत्संग और सत्शास्त्र में प्रवर्त हो रहा हूं। मुझ को मालूम होता है कि मैं इतने दिन तक मूढ़ ही रहा ! आहा ! मैं बहुत जन्मों तक भटकता रहा ! इस जन्म में भी मैंने बहुत सी उमर वृथा ही खोई ! बस ! अब मैं अपना श्रेय अवश्य करूंगा ! जिस का परिणाम गर्भवास आदिक अपवित्र स्थानों में गिरना और दुःख है उसके निमित्त अनेक प्रकार के कर्म करके समय को खोता रहा ! बड़े खेद की बात है ! कूटस्थ स्वरूप जिस में क्रिया करके किसी प्रकार का विकार नहीं होता और जो परम शांति स्वरूप है, वह कूटस्थ क्या है ? उसको जानकर मुझे अवश्य प्राप्त करना चाहिये, ऐसा विचार होता है और जगत् के ऊपर तिरस्कार आता है, सब जगत् दुःख रूप मालूम होता है परंतु मेरा मन ऐसा बदमाश है कि तिरस्कार होते हुये भी वारंवार जगत् और जगत् के पदार्थों में दौड़ा करता है। आप की कृपा से मुझे मालूम होता है कि मैं ज्ञान की प्रथम भूमिका शुभेच्छा रूप इस आनंदारण्य में आया हुआ हूं। मैं वैराग्यवान् होकर संसार समुद्र से किस प्रकार तैर जाऊं, ऐसा विचार परायण होने से भोग और भोग के साधनों की चिंता-प्रीति छोड़ता जाता हूं। चिंता प्रति दिन कमती होती जाती है और मैं विचारानंद को प्राप्त होता जाता हूं। जब कभी प्रापंचिक मनुष्यों की किसी चेष्टा को देखता हूं तो अपने जी में खिन्न होता हूं और उन की मूढ़ता पर मुझे दया आती है। जहां तक बने वहां तक मैं अपने को ऐसी चेष्टा से रोकता हूं, किसी की निंदा नहीं करता, सत्संग, ईश्वरोपासना, जपादि क्रिया और पुण्य कर्म जो चित्त शुद्धि के हेतु हैं, उनको किया करता हूं। जिनमें मुझे अथवा दूसरे को उद्विग्नता न हो, जिनमें प्रयास थोड़ा और फल विशेष हो, ऐसे यम नियम आदिक कर्मों का सेवन करता हूं। पाप से डरता रहता हूं, भोग में

पाप अवश्य होता है, ऐसा मानता हुआ भोग की इच्छाओं को तोड़ देता हूं, कोई कमी हो जाती है तो बहुत पश्चात्ताप करता हूं, स्नेह, नम्रता और कोमलता सहित योग्यतानुसार युक्त वचन बोलता हूं, देश काल और वस्तु के अनुसार अपने को अलिप्त रहने का यत्न करता हुआ व्यवहार करता हूं और मेरा मुख्य व्यवसाय तो शास्त्र श्रवण ही है।" स्वामी ने कहा "हे शुभेच्छुक! तू मार्ग में प्रवर्त हुआ है, वैराग्य सहित जब पूर्ण प्रयत्न में लगेगा तब ही इस भूमिका से ऊपर की भूमिका में जा सकेगा। उत्साह सहित प्रयत्न में लगे रहना चाहिये, समझ कि अभी दिल्ली बहुत दूर है! अच्छा! मैं आगे जाता हूं!" यह कह कर स्वामी जी आगे चले।

(२) थोड़ी दूर चलने के बाद एक मनुष्य देखने में आया, जो ऊपर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था, वह ऊपर चढता जाता था, जब थक जाता था तब थोड़ी देर खड़ा रहकर विश्राम ले लेता था। शुभेच्छुक की शहर और ऐश्वर्य की तरफ जितनी वृत्ति दौड़ती थी उतनी इसकी नहीं दौड़ती थी तो भी कभी २ इसकी वृत्ति भी शहर के भोग और ऐश्वर्य की तरफ दौड़ जाती थी। यह पुरुष वृत्ति को रोकने का प्रयत्न करता था, कभी तो रोक लेता था और कभी रोक नहीं सका था। इस पुरुष में धैर्य, उत्साह, प्रयत्न और वैराग्य शुभेच्छुक की अपेक्षा विशेष था। सत्शास्त्र और ब्रह्म विचार में इसकी दृढता प्रथम से विशेष थी, स्वामी ने पास जा कर कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है और तू किस आचार में प्रवर्त है?" गुरुदेव को सामने खड़ा हुआ देख कर उस मनुष्य ने साष्टांग दंडवत प्रणाम की और गुरु दर्शन से अपने को कृतार्थ हुआ समझ कर इसकी मुख मुद्रा आभार दर्शक भाव से प्रसन्न हुई दीखती थी। सद्गुरु के दर्शन से वह गद् गद् हो गया और नम्रता से बोला "हे गुरुदेव! हे स्वामिन्! मेरा इस स्थान का नाम विचारचन्द है! मैं ब्रह्म विचार में प्रवर्त हूं, इस लिये लोग मुझे विचारचन्द कहते हैं, आप, गुरुदेव! आत्म तत्व में अनुभवी हो, उपदेश करने में कुशल हो, श्रुति स्मृति में कहे हुये आचार के अनुसार चलने वाले हो, यम, नियम और समाधि में निपुण मैं आप के शरण हूं! मुझे मालूम होता है कि दंभ, गर्व, मोह, लोभादिक स्वभाव कम २ हो होता जाता है, मेरा खाना पीना, लेना देना आदि सब कार्य विचार पूर्वक होता है, मेरा मन मार्ग में प्रवर्त है, पहिले जितनी जबर मेरे ऊपर करता था, अब उतनी जबरदस्ती न करता। विचार के संग से मन में निर्मलता आ जाती है। शास्त्र और गुरु का सम्बन्ध, वैराग्य अभ्यास पूर्वक मैं गुरु सेवा में प्रेम वाला हूं, इन्द्रि पर मेरा काबु है, अनित्य के त्याग पूर्वक शास्त्र और अन्य गुरुओं से श्रवण किये हुये का चि किया करता हूं। मनन ही मेरा मुख्य व्यवसाय सत्संग और सन्त सेवा से असंभावना रूप निवृत्त होता जाता है और आत्म स्वरूप का गु रहस्य जानने में आता जाता है।" स्वा ने कहा "ठीक है! तेरे कहने से तू ज्ञान की दूस भूमिका विचारणा में है। अब तू यह बता कि जाग्र जगत् और व्यवहार तुझे किस प्रकार माल होता है?" विचारचन्द बोला "आपने ठीक पू यह सब संसार मुझे प्रथम की जाग्रत् अवस्था रूप ही मालूम होता है परन्तु प्रथम जो मुझे स्वा वाला दीखता था, अब स्वाद रहित-निरस दीखता मेरी अवस्था जाग्रत् ही है परन्तु जाग्रत् के द से, जाग्रत् के दबाव से रहित यह जाग्रत अवस्था विचार से दबी हुई है!" स्वामी बोले "ठीक है तुझे अपने प्रयत्न को और बढ़ाना चाहिये, उत्सा से आगे चल, जिस तत्व का तू मनन कर रहा है उसे दृढ कर, तुझे आगे की भूमिका की प्राप्ति होगी और कुछ नया ही रंग दीखेगा अब मैं जाता हूं!" यह कह कर स्वामी जी आगे चले।

(३) स्वामी थोड़ी दूर चले होंगे, कि एक मनुष्य दूर से ऊपर चढता हुआ दिखाई दिया, प्रथम के दो मनुष्यों से यह मनुष्य अपने कार्य में विशेष दृढ चित्त था, दृढता से आगे चला जा रहा था, इस की वृत्ति पीछे की तरफ नहीं जाती थी। वह

स्थान पर था, वहां से जगत् और जगत् के भोग स्पष्टता से दीखते भी न थे, वह आगे जाने में अपना जोर लगाता था परन्तु कभी २ उस का पैर फिसल जाता था, उसी समय वह संभाल लेता था और आगे चलने में लग जाता था। उस के फिसले हुये पैर से गिरी हुई कंकरियां कितनीक दूर तक नीचे गिरी हुई मालूम होती थीं। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्र दिन पर दिन बढ़ता जाता है वैसे ही वह अपने मार्ग में बढ़ता जा रहा था, स्वामी जी ने उस के पास पहुंच कर कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है और तू कौन से आचार में प्रवर्त है?" उस मनुष्य ने प्रेम दृष्टि से स्वामी की तरफ देखा और नमन कर के कहा "स्वामिन्! आपने बड़ी कृपा की, जो अपने दर्शन दिये! सत्पुरुषों का संग और गुरुदेव की कृपा सब प्रकार के विघ्नों को निवृत्त करती है! आप सर्वज्ञ हो, मैं अपना नाम बताता हूं, मेरा नाम तनुमनिशंकर है! यह नाम सच्चा हो या झूठा, इस स्थान पर लोग मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। श्रवण मनन पूर्वक मैं निदिध्यासन में प्रवर्त हूं, विषयों में से मेरी आसक्ति हटती जा रही है, मन अत्यंत सूक्ष्म हो गया है, मन की सूक्ष्मता मुझे सविकल्प समाधि तक पहुंचा देती है, मन इस प्रकार सूक्ष्म होने से मैं जानता हूं कि मैं तनुमानसा नाम की ज्ञान की तीसरी भूमिका पर हूं, फिर भी मन के वेग को कमती करने के लिये श्रवण मनन के निदिध्यासन करने में प्रवर्त हूं, यह स्थान असंग है इस लिये कोई कोई इस भूमिका को असंग भी कहते हैं, मेरी बुद्धि शास्त्रानुकूल आचरण में स्थिर होती है, मैं तपस्वियों के आश्रम में विश्राम लेता हूं और आत्म चर्चा करता रहता हूं, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य करता हूं, और वैराग्य दृढ़ करने के लिये संसार और संसार के पदार्थों की निन्दा भी किया करता हूं, जाग्रत् जगत् मेरी स्मृति और संस्कार में है और उस को मैं देखता भी हूं इस लिये मेरी जाग्रत् ही अवस्था है परन्तु अवस्था का भाव तुच्छ हो गया है, जैसे बहुत बूढ़े मनुष्यों की क्षीण हुई जाग्रत् अवस्था हो ऐसी हो मेरी जाग्रत् अवस्था है जिस अथवा

पृथिवी आदि स्थानों पर शयन करता हूं, विक्षेप वाले स्थानों पर समाधि का अभ्यास नहीं करता, एकांत स्थान मुझे बहुत प्रिय है, चित्त को शांत रखने के लिये विशेष समय एकांत में रहता हूं और वहां ही अभ्यास किया करता हूं, वहां मुझे असंगता का सुख मिलता है, और विशेष असंगता के लिये मन बुद्धि से प्रयत्न करता हूं, सुने हुये शास्त्रों को भी संत के मुख से सुनने की वारम्वार रुचि होती है और पुण्य कर्म करने की तरफ भी चित्त लगता है, जब चित्त निर्मल होता है और बुद्धि तीव्र होती है तब बोध भी ठीक होता है, मैं इस स्थान पर सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की असंगता का अनुभव करता हूं, 'मैं कर्ता नहीं हूं, भोक्ता नहीं हूं, बाध्य नहीं हूं, बाधक नहीं हूं' इस प्रकार दृश्य पदार्थों में संग न होना, सामान्य असंगता कहलाती है, प्रथम की दो अवस्थाओं में भी इस असंगता का थोड़ा २ भान होता था, अब उस का स्पष्ट भान होता है, दूसरी विशेष असंगता सूक्ष्म है, सुख और दुःख ईश्वराधीन है, अथवा पूर्व जन्म के कर्म अनुसार है, इस में मेरी स्वतंत्रता नहीं है, तब मेरा कर्तापना कहां है? कुछ भी नहीं है, इस प्रकार विशेष असंगता का बोध होता है, भोग और वैभव रोग का साधन है, संपत्ति ही आपत्ति रूप है, संयोग का परिणाम वियोग है, मन चिंता और व्याधियों का कारण है, काल सब पदार्थों को हमेशा खाया करता है, श्रवण, मनन और आत्म ज्ञान के अभ्यास से असंभावना की निवृत्ति हुई है और परम तत्व हाथ में आंवले के समान मालूम हो रहा है, यद्यपि मैंने उसका स्वाद नहीं लिया है तो भी वह सन्मुख है। मुझे यह दृढ़ निश्चय है कि मैं कर्ता नहीं हूं, ईश्वर ही कर्ता है, संचित अथवा क्रियमाण कोई कर्म मेरा नहीं है, या है, इस प्रकार के विकल्प वाले शब्दों के अर्थ दूर छोड़ कर शांत रहता हूं, यह ही श्रेष्ठ असंगता है, मेरे अंतःकरण की वृत्तियां, ब्रह्म में एक रस हो कर रहती हैं, भीतर बाहर कोई अवलम्बन नहीं रहता, जिस में ऊपर के लोक, नीचे के लोक, अंतरिक्ष, पृथिवी आदि पदार्थ, वैभव पुत्रादि अपदार्थ, जड अथवा चैतन्य किसी का भी अवलम्बन नहीं है।"

स्वामी जी बोले "तेरे कहने से तू ज्ञान की तीसरी भूमिका में स्थित है, अब ज्ञान होने में तुझे विशेष विलम्ब नहीं है, अपने प्रयत्न को उत्साह पूर्वक बढ़ाता जा, अभी तक की तीनों भूमिकायें साधन भूमिकायें कहलाती हैं, आगे की भूमिका में अपरोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष ज्ञान होने के बाद फिर नीचे कभी नहीं गिरता, क्रम क्रम से ऊपर की भूमिकाओं में जाता है, कोई सत्वर जाता है, कोई विलम्ब से जाता है, परन्तु अज्ञान में नहीं पड़ता और आरम्भ की तीन अवस्थाओं में से तो कई संयोगों से अज्ञान में पड़ जाने का संभव ही है, अब इस भूमिका से आगे बढ़ते ही अन्य प्रकाश से रहित, शांत, आकाश के समान निर्मल प्रकाश, अनादि, अनंत, जन्म रहित स्वस्वरूप प्रकाश करेगा, ऐसी निर्विकल्प समाधि में स्थिति होना, श्रेष्ठ असंगता है, वह ही ज्ञान है, तेरा कल्याण हो, अब मैं जाता हूं !" यह कह कर स्वामी जी आगे चले।

(४) आगे चलते हुये दूर पर नजर फेंकी तो सामने की जमीन थी, सपाट विशेष झाड़ी न थी, कंकर पत्थर भी कम थे, रस्ता साफ था, और रमणीक मालूम होता था, चलने वाला वहां आनन्द से चल सका था, वहां के वायु से चित्त में प्रसन्नता आती थी, वहां से शहर और शहर के ऐश्वर्य का दृश्य ठीक रीति से देखने में नहीं आता था, वहां का शीतल और शांत वायु मन को वहां ही रोक रखता था, वृत्ति स्थिर होती थी, नीचे ऊपर, भीतर बाहर के आकारों और संस्कारों के साथ चित्त का संग नहीं होता था, वहां एक मनुष्य को जाते हुये देख कर स्वामी जी ने उस के पास जाकर कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है और तू किस आचार में प्रवर्त हो रहा है?" उस मनुष्य ने शब्द की तरफ मुख किया तो गुरु देव मालूम हुये, नमन करता हुआ बोला "जय सच्चिदानन्द! गुरुदेव की जय ! आप की अतुल कृपा से मैं इस स्थान पर आ पहुंचा हूं, मुझ जैसे अशुद्ध को यहां तक आ पहुंचने में आप का सदुपदेश ही मार्ग दर्शक रहा है, अब मैं इस स्थान पर सत्व लाभ हुआ हूं, यह ही मेरा नाम समझो ! अभी तक मार्ग चलने में मैंने बहुत परिश्रम उठाया है, मार्ग भी विकट था, अब सरल मार्ग आ पहुंचा है, अब मुझे तक[illegible] है, अभी मुझे आगे जाना है तो भी प्रथम के [illegible] घबराहट नहीं है, आगे का मार्ग अब शांति से [illegible] करूंगा, परमानन्द की प्राप्ति रूप मेरी प्रवृत्ति [illegible] तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से बाहर के पदार्थों [illegible] संस्कारों का उच्छेद होने से मेरे लिये अत्यंत विल[illegible] है, माया और माया के कार्य तीनों अवस्थाओं [illegible] शुद्धि होने से सन्मात्र आत्मा के विषे त्रिपुटी का [illegible] कर के टिका हुआ हूं, ऐसे साक्षात्कार पर्यन्त [illegible] स्थिति है, मैं समझता हूं कि यह निर्विकल्प सम[illegible] रूप मेरी अवस्था सत्वापत्ति है, मेरा नाम ज्ञानच[illegible] है।" स्वामी जी बोले "सच है, हे विद्वान्! तू [illegible] वित् हुआ है, द्वैत वासना, असंभावना, और विप[illegible] भावना रूप दोष क्षय हुआ है, तुझे अपरोक्ष [illegible] का उदय हुआ है, और संपूर्ण जगत् एक रस [illegible] ब्रह्म दीखता होगा, द्वैत शांत हुआ है या नहीं [illegible] ज्ञानचन्द्र बोला "हां महाराज ! सत्यता का [illegible] निवृत्त हो गया है, स्वप्न आने के बाद जाग्रत् अव[illegible] में स्वप्न का दृश्य जिस प्रकार स्मृति रूप से दी[illegible] है, इसी प्रकार मुझे यह जगत दीखता है। [illegible] के समान मिथ्या भाव से जाग्रत् जगत् में [illegible] भी विशेषता प्रतीत नहीं होती, मैं समझता [illegible] कि ज्ञान की चौथी भूमिका में विद्वान् जो [illegible] अवस्था कहते हैं, उस का यह ही मतलब [illegible] स्वामी जी बोले "हां! ऐसा ही है, इस अवस्[illegible] वासना का लय हो जाता है इसलिये कोई का[illegible] को विलापनी कहते हैं, तुझे तत्व के साक्षात्[illegible] अज्ञान और अज्ञान के कार्य का बाध हुआ है, [illegible] अन्त रहित विभाग रहित चैतन्य में चित [illegible] हुआ है, तुझे सब समान दीखता होगा, [illegible] प्रकार की भेद भावना निवृत्त हो गई होगी। [illegible] और इन्द्रियों का व्यवहार स्वप्न समान [illegible] होता होगा, सब कल्पनाओं का नाश हुआ है [illegible] जगत् को क्षण भंगुर और नाशवान् होने से [illegible] पदार्थ में भी राग द्वेष न होता होगा, तू ने [illegible] पुरुषार्थ की सफलता प्राप्त की है, अब धैर्य [illegible] कर के देह रहते हुये जीवन्मुक्ति के विलक्षण [illegible] के लिये उत्साह धारण कर के प्रवर्त हो, [illegible] जाता हूं ! यह कह कर स्वामी जी आगे बढ़े।

(५) स्वामी जी आगे चल के देखते हैं तो मार्ग आगे से भी रमणीक और स्पष्ट दीखता है। वहां जो वायु का वहन हो रहा है, उसमें सतोगुण की शांति विशेष है, आगे एक मनुष्य को देख कर स्वामी जी ने कहा "हे विद्वान्! तेरा क्या नाम है? और तू यहां क्या कर रहा है?" उस मनुष्य ने स्वामी जी को देख कर प्रणाम किया, और कहा "हे स्वामिन्! मेरा नाम असक्त लाल है! चारों भूमिकाओं के अभ्यास से बाहर और भीतर के आकार और उन २ के संस्कारों के साथ चित्त के संसर्ग का अभाव हुआ है, सविकल्प समाधि के संस्कार पक गये हैं और उसका फल रूप निर्विकल्प समाधि मुझे प्राप्त हुई है, इस कर के मुझे परमानंद है, नित्य अपरोक्ष ऐसे आत्म भाव का साक्षात्कार हो रहा है, सब प्रकार से असंगता का बोध होता है, मैं जानता हूं, कि यह ज्ञान की पंचम भूमिका असंसक्ति है। अविद्या और अविद्या के कार्य का मुझसे सम्बन्ध नहीं है, कर्म फल में मुझे आसक्ति नहीं है, बाह्य वासना क्षीण होने से हमेशा आंतर-मुखता कर के रहता हूं, ब्रह्म वासना बढ़ती जाती है और क्रम क्रम से बाहर के पदार्थों का विस्मरण होता जाता है। चौथी भूमिका में संसार स्वप्न के समान प्रतीत होता था, अब वह प्रातिभासिक रूप से भी प्रतीत नहीं होता। केवल सुषुप्ति के समान पारमार्थिक सत्ता से जगत् का भान होता है, मैं शुद्ध अद्वैत में जाग्रत् हुआ हूं, इसलिये आंतर-मुख वृत्ति से आनन्द के स्वाद की समानता से सुषुप्ति कही है, मैं इस से विशेष दृढ स्थिति करने के प्रयत्न में हूं!" स्वामी जी बोले "धन्य है तुझे! तू ने मेरे उपदेश का सार्थक किया है, तेरे प्रयत्न से तुझे विशेष दृढ स्थिति अवश्य प्राप्त होगी! तू विहर हुआ है, आगे चल, प्रारब्ध का क्षय करते हुये जीवन्मुक्ति के आनंद का अनुभव कर!"

(६) स्वामी जी वहां से आगे चले तो और भी विशेष आनंद दायक स्थान दिखाई दिया। वहां जो आनंद मालूम होता था, उसको स्वामी जी ही जानते थे। वहां भी एक मनुष्य देखने में आया, स्वामी जी ने उस से कहा "हे विद्वान्! तेरा क्या नाम है और तू किस तरफ जा रहा है?" उस मनुष्य ने स्वामी जी को देख कर ॐ सच्चिदानन्द उच्चारण करते हुये स्वस्थता दिखलाई और कहा "हे स्वामिन्! आप से क्या छिपा है? जिस स्थान पर आप हैं उस स्थान पर मैं जाना चाहता हूं, मैं आत्माराम में स्थित हूं, और दृढता से टिकना चाहता हूं! मुझे आंतर और बाहर के पदार्थों की दृढ़ अप्रतीति हो रही है! सब जगत् के पदार्थों का अभाव और तत्व का भाव हो रहा है, मैं समझता हूं कि ज्ञान की छठी भूमिका जो पदार्थाभावनी है, उस में मेरी स्थिति हुई है इस लिये मेरा नाम तत्वानन्द है, मुझे अन्य की प्रबल प्रेरणा से ही पदार्थों की भावना होती है। अन्य प्राणी की भावना से ही मेरे देह का निर्वाह होता है। मैं स्नान, भोजनादिक करता हूं तो भी उन्हें देखता नहीं हूं, प्रीति पूर्वक उन का सेवन नहीं करता, सब परेच्छा से हुआ करता है, मैं ब्रह्म में स्थिति वाला हूं, ब्रह्म रूप हूं, ऐसा जानता हूं तो भी मन के लेश अंश से संसार की भावना मिथ्या रूप से होती है!" स्वामी जी बोले "धन्य! धन्य! तू कृतार्थ हुआ है, तेरा कर्तव्य निवृत्त हुआ है, तुझे तुझ में जो कुछ कर्तव्य दीखता है, वह शरीर के शेष प्रारब्ध से है, हे विद्वान्! तू विद्वारीयान हुआ है, मैं तुझ से पूछता हूं कि तुझे संसार किस प्रकार दीखता है और तू स्वयं किस प्रकार दीखता है?" तत्वानन्द बोला "स्वामिन्! सब जगत् सुषुप्तिवत् हो रहा है, प्रथम अवस्था में जगत् को अबोध सुषुप्ति रूप देखता था, अब बोध सहित सुषुप्ति है और उस में रहे हुये बोध को ही मैं अपना स्वरूप जानता हूं, जब अबोध होता है तब अबोध में रहा हुआ बोध और बोध में रहा हुआ बोध मैं हूं, व्यक्तित्व रहित बोध स्वरूप मैं हूं, मुझे जगत् शून्य रूप दीखता है इस लिये सुषुप्ति रूप कहता हूं" स्वामी जी बोले "ठीक है, आगे बढ़, मैं जाता हूं!"

(७) आगे चल कर जो स्थान आया, उस का वर्णन स्वयं स्वामी जी भी नहीं कर सके थे! अनुभव ही कर सके थे। इस अमृत के समान स्थान को

देख कर स्वामी जी ने एक मनुष्य के समीप जाकर स्वयं हाथ जोड़ ऊंचा कर कहा "हे स्वामिन्! आप कौन हो? आप कोई दिव्य स्वरूप दीखते हो! आप का स्थूल शरीर दीखता हुआ भी किसी विलक्षण तत्व का बना हुआ हो, ऐसा मुझे दीखता है!" उस मनुष्य ने ऊंची निगाह कर के देखा, ऊंचा हाथ कर के गंभीरता पूर्वक ॐ का उच्चारण किया और कहा "हे स्वामिन्! जो आप हो, सो मैं हूं, मैं चिरकाल के अभ्यास से और भेद की अप्रतीति से जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं को उल्लंघन कर के टिका हूं, मैं इस अवस्था में ब्रह्म को अखंडित आत्म स्वरूप जानता हूं, इस लिये इस स्थान पर मेरा नाम आत्माराम है, यह अवस्था तुर्यगा चौथी होने से कोई २ मुझे चौथलाल कहते हैं, ज्ञान के परिपाक रूप अति पुण्य से बाध हुये प्रारब्ध कर्म से जीवन व्यवहार आभास मात्र रह गया है, प्राप्त पदार्थ से मैं प्रसन्न नहीं होता, अप्राप्त का शोच नहीं करता, सब स्थान पर मुझे आनन्द ही आनन्द है! मैं ब्रह्म लोक के आनन्द का स्वयं भोक्ता हूं, इस शरीर में रहता हुआ भी ब्रह्म लोक में विद्यमान हूं, निर्भय हूं, अक्रिय हूं, व्यक्तित्व रहित सर्व का प्रकाशक स्वयं ही स्वयं हूं, मैं नहीं, तू नहीं और यह सब नहीं, जो कुछ है, नहीं है, दीखे न दीखे, सब कुछ परब्रह्म है, ॐ ॐ ॐ" स्वामी जी बोले "धन्य! धन्य! धन्य! तू संपूर्ण स्थिति को प्राप्त हुआ है, जो मैं हूं सो तू है, जो तू है सो मैं हूं, सब से रहित एक अद्वितीय तत्व है, यह पूर्ण स्थिति है, जीवन्मुक्ति है और यह ही विदेह कैवल्य सबोध है!" ऐसा कह कर स्वामी जी वहां से लोकोद्धार के निमित्त अपनी पर्ण कुटी में लौट आये।

ऊपर सात मनुष्यों ने अपने २ अनुभव का जो वर्णन किया है, वह क्रम २ से ज्ञान की सातों भूमिकाओं का वर्णन है। प्रथम शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्वापत्ति, पांचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी और सातवीं तुर्यगा हैं, प्रथम की तीन भूमिकायें मुमुक्षुता रूप हैं, चौथी में ज्ञान होता है, पिछली तीन जीवन्मुक्ति की न्यूनाधिक स्थिति वाली अवस्थायें हैं, ये सात भूमिकायें एक सीढी के समान हैं, जो नीचे से लगी हुई और छत तक पहुंच गई है, नीचे जगत् है और छत ब्रह्म रूप है। जितनी सीढी चढता है उतना ब्रह्म के समीप पहुंचता है। सीढी छोड़ने के बाद छत है, सीढी का नीचे से सम्बन्ध है, ये सातों भूमिकायें बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये हैं, पशु, स्थावार, और म्लेच्छ बुद्धि वाले देहात्मवादियों के लिये नहीं हैं, कोई २ पशु आदि अपवाद रूप से संस्कारी होने से भले इन भूमिकाओं को प्राप्त हो जांय, पशुओं में जैसे हनुमान आदि, म्लेच्छों में धर्म व्याध आदि, असुरों में प्रह्लाद आदि, और राक्षसों में कर्कटी आदि इन भूमिकाओं को प्राप्त हो कर जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुये हैं, ज्ञप्ति से मुक्ति होती है, जैसे मृग जल सम्बन्धी बुद्धि की निवृत्ति होती है, जैसे सीपी में रूपे की निवृत्ति होती है, इसी प्रकार देहात्म बुद्धि की निवृत्ति होती है, उस को ही ज्ञान कहते हैं। कितनेक पुरुषों को अज्ञान रूप आवरण भंग होने से मोह की निवृत्ति होने पर भी प्रबल प्रारब्ध के कारण से परम पवित्र विदेह कैवल्य प्राप्त नहीं होता वे आत्माराम हो कर ऊपर की भूमिका में रहते हैं, कितनेक सनकादिक केवल सात भूमिका में ही रहते हैं, कितनेक तीन भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं, कितने सातवीं भूमिका को प्राप्त होते हैं, कितनेक चार भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं, कितनेक दो में रह जाते हैं, कितनेक भूमिका के चौथे भाग को प्राप्त होते हैं, कितनेक आधे को प्राप्त हुये हैं, कितनेक साढ़े तीन, कितनेक साढ़े चार, साडे पांच, साड़े छः को प्राप्त हुये हैं, इन भूमिकाओं में फिरने वाले पुरुष आंतर विषय, बाह्य विषय और शरीर का आत्मा में लय करने का प्रयत्न किया करते हैं, जो इन्द्रियाजित और मनोजित धीर पुरुष हैं, वे ही इन भूमिकाओं में जय प्राप्त करते हैं, वे ही सर्वोत्कृष्ट राजा हैं, सातों द्विप के राज्य को तृण वत् तुच्छ समझते हैं, और स्वात्म साम्राज्य (स्वरूपानन्द राज्य सुख) को ही सर्वोत्कृष्ट समझते हैं, जो इन भूमिकाओं को जीतने वाला है, वह महान् है और वंदन करने योग्य है। सातवीं भूमिका में सम्राट और विराट देह भी तृण समान तुच्छ है। इस भूमिका से पर विदेह कैवल्य सुख का इसी देह से इस लोक में ही अनुभव करता है।

चर्पट पंजरिका ।

भगवद् गीता किंचिदधीता
गंगा जल लव कणिका पीता ।
ये ना कारि मुरारे रर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥१३॥ भज०

अर्थः—जिसने भगवद् गीता का थोड़ा सा भी पाठ किया, जिसने थोड़े से भी गंगा जल का पान किया, और जिस ने मुरारि प्रभु की पूजा की, क्या यमराज उसकी चर्चा करता है ? नहीं करता। इस लिये गोविन्द का भजन कर।

भाषा पद्य ।

गीता का कुछ पाठ किया है।
थोड़ा गंगा नीर पिया है॥
जिसने करी मुरारी अर्चा।
क्या यम उसकी करता चर्चा ॥ १३ ॥ भज०

विवेचन ।

भगवद् गीता को विचार पूर्वक पढ़ने से तत्त्व बोध होता है, ब्रह्म लोक की प्राप्ति अथवा ब्रह्म निर्वाण का फल होता है। भगवद् गीता ज्ञान को उत्पन्न करने वाली है। गंगा जल निर्मल होता है, निर्मल का पान करने से पाप निवृत्ति पूर्वक निर्मलता होती है, निर्मलता को उत्पन्न करने वाली उपासना कही जाती है, मुर नाम के दैत्य को मारने वाले देव जो मुरारि भगवान् हैं, इन का पूजन करना शुभ कर्म रूप है। इस प्रकार जो ज्ञानी है, उपासक है अथवा ईश्वर का भजन पूजन करने वाला है, ये तीनों ही श्रेष्ठ होने से यमराज की चर्चा करने के विषय नहीं हैं क्योंकि यमराज का दण्ड अधर्मियों को होता है, धर्मियों को श्रेष्ठ स्थान की प्राप्ति होती है, ज्ञानी यमराज के अधिकार से बाहर है, उपासक इष्ट की सहायता होने से और शुभ ध्यान वाला होने से यमराज के दंड का भागी नहीं होता और जिसने भगवान् का पूजन किया है, उसके यहां यम दूतों की दाल नहीं गलती। जो ऊपर की तीनों प्रकार की श्रेष्ठता से रहित है, उसे ही यमदूत सताते हैं। यम का डर सब को है परन्तु ऊपर बताये हुये तीनों में से किसी को भी यम का भय नहीं होता। जो यम के दंड का अधिकारी होता है, उस पर ही यमराज का विचार चलता है। मृत्यु का भय सब को होता है, उस भय से निवृत्त करने के लिये आचार्य जी तीनों प्रकार से अथवा अधिकार के अनुसार एक दो किसी प्रकार से भी गोविन्द का भजन करने को कहते हैं।

गीतायें अनेक प्रकार की और अनेक नाम की हैं। उन में बहुत सी प्रसिद्ध भी हैं जैसेः—अर्जुन गीता, दत्तगीता, शिवगीता, रामगीता, पांडव गीता, नारदगीता, अष्टावक्र गीता, पिंगलगीता, अवधूत गीता, हंसगीता, संन्यासगीता, शंपाकगीता, मंकिगीता बोध्यगीता, विचख्नुगीता, हारितगीता, वृत्रगीता, पाराशर गीता, ब्राह्मणगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिल गीता, देवी गीता, ब्रह्म गीता, भिक्षुकगीता, यमगीता, व्यासगीता, सूतगीता, और सूर्य गीता आदिक अनेक गीतायें हैं परन्तु श्रीमद् भगवद्गीता के गंभीरार्थ और ज्ञान और कर्म के यथार्थ रहस्य के सामने किसी की भी श्रेष्ठता नहीं है। बहुत सी गीताओं में भगवद् गीता का ही कुछ न कुछ आश्रय लिया गया है। सब गीताओं में भगवद् गीता की विशेष प्रतिष्ठा है और यह उपदेश के लिये सरल भी है। भगवद्गीता की महत्ता इतनी है कि विद्वान् उसे ईश्वर स्वरूप ही मानते हैं, सब वेदों का सारांश रूप वेद ग्रंथ ही समझते हैं। छोटा बालक भी भगवद्गीता के नाम से अनजान नहीं है, किसी आधिक द्विज के घर में गीता का पुस्तक न हो, ऐसा संभव नहीं है। जैसे नित्य स्नान, संध्या आदि कर्म करने में आते हैं, वैसे ही गीता का पाठ भी नित्य

किया जाता है। संसार-समुद्र में से उद्धार करने वाले उपायों में गीता का पाठ मुख्य समझा जाता है। विद्वान् पुरुष पढने और समझने योग्य पुस्तकों में गीता को सर्वोत्तम मानते हैं, किसी भी विषय में भगवद्गीता का वाक्य आजाय तो वह विषय प्रौढ़तायुक्त समझा जाता है। गीता का प्रमाण अचल प्रमाण माना जाता है। इस गंभीरार्थ वाली पुस्तक के संस्कृत भाषा में अनेक भाष्य भाषा और टिप्पनियां हुई हैं जैसे श्रीधरी, मधुसूदनी, शंकरानन्दी सुबोधिनी, नीलकंठी, भाव प्रकाश इत्यादि हैं इसके सिवाय हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंगरेजी, जर्मन आदि अनेक भाषाओं में उसका उलथा हुआ है और दिन पर दिन अनेक उलथा और टीका होते चले जाते हैं। भगवद्गीता के रहस्य को विद्वान् अनेक प्रकार से प्रकट कर रहे हैं, यह इस ग्रंथ की प्रौढ़ता की महत्ता है। गीता के एक एक पद श्लोक मूल सूत्र के समाने हैं, थोड़े शब्दों में विशेष विस्तार वाला अर्थ है, विद्वान् जितना विस्तार करना चाहें उतना कर सके हैं इस लिये गीता की जितनी स्तुति की जाय उतनी थोड़ी है, गीता की महत्ता दर्शाता हुआ गीता माहात्म्य कहता है कि जो साक्षात् श्री कृष्ण के मुख से निकले हुये श्री मद् भगवद्गीता का अभ्यास करता है, उसे अन्य शास्त्र के संग्रह करने से क्या प्रयोजन है? एक तरफ सब शास्त्र और दूसरी तरफ अकेली श्री मद्भगवद्गीता रक्खी जाय तो गीता वजनदार निकलेगी। सारांश यह है कि सब शास्त्रों का सारांश रूप गीता है। उपनिषदों से भी गीता को न्यून नहीं समझते। और भी कहा है कि सब उपनिषद् गौ हैं, उन के दूध को दुहने वाले श्री कृष्ण भगवान् हैं, बुद्धिमान् अर्जुन बछड़ा है और गीता अमृत रूप उत्तम दूध है, मतलब यह है कि सब उपनिषदों का सार रूप अमृत खेंच कर श्री भगवान् ने अर्जुन को पिलाया है। ऐसी श्री मद्भगवद्गीता का सम्पूर्ण तो क्या थोड़ासा पाठ भी किया जाय तो यमराज का द्वार देखना नहीं पड़ता। साक्षात् वेद भगवान् के ही बचन हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये। गीता के एक एक पद और श्लोक में सम्पूर्ण ज्ञान रहस्य भरा हुआ है, निश्चयता से किसी एक श्लोक अथवा पाद को धारण किया जाय तो ज्ञानी होंगे सन्देह नहीं है, पढ़ने का यह मतलब नहीं है कि बिना समझे, बिना चित्त लगाये पाठ करे, समझ कर पाठ करना चाहिये। हृदय में गीता का भाव हो, अन्तःकरण की वृत्तियां गीता के बोध के अनुसार होती चली जांय, ऐसा करने वाले को ही सच्चा फल—ज्ञान होता है और इस प्रकार न करने वाले को पाठ का फल तो होता ही है, परन्तु थोड़ा होता है। गीता का पाठ एक शुभ कर्म अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला है, इस लिये निष्फल नहीं जाता। गीता में ही कहा हुआ है कि हे तात! कल्याण करने वाला पुरुष कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। गीता पढ़ने वाले की स्थिति के लिये कहा है कि दुःख के समय में जिसका मन उद्विग्न रहित होता है, और सुखों में जो इच्छा रहित होता है, राग, भय और क्रोध जिसमें से चला जाता है, ऐसा मनन करने वाला स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। अहाहा! कितनी उच्च स्थिति का उपदेश है। गीता में ज्ञान की मुख्यता होते हुये भी अधिकारी के लिये भक्ति, कर्म, योग, यज्ञ, ईश्वर प्रेम आदि का भी विवेचन है। ईश्वर मार्ग में चलने वाले की जैसी रुचि है, उस रुचि के अनुसार थोड़े में ही सब सामग्री मिल जाती है। गीता अमृत स्वरूपिनी है। अमृत का थोड़ा पान भी अमर कर देता है इसी प्रकार गीता भी अमरपने को प्राप्त कराती है। इस विषय में एक कवि ने कहा है:—

दोहा—जोगी ताको जानिये जो गीता को ज्ञान
जोगी ताहि न जानिये जो गीताहि न जान
गीता बाहर से पढ़े भीतर त्यागी होय।
गीता बाहर ही सुने भीतर रागी होय।
गीत का वाणी अर्थ है ता तारण कारण
शब्दातीत हि जानिये गीता का पढ़नार
गीता ज्ञानमयी मह सब शास्त्रन को
गीता ज्ञान लई जहां सभी शास्त्र नि
गीता त्यागी हृदय से सो यम भीता
गीता रागी हृदय से सोयम जीता

प्राचीन समय में कुन्दनपुर शहर के पास गंगा किनारे पर त्यागाश्रम नाम का एक आश्रम था। वह जंगल में आया हुआ था। वहां विशेष कर के त्यागी लोग ही रहते थे। उससे थोड़ी दूर पर ऋषि आश्रम था। वहां ऋषि लोग रहते थे और गंगा किनारे की तरफ कई तपस्वी तप करते थे। त्यागाश्रम में त्याग सहित ज्ञानोपदेश हुआ करता था। ऋषि लोग यज्ञादि क्रियायें किया करते थे और तपस्वी तप उपासना में लगे रहते थे, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पुरियों के समान थोड़ी २ दूर पर ये तीनों स्थान थे। तीनों ही स्थान रमणीक थे। पास ही बड़ा शहर कुन्दनपुर था। वहां का राजा और प्रजा धार्मिक थे। उन से तीनों आश्रमों का भली प्रकार निर्वाह होता था, तीनों आश्रमों में से किसी को शहर में जाना नहीं पड़ता था। जिस २ वस्तु की आवश्यकता होती थी शहर के भाविक लोग प्रेम सहित पहुंचा दिया करते थे, कई भाविक प्रति दिन दर्शन करने आया करते थे और संक्रांति आदि शुभ पर्वों के ऊपर वहां का स्थान शहर वालों से भर जाया करता था, मेला जुड़ जाता था। तीनों आश्रम वाले अपने स्थान और अधिकार के अनुसार चेष्टा में प्रवर्त रहते थे, तपस्वियों के स्थान में शांति का साम्राज्य था, ऋषियों के आश्रम में वेद की ध्वनि हुआ करती थी और यज्ञ की सुगन्धि फैली रहती थी और त्यागियों के स्थान में महा वाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन हुआ करता था। यहां कई ब्रह्मनिष्ठ महात्मा विराजते थे। उनकी संनिधि से सतोगुण का प्रभाव बढ़ता जाता था। इस स्थान पर रागी और त्यागी वारम्वार आते जाते रहते थे। आने वालों में एक पुरुष कुछ विलक्षण प्रकृति का था। ब्रह्मानन्द नाम के ब्रह्मनिष्ठ सन्त की उसके ऊपर विशेष कृपा दृष्टि थी, धनी, प्रतिष्ठित और ओहदेदार बहुत प्रकार के मनुष्य आते थे परन्तु एक सामान्य मनुष्य के ऊपर कृपा और स्वाभाविक प्रेम होने का कारण स्वयं ब्रह्मानन्द भी नहीं जानते थे। वह मनुष्य क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था, गरीब था और आजीविका के लिये उसने एक जिमीदार की नोकरी [illegible]

एक उसकी स्त्री, एक पुत्र और एक पुत्री तीन प्राणी थे। गरीबाई से वह अपनी गुजर करता था, और सन्तुष्ट रहता था, उसकी स्त्री भी सन्तोष वाली थी और पुत्र पुत्री में भी माता पिता के सन्तोष का प्रभाव पड़ा था। ऐसा होने से गरीब होने पर भी यह कुटुम्ब सुखी था। जिमींदार की नोकरी से जब २ क्षत्रिय को अवकाश मिलता था तब २ वह त्यागाश्रम आदि आश्रमों में जाया करता था। वहां जा कर प्रणाम कर के बैठ जाया करता था, कुछ बोलता चालता न था। क्रियाओं को देखता और जो सुनने को होता उसे सुना करता था। उसका चित्त हमेशा प्रसन्न रहता था, यथाविधि सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी वह व्यवहारिक मनुष्यों के अधिक संसर्ग में नहीं आता था और व्यवहार में भी थोड़ा बोलता था। सारांश यह है कि वह अपने मार्ग में ही चलने वाला सीधा सादा मनुष्य था। ब्रह्मानन्द के पास भी वह आया करता था। ब्रह्मानन्द उस से विशेष परिचित होने के लिये चाहते थे कि वह कुछ बोले परन्तु वह बोलता न था। एक दिन ब्रह्मानन्द ने ही कहा "हे भाविक! मैं तेरा विशेष परिचय चाहता हूं, तेरे मुख की प्रसन्नता, तेरी सभ्यता और तेरा वस्त्रादिक का पहिनना मुझे विलक्षण मालूम होता है!" मनुष्य बोला "महात्मा जी! मुझ में विलक्षणता कुछ नहीं है, मैं एक गरीब राज पुत्र हूं, मेरा नाम पथिकचन्द है, एक छोटी सी नोकरी करके अपना गुजारा करता हूं!" ब्रह्मानन्द बोले "नहीं! नहीं! तेरा चहरा नहीं कहता कि तू गरीब है, गृहस्थियों में तेरी गरीबी भले विख्यात हो परन्तु मेरी दृष्टि से तू गरीब नहीं है, श्रीमान् है! ज्ञान की प्रभा तेरे मस्तक पर विराजमान है! तेरा व्यवहार कैसा ही हो, वह मुझे पूछना नहीं है, तूने कौन २ शास्त्र पढ़े हैं? तेरा निश्चय क्या है? कौन से पदार्थ की प्राप्ति से तुझे इस प्रकार की अखंडित प्रसन्नता है? मैं देखता हूं कि राग द्वेष वाले पदार्थों में भी तेरा चित्त विकार को नहीं प्राप्त होता! तू मूर्ख हो, ऐसा भी नहीं है! तुझमें मुझसे भी कुछ विशेषता दीखती है! मैं दुनियां के डर से आया हुआ हूं, [illegible] धारण करके, एकांत में

रह कर शास्त्र के उपदेश और अपने अनुभव से ब्रह्मनिष्ठ हुआ हूं तो भी मेरी चित्त वृत्ति तेरे समान विकार रहित नहीं है ! मैं पूछता हूं, तू क्या जानता है ? " पथिकचन्द बोला " महाराज ! मैं अपने मार्ग में चल रहा हूं, जहां जाना है, उस के लक्ष से सीधे मार्ग चल रहा हूं, मार्ग के पदार्थ मुझे बाधा नहीं देते, मैं सन्त महात्मा नहीं हूं, शास्त्रों का पठन भी मैने नहीं किया है, जब मैं छोटा था तब हमारे यहां एक सन्त आया करते थे, उन्होंने मुझे गीता का अध्ययन कराया था और यह भी कह दिया था कि अब तुझे अन्य शास्त्र के पढने की आवश्यकता नहीं है, छोटी सी एक गीता जो तू ने अर्थ सहित पढ़ी-समझी है, वह ही बहुत है ! तब से मैं ने कोई अन्य शास्त्र नहीं देखा, न देखने की मेरी इच्छा है। गीता के उपदेश के अनुसार ही मैं अपना वर्ताव करता हूं, सब गीता में से जो सार मैंने ग्रहण किया है, वह यह है:—मैं सब प्रकार के व्यवहारिक धर्मों के भाव से रहित होकर तन मन और धन से ईश्वरार्पण हो चुका हूं, किसी कार्य में भी मैं अपने को कर्ता भोक्ता नहीं मानता, मैं अपनी सत्ता ईश्वर से बाहर नहीं मानता, इसी से मैं विकार रहित हूं, जब मैं ईश्वर से पृथक् नहीं हूं तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार मुझमें किस प्रकार हों ? मैं समझता हूं कि कर्म में मेरा अधिकार है, फल में नहीं है, क्योंकि कर्म के लिये ही मेरा शरीर पैदा हुआ है, इसलिये शरीर से पूर्व प्रारब्ध के प्रवाह के अनुसार शुद्ध बुद्धि से विचार पूर्वक कर्म होते रहते हैं, कर्म के संस्कार और फल के संस्कारों को मैं अपने साथ नहीं जोड़ता, जब मैं ईश्वर से पृथक् नहीं हूं तो ईश्वर से पृथक् कर्म फल की इच्छा मुझे किस प्रकार हो ? यह भाव हमेशा बना रहता है ! भूल करके भी कर्ता भोक्ता का विशेष अहंभाव मुझ में कभी नहीं आता ! इसी लिये शांत और प्रसन्न रहता हूं ! मुझे त्याग अथवा राग में भी अधिकता अथवा न्यूनता नहीं दीखती ! यह मेरा सच्चा वृत्तान्त है !" इतना सुन कर ब्रह्मानन्द ने अति प्रसन्न हो कर स्वाभाविकता से ही पथिकचन्द को प्रणाम कर दिया ! पथिकचन्द किंचित् प्रकार खिन्न होता हुआ विनयपूर्वक बोला "महाराज ! व्यवहार दृष्टि से आप का यह [illegible] उचित नहीं कहा जा सकता !!!" ब्रह्मानंद बोले "[illegible] व्यवहारिक दृष्टि से मुझे क्या ? गृहस्थ [illegible] हुये भी मुझ त्यागी से तेरी ब्रह्म निष्ठता प्रबल [illegible] तू श्रीमद् भगवद्गीतामय बन गया है ! जब तुझे [illegible] प्रिय है तो गीता की प्रत्यक्ष मूर्ति तू मुझे प्रिय [illegible] न हो ? होना ही चाहिये !" वाह ! वा ! श्रीमद्भग[illegible] गीता गीता ही है ! जिसने गीता रहस्य का [illegible] लिया वह कृतार्थ हुआ !

जिस प्रकार ज्ञान की श्रेष्ठता में गीता मुख्य [illegible] इसी प्रकार निर्मल करने वालों में गंगा जी श्रेष्ठ [illegible] गंगा सुरसरि (देवनदी) कही जाती है इस [illegible] अन्य सब नदियों से गंगा जी की श्रेष्ठता है [illegible] पवित्र होता है, वह ही दूसरे को पवित्र कर सक[illegible] है, यह नियम है। गंगा जी पवित्र है, इस [illegible] अन्य को भी पवित्र कर सक्ती है। पुराणों [illegible] गंगा जी का प्रताप-माहात्म्य स्वर्गादि [illegible] वर्णन है। शंकर और विष्णु सब देवों में [illegible] हैं, उन दोनों के सम्बन्ध वाली गंगा जी [illegible] शंकर की जटा की प्रवाह रूप और विष्णु के [illegible] पादोदक रूप गंगाजी की पवित्रता और माहात्म्य [illegible] विशेष है। महत्पुरुषों के संग स्पर्श से जड़ [illegible] भी पवित्र और माहात्म्य वाले हो जाते हैं [illegible] तो देव नदी है, महत् के आश्रय, संग और [illegible] वाली है, तब उस में पवित्रता क्यों न हो ! [illegible] के हित के निमित्त भगीरथ की स्तुति, तपश्चर्या [illegible] प्रार्थना द्वारा जिस का जगत् में आविर्भाव हुआ [illegible] ऐसी सुरसरिता श्री गंगाजी में पवित्रता [illegible] न हो ? पवित्र करने के हेतु ही जि[illegible] जन्म हुआ है, ऐसी गंगा भाविक मनुष्यों [illegible] अवश्य पवित्र करती है ! गंगाजी का एक [illegible] का स्नान सात जन्मों के पापों को नाश करने [illegible] है, ऐसा कथन पुराणों में मिलता है। थोड़े समय [illegible] लिये पुराणों के कथन को दूर रख दिया जाय [illegible] गंगाजी की पवित्रता निर्विवाद है क्योंकि स[illegible] और परधर्म वाले सब को गंगाजी की पवित्रता [illegible] करनी पड़ती है। सात्विक दृष्टि से भी गंगाजी [illegible] हलका, पवित्र, निर्मल, मीठा और रोग नाशक [illegible]

हुआ है। जिस स्थान में से गंगाजी का प्रवाह चालू हुआ है, वह हिमालय में ऊंचे स्थान पर आया हुआ मानसरोवर है, हिमालय में से अन्य भी कई नदियों का प्रवाह चालू हुआ है परन्तु वे स्थान गंगाजी के आद्य स्थान के समान निर्मल और पवित्र नहीं हैं, गंगाजी का प्रवाह बरफ के पिघले हुये जल से है वह बरफ भी ऐसे स्थान पर है जहां किसी प्रकार के पशु, पक्षी, जीव जन्तु अथवा वनस्पति नहीं है, मिट्टी भी नहीं है, निर्मल पाषाण में से प्रवाह आता है, उस में किसी का मेल नहीं होता, वहां का वायु भी शुद्ध पवित्र और संस्कारों के परमाणुओं से रहित है इसी लिये गंगा जल विशेष शुद्ध है, गंगोतरी के शुद्ध जल को बोतल में भरकर रखने से वर्षों तक उस में जीव नहीं पड़ते, यह विशेषता है, इन सभी कारणों से और श्रद्धा की विशेषता से गंगा पवित्र करने वाली है। बहुत से तीर्थ गंगा तट पर आये हुये हैं और सात्विक हमेशा, बहुत प्रयास करके भी गंगा स्नान प्राप्त करते हैं।:

स्थूल बुद्धि वाले को गंगा स्नान, गंगा जल पान पवित्र करने वाला है, देवताओं की तरफ से आया हुआ ऐसा जो चैतन्य का प्रवाह है, वह देव गंगा रूप उपासना है। जैसी गंगा जी निर्मल है, ऐसी ही उपासना निर्मल और पवित्र करने वाली है इस लिये गंगा जल पान के साथ में उपासना का भी पान करना-सेवन करना समझना चाहिये। सूक्ष्मता में योग शास्त्रानुकूल जब ध्यान किया जाता है तब मस्तक में से एक प्रकार की शीतलता नीचे उतरती है और उस से योगी का शरीर चन्द्रामृत से पूर्ण हो कर दृढ होता है। योगी उस को अमृत पान कहते हैं, यह ही गंगा स्नान और गंगा पान है, पिंड और ब्रह्मांड की एकता है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत-कैलाश स्थूल ब्रह्मांड में हैं इसी प्रकार पिंड में मस्तक का ऊपर का भाग उत्तर में हिमालय और कैलाश है, जैसे गंगा का बहन कैलाश में से नीचे की तरफ होता है इसी प्रकार शीतल, शुद्ध और पवित्र करने वाला चन्द्रामृत मस्तक में से नीचे की तरफ गिरता है इस लिये यह भी गंगा स्वरूप है। नाडियों में चन्द्र स्वरूप ऐसी गंगा नाडी प्रसिद्ध है जो शांति करने वाली और योगाभ्यास में आरंभ रूप है, इस प्रकार भाव और क्रिया के अनुसार स्थूल गंगा का स्नान, पान अथवा सूक्ष्म गंगा का स्नान पान अधिकारियों को पवित्र करने वाला है। जो इस प्रकार के भाव सहित गंगा का स्नान पान करता है, वह शुभ कर्म करने वाला होने से नरक में नहीं जा सक्ता इस लिये यमराजा उस की चर्चा नहीं करता यानी वह पुरुष यम यातना में नहीं पड़ता, या तो पवित्र हो कर शुभ कर्मों के प्रभाव से स्वर्गादिक पुण्य लोकों को प्राप्त होता है अथवा अंतःकरण अत्यंत शुद्ध होने से तत्व ज्ञान-परम पद को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार मुरारि प्रभु की पूजा भी सब प्रकार के पापों को नाश करने वाली और यम यातना से छुटाने वाली है। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार से पूजा होती है, जितनी सूक्ष्म होती है, उतनी ही प्रबल होती है। वास्तविक रीति से तो देश, काल और वस्तु से परिच्छेद रहित ईश्वर का पूजन करना-उस को परिपूर्ण जानना चाहिये, मन वाणी से अगोचर ईश्वर को विवेक, वैराग्य और निश्चयात्मक बुद्धि से सत्संग और शास्त्र द्वारा जान सक्ते हैं। ऐसे सर्वात्मक भाव होने से ईश्वर का निरंतर चिन्तवन होता है परन्तु सब मनुष्य इस प्रकार का पूजन कर नहीं सके, जो ऐसा नहीं कर सके उन को तो मन, वाणी और क्रिया से मणि—मूर्ति आदिक पदार्थों में ईश्वर का आवाहन कर के पूजन करना चाहिये। स्थूल पूजन भी मन वाणी संयुक्त ही होता है परन्तु उस में स्थूल की विशेषता होने से यह स्थूल पूजन कहा जाता है। सगुण, साकार आदि भेद से पूजन कई प्रकार का होता है और इष्ट के अनुसार होता है, प्रतिमा पूजन में प्रतिमा स्थापित-स्थिर हो अथवा अस्थापित अस्थिर हो, जिस प्रकार की प्रतिमा हो उस प्रकार और उस की विधि के अनुसार पूजन होता है। ऐसे ही मानसिक प्रतिमा पूजन होता है, स्थूल पूजन में सामग्री स्थूल होती है और मानसिक में मानसिक होती है। दोनों

में श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये, क्योंकि जितनी श्रद्धा दृढ होती है, उतना ही पूजन संस्कार दृढ होता है और दृढ संस्कार फल में मदद रूप होता है। संसार का शरीर होते हुये संसार की निवृत्ति नहीं होती और शरीर के साथ शरीर का व्यवहार भी लगा ही रहता है, इस लिये संसार की तरफ की वृत्ति नहीं छूटती, संसार का भाव और वृत्ति दृढ हो गई है, उन्हें कम जोर करने में ईश्वर की तरफ की क्रिया-वृत्ति मदद देती है। जब वृत्ति रुक नहीं सकती तो ईश्वर भाव की वृत्ति करना ही अच्छा है, इस में ही ईश्वर की प्रसन्नता है। ईश्वर भाव यम यातना से छुड़ाने वाला है। संसार की वृत्ति तो इच्छा अथवा अनिच्छा से हुआ ही करती है, वृत्ति बिना मन टिक नहीं सका किन्तु उस वृत्ति का अवलम्बन क्रिया में बदल सके हैं, वह ही ईश्वर भाव और ईश्वर पूजन है, अधिकारियों के भेद से पूजन आदिक का भेद है परन्तु ईश्वर की तरफ का भाव सब प्रकार के पूजन में अवश्य होता है।

मुर नाम का दैत्य अनेक उपद्रव करने वाला और विकट था। विष्णु अवतार ने उस का मर्दन किया था। विष्णु भगवान् प्रत्येक मनुष्य के भीतर रहे हुये हैं, उन का भजन करने से अज्ञानी मनुष्य के भीतर रहे हुये अज्ञान रूप मुर दैत्य का नाश होता है इस लिये यहां पर मुरारि प्रभु का पूजन कहा है, संसारासक्ति, अज्ञान—अविद्या दुःख का हेतु होने से राक्षस है। वह ही कष्ट देता है, वारंवार अज्ञान में किये हुये कर्मों से यमराज का दंड भोगना पड़ता है। यदि अज्ञान निवृत्त हो जाय तो दंड भोगना न पड़े! अज्ञान निवृत्ति का कारण ईश्वर का पूजन है। माया का पूजन बंधन करने वाला है और ईश्वर का पूजन माया में से छुड़ाने वाला है, भजन करने वाले मोक्ष को प्राप्त होते हैं। भजन से कितने काल में मोक्ष प्राप्त होगा, यह नहीं कहा जा सका। पूर्व संस्कार और भाव की तेजी ही मात्र में कारण है, कोई संस्कारी तो क्षण भर में ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, कोई एक दो जन्मों में और कोई अनेक जन्मों में मोक्ष को प्राप्त होता है, देर भले हो परन्तु पूजन भजन करने वाले का परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। जब संसार की तरफ का परिश्रम भी तुरन्त अथवा कालांतर में फल बता देता है तो ईश्वर की तरफ का परिश्रम किस प्रकार निष्फल जाय? नहीं जाता।

नीति, धर्म और न्याय मार्ग को छोड़ने वाले, वर्णाश्रम धर्म का विचार न करने वाले, दूसरों को कष्ट पहुंचाने वाले, ईश्वर का डर न रखकर चलने वाले, मर्यादा को तोड़ने वाले, अधम स्वार्थ में ही अर्थ को समझने वाले, निर्दयी, अभिमानी, काम क्रोध से पूर्ण, शास्त्र से विरुद्ध वर्तने वाले, इन्द्रियों के वश में रहने वाले, आस्ता रहित, पाप कर्म में प्रीति वाले, आप्त जनों का अनादर करने वाले, सत्यासत्य को न समझने वाले, वस्तु स्थिति के विचार रहित, मूर्ख, दूसरों की निन्दा करने वाले, मन वचन कर्म से हिंसा करने वाले, शिष्ट सम्प्रदाय से विरुद्ध वर्तने वाले, गीता पठन, गंगा स्नान और ईश्वर पूजन से रहित, शरीर, इन्द्रियों को पोषण करने वाले, यमराज की शिक्षा के पात्र होते हैं।

एक समय लोकों में विचरते हुये लोगों की अनेक प्रकार की चेष्टा देखते हुये शंका से युक्त हुए नारद जी यमराज के पास पहुंचे, यमराज ने नारद जी का पूजन किया, और आदर सहित पास बैठा कर कहा "हे भक्तराज! आप के दर्शन से मैं आज कृतार्थ हुआ हूं, मैं आप का कौनसा आतिथ्य करूं?" नारद बोले "हे धर्मराज! आप की तो कृपा ही होनी चाहिये! तीनों लोक आप के भय से कांपते हैं, तीनों लोकों पर आप का अधिकार है!" यमराज बोले "हे नारद! आप ऐसा मत समझिये, मेरा अधिकार अधर्मियों पर ही चलता है, मैं सदा, महात्मा भक्त जनों का दर्शन करना चाहता हूं, परन्तु उन का दर्शन मुझ को नहीं होता! इसी से कहता हूं कि आज मेरा अहोभाग्य है कि आप के दर्शन हुये!" नारद बोले "अच्छा! तब आप बताइये कि आप का अधिकार किन २ पर चलता है और किन २ पर नहीं चलता!" यमराज बोले "जो ज्ञानी पुरुष हैं, भक्त हैं, उन के ऊपर मेरा अधिकार नहीं चलता, मेरा ही

अधिकार न चलता हो, इतना ही नहीं किन्तु इन्द्र जो तीनों लोकों का राजा है, उस का भी उन पर अधिकार नहीं चलता, वे उस के अधिकार से बाहर हैं, ऐसे पुरुष तो हम लोगों को वन्दनीय हैं! मतलब यह है कि जो गीता का जानने वाला है, वह हमारे लिये पूजनीय है, क्योंकि वह ब्रह्म स्वरूप है, दूसरे जो गंगा स्नान और उपासना में प्रवर्त हैं, वे ब्रह्म लोक अथवा अन्य उच्च लोकों में जाने वाले हैं, इस लिये श्रेष्ठ हैं, उन के ऊपर हमारा अधिकार नहीं चलता, हम तो उन का आदर करते हैं और जो ईश्वर पूजन आदि शुभ कर्मों में प्रवर्त हैं, ईश्वर के निमित्त आचारण करने वाले हैं, वे पुण्य लोकों प्राप्त होते हैं, वे भी श्रेष्ठ हैं और हमारे आदर करने योग्य हैं, ऐसे तीन प्रकार के मनुष्यों पर हमारा अधिकार नहीं चलता, चौथे जो अधर्मी हैं, तीनों प्रकार के कार्य से रहित हैं, वे ही मेरी यम यातना के अधिकारी होते हैं, उन लोगों को ही मेरा डर है। जो मैंने ऊपर बताये हैं, उन को न तो मेरा डर है और न मैं उन का कुछ कर सका हूं, हे नारद! ऐसे महानुभावों की तरफ मैं क्रूर दृष्टि से देख भी नहीं सका! उन के सामने मुझे हाथ जोड़ना ही बनता है।" इसी लिये ईश्वर भजन करना श्रेष्ठ है।

वाक्य सुधा।

(गताङ्क से आगे)

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥३०॥

देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर और परमात्मा के ज्ञान हो जाने पर जहां २ मन जाता है, वहां २ समाधि ही है।

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥३१॥

उस परावर (परब्रह्म) को देख लेने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। सब संशय कट जाते हैं और सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, पर—ब्रह्मा आदि भी जिस में अवर-- निकृष्ट हैं, उसे परावर कहते हैं।

अवच्छिन्न चिदाभास स्तृतीयः स्वप्न कल्पितः।
विज्ञेय स्त्रिविधो जीव स्तत्राद्यःपारमार्थिकः॥३२॥

अवच्छिन्न, चिदाभास और तीसरा स्वप्न कल्पित, ये तीन प्रकार का जीव है, इन में से पहिला पारमार्थिक—सत्य है। अवच्छिन्न ही कूटस्थ अथवा साक्षी के नाम से कहा जाता है।

अवच्छेदः प्रकल्पितःस्या, दवच्छेद्यन्तु वास्तवम्।
तस्मिन् जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्व तु स्वभावतः॥३३

अवच्छेद (सम्बन्ध) कल्पित है और अवच्छेद्य (सम्बन्ध वाला) वास्तविक है, उस अवच्छेद्य में जीव भाग कल्पित है, स्वभाव से तो ब्रह्म ही है।

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादि वाक्यानि जगुर्नेतर जीवयोः॥३४॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्य अवच्छिन्न जीव की पूर्ण ब्रह्म के साथ एकता करते हैं, दूसरे दोनों जीवों की नहीं करते यानी चिदाभास और स्वप्न कल्पित की ब्रह्म के साथ एकता नहीं करते।

ब्रह्मण्यवस्थित माया विक्षेपावृति रूपिणी।
आवृत्या खंडतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ३५

ब्रह्म में स्थित आवरण और विक्षेप शक्ति वाली माया ब्रह्म की अखंडता को आवरण कर के उस में जगत् और जीव की कल्पना करती है। इसी प्रकार भोक्ता और भोग्य का भी विभाग करती है।

जीवो धीस्थ चिदाभासो भवेद्भोक्ता हि कर्मकृत्।
भोज्य रूपमिदं सर्वं जगत्साद् भूत भौतिकम्॥३६॥

बुद्धि में टिका हुआ चिदाभास रूप जीव ही भोक्ता और कर्म का कर्ता है। भूत भौतिक यह सारा जगत भोग करने के योग्य है।

अनादि कालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम् ।
व्यवहार स्थितं तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ॥३७॥

अनादि काल से आरम्भ कर के मोक्ष से पूर्व ये दोनों अवच्छिन्न और चिदाभास जीव व्यवहार में स्थित हैं, इस लिये ये दोनों व्यवहारिक हैं।

चिदाभासे स्थिता निद्रा विक्षेपावृति रूपिणी ।
आवृत्य जीव जगती पूर्वे नूत्नेतु कल्पयेत् ॥३८॥

चिदाभास में स्थित आवरण और विक्षेप शक्ति वाली निद्रा पूर्व के जीव और जगत् को आवरण कर के स्वप्न में नये जीव और जगत की कल्पना करती है।

प्रतीति काल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके ।
नहि स्वप्न प्रबुद्धस्य पुनःस्वप्ने स्थिति स्तयोः॥३९

प्रतीति काल में ही रहने के कारण से ये दोनों (स्वप्न के जीव और जगत्) प्रातिभासिक हैं। स्वप्न से जगे हुये पुरुष के दूसरे स्वप्न में पहिले स्वप्न के जीव और जगत् की स्थिति नहीं होती।

प्रातिभासिक जीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम् ।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तुमिथ्याति व्यावाहरिकः॥४०॥

स्वप्न वाला जो प्रातिभासिक जीव है, वह प्रातिभासिक जगत् को सच्चा समझता है, और व्यवहारिक जीव तो उसे मिथ्या समझता है, वैसे ही

व्यावहारिक जीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम् ।
सत्यं प्रत्येति मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः॥४१॥

जो व्यवहारिक जीव है, वह व्यवहारिक जगत् को सच्चा समझता है और पारमार्थिक जीव तो उसे मिथ्या समझता है।

पारमार्थिक जीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम् ।
प्रत्येति वीक्षते नान्य द्वीक्षते त्वनृतात्मना ॥४२॥

पारमार्थिक जीव तो ब्रह्म की एकता को पारमार्थिक समझता है, दूसरी वस्तु को नहीं देखता और यदि देखता है तो मिथ्या रूप से ही देखता है।

माधुर्य द्रव शैत्यादि नीर धर्मास्तरङ्गके ।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेप्यनुगता यथा ॥४३॥

जैसे जल के धर्म मधुरता, द्रवता, और शीतलता तरंग में अनुगत होकर तरंग में रहने वाले फेन में भी अनुगत होते हैं।

साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके ।
तद् द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ॥४४॥

वैसे ही साक्षी में स्थित सत् चित् आनन्द व्यवहारिक जीव में अनुगत हो कर उस के द्वारा प्रातिभासिक में भी अनुगत होते हैं।

लये फेनस्यतद्धर्माःद्रवाद्याःस्युस्तरङ्गके ।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥४५॥

फेन के लय हो जाने पर उस के द्रवादि धर्म तरंग में रहते हैं और तरंग के लय हो जाने पर पूर्व वत् जल में ठहर जाते हैं।

प्रातिभासिके जीवस्य लयस्युर्व्यावहारिके ।
तल्लये सच्चिदानन्दाःपर्यवस्यन्ति साक्षिणि ॥४६॥

इसी प्रकार प्रातिभासिक जीव का लय होने पर सत् चित् आनन्द धर्म व्यवहारिक में रहते हैं और उस का भी लय हो जाने पर साक्षी में लय होते हैं।

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका ।

(गताङ्क से आगे)

और यह दूसरा दृष्टांत है कि जैसे अपनी फैलाई हुई माया से मायावी तीनों काल में भी मिश्रित नहीं होता क्योंकि यह माया अवस्तु है और जैसे एक स्वप्न देखने वाला स्वप्न दर्शन की माया से मिश्रित नहीं होता क्योंकि जाग्रत् और सुषुप्ति अभिन्न नहीं है, इस प्रकार तीनों अवस्थाओं का साक्षी जो एक अव्यभिचारी है वह तीन व्यभिचारी दशाओं से संस्पर्श वाला नहीं होता क्योंकि तीनों अवस्थाओं में परमात्मा प्रकाश मात्र है जैसे कि रज्जु का सर्पादि में प्रकाश मात्र है, वेदान्त को जानने वाले आचार्यों ने इस विषय में कहा है:—'अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते । अजमनिद्रम स्वप्नम द्वैतंबुध्यते तदा'॥ [गौडपा० कारि० १।१६] (जब अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है तब जन्म, निद्रा, स्वप्न और द्वैत से रहित को जानता है) इस लिये प्रलय में कार्य के समान कारण के भी स्थूलता आदि दोष का प्रसंग आवेगा, ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है । इसी प्रकार समस्त विभाग के अविभाग प्राप्त होने पर फिर से विभाग से उत्पत्ति में नियम का कारण उत्पन्न नहीं होता, ऐसा जो कहा है, यह भी दोष नहीं है क्योंकि दृष्टांत है ही जैसे सुषुप्ति समाधि आदि में भी स्वाभाविक अविभाग होता है तो भी मिथ्या ज्ञान दूर नहीं होता इस लिये जागने पर पूर्व के समान फिर विभाग हो जाता है, ऐसे ही यहां भी होगा, इस विषय में श्रुति भी है:- 'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा पतङ्गो दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' [छान्दो० ६।९। २। ३] (ये सब प्रजा ब्रह्म में एक हो कर ऐसा नहीं जानतीं कि हम को ब्रह्म में एक होना चाहिये, यहां सुषुप्ति से पहिले-जागते समय बाघ, सिंह, भेड़िया, कुत्ता, कीड़ा पतंगा, डांस, मच्छर अथवा जो जो होता है, वह वह तब-सुषुप्ति में से उठे पीछे होता है) जैसे परमात्मा में विभाग है तो भी स्थिति में मिथ्या ज्ञान से जुड़े हुये विभाग का व्यवहार स्वप्न के समान भिन्न २ देखने में आता है, ऐसे ही प्रलय में भी मिथ्या ज्ञान से जुड़ी हुई विभाग शक्ति ही अनुमान करनी होगी, इस लिये मुक्तों की पुनरुत्पत्ति के प्रसंग का निराकरण हुआ समझना चाहिये क्योंकि सम्यक् ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हुआ है । और अंत में जो दूसरे विकल्प की उत्प्रेक्षा की है कि यह प्रलय में भी विभक्त ही परब्रह्म के साथ स्थित रहेगा उस का भी प्रतिषेध हुआ है । इस लिये यह औपनिषद दर्शन समीचीन है ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और स्वपक्षदोषात् [सांख्य वादी के] अपने पक्ष में [भी वह] दोष होने से [उस दोष को निराकरण करने का प्रयास करना हम को आवश्यक नहीं है]

टीकाः—प्रतिवादी के पक्ष में भी यह दोष समान है क्योंकि ऐसा जो कहा है कि विलक्षणपने के कारण इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सका तो जगत् का उपादान कारण प्रधान मानने से भी यह दोष समान ही है क्योंकि सांख्य मत में शब्दादि रहित प्रधान से शब्दादि युक्त जगत् की उत्पत्ति मानी है यानी विलक्षण कार्य की उत्पत्ति मानी है तो उत्पत्ति से पूर्व असत्कार्यवाद का प्रसंग समान ही है, इसी प्रकार अपीति-प्रलय में कार्य का कारण में अविभाग-अभिन्नपना माना है इस लिये उस के समान यह प्रसंग भी समान है, जिन का सर्व विशेष नष्ट हो गया है ऐसे विकार प्रलय में अभिन्न स्वरूप होने चाहियें इस लिये उस उस पुरुष का उपादान, यह उस का है, ऐसा प्रलय से पूर्व प्रत्येक पुरुष में जो नियमित भेद है, वह दूसरी उत्पत्ति में उसी प्रकार नियमित नहीं हो सका क्योंकि कारण है नहीं, यदि कारण बिना नियम मानोगे तो कारण का अभाव सब के

लिये एक सा होने से मुक्त पुरुषों को भी फिर बंधन होने का प्रसंग आयेगा, यदि ऐसा कहो कि प्रलय में कुछ भेद तो अभिन्न होते हैं और कुछ अभिन्न नहीं होते तो ऐसा प्राप्त होगा कि जो अभिन्नता को प्राप्त नहीं हुये हैं, वे प्रधान के कार्य हैं। इस प्रकार मानने से यह दोष दोनों में समान होने से एक पक्ष में लगाना ठीक नहीं है इस लिये अदोष स्वरूप ही सिद्ध होता है और वह ही मानना चाहिये ॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥ ११ ॥

अन्वय और नन्वय का अर्थः—तर्काप्रतिष्ठानात् तर्क के अप्रतिष्ठान से अपि भी [ब्रह्म में रही हुई जगत् की कारणता का बाध नहीं होता] अन्यथा दूसरी रीति से (प्रतिष्ठित तर्क से) [प्रधान] अनुमेयम् अनुमान करने योग्य [है] इति ऐसा चेत् [कहो] तो एवम् ऐसा [करने से] अपि भी अविमोक्षप्रसङ्गः मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

टीकाः—और जो वस्तु शास्त्र का विषय हो, उसके सम्बन्ध में तर्क उठाना ठीक नहीं है क्यों कि शास्त्र प्रमाण से रहित पुरुष की उत्प्रेक्षा के आधार पर उठाई हुई तर्क प्रमाण रूप नहीं होती कारण कि बुद्धि से उठाई हुई तर्क नियम सहित नहीं होती। इस का कारण यह है कि एक की उठाई हुई तर्क दूसरे को आभास रूप मालूम पड़ती है और दूसरे की उठाई हुई तर्क तीसरे को आभास रूप जान पड़ती है इस लिये तर्कों को प्रमाण रूप मानना ठीक नहीं है क्योंकि परम पुरुष तर्क प्रमाण का विषय नहीं है, और प्रसिद्ध माहात्म्य वाले कपिल मुनि अथवा अन्य की उठाई हुई तर्क प्रमाण रूप मानोगे तो दूसरों की दृष्टि से उन का मत अप्रमाण रूप हो सका है क्योंकि प्रसिद्ध माहात्म्य वाले तीर्थंकर, कपिल और कणाद आदि का मत परस्पर विरुद्ध है

प्रतिपक्षी—मैं ऐसा कहता हूं कि जिस प्रकार प्रमाण का दोष न आवे इस प्रकार भिन्न २ रीति से अनुमान किया जाय तो फिर कैसा ? ऐसा कोई नहीं कह सका कि तर्क प्रमाण रूप नहीं है। यह तर्क अप्रमाण रूप है, ऐसी भावना भी तर्क से हो सकी है क्योंकि कितनी ही तर्कें अप्रमाण होने से, उन्हीं तर्कों के समान दूसरी तर्कें भी अप्रमाण रूप हो जांयगी। इस प्रकार सब तर्कें अप्रमाण रूप हो जाने से लोक व्यवहार ही न चलेगा। भूत तथा वर्तमान व्यवहार का समानपना होने से भविष्य के व्यवहार में सुख दुःख आदि के अभाव के लिये लोक की प्रवृत्ति देखने में आती है। जिस स्थान पर श्रुति के अर्थ में विरोध आता हो वहां आभास से अर्थ का निराकरण किया जाता है इसी प्रकार यथार्थ अर्थ का निश्चय वाक्य वृत्ति निरूपण रूप तर्क से ही कर सके हैं। मनु महाराज भी इसी प्रकार कहते हैं:—'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म शुद्धिमभीप्सता॥' [मनुस्मृ० १२। १०५] (धर्म शुद्धि प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष को प्रत्यक्ष, अनुमान और अनेक प्रकार की संप्रदाय सहित शास्त्र इन तीनों को भली प्रकार जानना चाहिये) और 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेद शास्त्र विरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः, [मनुस्मृ० १२ । १०६] जो (ऋषि प्रणीत वेद को और धर्म उपदेश करने वाली स्मृति को वेद शास्त्र से अविरोधी तर्क से विचारता है, वह धर्म को जानता है अन्य नहीं जानता) इस प्रकार कहता हुआ मनु भी यह ही मानता है कि तर्क का अप्रतिष्ठितपना ही भूषण है क्योंकि निन्दा से रहित तर्क का ग्रहण करना और निन्दा वाले तर्क का त्याग करना ही ठीक है। हमारे पूर्वज मूढ थे इस लिये हम को भी मूढ ही बने रहना चाहिये, इसके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है, इस लिये तर्क का सहारा लेने में कोई दोष नहीं है। अपूर्व।

परमहंस परिव्राजक उपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

उन विष्णु ने कहा "हे बालक ! जो अद्वैत आत्म ज्ञान है, वह ही यज्ञोपवीत है। ध्यान निष्ठा ही उस की शिखा है। उसका कर्म पवित्र है, वह सब कर्म कर चुका है, वह ब्राह्मण है, वह ब्रह्मनिष्ठा परायण है, वह देव है, वह ऋषि है, वह तपस्वी है, वह श्रेष्ठ है, वही सब से बड़ा है, वह ही जगद्गुरु है, वह ही मैं हूं, ऐसा जान। लोक में परमहंस परिव्राजक अत्यन्त दुर्लभ है, एकादिक होता है, वह ही नित्य पवित्र है, जिस का चित्त मुझ में स्थित है, वह ही वेद पुरुष महा पुरुष है, और मैं उस में स्थित हूं, वह ही नित्य तृप्त है, वह शीत उष्ण, सुख दुःख, मान अपमान रहित है, वह निन्दा और आमर्ष का सहन करने वाला है, वह छः उर्मियों से रहित है, छः भाव विकारों से रहित है, वह छोटे बड़े के विचार से रहित है, वह अपने सिवाय अन्य को देखने वाला नहीं है, दिशायें उस की वस्त्र हैं, न नमस्कार, न स्वाहाकार, न स्वधाकार, न विसर्जन परायण, निन्दा स्तुति से रहित, न मन्त्र तन्त्र का उपासक, देव के आंतर ध्यान से रहित, लक्ष अलक्ष को छोड़ने वाला, सब से उपराम वाला वह सच्चिदानन्द, अद्वय, चेतनघन सम्पूर्ण आनन्द का एक बोध वाला, 'मैं ब्रह्म हूं' इससे रहित है। जो ब्रह्म प्रणव के अनुसन्धान से कृत कृत्य हो जाता है, वह ही परमहंस परिव्राजक है, यह उपनिषद् है।

॥ इति परमहंस परिव्राजक उपनिषद् समाप्त ॥

त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् ।

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्य लोक में गया और उन (आदित्य) के पास जा कर कहा "हे भगवन् ! देह क्या है ? प्राण क्या है ? कारण क्या है ? आत्मा क्या है ?" उसने कहा "इस सब को शिव ही जान ! किन्तु नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वितीय, शिव, एक अपने प्रकाश से इस सब को देख कर तपे हुये लोहे के समान एक को भिन्न के समान प्रकाशता है, यदि पूछो कि वह प्रकाश करने वाला कौन है तो कहा जाता है, अविद्या सहित ब्रह्म सत् शब्द का वाच्य है। ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्रा, पांच तन्मात्राओं से पांच महा भूत, पांच महा भूतों से सम्पूर्ण जगत् है, वह सम्पूर्ण क्या है ? भूत विकार और विभाग आदि हैं, एक पिन्ड में भूत, विकार और विभाग कैसे हैं ? उन उन के कार्य कारण के भेद से अंश तत्व, वाचक वाच्य, स्थान भेद, विषय, देवता, कोश भेद विभाग होते हैं, जिस प्रकार अन्तःकरण, मन, बुद्धि चित्त और अहंकार। वायु, समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण। अग्नि, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, और नासिका। जल, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। पृथिवी, वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ। ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसन्धान और अभिमान आकाश के कार्य और अन्तःकरण के विषय हैं। एकत्र करना, आंख खोलना, पकड़ना, फैलना, और उश्वास वायु के कार्य और प्राणादि के विषय हैं, शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध अग्नि के कार्य और ज्ञानेन्द्रिय के विषय जल के आश्रित हैं। बोलना, पकड़ना, चलना, त्यागना, और आनंद पृथिवी के कार्य और कर्मेन्द्रिय के विषय हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के विषयों में प्राण और तन्मात्राओं के विषय अन्तर भूत हैं, मन और बुद्धि में चित्त और अहंकार आंतरभूत हैं, अवकाश' विधुत, दर्शन, पिन्डीकरण, धारण, सूक्ष्मतम जैव और पांच तन्मात्रा, इस प्रकार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक बारह अंग हैं। उन में चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी-कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम इन्द्रियों के अधिदेवता रूप से बारह नाड़ियों के भीतर स्थित हैं, प्राण ही अंग है, अंग और ज्ञान के वे (देवता) ही ज्ञाता हैं, आकाश, वायु, अग्नि जल और अन्नों का पञ्चीकरण इस प्रकार है : जानानापना समान वायु के योग से श्रोत्र द्वारा शब्द, गुण, वाणी के सहारे आकाश में स्थित है और आकाश स्थित है, मन व्यान के योग से त्वचा

द्वारा स्पर्श गुण हाथ के सहारे वायु में स्थित है और वायु स्थित है, बुद्धि उदान के योग से चक्षु द्वारा रूप गुण पाद के सहारे अग्नि में स्थित है और अग्नि स्थित है. चित्त अपान के योग से जिह्वा द्वारा रस गुण उपस्थ के सहारे जल में स्थित है और जल स्थित है, अहंकार प्राण के योग से नासिका द्वारा गंधगुण गुदा के सहारे पृथिवी में स्थित है और पृथिवी स्थित है। जो ऐसा जानता है इसमें ये श्लोक हैं। प्रत्येक भूत के अपने आधे भाग और दूसरों की क्रम से सोलह कलाओं से अन्तःकरण, व्यान, जिह्वा, गुदा और आकाश क्रम से हैं ॥ १ ॥ प्रत्येक भूत का मुख्य पहिला भाग और पिछले चार २ भाग आकाश से ले कर पृथिवी आदि में स्थित हैं ॥ २ ॥ मुख्य भाग से ऊपर के सूक्ष्म भूत को जाने, पिछले सूक्ष्म भूतों को न जाने। इसी प्रकार अंश हुये और वैसे ही उन से अंश हुये ॥ ३ ॥ इस प्रकार एक दूसरे का आश्रय कर के क्रम से ओत प्रोत हैं। वह पांच भूतों वाली पृथिवी चेतन से युक्त है ॥४॥ उसी (पृथिवी) से औषधि और अन्न हैं, उसी से चार प्रकार के पिन्ड हैं, रस, लोहू, मांस, चरबी, हड्डी, मज्जा, और वीर्य धातु हैं ॥५॥ कहीं २ उन धातुओं के कुछ कुछ संयोग से प्राणियों के पिन्ड हुये, अन्नमय पिन्ड नाभि मण्डल में स्थित है ॥ ६ ॥ उसके मध्य में नाल सहित कमल कोश के समान हृदय है। हृदय के भीतर कर्ता-अहंकार, चेतनता—देवता बैठे हुये हैं ॥ ७ ॥ इस का बीज अज्ञान है, पिंड मोह रूप जड़ और घन है, मिश्रित यह जगत कंठ का आश्रय कर के वर्तता है ॥ ८ ॥ प्रत्यक् आनंद रूप आत्मा मूर्धा के स्थान परम पद में अनंत शक्तियों से युक्त हो कर जगत रूप हो भासता है ॥ ९ ॥ सर्वत्र वर्तता है जाग्रत् स्वप्न में जाग्रत् रूप से वर्तता है, सुषुप्ति और तुरीय के सिवाय अन्य अवस्थाओं में कहीं नहीं वर्तता ॥१०॥ चारों रूप से शिव स्वरूप सब देशों में ओत प्रोत है, जैसे कि सब महाफलों में रस सब का प्रवर्तक है ॥ ११ ॥ इस प्रकार अन्नमय कोश के भीतर कोश स्थित हैं, जैसा कोश है वैसा जीव है जैसा जीव वैसा शिव है ॥ १२ ॥ जीव विकारी है और शिव निर्विकार है। कोश उसके विकार हैं और वे सब अवस्थाओं में प्रवर्तक हैं ॥१३॥ जैसे रसाशय में मथने से फेन उत्पन्न होता है ऐसे ही मन के मथने से बहुत से विकल्प होते हैं ॥ १४ ॥ कर्मी कर्मों करके वर्तता है और उन के त्याग से शांति को प्राप्त होता है। दक्षिण अयन में प्राप्त होने से प्रपंच में फंसा हुआ है ॥ १५ ॥ सदा शिव अहंकार और अभिमान से जीव हुआ है, वह अविवेक और प्रकृति के संग से वहां मोह को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ वासना के वश हो कर वह सैकड़ों योनियों में जा कर सोता है और मोक्ष का आचरण भी करता है जैसे कि मत्स्य दोनों किनारों पर आता जाता है ॥१७॥ पीछे काल के वश से ही आत्म ज्ञान और विवेक से उत्तर मार्ग परायण हो कर स्थान से दूसरे स्थान को क्रम से प्राप्त होता है ॥१८॥ अपने प्राण को मूर्धा में धारण करके योगाभ्यास में लगता है, योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है ॥ १९ ॥ वह नित्य ज्ञान योग परायण योगी नष्ट नहीं होता, विकार में स्थित शिव को देखता है किन्तु शिव में विकार नहीं है ॥२०॥ योग के प्रकाशक का अनन्य भाव से योग द्वारा ध्यान करे, जो योग और ज्ञान में नहीं टिकता उस का भाव सिद्ध नहीं होता ॥ २१ ॥ इस लिये अभ्यास योग से मन और प्राण का निरोध करे, योगी छुरे की पैनी धार से शिखा को काट डाले, ज्ञानमयी वृत्ति और यमादि आठ साधनों से ज्ञान योग और कर्म योग दो प्रकार का योग माना गया है ॥२२॥ ॥२३॥ हे उत्तम ब्राह्मण! अब कर्म योग सुन! अव्याकुल चित्त वाले का विषयों से बंधन कहां ? ॥ २४ ॥ हे द्विज श्रेष्ठ! जो संयोग है, वह दो प्रकार का कहा जाता है। शास्त्र विहित कर्मों में कर्म कर्तव्य है ॥२५॥ नित्य मन का निग्रह करना कर्म योग कहलाता है, और जो चित्त को सदा कल्याण में लगाना है ॥२६॥ वह शिव रूप सब सिद्धियों करने वाला ज्ञान योग जानना चाहिये। कहे हुये लक्षण वाले दोनों प्रकार के योग में जिस का मन निर्विकार है, ॥२७॥ वह अवश्य मोक्ष लक्षण वाले परम श्रेय को प्राप्त होता है, देह इन्द्रियों में वैराग्य को पंडित यम कहते हैं ॥२८॥

अपूर्ण।

Registered No. A 860

ॐ

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } श्रावण सं० १९८१। अगस्त १९२४ { अंक १०

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य।-)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा के मैनेजर पं० दयालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

आवश्यक सूचना:—आगामी अंक देरी से प्रकट होने की संभावना है।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-), प्रत्येक वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कैवल्यगीतावली" मूल्य ।=) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥) १ गुरु गीता भाषा सहित मूल्य =)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक।



॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | श्रावण सं० १९८१ । अगस्त १९२४ | अङ्क १०

मनको शिक्षा।

हरिगीत छन्द।

(१)

मिथ्या विषय सुख मान रे मन! आश उसकी छोड़दे।
नहिं स्वप्न में भी सुख जगत् में पाश जगकी तोड़दे॥
तू आश जिनकी कर रहा सब काल के हैं गाल में।
पुत्रादि दुख की मूल हैं, नहिं सुख यहां त्रयकाल में॥

(२)

सुख आय है, सुख जाय है, दुख साथ अपने लाय है।
दुख आदि में, दुख मध्य में, दुख अन्त में भी पाय है॥
क्यों फँस रहा है मोह में, अविनाशि सुखकी खोज कर।
तज कामना परमात्म भज, वाञ्छा न मर, सुखसे विचर॥

(३)

वह सुख स्वयं तेरा हि है घटता नहीं बढ़ता नहीं।
स्थायी सदा ही एकसा आता न जाता है कहीं॥
विश्वास कर परमात्म का धर ध्यान अपने तत्व का।
क्यों व्यर्थ श्वासें खोरहा कल्याण कर निज सत्व का॥

(४)

यह देह सुन्दर थिर नहीं, विद्युत प्रभा सम है चपल।
परमार्थ करले साध्य इससे पाय तू पदवी अचल॥
मायिक गुणों में क्यों भटकता क्यों विकारी होय है।
इस देव दुर्लभ देह को तू क्यों वृथा ही खोय है॥

(५)

आसक्त हो कर विषय में तू कष्ट निश दिन भोगता।
फिर भी तुझे नहिं होश आता त्यागता नहिं दुष्टता॥
अन्तर्मुखी कर वृत्ति अपने तत्व में ही मग्न हो।
बन कर अमर भी आत्म रस निज आत्म में संलग्न हो॥

(६)

रे मन! फिरे क्यों फूलता क्यों भूलता ईश्वर चरण।
यमदूत आ घोंटें गला तब जायगा किसके शरण॥
जो इष्ट हो हित आपना नहिं चाहता हो कष्ट तू।
ईश्वर हृदय में है उसी को ले बना निज इष्ट तू॥

(७)

रे दुष्ट! तज दे दुष्टता, सत्संग कर सुख प्राप्त कर।
सतशास्त्र पढ़, उपदेश सुन, भ्रम त्याग दुख का अंत कर॥
पांचों विषय भोगा किया, बहु जन्म धारण कर चुका।
अब भी हुआ नहिं तृप्त सब ही योनियों में फिर चुका॥

(८)

मिथ्या जगत् सब मान कर तू आप मिथ्या हो रहा।
नहिं कष्ट को भी कष्ट माने घोर निद्रा सो रहा॥
कायर न बन, रणधीर बन, अपनी नहीं तुझको खबर।
सामर्थ्य तुझ में पूर्ण है, उपयोग उसका कर, न डर॥

(९)

पशु देवताओं का बना तू कर विषय की लालसा।
कपि सम नचाती नारि, सुत वित्तादि बन्धन में फँसा॥
छूटा हुआ बन्धुआ बना, सुख रूप हो दुख सह रहा।
साम्राज्य खो, कंगाल हो भवसिंधु में है बह रहा॥

(१०)

रे मन! विवेकी बन, जगत् से मोड़ मुख सत्संग कर।
उपदेश सच्चा मान ले स्वस्वरूप में अनुराग कर॥
आपत्ति से छुट जायगा, निजतन्त्र तू हो जायगा।
कौशल्य! पाकर परमपद फिर गर्भ में नहिं आयगा॥

ज्ञान समाधि ।

अन्य सब प्रकार से होने वाली समाधियों से ज्ञान समाधि विलक्षण है, सामान्य मनुष्यों को तो समाधि का भाव तक आना कठिन है और जो योग, भक्ति आदिक समाधियों के ज्ञाता हैं, उन को भी ज्ञान समाधि समझने में नहीं आती । ज्ञानी सिवाय अन्य ज्ञान समाधि को समझने के लिये शक्तिवान् नहीं होता । अन्य सब प्रकार की समाधियां जब तक समाधि लगी हुई है तब तक ही समाधि हैं, समाधि से हटने के बाद समाधि नहीं रहती, उत्थान हो जाता है । ज्ञान समाधि की यह विशेषता है कि एक समय की लगी हुई ज्ञान समाधि फिर कभी भी नहीं उतरती यानी ज्ञान समाधि वाले का उत्थान नहीं होता । अन्य समाधियां क्रिया रूप हैं, इस लिये जब तक समाधि होती है तब तक अन्य क्रिया बंद रहती है, जब समाधि छूट जाती है तब शारीरिक क्रिया चालू होती है । ज्ञान समाधि में निश्चय मुख्य है इस लिये क्रिया हो या न हो, निश्चय कायम रहता है इस लिये स्वरूप का निश्चय-स्थिति रूप समाधि कभी उतरती नहीं है, इसी लिये सब समाधियां खंडित और ज्ञान समाधि अखंडित कही जाती है । बुद्धि का सम होना समाधि है, चाहे क्रिया सहित बुद्धि समान हो, चाहे क्रिया रहित समान हो । ज्ञान समाधि में बुद्धि जाग्रत् क्रिया युक्त दीखती है तो भी स्वरूपाकार समभाव वाली होती है इस लिये समभाव होने से समाधि है । जब तक अज्ञान है तब तक क्रिया युक्त बुद्धि समान नहीं होती, परन्तु ज्ञान होने के बाद तो क्रिया रहित अथवा क्रिया सहित बुद्धि की समानता कभी जाती ही नहीं, क्योंकि ज्ञानी की बुद्धि विकार भाव को प्राप्त नहीं होती । ज्ञान से आत्मा अनात्मा का विवेक हो जाता है । अनात्मा में अनात्म ऐसी बुद्धि की प्रवृत्ति से आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती । जब आत्मा की बुद्धि सम है तो समाधि ही है । ज्ञानी की परब्रह्म से एकता है, जैसे परब्रह्म को संसार और संसार की क्रिया से विरोध नहीं है, परब्रह्म संसार का प्रकाशक है इसी प्रकार ज्ञानी को भी संसार और संसार की क्रियाओं से विरोध नहीं है, ज्ञानी असंग रूप में टिका हुआ होता है इस लिये उस की समाधि अखंड होती है, सहज स्वभाव रूप होने से यह समाधि सहज समाधि भी कहलाती है। जगत् और जगत् की क्रिया भास मात्र है, ऐसा बोध हो जाने से मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है इस लिये माया और माया का कोई भी कार्य तत्त्व स्थिति से ज्ञानी को चलित करने में समर्थ नहीं होता । अज्ञानियों को अपनी और ज्ञानी की चेष्टा में कुछ अंतर मालूम नहीं होता तो वे ऐसा किस प्रकार जानें कि ज्ञानी को समाधि है। ज्ञानी को समाधि और उत्थान दोनों एक हो जाते हैं, उस के लिये समाधि में विशेषता और उत्थान में न्यूनता नहीं रहती इस लिये ज्ञानी की समाधि अखंड और सहज समाधि है ।

जो ज्ञान समाधि के पूर्ण अधिकारी नहीं हैं, ऐसे मध्यम और मंद अधिकारियों को योग की क्रिया और समाधि शुद्धि का हेतु होने से उपयोगी हैं और पूर्ण अधिकारी को तो श्रवण मनन और निदिध्यासन से ही समाधि की प्राप्ति है । निदिध्यासन की पराकाष्ठा को ही ज्ञान समाधि कहते हैं, साक्षात्कार के बाद अखंड स्थिति ज्ञान समाधि है, साक्षात्कार पर्यन्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान समाधि के साधन के अंग कहे जाते हैं, निर्बीज, निर्विकल्प सहज समाधि ही वास्तविक ज्ञान समाधि है और उस के प्रथम की सब ज्ञान समाधियां साधन रूप हैं । यह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार की है, सविकल्प समाधि दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध ऐसे दो प्रकार की है । दृश्यानुविद्ध आंतर और बाह्य दो प्रकार की है । ऐसे ही शब्दानुविद्ध भी आंतर और बाह्य दो प्रकार की है । यह चारों प्रकार की समाधि सविकल्प समाधि है । कोई दृश्यानुविद्ध को शब्दानुविद्ध भी कहते हैं । निर्विकल्प समाधि भी आंतर और बाह्य भेद से दो प्रकार की है । उनको अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प और अद्वैतावस्थान रूप कहते हैं । दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि एक प्रकार से मनन और निदिध्यासन रूप ही हैं और निर्विकल्प अंतिम फल रूप है । ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेय रूप त्रिपुटी के भान सहित अद्वितीय ब्रह्म में अंतःकरण की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि कहलाती है और त्रिपुटी के भान रहित अखंड ब्रह्माकार अंतःकरण की वृत्ति की स्थिति निर्विकल्प समाधि कहलाती है।

अंतःकरण की सात्विकादि वृत्तियों में आनन्द, काम, संकल्प, चिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा भयादिक जो आंतर दृश्य है, उस सब को शुद्ध साक्षी चेतन रूप जानते हुये, अनुसंधान करते हुये हमेशा आत्मा का अनुभव करना होता है, दृश्य आदिक की त्रिपुटी हटती नहीं है, अविकारी द्रष्टा रूपसे आत्मा का ग्रहण होता है, यह आंतर दृश्यानुविद्ध यानी दृश्य सहित साक्षी रूप की सविकल्प समाधि है। जैसे मृत्तिका के विकार घटादिक को विवेकी पुरुष मृत्तिका रूप ही जानते हैं इसी प्रकार जो द्वैत प्रतीति होती है, उसे जानते हुये भी विकार को छोड़ कर ब्रह्म ही प्रतीत होता है।

अंतःकरण की सात्विक आदि वृत्तियों से बाहर के सब स्थूल रूप दृश्य का शुद्ध द्रष्टा साक्षी प्रकाशक है इस प्रकार ब्रह्म ही चराचर में भरा हुआ है ऐसा अनुसंधान करते हुये परब्रह्म रूप वृत्ति का होना बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है, जैसे आंतर में द्वैत त्रिपुटी दीखती थी ऐसे ही बाह्य समाधि में दीखती है परन्तु उस पर न टिककर अद्वैत ब्रह्मको ही ग्रहण करती है। आंतर में शुद्ध साक्षी का ग्रहण होता था और बाह्य में परब्रह्म जो साक्षी है, उसी का ग्रहण होता है।

जो शब्द द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह शब्दानुविद्ध है। 'अहं ब्रह्मास्मि' से शब्दानुविद्ध समाधि की जाती है जैसे मैं असंग हूं, यानी इन्द्रियां होते हुये भी मेरे आंतर में किसी से सम्बन्ध नहीं है, मैं सच्चिदानन्द रूप हूं, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में मैं हूं, इस लिये सत् हूं, जाग्रतादि सब अवस्थाओं को जानता हूं इस लिये चित् हूं,' और परम प्रेम का विषय होने से आनन्द हूं, मैं स्वाभाविक प्रकाश रूप हूं, मुझे प्रकाशने वाला कोई नहीं है, इस लिये मैं स्वयं प्रकाश हूं, मैं द्वैत रहित हूं, मेरे स्वरूप में द्वैत प्रपंच का लेश भी नहीं है, सब द्वैत प्रपंच कल्पित है, इस प्रकार मैं असंग, सत्, चित् आनन्द और स्वयं प्रकाश रूप हूं, ऐसा विचारते हुये अपने को ऊपर कहे हुये विशेषण युक्त जानना, यह आंतर शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है, उस में भी त्रिपुटी रहती है परन्तु त्रिपुटी को जानते हुये त्रिपुटी के प्रकाशक का ग्रहण किया जाता है।

यह समाधि बाहर भी होती है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म है, इस शब्द को ग्रहण कर के अपने, पराये, और मायिक सब प्रपंच के त्याग पूर्वक शब्दानुकूल अंतःकरण की वृत्ति का करना शब्दानुविद्ध बाह्य सविकल्प समाधि है, यह भी त्रिपुटी सहित होती है। बाह्य समाधि का होना कठिन होने से शास्त्रों में बहुत से स्थानों पर अंतःकरण में ही समाधि का करना कहा है। इन ऊपर की चारों सविकल्प समाधियों का अभ्यास करते २ निर्विकल्प समाधि में आना होता है। यह सविकल्प समाधि निर्विकल्प समाधि का साधन रूप है।

दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध दोनों प्रकार की सविकल्प समाधियों का अभ्यास करते २ जब अंतःकरण में आनन्द रूप आत्मा के ज्ञानानन्द के अनुभव के आवेश से काम संकल्प आदि दृश्य वृत्तियों के 'मैं असंग आत्मा हूं' अनुसंधान को छोड कर संकल्प रहित तूष्णीं इत्यादि शब्दों को भी छोड कर संकल्प रहित तूष्णीं रूप शांति-स्थिति को प्राप्त करना, इस का नाम निर्विकल्प समाधि है। जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक निश्चल—स्थिर होता है इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि वाले पुरुष का चित्त निश्चल रहता है। निर्विकल्प समाधि में कुछ भी प्रपंच नहीं भासता—त्रिपुटी नहीं भासती। चेतन रूप आत्मा का स्पष्ट अनुभव होता है।

निर्विकल्प समाधि में भी सविकल्प समाधि के समान ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी विद्यमान होती है परन्तु नेत्रादिक से उसका भान नहीं होता। जैसे

जल में डाला हुआ नमक नमक रूप को छोड़ कर जल में रहता है ऐसे त्रिपुटी होते हुये भी इसकी प्रतीति नहीं होती। जब अन्तःकरण की अज्ञात वृत्ति सहित निर्विकल्पता होती है तब अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि कहलाती है, यह आंतर है। जब इस का दृढ़ अभ्यास होने से ब्रह्माकार वृत्ति भी शांत हो जाती है तब अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्प समाधि कही जाती है, यह बाह्य है। वास्तविक समाधि आंतर और बाह्य के भेद से रहित है, जैसे तप्त लोहे पर जल की बूंद डालने से तपायमान लोहे में प्रवेश कर जाती है इसी प्रकार अद्वैत भावना रूप समाधि के दृढ़ अभ्यास से अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्म में वृत्ति का लय हो जाता है। इसी को निर्बीज समाधि कहते हैं, इसी का नाम असंप्रज्ञात योग है। ऐसी समाधि होने के बाद उसी हालत में रहने वाला ज्ञान समाधि—सहज समाधि में वर्तमान होता है।

यदि कोई इस क्रम से समाधि न करे तो भी उत्तम अधिकारी को श्रवण मननादि से साक्षात्कार हो जाता है, जिस क्षण में साक्षात्कार होता है उसी क्षण में ऊपर दिखाई हुई अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्प समाधि हो जाती है, थोड़ी क्षण की होने से अन्य समाधियों के क्रम की तरफ उस अधिकारी का लक्ष न होने से भले वह उसे समाधि न कहे परन्तु समाधि होती अवश्य है। जिसे जीवन्मुक्ति कहते हैं वह ही ज्ञान समाधि और सहज समाधि है और अन्य जितनी समाधियां हैं, यदि वे ठीक २ रीति से हों तो जीवन्मुक्ति का साधन रूप होती हैं। जब जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है तब तत्त्व में स्थिर होने से किसी प्रकार के उत्थान में अथवा समाधि में एक सा रहता है। एकसा रहना ही अखंडित समाधि है। बाहर के रूप से ऊपर बताई हुई समाधियों में बीच अथवा अन्त उसके लिये एकसा ही है, सहज समाधि वालों का यह निश्चय है कि भाव से अज्ञान और अज्ञान की सब रचना है, यदि जगत् के सत्यत्व भाव की निवृत्ति हो जाय और तत्व भाव की दृढ़ स्थिति हो जाय तो दीखता हुआ—व्यवहार में आता हुआ जगत् मोक्ष का प्रतिबन्ध करने वाला नहीं है। जैसे सर्प का दृश्य-बोध रस्सी में हो तो दुःख का हेतु है। रस्सी के बोध सहित दूरादिक स्थान से सर्पाकृति दीखे तो भय का हेतु नहीं है, झूंठे समझे हुए सर्प से भय नहीं होता। इसी प्रकार आत्म स्थिति में जगत् का मिथ्यात्व निश्चय होने से जगत् का भय नहीं होता। दुःख का हेतु जगत् नहीं किन्तु अज्ञान है। जब ज्ञान से अज्ञान का समूल बाध हो गया तब दुःखोत्पादक कोई न रहा। ऐसे निश्चय वाला मुक्त ही है, ऐसा निश्चय ही अखंडित समाधि है।

नर्मदा नदी के किनारे आनन्दाश्रम नाम का एक स्थान था। वहां एक लोक प्रसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ महात्मा रहते थे। उन के पास कई शिष्य रहते थे, शिष्यों की योग्यता के अनुसार वे भक्ति, ज्ञान योग आदिक का उपदेश देते थे और कई क्रियायें अपने सामने कराते थे। यह क्रम बहुत समय से चालू था। कई शिष्य योग निष्ठा और ज्ञान निष्ठा में पक्व हो कर देश देशांतर में विचरते थे इस लिये उन महात्मा की ख्याति दूर २ तक फैल गई थी। सेठ, साहूकार, राजा, सरदार, भाविक मुमुक्षु, त्यागी और वैरागी इन महात्मा के स्थान पर दर्शन करने और उपदेश लेने के निमित्त आया करते थे। महात्मा जी के पास जो कोई आता था, उन के प्रभाव में दब जाया करता था, बुद्धि शुद्ध हो जाती थी और वह सन्तोष को प्राप्त हो जाता था। इन महात्मा का नाम प्रज्ञानन्द था, उन की कथन शैली विलक्षण थी, जो जिस भाव का होता था, उसे उसी भाव से समझाते थे। इस स्थान पर आने जाने वालों के लिये खान पान और रहने आदिक का भी योग्य प्रबन्ध था। एक बार सुवर्णपुर का राजा महात्मा जी के दर्शन के लिये आया। यह राजा ज्ञान योग में प्रवृत्ति वाला और पूर्ण भक्ति भाव वाला था। जब प्रज्ञानन्द जी शिष्य मंडली सहित बैठे थे तब राजा ने प्रार्थना की "महाराज! मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूं, ज्ञान के विषय में मेरा प्रश्न है, आप आज्ञा दीजिये!" प्रज्ञानन्द ने कहा "यह प्रश्नोत्तरी का समय है, तू पूछ सकता

है!" राजा ने कहा "मैं ज्ञान समाधि और उसका क्रम आप के मुखारविन्द से सुनना चाहता हूं, यदि आप मुझे उसके सुनने के योग्य समझें और सब के सामने समझाने में कोई आपत्ति न हो तो समझाइये!" प्रज्ञानन्द बोले "राजा! तू भाविक है और बुद्धि का तीव्र है, समझ सक्ता है परन्तु प्रयत्न करने पर भी ज्ञान समाधि की पूर्ण स्थिति को प्राप्त करने में तुझे विलम्ब है, यहां बैठे हुये सब शिष्य इसके अधिकारी नहीं हैं, जो २ अधिकारी हैं, जिन २ को मैं ने समझाया है वे ही अपनी योग्यतानुसार इस विषय को समझ सके हैं, अन्य नहीं समझ सके तो भी कुछ अप्राप्ति नहीं है, क्योंकि तेरा प्रश्न ज्ञान का होने से विचार प्रधान है, यदि किसी योग की क्रिया का विवेचन करना होता तो मैं अवश्य न करता, मैं तुझे समझाता हूं—: मनन और निदिध्यासन में ही ज्ञान समाधि का अन्तर्भाव है, चार प्रकार की सविकल्प समाधि है और दो प्रकार की निर्विकल्प समाधि है। आंतर और बाहर के भाव से दो प्रकार की दृश्यानुविद्ध और दो प्रकार की शब्दानुविद्ध ऐसे चार प्रकार की सविकल्प समाधि है और अद्वैत भावना रूप और अद्वैतावस्थान रूप दो प्रकार की निर्विकल्प समाधि है। अंतिम अद्वैतावस्थान रूप समाधि मुक्तावस्था है, इसको नीचे कहे हुये दृष्टांत से समझः—

श्रीपति नाम का एक बड़ा सौदागर था। वह परदेश में माल भर कर ले जाया करता था और वहां से माल खरीद कर लाया करता था। संसार में किसी की हालत हमेशा एक सी नहीं रहती, उस के बहुत से जहाज समुद्र में डूब गये, सब माल, धन, वाहनों और मनुष्यों का नाश हो गया, संसार के चक्र ने उस के कारखाने को उलट दिया। लक्षपति नाम का उस का एक पुत्र था, वह युवान हो गया था, पिता को शोच करता हुआ देख कर कहने लगा "पिता जी! सोच क्यों करते हो? नफा और नुकसान व्यापारियों की तराजु के दो पलड़े हैं, ईश्वरइच्छा! हमारे भाग्य में धन नहीं होगा, तब ही चलागया है, वृथा शोच करने से क्या लाभ है? जो हमारे प्रारब्ध में श्रीमानता लिखी होगी तो फिरसे अच्छा लाभ हो जायगा! दुःखके समय में धैर्य रखना ही मनुष्यों का धर्म है, दुःख में घबराना कायरपना है, भाग्य और ईश्वर पर श्रद्धा रखकर कर्म करना ही हमारा कार्य है, हमारा एक टूटा फूटा जहाज बंदर में पड़ा हुआ है, हमारे पास जो कुछ थोड़ा धन है उस का माल खरीद करके मैं परदेश में जाता हूं, ईश्वर कृपा होगी तो अच्छे लाभके साथ मैं जल्दी लौट आऊंगा!" लक्षपति ने ऐसा ही किया, घर, माता, पिता, और घर की ममता को छोड़कर थोड़ा गहना पाता जो घर में रह गया था उसको बेचकर कुछ माल खरीदने का विचार किया और माल खरीदने का ही एक लक्ष रख कर सब का त्याग किया, 'मैं माल खरीद कर ले आऊं' यह ही उस का लक्ष था, अन्य सब भावों का आंतर में उस ने त्याग किया था। घर और माता पिता को छोड़ने और दागीनों के बेचने में इज्जत जाने के भय को भी उस ने छोड़ दिया था, अपने एक लक्ष को ग्रहण कर के ही उस ने यह सब किया था! उसका लक्ष इतना दृढ़ था कि अन्य काम, क्रोध, ईर्षा, आदिक जितने विकार हैं, सब दब गये थे! जैसे श्रीपति का अन्तःकरण विकारी हो गया था ऐसे विकार को लक्षपति ने अपने हृदय में स्थान न दिया। इसी प्रकार जो आत्म भाव को मुख्य करके अंतःकरण के सब भाव काम, क्रोध, श्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, भय, लज्जा आदिक को हटा देता है यानी सब भावों को आत्म भाव से ढांप देता है, उस के कामादिक भाव कमजोर पड़े हुये दीखते हैं, जोर नहीं कर सके, ऐसी अवस्था का होना आंतर दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। इस समाधि की प्राप्ति शास्त्र श्रवण, वैराग्य और अभ्यास से होती है। जिस प्रकार लक्षपति शुद्ध मति वाला और सब का त्याग करने में समर्थ हुआ था ऐसे ही जो आंतर के सब भावों को त्याग कर आत्म भाव में एकाग्र होता है, वह इस समाधि को प्राप्त होता है। जैसे किसी महान् रोग में फंसे हुये का चित्त सब तरफ से हट कर एक रोग में ही विशेषता से संयुक्त रहता है इसी प्रकार दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि वाला होता है, जैसे बीमारी वाला अन्य वृत्तियों को

रहित नहीं होता ऐसे ही वह भी सविकल्प समाधि होने से विकल्प से रहित नहीं होता, द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी का रहना भी प्रतीत होता है। लक्षपति ने केवल विचार ही किया था, बाहर—दृश्य की सब ममताओं को हटा दिया था, सब को बेचकर दाम करने और दामों से माल खरीद कर जहाज में भरने का ही एक मुख्य लक्ष रक्खा था, घर के दागीने बेचने को जाना, दागीनों की खूबसूरती के भाव को छोड़ना, इतने दाम के हैं, उन से इतना माल खरीदा जायगा, यह ही देखना, यह बाह्यानुविद्ध सविकल्प समाधि के समान था, जैसे आज कल कागज के नोटों का चलन बहुत है, जैसे कागज का टुकड़ा हाथ में लेकर देखते हुये भी भाव से उस में रुपया दीखता है इसी प्रकार सब जगत् को देखते हुये भी जगत् के दृश्य भाव को हटाते हुये जिस में वह दृश्य दीख रहा है, ऐसे सच्चिदानन्द को जानना एक अद्वैत स्वरूप ही है, उस में यह सब भासमान है, नाम रूपादिक देखते हुये भी उन को तुच्छ समझ कर अधिष्ठान रूप चित् की वृत्ति करना बाह्य दृश्यानुविद्ध समाधि है, सविकल्प होने से त्रिपुटी सहित है।

लक्षपति आंतर बाह्य सब का त्याग कर के एक लक्ष से जहाज में माल भर कर कई मनुष्यों को साथ लेकर जहाज में बैठ कर समुद्र में चला, किनारे पर पहुंचने को जितने समय का अंदाज किया था, मार्ग भूल जाने से उस समय से विशेष समय लग गया, जहाज में जो अन्न भरा था, निबट गया, कुछ तो भूख के कारण और कुछ बीमारी फैलने से जहाज के सब मनुष्य क्रम २ से मर गये, केवल एक लक्षपति ही बच रहा, दो दिन बाद जहाज किनारे पर लगा, जहाज को किनारे पर बांध कर लक्षपति उत्तर दिशा की तरफ चला, थोड़ी दूर पर इसे सुवर्ण का पहाड़ दिखाई दिया, लक्षपति प्रसन्न होता हुआ आगे जारहा था, इतने में उसे एक साधु दिखाई दिया, साधु ने कहा "हे लक्षपति! तू यहां तक आ पहुंचा है, अब आगे समझ कर जाने का काम है, यह जो सामने सुवर्ण का पहाड़ दीख रहा है, उस में लुब्ध मत होना, यह सुवर्ण दीखता हुआ भी आपत्ति का पैदा करने वाला है, उस के रक्षक राक्षस हैं, यदि तू सुवर्ण लेने को जायगा तो राक्षस तुझे पकड़ कर ले जायंगे और कैद कर के कैद खाने का कष्ट भुगवावेंगे इस लिये सुवर्ण की आशा छोड़ कर तू सीधा चला जाइयो, सुवर्ण पर पैर पड़े तो भी उसे मत लीजियो, आगे जाने से एक भव्य मकान में एक दिव्यांगना सुन्दरी मिलेगी, उस के साथ शादी कर लीजो परन्तु सावधान रह कर उस में मुग्ध मत हूजियो, ऐसा होने से तुझे साम्राज्य की प्राप्ति होगी!" साधु ऐसा कह कर चल दिया, लक्षपति आगे चलता हुआ विचारने लगा, "ईश्वर ने कृपा कर के मेरे हित के लिये साधु को भेज कर हित का उपदेश करवाया है, धन्य है उस कृपा निधान ईश्वर को! मैं इस उपदेश के अनुसार ही चलूंगा!" लक्षपति ने जब से सुवर्ण का पहाड़ देखा था, तब से वह प्रसन्न हो रहा था, और इसने उसमें से बहुत सा सुवर्ण ले जाकर अपने जहाज में भरने का निश्चय भी कर लिया था परन्तु जब साधु ने शिक्षा दी तब सब को आपत्तिकारक समझ कर आंतर से सब का त्याग कर दिया, बारंबार सुवर्ण लेने की वृत्ति होती थी परन्तु उस वृत्ति को वह तुरन्त ही काट दिया करता था और मन को समझाता था "जब तू सम्राट् हो जायगा तब सब सुवर्ण तेरा हो जायगा क्योंकि यह साम्राज्य के बाहर नहीं है। मैं साम्राज्य प्राप्त करूंगा, मैं चक्रवर्ती महाराज हूं!" इस निश्चय में टिकता था, इस प्रकार का उस का आंतर निश्चय शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि के समान था, जैसे एक योगी किसी प्रकार की सिद्धि की प्राप्ति में अन्य सब भावों से हट कर आंतर में एक भाव वाला होता है वैसे ही साधु पर श्रद्धा कर के लक्षपति अपने शुद्ध साम्राज्य प्राप्ति के अंतिम लक्ष पर स्थिर होता हुआ आगे चला, मार्ग सुवर्ण पर्वत में हो कर था, पैर के नीचे सुवर्ण के टुकड़े ठोकर खाते थे तो भी लक्षपति उन्हें उठाता न था। "यह सब पहाड़, जंगल और आगे की सब बस्ती साधु के उपदेश के अनुसार मेरी ही है, मैं छोटे २ टुकड़ों को क्या लूं? आपत्ति में क्यों पड़ूं" ऐसा विचारता हुआ, साम्राज्य में सब का समन्वय करता हुआ

आगे चला जाता था, यह बाह्य शब्दानुविद्ध समाधि के समान था, जैसे जादू का तमाशा देखने वाला, तमाशे के भिन्न २ दृश्य को देखता हुआ ऐसा समझता है कि सब कुछ जादू है, तुच्छ है, झूंठा है ऐसे ही अपने सहित बाहर के सब दृश्य को एक करता हुआ मिथ्या दृश्य को तुच्छ समझता हुआ, लक्षपति आगे चला।

थोड़ा चल कर एक भव्य मकान आया, इस समय वहां कोई अन्य मनुष्य लक्षपति के देखने में नहीं आया, वह भीतर गया, वहां एक सुन्दरी उच्च आसन पर बैठी हुई थी, सुन्दरी ने लक्षपति का बहुत आदर किया और विनीत वचनों से कहा "मैं बारह साल से यहां बैठी हुई आपकी राह देख रही हूं, ईश्वर ने मुझ पर कृपा कर के आप से मेरा मिलान कर दिया है, आज के दिन को मैं धन्य मानती हूं, आप मेरे साथ विवाह करके मुझ अनाथ को सनाथ कीजिये और सुवर्ण पर्वत के राजा हूजिये!" लक्षपति ने सुन्दरी से विवाह किया और वह सुवर्ण पर्वत का राज्य करने लगा, एक साल तक वहां रहा, इस बीच में सुन्दरी से उस को एक पुत्र पैदा हुआ, उस का नाम विवेक भद्र रक्खा गया, इस अवस्था में एक लक्षपति ही मुख्य था और सब गौण होने से अदृश्य के समान थे। यहां लक्षपति को किसी प्रकार की चिंता न थी, कोई विकल्प भी न था, भाव से वह एक ही था, यह उस की आंतर निर्विकल्प समाधि अथवा अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि के समान हालत थी।

साल भर के बाद लक्षपति के चित्त में देश जाकर देश वालों से मिल आने का संकल्प खड़ा हुआ, सुन्दरी ने लक्षपति के माता पिता के पास जाने का इनकार किया और कहा "तुम माता पिता से मिल कर जल्दी लौट आना, वहां मुझे और मेरे पुत्र को ले आने की इच्छा मत करो! साधु के उपदेश से आप रात्रि को इच्छा करके मुझ से मिल सके हो, तुम्हारे माता पिता के पास मुझे बुलाने से अनर्थ होगा!" लक्षपति कुछ सुवर्ण जहाज में भर कर माता पिता के पास पहुंचा, सब प्रसन्न हुये और आपस के सब लोग मिलने को आये, लक्षपति ने सुवर्ण, पहाड़, सुन्दरी, सुन्दरी से विवाह और पुत्र का होना इत्यादि आरंभ से अंत तक सब वर्णन किया। लोगों ने लक्षपति की बात सच्ची न मानी, उन में से एक बोल उठा "वाह! कहीं सुवर्ण का पर्वत होता होगा! समुद्र पार से मनुष्य यहां आसकते होंगे! देवांगना सुन्दरी से शादी हुई और पुत्र भी हो गया! यह असंभवित बात कैसे मानी जाय? क्या तेरे पास कुछ सुबूत है? सब को हरिश्चंद्र के समान सच्चा मान लें ऐसे मूर्ख हम नहीं हैं?" लक्षपति को ऐसे वचन सुन कर ताव आगया, उसने साधु के उपदेश को याद कर सुन्दरी और पुत्र को उसी क्षण बुलवाया। सुन्दरी आकर क्रोधित हो कर कहने लगी "मैंने तुम को बुलाने के लिये मने कर दिया था, तुम ने क्यों बुलाया? अब तो बड़ा अनर्थ होगा!" इस प्रकार तिरस्कार युक्त कह कर सुन्दरी पुत्र को लेकर चल दी, लक्षपति भी उस के पीछे २ चल दिया, रात्रि को एक पेड़ के नीचे ठहरे, सुबह लक्षपति को सोता हुआ छोड़ कर पुत्र सहित सुन्दरी वहां से चलदी; लक्षपति जागा तो देखा कि स्त्री पुत्र नहीं हैं। "हे स्त्री! हे पुत्र!" इस प्रकार पागल के समान चिल्लाता हुआ जंगल में भटकने लगा! चिल्लाता २ अपने स्थान से बहुत दूर निकल आया, वहां समुद्र पार जाने का कोई साधन भी उस के पास न था, बुद्धि भ्रष्ट होने से साधु के उपदेश को भी भूल गया था, शरीर से कष्ट पाता हुआ भटक रहा था, कई दिन के बाद जब उस की बुद्धि कुछ स्थिर हुई तब पूर्व वाले साधु को याद किया, झोली झण्डे समेत साधु सामने आकर उपस्थित हुआ और बोला "बच्चा! क्यों याद किया है?" लक्षपति ने अपना सब वृत्तांत कह सुनाया साधु बोला "रे मूर्ख! मैं ने तुझसे प्रथम ही कह दिया था कि स्त्री पुत्र में आसक्त मत होना! मेरे कहे अनुसार न चलने से ही तू कष्ट पा रहा है! मेरे पूर्व के दिये उपदेश को याद कर!" लक्षपति साधु के चरणों पर गिर पड़ा, उसकी बुद्धि शुद्ध हो गई, पूर्व का दिया हुआ उपदेश याद

आया। साधु ने कहा "इस उपदेश को याद रखता हुआ तू सुन्दरी के पास पहुंच जावगा, अब ऐसी भूल मत करियो!" ऐसा कह कर साधु चला गया। उपदेश का ख्याल करते ही लक्षपति के नेत्र खुल गये, सुन्दरी की तरफ जाने का मार्ग दीखने लगा, थोड़े समय में सुन्दरी का भवन दीखने लगा। वहां जाकर देखता है तो उत्सव की सब तैयारियां हो रही हैं। पूछने से खबर मिली कि सुन्दरी दूसरे मनुष्य के साथ पुनर्लग्न करने वाली है। यह सुन कर लक्षपति क्रोध के आवेश में किसी को कुछ न गिनता हुआ सीधा सुन्दरी के महल में पहुंचा और सुन्दरी के सामने जा खड़ा हो गया। सुन्दरी का मुख फीका पड़ गया, महल में से आवाज दे कर पुकारने लगी, "मेरे शयन गृह में चोर घुस आया है, आओ! आओ! इस चोर को मार डालो!" सुन्दरी की आवाज सुन कर हजारों मनुष्य महल में आ गये।

लक्षपति ने कहा "मैं चोर नहीं हूं, मैं तुम सब का राजा हूं, इस सुन्दरी के पेट से मुझे पुत्र हुआ है, वह पुत्र कहां है? स्वामी जीते हुये दूसरे के साथ विवाह करने की तुम में यह क्या दुष्ट चाल है" रक्षकों को यह कहना न जचा, वे सब लक्षपति को मारने को तैयार हुये। लक्षपति ने साधु का उपदेश रूप असंग रूप तलवार बाहर निकाली और सब के शिर धड़ से अलग कर दिये। सुन्दरी यह देख कर लक्षपति के चरणों में गिरी और क्षमा की याचना करने लगी। लक्षपति को दया न आई, उसने उस का शिर भी तलवार से काट डाला। जो कुछ माल था, सब का वह मालिक बन गया, पुत्र की बहुत खोज की गई परन्तु पता न लगा। यह अद्वैत रूप निर्विकल्प समाधि के समान हुआ। जहां अद्वैत ही हो, बाहर भीतर का भी भेद न रहे, यह ही सम्पूर्ण समाधि है, उसी को साक्षात्कार कहते हैं, उसी समय जीवन्मुक्ति का आरम्भ होता है। हे राजा! मैं ने दृष्टान्त सहित समझाया है, तू ने शास्त्र श्रवण और गुरु के उपदेश को ग्रहण किया है, इस उपदेश के भाव के अनुसार इस समाधि का क्रम है। यह उपदेश तो तुझे ज्ञात ही है।"

लक्षपति जीव है, छओं समाधियों के समान उसकी छओं अवस्थाओं का ऊपर के दृष्टान्त में वर्णन है, गुरु उपदेश, श्रद्धा और अभ्यास ही उस में मुख्य है। सुन्दरी निर्विकल्पा है, जब लक्षपति निर्विकल्पा रूप सुन्दरी से हटा तब निर्विकल्प समाधि सविकल्प समाधि में बदलने लगी। गुरु उपदेश से अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्प समाधि में आने के लिये निर्विकल्प का भी नाश करना पड़ा, विवेक रूप पुत्र भी गुम हुआ, तब ही अंतिम समाधि की प्राप्ति हुई।

अविद्या से बंधन।

जब जब चूहे अधिक उपद्रव करने लगते हैं तब तब बहुत से मनुष्य चूहों के पकड़ने के लिये तार आदि के बने हुये पिंजरे में रोटी का टुकड़ा डालकर जहां चूहे आते हैं वहां पर रखदेते हैं, चूहा घूमता हुआ वहां पहुंच जाता है, रोटी को देखता है अथवा रोटी की गंध से समझ जाता है कि यहां रोटी है और पिंजरे के आस पास घूमता हुआ पिंजरे में घुसने के मार्ग से घुसने लगता है, चूहे के वजन से खटका खुल जाता है, चूहा भीतर जाता है और कमानी से खटका बंद हो जाता है, चूहा प्रसन्न हो कर रोटी खाने लगता है, उसे यह भान नहीं होता कि वह पिंजरे में फंसगया है, कैदी बनगया है। जब थोडी देर बाद उसे मालूम होता है कि वह फँस गया है, बाहर नहीं निकल सका तब उस की सब प्रसन्नता भाग जाती है, घबराता है, निकलने का यत्न करता है, पिंजरे को काटने लगता है, काटा नहीं जाता, बिचारा रोटी खाना भूल जाता है, रोटी खाना अच्छा नहीं लगता, इधर उधर चक्कर लगाता है, क्रोधित होता है इतने में अपने भाई को पिंजरे में पड़ा देख कर, रोटी का टुकड़ा खाने को दूसरा चूहा भी खट से घुस आता है। वह भी कैदी बन

आता है, दोनों बाहर निकलने नहीं पाते, आपस में लड़ते हैं, जब तक पिंजरे में बन्द हैं तब तक बेचैन रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी मायिक पिंजरे में विषय रूप रोटी का टुकड़ा देख कर लालच से बन्द हो जाता है। चूहा तो थोड़ी देर बाद समझ जाता है कि वह कैद में पड़ा है, बन्धन में है परन्तु कैदी होने वाले माया जाल में फंसे हुये मनुष्यों को यह मालूम नहीं होता कि वे बन्धन में हैं, वे लोग चूहों से भी गये बीते हैं। यदि चूहा अधिक समय तक बन्द रहता है तो अनेक प्रकार की युक्तियों से अथवा पिंजरे को काट कर बाहर निकल जाता हुआ भी देखा गया है परन्तु जिस मनुष्य को बन्धन मालूम ही न हो वह न तो प्रयत्न करता है न निकल ही सका है। चूहे का पिंजरा अन्य का बनाया हुआ है, लोहे आदि कड़ी धातुओं का बना हुआ है, मनुष्य का पिंजरा अन्य का बनाया हुआ नहीं; है और लोहे जैसे कड़े पदार्थ का भी बना हुआ नहीं है, केवल कल्पना का है—अज्ञान का है तब भी टूटता नहीं है! यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है?

मोक्ष से विरुद्ध बन्धन है, मोक्ष का हेतु ज्ञान है अथवा कर्म है अथवा ज्ञान और कर्म दोनों ही हैं? इसका उत्तर यह है कि कर्म से अज्ञान का विरोध नहीं है इस लिये अज्ञान निवृत्त करने में कर्म का उपयोग नहीं है, अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है क्योंकि ज्ञान अज्ञान का विरोधी है, मोक्ष ज्ञान स्वरूप है इस लिये ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है कर्म नहीं, केवल ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। जो शुभ कर्म अथवा निष्काम कर्म होता है, वह कर्म से हुई अशुद्धि को निवृत्त कर सका है, इतना ही कर्म का उपयोग है, मतलब यह है कि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है, शुद्ध अन्तःकरण ज्ञान के योग्य होता है और मोक्ष ज्ञान से ही होता है। ज्ञान ही मोक्ष होने में मुख्य हेतु है और शुभ अथवा निष्काम कर्म शुद्धि में मदद रूप हैं। इसी प्रकार बन्धन का हेतु कोई कर्म को बताते हैं और कोई अज्ञान को। कर्म स्वयं क्रिया रूप जड़ होने से बन्धन नहीं कर सका। कर्म में बंधन करने का सामर्थ्य नहीं है, कर्म में बंधन का सामर्थ्य जो देखने में आता है, वह कर्म के साथ रहे हुये अज्ञान का ही सामर्थ्य है। कई जड़ पदार्थ कर्म करते हैं परन्तु उन का कर्म अज्ञान के अहंभाव रहित होने से उन को बंधन नहीं होता। किये हुये शुभाशुभ कर्म सैकड़ों जन्म तक भोगे बिना नहीं मिटते, ऐसा जो शास्त्र का लेख है, वह अज्ञान युक्त कर्म के लिये है, जिसमें अज्ञान नहीं है ऐसा कर्म किसी प्रकार बन्धन नहीं कर सका। सामान्य रूप से जहां कर्म का बंधन कहा है वहां अज्ञान सहित कर्म का ही बंधन समझना चाहिये। कर्म क्रिया रूप है और कर्म का करने वाला कर्ता है। अज्ञान से क्रिया और कर्ता का सम्बन्ध दृढ़ होता है, क्रिया के संस्कार कर्ता अपने में डालता है, वे ही संस्कार दृढ़ होकर भोग में आते हैं, यदि क्रिया का संस्कार कर्ता के ऊपर न पड़े तो भोग का हेतु न हो। जो संस्कार ही नहीं तो भोग किस प्रकार हो? क्रिया का तो उसी क्षण नाश हो जाता है और इस का फल कालांतर में होता है, इसका कारण संस्कार द्वारा बना हुआ अदृश्य है। अज्ञान वाले कर्मों से बंधन होता है। विचार कर देखा जाय तो कर्म का बाध होकर अज्ञान का ही बन्धन है। जो केवल कर्म से ही बंधन मानते हैं वे बंधन और कर्म को यथार्थ नहीं समझते। यद्यपि अज्ञान कर्म के साथ ही होता है तो भी बंधन अज्ञान का है, कर्म का नहीं है। चूहा पिंजरे में घुसने की क्रिया करता है, उस क्रिया से उसे बंधन नहीं होता, वह अनेक स्थानों पर उछलता कूदता घूमता फिरता है, यदि क्रिया से ही बंधन हो तो जहां जहां उसकी क्रिया हो, वहां २ बंधन होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। रोटी के टुकडे का लालच, यह पिंजरा है, बंधन का स्थान है, इस का अज्ञान करा देता है अथवा अज्ञान से लालच होता है, ऐसी अज्ञान की क्रिया बंधन का हेतु होती है, इस लिये बंधन कर्म का नहीं है, अज्ञान का है, चाहे वह अज्ञान कर्म सहित हो अथवा कर्म रहित हो।

यदि कर्म से ही बंधन माना जाय तो शरीर पर्यन्त किसी का कर्म नहीं छूटता, कायिक, वाचिक अथवा मानसिक क्रिया हुआ ही करती है, कर्म कर्मों

निवृत्त नहीं होता तब कर्म से जो बंधन है वह भी कभी निवृत्त न होगा, जब बंधन निवृत्त न होगा तो किसी का मोक्ष भी न होगा। ऐसा होने से मोक्ष के लिये शास्त्रों में किया हुआ उपदेश सार्थक न होगा, मिथ्या हो जायगा इस लिये केवल कर्म से बंधन मानना अयुक्त है। मुख्य कर्म दो प्रकार के हैं, शुभ और अशुभ अथवा धर्म रूप और अधर्म रूप, दोनों प्रकार के कर्म एक दूसरे से विरुद्ध लक्षण वाले हैं, तो भी कर्म ही हैं। अधर्म रूप कर्म लोक में अनिष्ट फल देता है और धर्म रूप कर्म लौकिक में इष्ट और शुभ फल का दाता है परन्तु उससे मोक्ष कभी नहीं होता। ये दोनों प्रकार के कर्म जब अज्ञान से युक्त हों तब ही फल के दाता होते हैं, अज्ञान की सत्ता से ही अज्ञान मूलक लोक में अज्ञान से शुभ समझा हुआ और अशुभ समझा हुआ होता है, ऊंच नीच सब लोक अज्ञान में हैं। जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक लोक निवृत्त नहीं होता और जब तक लोक निवृत्त नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं होता। ज्ञान का फल मोक्ष है, वह भी मुमुक्षुओं के समझाने के लिये है, वस्तुतः तो ज्ञान भी मोक्ष फल को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि मोक्ष प्रथम से ही सिद्ध है। ज्ञान तो अज्ञान की निवृत्ति का ही हेतु है, आवरण न रहने से मोक्ष स्वतः सिद्ध प्रत्यक्ष है। कर्म से फल उत्पन्न किया जाता है, कर्म स्वयं नाशवान् है इस लिये कर्म का उत्पन्न किया हुआ फल भी नाशवान् होता है इसलिये कर्म का उत्पन्न किया हुआ फल मोक्ष नहीं है, इसी प्रकार अज्ञान रहित कर्म का फल बंधन भी नहीं है। ज्ञान मोक्ष फल को उत्पन्न नहीं करता तो भी अज्ञान का निवर्तक होने से मोक्ष का हेतु ज्ञान कहा जाता है।

यदि क्रिया से ही बंधन माना जाय तो पाषाण वृक्षादिक क्रिया नहीं करते, ऐसा देखने में आता है इससे ऐसा नहीं कह सके कि उन को बंधन नहीं है। वे जड योनिया कहलाती हैं परन्तु बुद्धि उन में भी अवश्य है, सुख दुःख का भान भी उन को होता है। यद्यपि मनुष्यों के समान उन में बुद्धि नहीं है तो भी वे बुद्धि रहित नहीं हैं क्यों कि जन्म मरण आदि बिकार उन में देखे जाते हैं। जो योनियां जड हैं, वे घनसुषुप्ति के समान हैं, इनकी बुद्धि भी समय पाकर विकसित होती है और बंधन का अनुभव होता है। इस प्रकार क्रिया रहित होने पर भी बंधन रहित नहीं हैं, इस से सिद्ध होता है कि क्रिया से बंधन नहीं है। और क्रिया रहित बंधन न हो ऐसा भी नहीं है। बन्धन का हेतु अज्ञान ही है। चाहे वह अज्ञान, क्रिया, मोह, काम, मद आदि से युक्त होने से अज्ञानियों को न दीखे और न दीखने से वे सच मान भी लें कि कर्म आदिक में बंधन है, यह सब अज्ञान का प्रभाव है। कर्म से बंधन नहीं है और कर्म से बंधन छुटता भी नहीं है, शास्त्र में हजारों स्थानों पर ज्ञान से ही मोक्ष कहा है, किसी प्रकार की क्रियाओं से मोक्ष का कथन नहीं है, इस लिये कर्म से न बंधन है, न मोक्ष है, अज्ञान से बंधन है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति के बाद स्वतःसिद्ध मोक्ष है।

यदि कोई मनुष्य लाठी ले अपने दुश्मन का शिर फोड डाले तो इस में क्रिया का होना हाथ और लाठी से है। लाठी से क्रिया हुई अथवा हाथ से हुई है। कोई भी विचार वाला पुरुष हाथ अथवा लाठी का दोष नहीं देता, जिस में क्रिया का अभिमान है ऐसे मनुष्य का दोष समझा जाता है। लाठी और हाथ जड हैं, उन में क्रिया का अभिमान नहीं है इस लिये उन्हें दोष नहीं लगता। अभिमान वाला जीव ही अपनी शक्ति हाथ और लाठी में देकर अपने को करने वाला मानता है, उस अभिमान से उस को कर्म का दोष लगता है, वह दूसरे को दुश्मन मानता है, इस से उस को दुश्मन के ऊपर द्वेष होता है, अपनी कामना से ही वह मारता है, वह कामना अज्ञान से है। अपने अभिमान से—कामना से द्वेष और द्वेष से क्रिया होती है, इस सब का हेतु मूल में अज्ञान ही है। व्यक्ति भाव का अभिमान, कामना, द्वेष और क्रिया सब अज्ञान को मदद देने वाले हैं, सब अज्ञान का कुटुम्ब और फैलावा है, ऐसा होते हुये भी केवल क्रिया को ही बंधन मानना मूर्खता है। क्रिया सामान्य भी होती है और अनेक प्रकार के भाव युक्त भी होती है। क्रिया कायिक हो, वाचिक हो, अथवा मानसिक हो, धर्म

युक्त हो अथवा अधर्म युक्त हो, जिन क्रियाओं में व्यक्तिभाव के राग द्वेष की विशेषता हो, जिन क्रियाओं में अज्ञान विशेषता से हो, उन सब क्रियाओं के संस्कार पड़ते हैं, उन अज्ञान से पड़े हुये संस्कारों से देर में अथवा तुरन्त फल होता है, शुभ अथवा अशुभ लौकिक फल ही बंधन है। अज्ञानियों से भी बहुत सी क्रियायें सामान्य होती हैं, जिन में विशेष अज्ञान के राग द्वेष की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी अज्ञान की स्वाभाविक क्रियाओं के संस्कार नहीं पड़ते, न उन क्रियाओं से कोई बंधन होता है। जैसे कोई मनुष्य बैठा है, सामान्यता से हाथ, पैर, मुख आदि हिलाता है, बहुत समय उस को खबर नहीं होती कि कौनसा अंग किस प्रकार हिलाया, ऐसी स्मृति रहित चेष्टा के संस्कार किस प्रकार पड़ें ? ऐसी क्रियायें इतनी स्वाभाविक हो जाती हैं कि उन के ऊपर विशेष करके ध्यान भी नहीं होता, ऐसी क्रियाओं से बंधन नहीं होता। जो क्रिया मात्र से बंधन होता हो तो उन से भी बंधन होना चाहिये परन्तु उन से बंधन नहीं होता। जैसे पहाड़ का शिखर स्वाभाविक टूट कर गिर पड़ता है, पहाड़ को गिरने का अभिमान नहीं है इस लिये पहाड़ के गिरने से कोई मनुष्य मर जाय तो पहाड़ को कोई दोष नहीं देता क्योंकि उस की क्रिया राग द्वेष रहित वायु आदि के सहारे से सामान्य होती है। भगवान् ने अर्जुन से कहा है:—"हे अर्जुन! जो सहज (स्वाभाविक) कर्म हैं उन का करने वाला दोष का भागी नहीं होता!" और ज्ञानी के लिये कहा गया है कि जो आशा रहित है, जितेन्द्रिय है, जिस ने सब प्रकार की आंतर आसक्ति का त्याग किया है, जो केवल शरीर से ही कर्म करता है, उसे कर्म का बंधन नहीं होता, मतलब यह है कि कर्म में अज्ञान न हो तो कर्म स्वाभाविक प्रवाह रूप होने से उस का बंधन नहीं होता।

कर्म दो प्रकार के हैं, स्थूल और सूक्ष्म। सूक्ष्म से स्थूल होता है और अज्ञान से स्थूल कर्मों के साथ सूक्ष्म बनते हैं, इस प्रकार जब तक अज्ञान रहता है तब तक स्थूल सूक्ष्म और सूक्ष्म स्थूल की परंपरा चला ही करती है। (जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक अज्ञान से होने वाले बंधन की निवृत्ति नहीं होती, विशेष करके स्थूल क्रिया भोग की अपेक्षा वाली होती है यानी भोग क्रिया की अपेक्षा सहित होता है, ऐसी क्रिया का समावेश भोग में ही समझो! भोग के समय में जब अज्ञान होता है तब आसक्ति होती है, उस आसक्ति से पड़े हुये संस्कार—सूक्ष्म कर्म क्रियमाण रूप हैं, वे आगे के लिये नये कर्म बनते हैं, इस समय वे सूक्ष्म में होते हैं, पक कर इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में जब स्थूल क्रिया सहित भोग में आते हैं तब वे भोग कहलाते हैं, फिर उन में भावाभाव रूप आसक्ति से नया सूक्ष्म क्रियमाण बनता है, ऐसे परंपरा चली जाती है) जो भोग रूप स्थूल हो चुके हैं, वे भोग में अवश्य आते हैं, उस भोग में जीव परतंत्र है परन्तु उन के साथ में जो नये संस्कार क्रियमाण बनते हैं, वे अज्ञान से बनते हैं। जो प्रयत्न पूर्वक अज्ञान को निवृत्त कर चुके हैं, ऐसे ज्ञानियों का भोग के साथ नया क्रियमाण नहीं बनता इस लिये चालू भोग की समाप्ति होने से आगे की चाल टूट जाती है। जीव भोग में परतंत्र है परन्तु अज्ञान सूक्ष्म होने से और सूक्ष्म के बदलने में जीव का अधिकार होने से संस्कारी मुमुक्षु अज्ञान को हटा सकता है, ऐसे ही ज्ञानियों के भोग कर्म भी प्रवाह रूप से होते हैं, उन पर भावाभाव न होने से वे कर्म आगे बंधन नहीं करते क्योंकि अज्ञान सहित कर्म ही बंधन करने वाले थे जब उन में से अज्ञान निवृत्त हो गया तब जिन को अज्ञान से चाल मिल चुकी है, जो प्रवाह के बहाव में पड़े हुये हैं, वे समय पर शांत हो जाते हैं, जो कर्म भोग के हैं, वे पूर्व के किये हुये कर्मों का फल रूप हैं, मात्र समाप्त होते हैं। वे कर्म पूर्व का बंधन हैं, ज्ञान सहित होने से आगे के लिये बंधन नहीं कर सके, सिद्ध यह हुआ कि विशेष अज्ञान विना वर्तमान कर्म पूर्व की चाल से भोग रूप कर्म हो सके हैं, ऐसे कर्म बंधन नहीं करते।

कर्म दो प्रकार से होते हैं, ज्ञान सहित और अज्ञान सहित। ज्ञान सहित पूर्व के अज्ञान के वेग से होते हैं, ऐसे कर्म ज्ञानी के स्वाभाविक प्रवाह रूप से होते हैं और बंधन का हेतु नहीं होते, ज्ञानी के जितने कर्म होते हैं, सब इसी प्रकार सामान्य होते हैं क्योंकि ज्ञानी का विशेष अज्ञान निवृत्त हुआ होता है, लेशाविद्या—जली हुई अविद्या प्रतीति मात्र हो कर अपने कर्म समाप्त करती है, वह इतनी निर्बल हो जाती है कि ज्ञानी को अपने दबाव में नहीं डाल सकी, ऐसा ज्ञानी इस दशा में जीवन्मुक्त कहलाता है, अज्ञान सहित होने वाले सब विशेष कर्म बंधन करने वाले हैं, जब वे सामान्य होते हैं तब संस्कार न पड़ने से बंधन नहीं होता तो भी अज्ञान के निवृत्त करने वाले न होने से ऐसे कर्मों का कुछ भी उपयोग नहीं है। अज्ञान दो प्रकार का है, सामान्य और विशेष, बंधन का हेतु विशेष अज्ञान है, ऐसे ही ज्ञान भी दो प्रकार का है, सामान्य और विशेष। सामान्य ज्ञान और सामान्य अज्ञान का एक दूसरे से विरोध नहीं है इस लिये वे एक दूसरे को बाधक नहीं हैं, विशेष अज्ञान को हटाने वाला विशेष ज्ञान है। कथन में विशेष ज्ञान ही ज्ञान कहा जाता है। विशेष अज्ञान और विशेष अज्ञान में होने वाले कर्मों को विशेष ब्रह्म ज्ञान निवृत्त करता है। कर्मों का बंधन नहीं है, बंधन अज्ञान का है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। जो शुभ कर्मों से ही अज्ञान की निवृत्ति मानते हैं, वे मूर्ख हैं। कर्म शुभ हो चाहे अशुभ हो, सब बंधन रूप और अविद्या-युक्त होने से अविद्या के काटने को समर्थ नहीं हैं, जो शुभ कर्म कर के अथवा कर्म न कर के बंधन से निवृत्त होना चाहते हैं, वे बालू में से तेल निकालना चाहते हैं, उन का उद्यम निष्फल है। जिस से कष्ट होता है, उसे न मारते हुये दूसरे को मारने से फल कुछ नहीं निकल सका, उलटी हिंसा ही होती है।

किसी एक देश में एक राजा था, उस की एक रानी थी परन्तु पुत्र न होने से राजा रानी से उदास था और दूसरी योग्य कन्या की खोज में था। रानी निर्दोष थी, उस विचारी का कुछ दोष न था। रानी के लिये एक स्वतंत्र महालय बनवा दिया गया था और दास दासियां आदिक भी स्वतंत्र रक्खे गये थे, रानी अकेली महल में रहा करती थी। राजा रानी के महल की तरफ नजर भी नहीं करता था तो वहां जाय कहां से! राजा को शिकार का बड़ा शौक था। वह पास के जंगल में शिकार खेलने जाया करता था। जब वह शिकार को जाता था तब अपने परम मित्र एक कोतवाल के सिवाय अन्य किसी को साथ नहीं ले जाता था। बहुत बार वह वन में से बाघका शिकार कर लाया करता था। एक दिन जब राजा शिकार कर रहा था तब उसने एक सुन्दर हरिण को देखा, उस को देख कर राजा ने बाण मारा, बाण हरिण के न लगा। वह भयभीत होकर अपनी रक्षा के लिये बड़ी २ छलांगें मारता हुआ भाग गया। कोतवाल राजा के पीछे था, राजा का बाण निष्फल गया देख कर कोतवाल ने भी एक बाण मारा; वह भी हरिण के न लगा और वह वक्रगति से जान बचाता हुआ भागा। राजा और राजा के मित्र कोतवाल ने अपना २ घोड़ा हरिण के पीछे तेजी से दौड़ाया। कोतवाल के घोड़े से राजा का घोड़ा अत्यंत तीव्र वेग से चलने वाला और मज़बूत था। अभी तक आज उसने विशेष परिश्रम नहीं किया था, राजा का इशारा पाते ही घोड़ा पूंछ ऊंची कर के एक ही साथ तीव्र वेग से हरिण के पीछे दौड़ने लगा, कितनेक समय बाद राजा हरिण के निकट आपहुंचा और बाण मारा परंतु वह बाण भी हरिण के न लगा और हरिण भागने लगा, राजा हरिण के पीछे भागता हुआ जा रहा था और कोतवाल बहुत पीछे रह गया था, हरिण के पीछे दौड़ते २ संध्या होने आई और सूर्य का प्रकाश कम २ से कम होने लगा, अंधकार बढ़ता गया। इस समय हरिण जंगल को छोड़ कर एक विस्तीर्ण मैदान में पहुंच गया, राजा और हरिण के बीच में अंतर पड गया था, हरिण राजा की दृष्टि से बाहर था तो भी राजा आगे ही चलता गया, हरिण तो दीख न पड़ा, एक बहुत बड़ा महल राजा की दृष्टि में आया। ऐसे जंगल में राज महल को देख कर राजा को बड़ा ही आश्चर्य हुआ! उस में कोई मनुष्य रहता है या नहीं, यह देखने को राजा महल के द्वार पर गया, द्वार खुला हुआ था परंतु वहां कोई मनुष्य न था। राजा महल के भीतर गया और सब

स्थानों पर घूमा, कोई मनुष्य देखने में न आया, राजा प्रथम मंजिल पर चढ़ा, वहां के सब दिव्य कमरों को सजा सजाया हुआ देखता हुआ आगे बढ़ा। अंत में एक विशाल कमरे में जा पहुंचा, वहां एक सुवर्ण के पलंग के ऊपर एक अति स्वरूप वाली रमणी को निद्रावस्था में पड़ा हुआ देख कर राजा को आश्चर्य हुआ! ऐसी स्वरूप वाली स्त्री राजा ने पहिले कभी नहीं देखी थी, ऐसे निर्जन स्थान में यह सुन्दरी कहां से आई होगी, राजा ऐसा विचार करने लगा परन्तु कुछ निश्चय न कर सका। सुन्दरी को देखते ही राजा मोह में पड़ गया, उसके मुख को देखता हुआ खड़ा रहा, जब थोड़ी देर हो गई तब उस सुन्दरी की निद्रा खुली, राजा को सामने खड़ा हुआ देख कर वह पलंग पर से उठ खड़ी हुई और राजा का हाथ पकड़ कर बोली "महाशय! मैं एक राज कन्या हूं, एक राक्षसी मेरे माता पिता और सगे सहोदरों को खा गई है और मुझ पर दया कर के मुझे कैद करके इस जंगल में रख दिया है। प्रत्येक मध्य रात्रि को वह मुझे देखने को आती है। आप कहां से आये हो? चले जाइये नहीं तो राक्षसी आप को मार डालेगी।"

राजा ने कहा "रमणी! हम क्षत्रिय हैं, मरने से डरने वाले नहीं हैं, तुझे राक्षसी के वश में छोड़ कर मैं जाने वाला नहीं हूं, तू मेरे साथ चल, मध्य रात्रि से प्रथम ही मैं तुझे अपने राज्य में ले जाऊंगा, फिर तुझे राक्षसी का कुछ भी भय नहीं रहेगा!" राज कन्या राजी हो गई, दोनों की सम्मति से गांधर्व विवाह हुआ, घोड़े पर सुंदरी को अपने साथ ले कर राजा वहां से चला और प्रभात होते ही अपनी राजधानी में पहुंच गया। सब शहर में खबर हो गई कि राजा शिकार खेलने गया था, वहां से एक देवांगना सुंदरी को व्याह लाया है, सब लोग नई रानी को देखने आये और रूप का वर्णन करने लगे। राजा नई रानी के साथ आनंद से दिन व्यतीत करने लगा।

जब से राजा नई रानी को ले कर आया तब से शहर में उपद्रव होने लगा। छोटे २ बच्चे चोरी जाने लगे, शहर में बच्चों की खैर नहीं थी, लोग इस का कारण ढूंढते थे परन्तु पता नहीं चलता था। जब सब छोटे लड़के चोरी चले गये तब बड़े मनुष्य भी गुम होने लगे। प्रजा जन घबरा कर एकत्र हो राजा के पास पहुंचे और बोले "महाराज! आपके राज्य में कोई बड़ा चोर उत्पन्न हो गया है, प्रथम बच्चे चोरी जाते थे, अब मनुष्य गुम हो रहे हैं, उस चोर के पकड़ने का कोई प्रबन्ध होना चाहिये नहीं तो हम लोग आप का राज्य छोड़ कर अन्य राज्य में चले जायंगे।" यह सुन कर राजा चिंतातुर हुआ, प्रजा जन को आश्वासन देता हुआ बोला "तुम लोग घबराओ मत! आज से मैं पहिरा देने को निकलता हूं, मैं चोर को पकडूंगा!" उस दिन से राजा रात्रि में छुपा वेष धारण कर के नगर में घूमने लगा। कई दिन व्यतीत हो गये परन्तु चोर का पता न लगा। मनुष्यों का गुम होना बन्द न हुआ। राजा ने शहर में आने के चारों तरफ के दरवाजे बन्द करवा दिये, बहुत से चौकीदारों को बढाया, सब कुछ यत्न किया परन्तु मनुष्यों का गुम होना चालू ही रहा। राजा और सब चोकीदार चोर को पकड़ने को शक्तिमान न हुये। एक दिन गौशाला से एक नोकर आकर विनति करने लगा "महाराज! तीन दिन से गौ शाला में चार २ गो कम हो जाती हैं, हम रात्रि भर जागते रहते हैं किन्तु ले जाने वाला देखने में नहीं आता!" इतने में अश्वशाला का नोकर आकर कहने लगा "महाराज! तीन दिन से दो दो घोड़े गुम हो जाते हैं, आप जल्दी प्रबन्ध न करोगे, चोर को न पकड़ोगे तो अश्वशाला खाली हो जायगी!" इसी प्रकार प्रजा लोगों की भी पुकार हुआ करती थी। राजा ने बहुत बहुत युक्तियां कीं परन्तु उपद्रव शांत न हुआ।

चोर न पकड़े जाने और राज्य का सब प्रकार से नाश होने से एक दिन राजा बहुत चिन्ता में था, इतने ही में बड़ी रानी की एक दासी राजा के पास आई, साष्टांग दंडवत् प्रणाम कर के सम्मान सहित बोली "महाराज! मैं आप के समक्ष आने की आप से क्षमा चाहती हूं!" बड़ी रानी की दासी को आया

हुआ देख कर राजा को क्रोध आया परन्तु क्रोध को दबाते हुये राजा बोला "दासी! तू जो कुछ कहने को आई है, सो कह!" दासी हाथ जोड़ कर बोली "महाराज! आप की नई रानी के महल में से प्रति दिन एक पक्षी उड़ता हुआ निकलता है, नगर में घूम कर पिछली रात को लौट कर महल में घुस आता है। जब से नई रानी आई है तब से ऐसा होता है!" राजा हंसता हुआ बोला "पक्षी निकलने से मेरी क्या हानि है? ऐसे सैकड़ों पक्षी आकाश में उड़ा करते हैं!" दासी बोली "महाराज! मैं राज सेवा करते २ बुड्ढी हो गई हूं, यह पक्षी सामान्य नहीं है, यह पक्षी राक्षसी है, राज में उपद्रव फैलाने वाला यह ही पक्षी है, मेरी प्रार्थना मान कर उस पक्षी की खोज कीजिये, इसी से राज में सुख शांति होगी!" राजा ने दासी को विदा किया और पक्षी को देखने के लिये रात्रि में जाग्रत रहने का निश्चय किया। रात्रि को भोजन कर के राजा नई रानी के महल में सोया, राजा को निद्रा न आई तो भी निद्रा आई हुई हो, इस प्रकार पड़ा रहा। नई रानी पास के सुवर्ण के पलंग पर सो रही थी, जब उसने देखा कि राजा सो गया तब वह महालय से बाहर निकली। राजा भी देखने लगा कि रानी कहां जाती है, रानी अदृश्य हो गई और शूं शूं करता हुआ एक पक्षी बाहर उड़ कर जाता हो, ऐसा राजा ने देखा। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और दासी की बात का उसको निश्चय हो गया। रानी कहां गई और यह पक्षी कौन था, इसका राजा को सन्देह हुआ। पिछली रात्रि को रानी महल में आगई और राजा को सोता हुआ समझ कर अपने पलंग पर आकर सो गई। उस दिन की वह बात राजा ने किसी से न कही, दूसरी रात्रि को भी राजा सोने का ढोंग बना कर जागता रहा। राजा को निश्चय हो गया कि रानी और पक्षी का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

दूसरे दिन नई रानी जब सखियों के साथ आनन्द कर रही थी तब एक दासी ने आकर कहा "रानी साहब! राजा साहब आप को बुलाते हैं!" नई रानी राजा के पास गई, वहां राजा अकेला बैठा हुआ था, उसने रानी से कहा "रोज रात्रि को महल में से निकल कर कहां जाया करती है?" रानी बोली "हैं! मैं तो सोती रहती हूं, बाहर नहीं जाती हूं, यह बात आप से किसने कही है?" राजा क्रोध से लाल पीला हो कर बोला "दुष्टा! क्या तू मुझे मूर्ख समझती है? मैं तुझे अपनी आंखों से बाहर जाता हुआ देखता हूं! कितने ही दिन से मैं तेरी यह चेष्टा देख रहा हूं!" रानी भयंकर अट्टहास कर के बोली "महाराज! आपने मेरे लिये भोजन का जो प्रबन्ध किया है उससे मेरा पेट नहीं भरता, आहार करने के लिये ही मैं महल से बाहर जाती हूं!" ऐसा कहते हुये रानी ने एक विकराल राक्षसी का स्वरूप धारण किया! राजा सावधान था, म्यान में से तलवार निकाल कर एक ही झटके से राक्षसी का शिर धड़ से अलग कर दिया। मरते समय राक्षसी ने भयंकर शब्द किया। सब शहर में खबर हो गई, राक्षसी को देखने को प्रजा जन आने लगे। लोगों ने जान लिया कि राक्षसी ही पक्षी का स्वरूप धारण कर के प्रजा को अनेक प्रकार का कष्ट दे रही थी। राजा को उस दिन बड़ी रानी पर दया आई, बड़ी रानी के सौभाग्य का सूर्य उदय हुआ। थोड़े समय में रानी गर्भवती हुई, राज कुंवर का जन्म हुआ, राजा रानी आनन्द से रहने लगे।

जैसे राजा ने उपद्रव शांति के लिये अनेक उपाय किये किन्तु उपद्रव शांत न हुआ। बाहर का चोर उपद्रव मचाता है, राजा का यह खयाल झूठा था, उपद्रव करने वाला बाहर होता तो पकड़ा जाता, और उपद्रव शांत होता। इसी प्रकार जगत् में जितना उपद्रव फैल रहा है, सब अविद्या का है, अविद्या भीतर है, अविद्या के बदले बाहर के कर्म को उपद्रव का कारण मानने वाले राजा के समान धोखे में हैं। जैसे चोर का उपद्रव नहीं था इसी प्रकार कर्म का भी उपद्रव नहीं है। अविद्या का नाश न करते हुये कर्म का नाश करने से उपद्रव की शांति किस प्रकार हो? जैसी राक्षसी थी वैसी अविद्या है, राजा चोर का उपद्रव समझता था, वैसा

कर्म है। जिस कारण से रोग है, उस के उपाय से ही रोग की निवृत्ति होती है, अन्य उपाय से रोग की शांति नहीं होती इसी प्रकार कर्म को दुःख का हेतु मानना मिथ्या है। अविद्या में फंसे हुये मनुष्यों की बुद्धि को अविद्या इतना भ्रष्ट कर डालती है कि वे अविद्या के दोष को ही नहीं समझते, अविद्या बुद्धि को भ्रष्ट कर के अपने दोष को कर्म के शिर मढ़वाती है। शुद्ध बुद्धि से ही यथार्थ निर्णय हो सका है कि वस्तुतः यह दोष किस का है।

राजा जीव है, उसकी बड़ी रानी सुबुद्धि है। सुबुद्धि सीधी सादी होने से विशेष चमक दमक रहित होने से राजा रूप जीव को अप्रिय हो रही है, इस लिये यह चमक दमक सौन्दर्य वाली रानी की खोज में रहता है, शून्य वैसे अरण्य में उसे वैसी रानी मिलती है, जैसे अरण्य शून्य है वैसे ही अविद्या का महल भी शून्य में ही है। वस्तुतः शून्य होते हुये, मिथ्या होते हुये भी शोभा वाला दीखता है, अविद्या के महल की अधिष्ठात्री अविद्या रूप सुन्दरी राक्षसी युवान स्वरूप वाली और मोहक दीखती है, राजा रूप जीव की कामना वृत्ति उसपर मोहित होती है, जीव अविद्या से संलग्न होता है, विवाह कर के अपने निवास में ले आता है। अविद्या करके अंधे हुये हैं नेत्र जिस के ऐसे राजा रूप जीव को नई रानी राक्षसी मालूम नहीं होती, जो अत्यंत प्रिय हो, उस के ऊपर दोष की शंका होना बहुत ही कठिन है, सुबुद्धि की वृद्ध दासी राजा को उपदेश देने वाली होने से सद्गुरु रूप है। उसके उपदेश से उपद्रव की शांति के निमित्त अपने महल शरीर में ही चोर की खोज करना आरंभ किया, तब मालूम हुआ कि रानी राक्षसी—अविद्या मन रूप पक्षी होकर महल से बाहर निकल कर उपद्रव करती थी, जब राजा रूप जीव को यह मालूम हुआ तब उसने राक्षसी अविद्या से पूछ कर इस को ताड़ना दी। जब वह अपने स्वरूप से प्रकाशित हुई, राजा रूप जीव ने असंगता रूप शस्त्र तलवार से अविद्या रूप राक्षसी का शिर काट डाला तब सब प्रकार के उपद्रव शांत हुये, सुबुद्धि रूप बड़ी रानी फिर से ग्रहण की गई, कुछ समय बाद विवेक रूप पुत्र की प्राप्ति हुई, तीनों शांति से दिन निर्गमन करने लगे।

जो केवल कर्म को ही दुःख का हेतु मानते हैं, वे मूढ हैं, दुःख का कारण अविद्या है, अपने शरीर रूप महल में ही अविद्या का वास है, जब उस की खोज कर के उसे अलग कर के उस का नाश करते हैं तब ही जीव सुखी होता है, परम पद को प्राप्त होता है, कर्म से किसी को आज तक कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि शुभ कर्मों से उच्च लोकों की प्राप्ति होती है परन्तु बंधन की निवृत्ति नहीं होती। उच्च लोक भी दुःख रहित नहीं है, पुण्य क्षीण होने से नीच योनि में पड़ कर विशेष कष्ट भोगना पड़ता है। जो अविद्या को निवृत्त करता है, उस का ही परम जय होता है।

चर्पट पंजरिका।

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं
सर्वं त्यक्त्वा स्वप्न विचारम्॥१४॥भज०

अर्थः—मैं कौन हूं, तू कौन है, कहां से आया है, मेरी माता कौन है, मेरा पिता कौन है, इस का विचार कर के स्वप्न के समान जान कर सब का त्याग कर, सब नाम रूप आत्मक जगत् को असार मान ले, गोविन्द का भजन कर।

भाषापद्य।

को मैं, को तू, कहँ से आया।
कौन पिता किस माने जाया॥
स्वप्ने सम ये सब निर्धारो।
सार रहित सब जगत् विचारो॥१४॥ भज०

विवेचन।

जगत् की तुच्छता जानकर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये कैसे विचार की आवश्यकता है और यह जगत् किसके समान है, इस का विचार करने को इस पद्य में कहा है। 'मैं कौन हूं' यह प्रश्न दो प्रकार की दृष्टि से होता है, एक शरीर दृष्टि यानी व्यवहारिक दृष्टि से और दूसरे तत्व दृष्टि से। 'मैं हूं' यह व्यवहारिक दृष्टि से सब जानते हैं, तत्व दृष्टि से इस का जानना कठिन है, व्यवहारिक दृष्टि से विचारते हुये, शुद्ध बुद्धि का उपयोग करते हुये अशुद्ध, परिवर्तन वाले, प्रतीति मात्र को छोड़ने से जब तत्व दृष्टि होती है तब ही अपने वास्तविक तत्व का पता लगता है। जब मैं का पता लग जाता है तब तू और वह, माता पिता इत्यादि सब का पता लग जाता है। इस जगत् के जितने व्यवहार हैं, वे सब स्वप्न के व्यवहार से किंचित् भी विशेषता वाले नहीं हैं, स्वप्न के मिथ्या होने का सब को अनुभव है, जाग्रत् जगत् भी इसी प्रकार का है, इस लिये वह भी मिथ्या ही है, इस मिथ्या के स्थान से जिस में मिथ्या की प्रतीति हो रही है, वह तत्व ही शेष रहता है।

जैसे पंच महाभूतों के बने हुये अपने शरीर को 'मैं' मानते हैं इसी प्रकार अपने से भिन्न दूसरे के शरीर को 'तू' ऐसा कहते हैं। यह स्थूल देह जिन कर के बना हुआ है, जिन के पोषण करने से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, उन दम्पति को माता पिता कहते हैं और ऐसा समझते हैं कि उन दम्पति से ही इस संसार में हमारा आना हुआ है। व्यवहार में यह ठीक होते हुये भी विचारने योग्य है! जब स्थूल शरीर को ही 'मैं हूं' ऐसा मानते हैं तब ठीक नहीं है क्योंकि सूक्ष्म विचार से देखते हैं तो केवल स्थूल शरीर ही 'मैं हूं' यह सिद्ध नहीं होता तब 'मैं, तू, माता, पिता और आगमन सब ही झूठ हो जाता है, शरीर पंच महाभूत और अनेक अंग के समुदाय से बना हुआ है। पंचमहाभूतों में आकाश मैं हूं, वायु मैं हूं, अग्नि मैं हूं, जल मैं हूं अथवा पृथिवी मैं हूं, ऐसा कोई नहीं कहता, हाथ, पैर, पेट, शिर अंगुली, कमर आदिक अवयवों को कोई 'मैं हूं' ऐसा नहीं कहता, सब मेरा ही कहते हैं, इसी प्रकार मुख, नाक चमडी, आंख, आदिक को भी कोई 'मैं हूं' नहीं कहता। शरीर में पांच कर्मेन्द्रिय हैं, जो कार्य करती हैं, वे मैं नहीं हूं परन्तु वे मेरी हैं, वे सब मेरी सत्ता से कार्य करती हैं, जब मैं चाहता हूं, तब उन से कार्य लेता हूं अथवा नहीं लेता हूं इस लिये वे सब इन्द्रियां मुझ से पृथक् हैं, इसी प्रकार दीखते हुये शरीर को भी मैं मेरा कहता हूं तब उसे मेरा कहने वाला मैं कौन हूं? शरीर के ऊपर न दीखते हुये, शरीर के भीतर भरे हुये रस, लोहू, मांस, मेद, अस्थि, और मज्जा भी मैं नहीं हूं, उनका समुदाय भी मैं नहीं हूं उन्हें देख कर तो मुझे घृणा आती है! इन सब धातुओं की स्थिति मुझ से है, मैं इन सब की स्थिति का हेतु हूं, मेरी सत्ता से ही वे अपने अपने कार्य करने में समर्थ होती हैं। यदि वे ही मैं होता तो मुझे इन पर घृणा क्यों आती? टूटे हुये अंग को मैं क्यों फेंक देता हूं? इस से सिद्ध होता है कि धातु रूप मैं नहीं हूं तब क्या मन, बुद्धि, चित, अहंकार की वृत्तियों करके प्रकट होने वाला सूक्ष्म शरीर मैं हूं? नहीं! वह भी मैं नहीं हूं क्यों कि प्रत्येक वृत्ति और वृत्ति के अभाव का ज्ञाता मैं हूं, वृत्तियों का प्रवर्तक मैं हूं, जो वृत्तियों का प्रवर्तक है, वह वृत्ति नहीं हो सका इस लिये मैं वृत्ति रूप नहीं हूं, अन्तःकरण के धर्मों को जानने वाला होने से मैं अंतःकरण से पृथक् हूं, जब मैं स्थूल और सूक्ष्म शरीर रूप नहीं हूं तब क्या मैं कारण शरीर रूप हूं? नहीं! कारण शरीर अबोध रूप है, जड़ है, मैं अपने को अबोध अथवा जड़ रूप कहने को तैयार नहीं हूं, क्योंकि मैं कारण शरीर का जानने वाला हूं, जानने वाला जानने के पदार्थ से पृथक् होता है, ऐसे तीनों शरीर मैं नहीं हूं, तब मैं कौन हूं? तीनों शरीरों से अतिरिक्त मैं दीखता नहीं हूं, तब मैं होऊंगा ही नहीं, ऐसा भी तो कहा नहीं जा सका। जिस प्रकार तीनों शरीर अथवा तीनों शरीरों में कोई अंग मैं नहीं हूं, इसी प्रकार तीनों शरीर का समुदाय रूप भी मैं नहीं हूं, तीनों शरीर की स्थिति स्थूल शरीर में ही है। स्थूल शरीर के

अन्य दो शरीर दिखाई नहीं देते। शरीरों का नाश होता है, मेरा नाश नहीं है क्योंकि शास्त्र के कथनानुसार दूसरा शरीर धारण करके पुण्य पापादिक का भाग मुझे भोगना पड़ता है, तब मैं कौन हूं ?

जैसे मेरे शरीर का होना माता पिता आदिक से होता है ऐसे ही मैं जिन्हें तू और वह कहता हूं, उनकी उत्पत्ति भी इसी प्रकार है, वे भी मेरे समान पंच भौतिक आदि के ही हैं, वे भी तू और वह कहने के योग्य नहीं हैं, मैं उन को अपने से पृथक् समझ कर तू और वह कहता हूं, जो मरने वाला होता है उस की ही उत्पत्ति होती है, जो उत्पन्न होता है, उसका मरण अवश्य होता है। शरीर से विलक्षण और पृथक् ऐसा जो कोई मैं हूं, वह शरीर से पाहिले नहीं था, ऐसा नहीं कहा जाता और शरीर के साथ उसका नाश भी नहीं होता। तब उत्पत्ति और नाश रहित ऐसा जो मैं उसका आना जाना भी नहीं हो सका, तब मैं कौन और कैसा हूं ? माता पिता के पंच भौतिक शरीर से मेरा पंच भौतिक शरीर हुआ है, मैं नहीं हुआ।

स्थूल शरीर, इन्द्रिय और उनके पदार्थ इत्यादिक का संघात सब यहां ही रह जाता है। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का भी ज्ञान से नाश हो जाता है। इसलिये वे मैं नहीं हूं, मैं तो शुद्ध निर्विकार हूं, नित्य हूं। जन्मना मरना, आना जाना, देह के धर्म हैं, भ्रांति से मुझमें भासते हैं, जैसे गरम पानी पर पैर पड़ने से लोग ऐसा कहते हैं कि पानी से पैर जला, परंतु पैर का जलना पानी से नहीं होता, अग्नि से होता है क्योंकि पानी का गरम होना अग्नि से है। जैसे आकाश में जब बादल चलते हैं तो चन्द्र चलता हो ऐसा दीखता है, ऐसा दीखना भ्रम से है, विशेष चाल से बादल ही चलते हैं। जैसे रेलगाड़ी में बैठकर जाते हैं तो सामने के वृक्ष मकान आदिक चलते हुये दीखते हैं, वस्तुतः वे चलते नहीं हैं, गाड़ी के चलने से वृक्षादिक चलते हों, ऐसा मिथ्या मान होता है इसी प्रकार भ्रम से देहादिक के धर्म मुझ में आरोपित हैं। जब तक मैं नहीं समझता था तब तक शरीर के धर्म अपने मानता था परन्तु अब कुछ समझ में आया है तब इन शरीर के विकारों को मैं अपने में क्यों मानूं ? मैं अपने को मन वाणी से नहीं जान सका।

शास्त्र वाक्य, गुरु वचन, युक्ति और विचार करने से यह ही सिद्ध होता है कि मायिक पंचभूतों से पंच भौतिक शरीर की उत्पत्ति है। पंचभूतों से बने हुये शरीर का नाश भी पंचभूतों में है। मेरा और माता पिता आदिक सब का शरीर ऐसा ही है। शरीर की उत्पत्ति माता पिता के शरीर से कहो तो कहो परंतु मैं जो चेतन स्वरूप, निर्विकार, अपरिच्छिन्न हूं, उत्पत्ति नाश रहित हूं, मेरा आना कहीं से नहीं हुआ, अज्ञान से शरीर के आने जाने आदिक का भास मुझ में होता है। अज्ञान की दृष्टि को हटा कर ज्ञान से देखा जाय तो मैं स्वयंसिद्ध हूं और सब प्रकार के विकारों से रहित हूं। जगत् को समझने के लिये शास्त्रकारों ने स्वप्न के समान कहा है। अब विचारना चाहिये कि स्वप्न और इस जगत् में कौन सी समानता है और किस प्रकार का अंतर है। जाग्रत् जगत् और स्वप्न जगत् का उपादान कारण कौन है और इस जगत् में भोक्ता कौन है ?

सब जानते हैं कि स्वप्न झूंठा है। मरे हुये को जीता देखना, न हुये को हुआ देखना, कोई सामग्री और कारण न होते हुये भी उत्पत्ति और मरण को देखना, भय न होते हुये भय को देखना, विषय न होते हुये विषयों का भोग होना इत्यादि अन्ट सन्ट असंभवित दृश्य स्वप्न में दिखाई देता है। जाग्रत् में ऐसी असंभवित बात कोई भी नहीं है, इस लिये जाग्रत् को कार्य कारण संयुक्त नियम बद्ध समझते हुये स्वप्न को सब झूंठा कहते हैं। लोग जाग्रत् को सत्य और स्वप्न को मिथ्या समझते हैं, क्या वास्तविक ऐसा ही है, या कुछ और है ? ऐसा विचारना चाहिये। स्वप्न झूंठा है, ऐसा जो कोई कहता है, जाग्रतावस्था में ही कहता है, स्वप्न में दबा हुआ स्वप्न पुरुष स्वप्न में स्वप्न को झूंठा नहीं कह सका और जो असंगत और असंभवित दृश्य देखने में आते हैं, उन को असंगत और असंभवित नहीं

जानता। ऐसा बोध भी नहीं होता कि मैं स्वप्न देख रहा हूं, स्वप्न को जाग्रत् ही समझता है और जाग्रत् के समान ही सत्य जानता है। वहां स्वप्न की सत्यता होती है और जाग्रत् की असत्यता हो जाती है क्योंकि देखा जाता है कि स्वप्न का भूखा स्वप्न के भोजन से तृप्त होता है, जाग्रत् का कंगाल स्वप्न में श्रीमान् हो जाता है और जाग्रत् का लक्षपति स्वप्न में भिखारी बन कर भीख मांगता फिरता है। ऐसे स्वप्न की अवस्था में जाग्रत् का व्यवहार और जगत् झूंठा होता है। जैसे जाग्रत् में स्वप्न झूंठा होता है ऐसे ही स्वप्न में जाग्रत् झूंठा हो जाता है, सच्चे और झूंठे होने में दोनों की समानता है। अपनी अवस्था सच्ची और अन्य झूंठी है। जाग्रत् वाले को उस का स्वप्न झूंठा और स्वप्न वाले को उस का जाग्रत् झूंठा होता है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् की साम्यता है।

स्वप्न के पदार्थ झूंठे और जाग्रत् के सच्चे बताये जाते हैं, यह अयुक्त है, जब दोनों अवस्थायें समान हैं तब उन के पदार्थ भी समान ही हैं। स्वप्नावस्था में स्वप्न के पदार्थों को कोई झूंठा नहीं कहता तब वे झूंठे किस प्रकार हैं? जैसे जाग्रत् में जाग्रत् और जाग्रत् के पदार्थ सच्चे हैं ऐसे ही स्वप्न में स्वप्न और स्वप्न के पदार्थ सच्चे हैं, जैसे जाग्रत् वाला स्वप्न के पदार्थों को झूंठा कहता है ऐसे स्वप्नावस्था में जाग्रत् और जाग्रत् के पदार्थ सच्चे नहीं रहते, इसलिये दोनों अवस्थाओं के पदार्थ एक ही प्रकार के हैं, यदि कोई कहे कि स्वप्न के पदार्थ तो इस लिये झूंठे हैं कि स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में नहीं रहते, इतना ही नहीं, दूसरे स्वप्न में भी वे पदार्थ नहीं रहते और जाग्रत् के पदार्थ तो स्वप्न में प्रतीत न होते हुये भी बने रहते हैं और जाग्रत् होने पर वे ही पदार्थ ज्यों के त्यों जहां के तहां दिखाई देते हैं इसलिये जाग्रत् के पदार्थ सच्चे हैं और स्वप्न के पदार्थ झूंठे हैं, यदि जाग्रत् के पदार्थ भी स्वप्न के समान झूंठे हों तो एक जाग्रत् के पदार्थ दूसरे जाग्रत् में न रहने चाहियें। ऐसा नहीं होता, पदार्थ बने रहते हैं इसलिये जाग्रत् और जाग्रत् के पदार्थ सच्चे हैं और स्वप्न और स्वप्न के पदार्थ ऐसे न होने से झूंठे हैं। इस शंका का समाधान यह है कि जाग्रतावस्था से स्वप्नावस्था थोड़े समय की है। जाग्रतावस्था जन्म से मरण पर्यन्त एक ही रहती है और स्वप्नावस्था स्वप्न के आरम्भ से अंत तक एक होती है। जिन्दगी भर की स्थूल शरीर की एक जाग्रतावस्था के मध्य में अनेक स्वप्न होते हैं, एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न का सम्बन्ध नहीं है और जाग्रत् तो शरीर और आयु से संबन्ध वाली होने से एक ही है, इसलिये एक जाग्रत् के पदार्थ दूसरे तीसरे आदि जाग्रत् में बने रहते हैं। जैसे एक स्वप्न के पदार्थ दूसरे स्वप्न में नहीं रहते इसी प्रकार जिन्दगी भर की एक शरीर की जाग्रत् के पदार्थ दूसरे शरीर की जाग्रतावस्था में नहीं रहते इसलिये जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न के समान ही हैं। अनादि अविद्या में बने हुये कर्म जो प्रारब्ध रूप हुये हैं और जिनके भोगने के लिये शरीर बना है, उनसे जाग्रतावस्था है और स्वप्नावस्था निन्द्रा दोष से है, निन्द्रा दोष होने से स्वप्न क्षणिक है, और जाग्रत अविद्या—प्रारब्ध से बने हुये स्थूल शरीर की होने से स्थायी है। दोनों में इतना ही भेद है, नहीं तो दोनों एक ही प्रकार की हैं। स्वप्नावस्था में जाग्रत् का बोध नहीं होता परन्तु जिस शरीर की जाग्रत् अवस्था होती है, उस शरीर के रहते हुये वह अवस्था जाती नहीं है, स्वप्न के समय में दब जाती है और स्वप्नावस्था तो सूक्ष्म में होने से और निद्रा का दोष होने से जाग्रतावस्था से दबती नहीं है। इस लिये प्रत्येक स्वप्न भिन्न २ होता है और एक शरीर में भिन्न २ होते हुये भी जाग्रत् एक ही है। निद्रा दोष के नाश होने से जाग्रतावस्था स्वप्न का नाश करती है परन्तु स्वप्नावस्था का निद्रा दोष अनादि अविद्या के प्रारब्ध रूप कर्म भोग की जाग्रतावस्था का नाश नहीं कर सक्ता, केवल दबा देता है इसलिये किंचित् काल भेद होते हुये भी जाग्रत् और स्वप्न दोनों समान हैं, जैसे विष का एक बड़ा डेला और एक रज कण दोनों ही विष रूप हैं, एक बड़ा है एक छोटा है, एक मृत्यु को बुलाने वाला है, दूसरा नहीं, ऐसा होते

हुये भी जैसे दोनों विष ही हैं, ऐसे ही दोनों अवस्थायें तुल्य हैं।

स्वप्न में कारण कार्य का सम्बन्ध नहीं है और जाग्रत् में सम्बन्ध है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अपनी २ अवस्था में सम्बन्ध वाली कोई नहीं दीखती, यदि स्वप्न में कार्य कारण रहितता मालूम हो जाय तो स्वप्न का भंग हो जाय इसी प्रकार जाग्रत् में भी कार्य कारण का कोई सम्बन्ध नहीं है, जब तक ऐसा मालूम होता है कि सम्बन्ध है तब तक जाग्रतावस्था है। वस्तुतः जाग्रत् में भी कार्य कारण का सम्बन्ध नहीं है, मात्र प्रतीति है। ऐसा मालूम हो जाय तो अज्ञान निवृत्त हो जाय, ज्ञानावस्था आजाय, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों में कार्य कारण का सम्बन्ध भी तुल्य है। जो स्वप्न के समान जाग्रतावस्था को यथार्थ समझने लगता है, उस का अज्ञान तुरत ही निवृत्त हो जाता है। जाग्रत् को स्वप्न के समान मिथ्या और तुच्छ समझने के लिये स्वप्न से अच्छा अन्य कोई दृष्टांत नहीं है। जगत् को सच्चा मानने वालों को भी जगत् का परिवर्तन, क्षणिकपना और विकारीपना मानना ही पड़ता है, ऐसे तुच्छ जगत् में दृढ़ आसन बिछाकर अज्ञान की घोर निद्रा में सोते रहने वाले के सिवाय अकल्याण का हेतु अन्य कौन होगा? इस लिये आचार्य ने 'मैं कौन हूं,' 'तू कौन है' आदिक का विचार कराया है, सब स्थानों में भरे हुये परम तत्व का कहीं आना जाना नहीं हो सक्ता! 'मैं' का सच्चा स्वरूप भी वह ही परम तत्व निकलता है तब अज्ञान सिवाय अन्य में आने जाने की प्रतीति किस प्रकार हो? अज्ञान से 'मैं तू' है, अज्ञान से आना जाना है, अज्ञान की निवृत्ति से स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द तत्व ही शेष रहता है, जो सब का अपना आप है।

एक मनुष्य एक संत के पास जाया करता था और सत्संग भी किया करता था परन्तु वैराग्यादि की न्यूनता से उस को बोध नहीं होता था। सन्त बारम्बार जगत् को स्वप्न के समान कहा करते थे परन्तु उस मनुष्य की समझ में नहीं आता था कि स्वप्न के समान जगत किस प्रकार है। अन्य मनुष्यों के साथ स्वप्न के विषय में वह सन्त से कुछ पूछ नहीं सकता था। एक दिन ऐसे समय में वह सन्त के पास आया कि उस समय उन के पास कोई न था और प्रणाम करके बैठ गया। सन्त ने कहा "आज इस समय कैसे आया?" मनुष्य ने कहा "महाराज! क्या कहूं, मैं आपके वचनामृत का पान करता हूं, उस में कई शंकायें होती हैं, सब के सामने पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती इसलिये बोल नहीं सकता। मुझे मुख्य शंका तो यह है कि आप बारंबार संसार को स्वप्न के समान झूठा बताते हो, यह किस प्रकार हो सकता है? संसार स्वप्न के समान झूठा है, यह बात मेरी समझ में नहीं बैठती।"

सन्त ने कहा "संसार और स्वप्न की समानता को मैं बारम्बार समझा चुका हूं, उस में कोई शंका हो तो कह!" मनुष्य ने कहा "विचार से तो संसार और स्वप्न की हालत एकसी ही सिद्ध होती है, ऐसा होते हुये भी स्वप्न झूठा और संसार सच्चा यह निश्चय क्यों नहीं हटता। विचार करने से तो संसार झूठा होता है परन्तु वर्ताव के समय में क्षणभर के लिये भी संसार झूठा नहीं होता, स्वप्न को तो हमेशा झूठा मानता हूं!" सन्त ने कहा "जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, जगत् के ऊपर वैराग्य नहीं होता, जगत् से थोड़ी देर के लिये भी हटा नहीं जाता तब तक विचार और शास्त्र से मिथ्या सिद्ध होता हुआ जगत् मिथ्या प्रतीत नहीं होता! जगत् तुझ को रमणीय दीखता है, अच्छा लगता है, अनेक प्रकार के भोगों की लालसा बनी हुई है!' मनुष्य ने कहा "महाराज! मैं ही क्या, सब ही जगत् के ऐश्वर्य और सुख को चाहते हैं!" सन्त ने कहा "तब ही जगत् तुझे तुच्छ—मिथ्या नहीं भासता—दीखता! जब कभी तू मेले में से मिट्टी का खिलौना खरीद कर अपने छोटे बच्चे को लाकर देता है तब लड़का खिलौने का घोड़ा देख कर प्रसन्न होता है, यह घोड़ा बच्चे को प्रिय

है, वह सच्चे घोड़े से भी खिलौने के घोड़े को विशेष पसंद करता है, यदि खिलौने का घोड़ा टूट जाय तो दुखी होता है, इसका क्या कारण है ?" मनुष्य बोला "लड़कपने में विशेष बुद्धि नहीं होती, लड़कों को खेल पसंद होता है, खिलौने के घोड़े से लड़के खेलते हैं, उन्हें वह सच्चे घोड़े से भी अधिक अच्छा लगता है, सच्चे झूंठे का उन्हें बोध नहीं होता, अबोध के कारण से ही ऐसा करते हैं !" संतने कहा "ठीक ! ऐसाही है ! तुझे जगत् सच्चा दीखने का कारण भी यह ही अबोध है ! जैसे लड़का अबुद्ध होने से झूंठे घोड़े को सच्चा मान कर प्रेम करता है ऐसे ही अज्ञानी तू भी जगत् के पदार्थों को सच्चा मानकर प्रेम करता है। सच्चा समझ करही भोग में प्रसन्न होता है और किसी प्रकार की हानि हो तो दुखी भी होता है!" मनुष्य बोला "महाराज! लड़कों को तो बोध नहीं होता, इसलिये वे ऐसा करते हैं, मुझे तो बोध है तो भी लड़कों के समान क्यों वर्तता हूं ?" संतने हंसकर कहा "वास्तविक में तुझे बोध नहीं है, बोध रहित होने पर भी तू अपने को बोध वाला मानता है, लड़का भी अपने को अबोध वाला नहीं मानता, अबोधपने में तू और लड़का दोनों समान हैं। तू मिट्टी के बने हुये खिलौने के घोड़े के टूट जाने से विशेष दुखी नहीं होता, क्योंकि तुझे घोड़े की आकृति में मिट्टी का ध्यान है। इसी प्रकार सब पदार्थ परम तत्व रूप हैं, हमको सब पदार्थों में माया रूप आकृति दीखती है, उन आकृतियों का होना, विकार को प्राप्त होना और नाश होना हुआ करता है। इस-लिये हम उन्हें झूठी मानते हैं और जिस तत्व में इन आकृतियों की प्रतीति होती है, उस तत्व में किसी प्रकार का भी विकार नहीं होता। वह परम तत्व सत्य है और नाम रूपादि आकृतियां मिथ्या हैं, मिथ्या पदार्थों को सच्चा मानना दुःख का हेतु है। यदि मिथ्या का और सत्य का बोध हो जाय तो दुःख न हो। नाम रूप संसार तुच्छ—मिथ्या—झूंठा है और उसका अधिष्ठान सच्चा है। जैसे स्वप्न झूंठा है परन्तु तू झूंठा नहीं है। स्वप्न तुझ में प्रतीत होता है, स्वप्न की उत्पत्ति होती है, नाश होता है, तू ज्यों का त्यों बना रहता है इसी प्रकार नाम रूपात्मक संसार उत्पत्ति, विकार और नाश वाला होने से झूंठा है, जिसमें उसकी प्रतीति होती है, वह सच्चा है।" मनुष्य बोला "आपका कथन समझने में आता है, वर्ताव में क्यों नहीं आता ?" संत बोले "तुझ में वैराग्य चाहिये, ऐसा न होने से तू वर्ताव करने में असमर्थ है, जब तुझे जगत् दुःख रूप भासे, चारों तरफ से अग्नि लग रहा हो और अग्नि के भीतर तू अपने को जलता हुआ समझे तब ही उसमें से भागने का प्रयत्न करेगा, जब भागेगा तब ही मेरा उपदेश तेरे हृदय में टिकेगा। मलिन वस्त्र के ऊपर रंग नहीं चढ़ता, वस्त्रकी मलिनता रंग को भी मलिन कर देती है। निर्मल दर्पण विना मुख स्पष्ट नहीं दीखता, तू विचार कर कि तू कौन है, शरीर के एक २ अंग का विचार करता हुआ अपने तीनों शरीरों से और पंचकोशों से भिन्न सामान्य चेतन, सत्ता स्वरूप समझने का वारंवार प्रयत्न कर ! भाग त्याग लक्षणा से सूक्ष्म दृष्टि द्वारा विचार करने से चेतन अवशिष्ट रहता है, उस में और तुझ में कुछ भी अन्तर नहीं है, अपने स्थूल को 'मैं' कहना, दूसरे को 'तू' कहना, आना, जाना, माता, पिता, सब कुछ व्यावहारिक हैं, स्वरूप का विचार करने पर परिणाम में उन में से कोई भी नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से भी जब सब के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है तब कुछ भी काम में नहीं आता। इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहना चाहिये ! स्वप्न में अनेक प्रकार का वैभव देखने में आता है, माता, पिता आदिक सम्बन्धी देखने में आते हैं, उन के साथ व्यवहार करके सुख दुःख को भी प्राप्त होते हैं परन्तु जागते ही उन में का कोई भी नहीं रहता, केवल आप ही शेष रहता है इस से सिद्ध होता है कि तू ने जो अनुभव किया था, वह स्वप्न में था, इसी प्रकार यह जाग्रत् व्यवहार उस स्वप्न की अपेक्षा से एक बड़ा स्वप्न है, इस स्वप्न में भी अनेक प्रकार के विषय और वैभव सत्य समान प्रतीत होते हैं, अनेक प्रकार के संबंध हो जाते हैं, जिनसे संसार चक्र में भ्रमण करना

पड़ता है। जैसे स्वप्न में सब मिथ्या है, ऐसा जान नहीं सके इसी प्रकार जाग्रत् रूप महान् स्वप्न में भी काम, कर्म और अविद्या के दबाव से मिथ्यापना जान नहीं सके, विचार से ही समझा जाता है। सुषुप्ति अवस्था जो अज्ञान की मुख्य अवस्था है, उस में स्वप्न अथवा जाग्रतावस्था का कोई भी व्यवहार नहीं रहता, वहां दोनों ही मिथ्या हो जाते हैं इस लिये दोनों समान और मिथ्या हैं। यह सब सूक्ष्म और स्थूल संसार प्रकृति में भी नहीं है, मात्र विकृति में ही हैं तब प्रकृति से पर में यह सब कहां से हो? जैसे स्वप्न के सब मनोर्थ झूंठे हैं ऐसे ही जगत् को भी समझ! सब को छोड़ कर सब के एक अविचल, नित्य अधिष्ठान की बुद्धि करनी चाहिये। सार का लक्ष पहुंचा कर, सब कुछ जो व्यक्तित्व वाला है, उस में असार बुद्धि दृढ़ होने से ही अज्ञान का दबाव शिथिल होता है और जैसे २ अज्ञान शिथिल होता जाता है वैसे २ स्वरूप प्रकाशित होता जाता है।

जाग्रत् में भी भूत काल की बाल्यावस्था का सब अनुभव स्वप्न के समान ही भासता है, वर्तमान व्यवहार भी कुछ समय के बाद तुच्छ, भास मात्र ही रहने वाला है इस लिये प्रथम से ही भास मात्र समझने से जगत् की आसक्ति निवृत्त होती है क्योंकि संसार के विषय आदिक सब पदार्थ असत्य होते हुये भी मोहक और बन्धन करने वाले हैं, जैसे अग्र पेले पतंग को दीपक का स्वरूप मृत्यु का हेतु होता है ऐसे ही जगत् की रमणीकता जीव को बन्धन करने वाली है इसलिये असत्य जानने से ही आसक्ति छुटती है। आसक्ति छूटने से वस्तु स्वरूप सार के जानने की इच्छा होने से उस तरफ प्रवृत्ति होती है। जब २ जिस २ पदार्थ में सौन्दर्यता और गुण भासे, तब २ उसमें रही हुई असौन्दर्यता और दोष का दर्शन करना चाहिये। ऐसा करते रहने से सत्यता का भास तुच्छता में बदल जाता है। तुझमें शुद्धि की न्यूनता है इसलिये सत्कर्म उपासना आदिक का सत्कार से सेवन कर, बारंबार विचार करके वैराग्य को अपने में भर! ऐसा करने से स्वप्न के समान ही जगत् है, उसका और परम तत्व का बोध अवश्य होगा।"

जगत् को स्वप्न के समान कहने वाले, झूंठा समझने वाले 'संसार में सार कुछ नहीं है' ऐसा जानने वालों का संसार में टोटा नहीं है परन्तु स्वप्न के समान जगत् का अखंडित अनुभव करने वाला विरला ही होता है। जब तक संसार के विषय और वैभव की कीमत कम नहीं होती, तब तक आत्मा की तरफ की वृत्ति नहीं होती। जगत् स्वप्न के समान झूठा होते हुये भी जो अज्ञान में फंसे हुये हैं, सत्यता से बर्तते हैं, उन के लिये जगत् का कष्ट—बन्धन मिथ्या नहीं है इसलिये उन दुःखों को मिथ्या हो जाने के लिये परम शांति को प्राप्त करने के लिये मिथ्या कहने की आवश्यकता है क्यों कि मिथ्या समझे बिना गोविन्द का भजन नहीं होता।

———

पश्चात्ताप

हाय! मैंने अपना कितना नुकसान कर डाला! मेरी आंखें अन्धी हो गई थीं! पशुओं के समान खाने पीने आदि भोगों में लग रह कर मैंने इतनी उमर व्यर्थ ही खोदी! इस संसार में आकर क्या कमाई करी? जो कमाया था, उस का नाश हो गया! जो कुछ रहा है वह भी नाशवान् ही है! स्वयं यह शरीर ही नाशवन्त है तब उस के लिये प्रयत्न करने से क्या फल! छोटपन से अब तक मुझे यह बोध न हुआ कि मेरा वास्तविक कर्तव्य क्या है! माता, पिता, भाई, बंधु और मन्त्रोपदेश देने वाले गुरु ने भी मुझ को सच्चा उपदेश नहीं दिया! मैं कैसा मूर्ख हूं? केवल गधे के समान जगत् का बोझा उठाने में ही अब तक अपना हित समझता रहा! क्या मनुष्य जन्म धारण करने का केवल बोझा ढोना ही अर्थ है? नहीं! नहीं! कल्याण हो महात्माजी का! जिन के सच्चे, हृदय में चोट करने वाले, तत्व भरे हुये शब्द ने मेरी आंखें खोल दीं—मेरा अन्धापन

दूर कर दिया ! मैं जिसे सच्चा समझ रहा था, हित-कर न होते हुये भी जिस में हित समझ रहा था, अब मालूम होता है कि सब ही मिथ्या है ! आज तक मैं भारी भूल में पड़ा हुआ था ! केवल शरीर को सुख देने और इन्द्रियों को भोग से तृप्त करने में लगा रहा ! यद्यपि बहुत समय कष्ट ही भोगना पड़ा ! उस कष्ट को भी कष्ट न मान कर भोग को ही स्वर्ग मानता रहा ! अब चेत आया है ! सद्गुरु वाक्य के सहारे सब जगत् मिथ्या और दुःख रूप मालूम होता है ! जन, धन, प्रतिष्ठा और भोग के निमित्त की ऐश्वर्यता सब ही दुःख का पहाड़ है ! भोग के निमित्त विशेष २ इच्छायें करते रहना, उन में ही लोलुप रहना दुःख के समुद्र में गोते खाना है ! दुःख को बुझाने का प्रयत्न है ! अहाहा ! कितना आश्चर्य ! केवल मैं ही संसार रूप अन्धकूप में गिरा हुआ नहीं हूं, सब संसारियों का यह ही हाल है ! क्या सब की आंखें फूट गई हैं ? खैर ! सब से मुझे क्या है ! मुझे अब सूझ रहा है ! मुझे तो उस का प्रयत्न करना चाहिये ! जो समय चला गया सो तो चला ही गया ! बड़ा आश्चर्य है ! बात साफ है ! प्रत्यक्ष है ! फिर भी अभी तक मालूम ही न हुई ! क्या मुझ पर किसी ने जादू कर दिया था ? मैं इतना मूर्ख क्यों हो गया था ? जिस में मेरा ही अहित हो, ऐसे मार्ग में क्यों प्रवर्त होता रहा । त्याग, वैराग्य,, ईश्वर भजन सुनता था परन्तु उन का यथार्थ तात्पर्य समझ में आता ही न था ! साधु, सज्जन, सन्त और शास्त्र पुकार २ कर कह रहे थे, मेरी समझ पर ऐसे पत्थर पड़ गये थे कि वाक भी मेरी समझ में नहीं आता था ! कभी २ तो 'सब उदरपूर्ण की चालबाजी है' ऐसा कह कर सज्जनों की निन्दा किया करता था ! मैं ऐसा दुष्ट था ! कुछ न समझने पर भी अपने को पूर्ण विद्वान्, बुद्धिशाली और सर्वज्ञ मान बैठा था ! धिक्कार है मेरी इस बुद्धि को ! जहां २ देखता हूं, वहां वहां दुःख ही दुःख दिखाई देता है ! संसार भर में ढूंढने से भी कोई पदार्थ सुख रूप नहीं मिलता ! फिर शान्ति हो कहां से ? माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, देश, ख्याति, सम्बन्धी, ये सब क्या हैं ? क्या इन से अभी तक सुख हुआ है ? क्या आगे भी होगी ? नहीं ! सब जाल है ! जाल भी क्या ! विष ही है ! मुझे धिक्कार है ! उस विष में अमृत कहां ? धन, यौवन, ऐश्वर्य, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, उच्च कुल आदि जो २ जगत में अपनपने के सहायक समझे जाते हैं, वे सब ही सच्चे श्रेय में बाधक हैं ! सब नाता झूंठा है ! स्वप्न के समान है ! ऐसा देखते हुये भी अब तक चेत क्यों न हुआ ? इस जगत् में जब मेरा जन्म हुआ तब मैं कितना निर्मल था ! कितना कोमल था ! कितने सतोगुण से पूर्ण था ! जो कोई मेरी तरफ देखता था, प्रेम करता था ! मुझे किसी से राग द्वेष नहीं था ! जैसे २ बड़ा होता गया, संसार को देखने लगा, संसार के पदार्थों को समझने लगा ! माता, पिता, के सिखाये हुये शब्दों को बोलने लगा ! ज्यों २ जगत् का ज्ञान होता गया, त्यों २ भय घुसता गया !! निर्मलता, निर्भयता जाती रही ! उनके स्थान पर भय, क्रोध आदिक ने घर किया ! अहंभाव बढ़ा ! बिल में रहे हुये सर्प के समान, 'मैं बिल ही हूं' ऐसा मान कर अहं अहं करने लगा ! हे अहंकार ! तेरी वृद्धि ने मेरा नाश कर डाला ! जैसे २ तू बढ़ा, मेरी अलौकिक शक्ति घटती गई ! सतोगुण और निर्मलता को भाग जाना पड़ा ! कुछ बड़ा हुआ तब साथियों में खेलने लगा ! वे ही मुझे अच्छे लगे, सुख रूप भासे ! खेल में न खाने की परवा न पीने की ! डर भी बढ़ता गया ! कोई लड़का मुझे पीटे ! किसी को मैं पीटूं ! मेरे अनुचित कर्म से अप्रसन्न हो माता पिता मुझे पीटें ! रोऊं, चिल्लाऊं तड़पड़ाऊं, थोड़ी देर पीछे सब भूल जाऊं ! फिर खेल कूद में लग जाऊं ! अनेक बार मार पड़े ! तिरस्कार को प्राप्त होऊं ! परन्तु हाय ! बुरी आदतों को न छोड़ूं ! और बड़ा हुआ ! दिवानी जवानी प्राप्त हुई ! अब तो पूछना ही क्या था ! काम विकार ने जाल डाल कर मुझे मोहित कर दिया ! सब इन्द्रियां काममय बन गईं ! काम ने सब इन्द्रियां अंधी कर डालीं ! बुद्धि भ्रष्ट कर दी ! बारंबार कष्ट भोगता रहा तो भी पशु व्यवहार की लोलुपता न छूटी ! हाय ! नीति छोड़ी ! माता पिता की तरफ से गरदन मोड़ी ! धर्माधर्म का विचार [illegible] ! काम का

कीड़ा बना ! कष्ट सहे ! शिर धुना ! तो भी न सुधरा पर न सुधरा ! यथार्थ कामना का कभी विचार तक न आया ! जैसे २ विशेष अशान्ति होती जाय ! कष्ट बढ़ता जाय ! वैसे २ नरक का कीड़ा बनता जाऊं ! क्षण में अपने को सुखी मानूं, क्षण में दुखी जानूं ! तन, मन, धन सब की हानि करूं परन्तु मेरी अंधी बुद्धि को कुछ सूझे ही नहीं ! अधर्म की गठरी पर गठरी बांधता जाऊं ! पीठ पर लादता जाऊं ! बोझे से थक जाऊं ! हाय ! हाय ! करता जाऊं ! और नई २ गठरियां बांध २ कर धरता जाऊं ! अंधे सांड के समान ही बर्तूं ! अब उन बातों की स्मृति करता हूं तो मेरा प्रत्येक क्षण अधर्ममय दीखता है ! उन बातों का स्मरण करने से अब मुझे ग्लानि आती है ! हाय ! ऐसे कर्म करने वाला मैं कैसा अधर्मी हूं, क्या इतने भारी अधर्मी का उद्धार होना संभवित है ? उद्धार होगा ! अवश्य होगा ! ईश्वर कृपालु है ! गुरु देव करुण निधान हैं अब जागा हूं ! सुध आई है ! मेरे पाप कर्मों की तरफ देखते हुये मेरा उद्धार नहीं हो सका परन्तु ईश्वर कृपा विशेष सामर्थ्य वाली है, ईश्वर कृपा से बेड़ा पार है ! शर्त इतनी है कि शुद्ध बुद्धि से ईश्वर कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना होगा ! आगे का विचार करता हूं तो स्त्री और बाल बच्चे वाला होने की आपत्तियों का क्या वर्णन करूं, अनेक प्रकार की चिंताओं ने दबा रक्खा है ! किसी को खिलाओ, किसी को पिलाओ ! आज यह बीमार, कल वह बीमार, परसों मैं बीमार ! स्त्री की आज्ञा का पालन करना पूरी आपत्ति ! थोड़ा विलम्ब हुआ तो सिंहणी के समान गर्जना करती है ! अपूर्ण।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

सिद्धान्तीः—ऐसा होने से अविमोक्ष का प्रसंग आवेगा। यद्यपि कहीं २ तर्क का प्रमाणपना देखने में आता है तो भी ब्रह्म संबन्धी तर्क अप्रमाण रूप है, यदि प्रमाण रूप मानोगे तो मोक्ष से रहितपने का दोष प्राप्त होगा। अति गंभीर रूप, अद्वितीय रूप, तथा सच्चिदानन्द रूप परमात्मा की शास्त्र के प्रमाण बिना उत्प्रेक्षा करनी ठीक नहीं है। ब्रह्म के सम्बन्ध में रूपादि का अभाव होने से यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंगादि का अभाव होने से परब्रह्म अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है, केवल सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से ही मोक्ष होता है, ऐसा सब मोक्ष वादी मानते हैं, यह सम्यक् ज्ञान एक रूप है क्योंकि सब वस्तुऐं उसके आधार पर हैं। एक रूप से जो स्थिति है, वह ही परमार्थ कहा जाता है। परमार्थ सम्बन्धी ज्ञान को लोक परम ज्ञान रूप कहते हैं। जैसे अग्नि उष्ण है, इस प्रकार के सम्यक् ज्ञान के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं हो सकती परन्तु तर्क ज्ञान के सम्बन्ध में एक दूसरे की विरोधता होने से उन में भिन्नता देखने में आती है, क्यों कि एक तर्क वादी ने जो सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया है दूसरा उसी ज्ञान का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करता है और दूसरे ने जिस वस्तु का प्रतिपादन किया होता है, तीसरा उस वस्तु का खंडन करता है, ऐसा होने से एक ही प्रकार से प्रतिपादन न करने वाला तर्क शास्त्र सम्यक् ज्ञान रूप कैसे हो सक्ता है ? नहीं हो सक्ता। तर्क वादियों में प्रधान वादी उत्तम हैं, ऐसा सब तर्क वादी नहीं मानते इस लिये हम यह कैसे मान सक्ते हैं कि प्रधान वादी का मत सम्यक् ज्ञान रूप है। भूत, वर्तमान और भविष्य में होने वाले तर्क वादियों में से कोई भी तथा कहीं और किसी काल में भी एक मत वाले हो सके हों, ऐसा नहीं है इस लिये यह किस प्रकार कहा जाय कि उन का मत एक स्वरूप के विषय वाला है, दूसरे वेद नित्य रूप और विज्ञान उत्पत्ति का कारण रूप है इस लिये उस का विषय निश्चित अर्थ वाला है इस लिये वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्यक् रूप है और भूत, वर्तमान अथवा भविष्य में कोई भी तर्क वादी उस ज्ञान का निषेध करने को समर्थ नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदों में जो ज्ञान रहा हुआ है, वह ही सम्यक् ज्ञान है। इस ज्ञान के सिवाय दूसरा जितना ज्ञान है वह सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सक्ता क्योंकि वह संसार की निवृत्ति कराने वाला नहीं है, इस लिये शास्त्र के बल से और तर्क के बल से चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण रूप तथा प्रकृति है, रूप ऐसा सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

(४) शिष्टापरिग्रहाधिकरण ।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—एतेन इस से (प्रधान कारण वाद के निराकरण से) शिष्टा परिग्रहाः शिष्टों के नहीं ग्रहण किये हुये [परमाणु कारणवाद आदि] अपि भी व्याख्यताः निषेध किये गये [हैं]।

टीकाः—सांख्य दर्शन वेदान्त दर्शन के साथ निकट का सम्बन्ध रखने वाली है । इस सांख्य में तर्क का बहुत विस्तार किया है, वेदान्त मत के अनुसार के कितनेक ग्रंथों में जो कोई ग्रह हुये हैं वे सांख्य को मानते हैं इस लिये सांख्य के प्रधान कारण वाद को ले कर वेदान्त शास्त्र में जो तर्क युक्त आक्षेप किया है, उस का परिहार किया है, अब अणु आदि वादों के जो अनुसारी हैं और वेदान्त मत में मंदमति वाले हैं, उन्होंने तर्क को ले कर जो आक्षेप किया है उस का परिहार प्रधान मल्ल निबर्हण न्याय से करने में आता है, जो स्वीकार करने में आवे वह परिग्रह कहलाता है और जो स्वीकार करने में न आवे वह अपरिग्रह कहा जाता है और जो विद्वानों के स्वीकार करने में न आवे 'शिष्टापरिग्रह' कहलाता है, इस प्रकृत प्रधान कारण वाद का निराकरण करने में आया हुआ होने से शिष्ट वाली मनु व्यास आदि ने जिस किसी अणु आदि कारण वादों को जहां कहीं थोड़े अंश में भी न स्वीकार किया हो और उन का प्रतिषेध किया हो, उन का भी निराकरण हुआ समझना चाहिये । निराकरण का विषय एक सा होने से यहां पर किसी प्रकार की शंका का अवकाश नहीं रहता, निराकरण के कारण में परम गंभीरता, जगत् का कारणपना, तर्क की अप्रवेशता, तर्क की अप्रमाणता भिन्न अनुमान प्रमाण के स्वीकार करने से, मोक्ष से रहितपने के प्रसंग तथा शास्त्र के साथ विरुद्धता आदि दोष जो प्रधान वाद में बताये हैं वे इस स्थान पर भी जान लेने चाहियें ॥ १२ ॥

(५) भोक्त्रापत्त्यधिकरण ।

भोक्त्रापत्तेरविभाग श्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—भोक्त्रापत्तेः [भोग्य के] भोक्ता की प्राप्ति से अविभागः [भोक्ता भोग्य का] भेद नहीं [रहे] चेत् [ऐसा कहो] तो लोकवत् लोक के समान [भेद] स्यात् है ।

टीकाः-प्रतिपक्षीः—मैं ब्रह्म कारण वाद पर तर्क की सहायता से आक्षेप करता हूंः—जैसे कि श्रुति अपने विषय में प्रमाण रूप होती है तो भी अन्य प्रमाण से जब इस विषय का लोप हो जाता है तब वह श्रुति अन्य वचन पर आधार रखती है । जैसे मंत्र और अर्थवाद तथा अन्य प्रमाण पर श्रुति आधार रखती है ऐसे ही एक श्रुति का वचन दूसरी श्रुति के वचन पर आधार रखता है । और जैसे धर्म तथा अधर्म एक दूसरे से भिन्न होते हैं ऐसे ही एक तर्क अन्य तर्क को लेकर अप्रमाण रूप हो जाती है । जब इस प्रकार है तो श्रुति प्रमाण रूप कैसे कही जाय ? इसलिये ऐसा कहना ठीक नहीं है कि श्रुति से भिन्न जो अन्य प्रमाण हो तो उस की अप्रमाणता है और प्रसिद्ध ऐसे अन्य प्रमाण को श्रुति किस प्रकार बाध कर सकी है ? इसके संबंध में जो कहता हूं उसको सुनोः—भोक्ता तथा भोग्य की भिन्नता लोक में प्रसिद्ध है । भोक्ता चेतन स्वरूप वाला तथा शरीर वाला है तथा शब्दादि विषय भोग्य हैं । जैसे भोक्ता रूप देवदत्त है, भोग्य रूप अन्न है, यदि भोक्ता भोग्य भाव को प्राप्त हो जाय तो पीछे उनका विभाग नहीं हो सके । इसी प्रकार जब भोग्य भोक्ता भाव को प्राप्त हो जाय तब भी पीछे उनका विभाग न हो सके । और भोक्ता तथा भोग्य परम कारण रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं इसलिये उन दोनों का परस्पर एक भाव प्राप्त होता है । दूसरे जैसे इन भोक्ता और भोग्य का विभाग देखने में आता है इसी प्रकार भूत तथा भविष्य काल में भी विभाग होना चाहिये, इस प्रकार को कल्पना युक्त है ।

अपूर्ण ।

त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

परम तत्त्व में सदा अनुराग नियम कहलाता है। सब वस्तुओं में उदासीन भाव उत्तम आसन कहलाता है ॥ २९ ॥ इस सब जगत् की मिथ्या प्रतीति प्राण का संयम है। हे श्रेष्ठ! चित्त का अंतर्मुखी भाव प्रत्याहार है ॥३०॥ चित्त के निश्चल भाव धारण करने को धारणा जान, 'मैं वह चिन्मात्र हूं' इस प्रकार चिंतवन करना ध्यान कहलाता है ॥३१॥ ध्यान का भली प्रकार विस्मरण होना समाधि कहलाती है। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, सीधापन ॥३२॥ क्षमा, धैर्य, सूक्ष्माहार, और शौच ये दश यम हैं। तप, संतोष, आस्तिकपना, दान, ईश्वर का आराधन ॥३३॥ वेदान्त का श्रवण, लज्जा की बुद्धि और जप व्रत है ॥ हे ब्राह्मण! आसन और उन के अंग स्वस्तिक आदि हैं ॥ ॥३४॥ स्वस्तिक आसन को कहते हैं:—दोनों पैरों के तलुओं को परस्पर दोनों घोंटुओं के बीच में करके बैठने को स्वस्तिक आसन कहते हैं ॥३५॥ पीठ के वाम भाग में दायां टकना और दायें भाग में बायें टकने को लगा कर जो गौ के मुख के समान हो जाता है, वह गोमुख आसन होता है ॥३६॥ एक चरण को वाम जंघा पर और दूसरे को दक्षिण जंघा पर रख कर वीरासन कहलाता है ॥३७॥ दोनों एड़ियों से गुदा को विपरीत क्रम से दबा कर यानी दांई से वाम भाग को और बांई से दक्षिण भाग को दबा कर जो सावधानी से बैठा जाय वह योगासन होता है, इस प्रकार योग के जानने वाले जानते हैं ॥३८॥ जब दोनों जंघाओं पर दोनों पैर के तलुये रक्खे जाते हैं त[illegible] पद्मासन सब व्याधि और विष का नाश करने वाला होता है ॥३९॥ पद्मासन को लगा कर फिर विपरीत क्रम से दोनों अंगूठों को दोनों हाथों से पकड़े तो बद्ध पद्मासन होता है ॥४०॥ पद्मासन को लगा कर जानू और जंघाओं के बीच में दोनों हाथों को भूमि में लगा कर आकाश में स्थित रहे, वह कुक्कुट आसन है ॥४१॥ कुक्कुट आसन को लगा कर दोनों भुजाओं से कंधों को भली प्रकार बांध कर कूर्म के समान सीधा हो तो वह उत्तान कूर्मासन कहलाता है ॥४२॥ दोनों पैरों के अंगूठों को हाथों से पकड़ कर धनुष्य के समान कान तक खींचे, उस को धनुरासन कहते हैं ॥ ४३ ॥ सीवनी को दोनों एड़ियों से विपरीत रीति से दबा कर दोनों घोंटुओं और हाथों को फैलाने से सिंहासन होता है ॥४४॥ वृषणों के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्व भागों में एड़ियां को रख कर पैर और हाथों को बांध कर बैठने से भद्रासन होता है ॥४५॥ सीवनी के दोनों पार्श्व भागों को एड़ियों से विपरीत रीति से दबावे उस को मुक्तासन कहा है ॥ ४६॥ दोनों हाथों से भूमि को स्पर्श करके उन हाथों की कुहनी के ऊपर नाभि के दोनों पार्श्व भागों को मोर के समान स्थित कर के ॥४७॥ शिर और पैरों को उठा हुआ रखने में मयूरासन कहलाता है, बांई जंघा के मूल में दहिना चरण रख कर और जानु से बाहर वाम पाद को हाथ से लपेट कर ॥४८॥ और वाम भाग से बांयें अंगूठे को पकड़े वह मत्स्येन्द्र आसन होता है, बांयें पैर से एड़ी को दबा कर मेढ्र के ऊपर दक्षिण पैर को रख कर ॥ ४९ ॥ सीधा शरीर करके बैठे इस को सिद्धासन कहा है। दोनों चरणों को भूमि पर फैला कर, दोनों पैर के अंगूठों को भली प्रकार पकड़ कर ॥५०॥ घोंटुओं के ऊपर मस्तक को रक्खे तो पश्चिमतान कहलाता है। जिस किसी प्रकार से सुख और स्थिरता उत्पन्न होती है ॥ ५१ ॥ वह सुखासन कहलाता है, असमर्थ पुरुष उस को लगावे, जिसने आसन को जीत लिया उसने तीनों जगत् को जीत लिया ॥५२॥ आदि में यम नियम और आसन से युक्त होकर नाड़ियों की शुद्धि कर के प्राणायाम करे ॥५३॥ देह का प्रमाण अपनी अंगुलियों से छ्यानवे अंगुली विस्तार वाला है, शरीर से बारह अंगुल अधिक प्राण का प्रमाण है ॥५४॥ देह में स्थित वायु को देह से उत्पन्न हुये अग्नि से योग द्वारा न्यून अथवा समान करता हुआ ब्रह्मवित् होता है ॥५५॥ देह के मध्य में तप हुये

सोने की प्रभावाला। शिखि का स्थान है, तीन कोण वाला दो पद वालों का और चार कोण वाला चार पद वालों का ॥५६॥ पक्षियों का गोल होता है, सर्प जन्म वालों का छः कोण का होता है। पसीने से उत्पन्न होने वालों का आठ कोण का होता है, उसमें दीपक के समान उज्ज्वल मनुष्यों के देह में नौ अंगुल वाला कन्द स्थान चार अंगुल ऊंचा और चार अंगुल चौड़ा है ॥५७॥ तिर्यक्, पक्षियों और चौपायों में अन्डे की आकृति वाली पेट के मध्य में वह स्थित है, उसके मध्य में नाभि कहलाती है ॥५८॥ वहां बारह आरे वाले चक्र हैं, उन में विष्णु आदि मूर्तियां हैं, वहां स्थित चक्र को मैं अपनी माया से घुमाता हूं ॥५९॥ हे उत्तम ब्राह्मण! उन आरों में जीव क्रम से इस प्रकार घूमता है जिस प्रकार तंतु के जाल में मकड़ी घूमती है ॥६०॥ प्राण पर चढ़ा हुआ जीव चलता है, उसके बिना नहीं चलता, उस नाभि के ऊपर कुंडली का स्थान तिरछा और ऊंचा है ॥६१॥ वह आठ प्रकृति वाली आठ प्रकार की कुंडली किये हुये है जिस से वायु का सार और ज्वलनादि नित्य प्रवि होता है ॥६२॥ कन्द के पास चारों तरफ से रोक कर सदा स्थित है इसी प्रकार ब्रह्म रंध्र के मुख को मुख से घेर कर स्थित है ॥६३॥ योग काल में अग्नि सहित पवन से जाग्रत् हो कर हृदय आकाश में नाग रूप से अत्यन्त प्रकाश वाली स्फुरित होती है ॥६४॥ अपान से दो अंगुल ऊंची मेढ़ू के नीचे तक मनुष्यों के देह के मध्य में और चौपायों के हृदय के मध्य में है ॥६५॥ औरों के टूंडी के मध्य में है, प्राण अपान से संयुक्त सुषुम्ना से देह के मध्य में चार प्रकार से प्रकाशती है ॥६६॥ कंद के मध्य में प्रसिद्ध सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। कमल सूत्र के समान सूक्ष्म सीधी ऊपर गई हुई है ॥६७॥ ब्रह्म रंध्र तक बिजुली के समान प्रकाशित नाल वाली वैष्णवी और ब्रह्म नाड़ी निर्वाण प्राप्ति का मार्ग रूप है ॥६८॥ इडा और पिंगला उसके इधर उधर स्थित हैं, इडा कंद से बांईं नासिका के पुट तक चली गई है ॥६९॥ पिंगला उस से दांईं नासिका के पुट तक चली गई है। गांधारी हस्ति जिह्वा दो नाड़ी और अन्य नाड़ियां स्थित हैं ॥७०॥ उसके आगे पीछे बांईं आंख तक पूषा और यशस्विनी दो नाड़ियां उसी से निकली हैं ॥७१॥ गुदा के मूल से दांयें कान तक अलम्बुसा शुभा नाड़ी मेढ़ू के अन्त तक नीचे गई हुई है ॥७२॥ कन्द के नीचे पैर के अंगूठे तक कौशिकी है। ये दश प्रकार की नाड़ियां कंद से उत्पन्न हुई कही गई हैं ॥७३॥ इसके मूल में बहुत सी सूक्ष्म और स्थूल नाड़ियां हैं स्थूल और सूक्ष्म बहत्तर हजार नाड़ियां हैं ॥७४॥ स्थूल मूल वाली नाड़ियों की भिन्न २ प्रकार से गिनती नहीं हो सकती। जसे पीपल के पत्ते में सूक्ष्म हैं इसी प्रकार स्थूल फैली हुई हैं ॥७५॥ प्राण, अपान. समान, उदान, और व्यान। नाग, कूर्म, कृकर देवदत्त और धनंजय ॥७६॥ प्राणादिक दश वायु दश नाड़ियों में चलते हैं, उनमें प्राणादि पांच मुख्य हैं, उनमें दो (प्राण अपान) मुख्य हैं ॥७७ अथवा प्राण ही मुख्य है, जीव को धारण करता है मुख नासिका का मध्य, हृदय, नाभि मंडल ॥७८॥ और पैरका अंगूठा, हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! ये प्राण के स्थान हैं। हे ब्राह्मण! अपान गुदा, मेढ़ू जंघा और घोंटू में चलता है ॥७९॥ समान सब अंगों में सर्व व्यापी हो कर स्थित है। उदान दोनों पैर, दोनों हाथ और सब संधियों में स्थित है ॥८०॥ व्यान श्रोत्र, जंघा, कमर, पट्टी, कन्धे और गले में स्थित है। नागादि पांच वायु त्वचा और हड्डी आदिकों में स्थित हैं ॥८१॥ तुन्द में स्थित जल, अन्न और रसादि को एकत्र कर के तुन्द के मध्य में रहा हुआ प्राण पृथक् २ करता है ॥८२॥ इत्यादि चेष्टा प्राण पृथक् स्थित हो कर करता है अपान मूत्रादि और विसर्जन करता है ॥८३॥ व्यान वायु से प्राण अपान आदि की चेष्टा की जाती है। शरीर में स्थित उदान से आकाश की तरफ उडाया जाता है ॥८४॥ समान शरीरादि का पोषण आदि करता है। डकार आदि क्रिया नाग की है, कूर्म की क्रिया आंखों का खोलना मुंदना है ॥८५॥ कृकर भूख लगाता है. देवदत्त निद्रा आदि कर्म करता है मृतक शरीर की शोभा आदि धनंजय करता है ॥८६॥ नाड़ी भेद, वायु भेद और प्राणों का स्थान और चेष्टा अनेक हैं। हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! अब ... अपूर्ण।

Registered No. A 360

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } भाद्रपद सं० १९८१। सितम्बर १९२४ { अंक ११

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

वार्षिक मूल्य ३)   एक प्रति का मूल्य ।=)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा में गौरीशंकर अग्रवाल के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अंक लेने होंगे।

सूचना।

वेदान्त केसरी के पांच वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-), प्रत्येक वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीतावली" मूल्य ।=) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भाषा सहित मूल्य ॥) श्री गुरु गीता भाषा सहित मूल्य =)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा

प्रकाशक।

ॐ

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | भाद्रपद सं० १९८१ । सितम्बर १९२४ | अङ्क ११

इस से अधिक आश्चर्य क्या ?

हरिगीत छन्द ।

(१)

ऋषि सिद्ध मुनि देवादि का मरना सुना गत काल में ।
परिणाम धारी वस्तुओं का देखता हूं हाल में ॥
जो दृश्य था कल सामने सो आज ओझल होगया ।
चाहूं बना रहना तदपि, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(२)

जिसमें लगाऊं प्रेम सोही दुःख देता दीखता ।
बहुवार अनुभव करचुका नहिं मूढ़ फिरभी सीखता ॥
जब रोग आया रो दिया जब भोग पाया हंसदिया ।
आंखों सहित अंधा हुआ, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(३)

जहँ जन्म है वहँ मरण है, अच्छी तरह से जानता ।
नहिं चाहता फिर भी मरण, मर को अमर हूं मानता ॥
आत्मा अमृत विष मान करके दूर से ही तज दिया ।
भोगे विषय विषरूप नित, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(४)

जाग्रत् विषे जग दीखता कुछ स्वप्न में भी भासता ।
कारण सुषुप्ती में नहीं, जगकी कहां फिर सत्यता ॥
नहिं कार्य कारण से पृथक् जाग्रत् तदपि सच्चा भया ।
मिथ्या जगत् दुख दे रहा, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(५)

नहिं स्वप्न झूंठा स्वप्न में, झूंठा यदपि हैं मानते ।
भय दुःख होता है वहां फिर भी न सच्चा जानते ॥
वैसाहि जाग्रत् है असत् श्रुति संत सबने ही कहा ।
फिर भी न झूंठा होय है, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(६)

नहिं जन्म लेने से प्रथम इस देह की थी व्यक्तता ।
अव्यक्त मरने बाद भी है बीच में ही दीखता ॥
अभिमान करि दृढ़ देह में शिर कर्म का बोझा लिया ।
बोझों वृथा ही मर रहा, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(७)

खाने पहरने आदि में आयुष्य सब पूरी हुई ।
अब तक हुआ नहिं तृप्त तृष्णा राक्षसी बढ़ती गई ॥
आसक्त भोगों में हुआ सुख मान दुख पाया किया ।
अब भी नहीं हूं चेतता, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(८)

आश्चर्य है ब्रह्मांड भर अज्ञान का विस्तार है ।
जो मुक्त है अज्ञान से संसार से सो पार है ॥
नहिं लिप्त हो संसार में संसार में रहता भया ।
जल में कमल जलसे अलग, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(९)

अज्ञान काटा ज्ञान से स्वस्वरूप से की एकता ।
अज्ञान भागा ज्ञान भी बाकी रही अद्वैतता ॥
अद्वैत भासा द्वैत में सुख भी गया दुख भी गया ।
था अल्प सो पूरण हुआ, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

(१०)

नर देह पाकर ज्ञान का अधिकारि बनना चाहिये ।
जिज्ञासु होकर संत मुख से शास्त्र सुनना चाहिये ॥
पुरुषार्थ करि कौशल्य ! जो भव सिन्धु से नर तर गया ।
इन्द्रादि से भी बढ़ गया, इससे अधिक आश्चर्य क्या ॥

अविद्या नटनी।

विद्या और अविद्या का भेद सहज में समझने में नहीं आता। जब सारा ब्रह्मांड ही अविद्या का कार्य हो तो कार्य में फंसा हुआ जीव, जिसका कार्य है ऐसी अविद्या को किस प्रकार जान सके? विद्या और अविद्या एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाली हैं और परमतत्व से दोनों ही भिन्न हैं। विद्या बंधनकी निवृत्ति का साधन रूप है और अविद्या बंधन को प्रतिक्षण बढ़ाती रहती है। अविद्या और विद्या दोनों माया से भिन्न नहीं हैं। माया से हुई अविद्या में दृढ़ता से फंसे हुओं को ठीक रीति से अविद्या का जानना बन नहीं सका और थोड़ा बहुत जाने बिना अविद्या में से निवृत्त होने की दृढ़ भावना भी नहीं होती इसलिये कई अंश में अविद्या के दुःख दायक फल को समझना आवश्यक है। जब अविद्या का दबाव कुछ कम होता है तब अविद्या से होने वाले दुःख का कई अंश में भान होता है। जब भान होता है तब विद्या में आने के निमित्त मनुष्य अविद्या में से हटना चाहता है अथवा विद्या के कुछ २ अंश को ग्रहण करके अविद्या के ऊपर तिरस्कार करता जाता है। अविद्या नर्तकी अथवा नटनी के समान है। नटनी जिस प्रकार हाव भाव, कटाक्ष, चाल, हास्य, ठमके आदि से देखने वाले को मोहित कर डालती है, उसकी तरफ दृष्टि करने वाला प्रेम युक्त होकर मोह में अंधा होकर अपने स्वरूप स्थिति और योग्यता आदिक को भूल जाता है इसी प्रकार प्रत्येक जीव अविद्या रूप नटनी के सामने प्रेम दृष्टि से देखते ही मोह रूप बाण से घायल हो कर व्याकुल हो जाता है और अनेक प्रकार से कष्ट पाता है। फिर भी आश्चर्य यह है कि वह ऐसा नहीं समझता कि इस सब दुःख का हेतु नटनी का मोह बाण है, मैं इस से ही पीडित हो रहा हूं। किसी संस्कारी पुरुष को ही ऐसा दृढ़ बोध होता है। जब बोध होता है तब ही अविद्या से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है और सच्चा प्रयत्न—आत्म पुरुषार्थ हमेशा के लिये उसे सब प्रकार के बंधनों से मुक्त कर देता है।

सुजनसिंह नाम का एक राजपूत पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों वाला था, दान, धर्म और परोपकार में प्रेम वाला था। वर्णाश्रमोचित सब व्यवहार शास्त्र और ईश्वर श्रद्धा सहित करता था। ऐसा होने पर भी जैसा वह चाहता था, जैसा उसने शास्त्रादिक से सुना था इस प्रकार के शुद्ध भाव से ईश्वर की भक्ति कर नहीं सकता था। बारम्बार वह अपने मन में विचार किया करता था कि मैं सच्चे दिल से ईश्वर भजन करना चाहता हूं परंतु होता नहीं, क्या सब मनुष्य जो ईश्वर भजन करते हैं, उन लोगों का भजन मेरे समान ही होता होगा? एकाग्रचित्त बिना भजन बन नहीं सकता। और अनेक प्रकार के यत्न करने पर भी मैं अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर सकता! कोई न कोई ऐसे भजन करने वाले भी अवश्य होंगे, जो चित्त को एकाग्र करके भजन करते होंगे। इस प्रकार सुजनसिंह विचार किया करता था और उसे जो कोई सज्जन, भक्त-भजन करने वाला मिलता उससे अपने एकाग्रता रहित भजन का हाल सुनाया करता था और पूछा करता था कि आपका चित्त तो स्थिर हो जाता होगा, आप का भजन भली प्रकार होता होगा। सुजनसिंह को निष्कपट स्वभाव वाला देख कर सामने वाला मनुष्य अपने भजन का हाल सुनाता था और कहता था कि मेरा चित्त भी एकाग्र नहीं होता। सुजनसिंह ने कोई सैकड़ों मनुष्यों से इस प्रकार की बातें की परंतु किसी मनुष्य ने भी ऐसा नहीं कहा कि मेरा चित्त एकाग्र होता है। "यह क्या आश्चर्य है!!! किसी प्रकार भी शास्त्र झूठा नहीं है, तब एकाग्र चित्त वाला कोई देखने में क्यों नहीं आता? क्या सब लोग एकाग्रचित्त होते हुये भी मुझे बहकाने के लिये झूठ कह देते हैं कि हमारा चित्त एकाग्र नहीं होता, नहीं! ऐसा नहीं है, सब झूठ नहीं कह सके! तब क्या कारण है? हां! एक बात हो सकती है कि मैं ने जिस २ से एकाग्र चित्त होने के विषय में पूछा था, वे सब गृहस्थ थे, शायद गृहस्थों का चित्त एकाग्र न होता होगा, त्यागियों का ही होता होगा, किन्तु ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्यों कि यदि ऐसा होता

तो शास्त्र में अवश्य लिखा होता। शास्त्र से तो ऐसा विदित होता है कि प्राचीन काल में कई गृहस्थ ईश्वर के परम भक्त हो चुके हैं, यदि चित्त की एकाग्रता न होती तो वे परम भक्त कैसे होते? क्या प्राचीन काल सौम्यता और एकाग्रता के लिये अनुकूल था? क्या वर्तमान काल एकाग्रता का विरोधी है? नहीं ऐसा निर्णय नहीं हो सक्ता! कोई भी काल हो, सब काल में अच्छे बुरे, भक्त अभक्त होते ही रहते हैं! अब मुझे त्यागियों से मिलना चाहिये और पूछना चाहिये कि ईश्वर भजन में उनका चित्त एकाग्र होता है या नहीं?" इस प्रकार विचार कर सुजनसिंह त्यागियों से मिलने लगा और अपना अभीष्ट प्रश्न पूछने लगा। जो त्यागी उसे मिले उनमें बहुत से तो नाम मात्र के त्यागी थे! कोई तो उत्तर न देते हुये मजाक करने लगता, कोई ऐसा कह देता कि गृहस्थों का मन एकाग्र नहीं होता, कोई ऐसा कहता कि तू अपनी सब सम्पत्ति मुझे अर्पण कर के मेरा चेला हो जा, मैं तुरन्त ही तेरे चित्त को एकाग्रता कर दूंगा। इस प्रकार वह अनेकों को पूछता रहा। किसी २ ने कहा भी कि मेरा चित्त एकाग्र होता है परन्तु उसके व्यवहार और उस की चाल चाल से सुजनसिंह को निश्चय न हुआ कि वह ठीक ही कहता है। अन्त में एक वास्तविक ज्ञानी से उसकी मुलाकात हुई, उस से उत्तर मिला कि जिसको प्रपंच बाधक होता है, उसको ही एकाग्र चित्त करने की आवश्यकता होती है, मुझे कोई पदार्थ बाधक नहीं है, परब्रह्म और दृश्य सब परब्रह्म की ही लीला है, हमेशा ऐसा मेरा पूर्ण निश्चय होने से मुझे एकाग्र चित्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के वचन का अर्थ सुजनसिंह समझ न सका और वह ज्ञानी पुरुष पात्र के अनुसार क्रम २ से उपदेश देने की झंझट में नहीं पड़ना चाहता था इस लिये चला गया। जिस बात का निश्चय करने के लिये सुजनसिंह सब से मिलता था और आतिथ्य सत्कार भी करता था, उसका मिलना और आतिथ्य सत्कार कुछ काम न आया, 'ईश्वर भजन में मेरा चित्त एकाग्र नहीं होता' यह चिन्ताग्नि उसे अखंडित जलाया करता था। जो जिसके पीछे हिल लगा कर पड़ता है और प्रयत्न करने में शिथिल नहीं होता तो उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। सुजनसिंह दृढ़ निश्चय वाला और 'कार्यं साधयामि वा देहं पातयामि' इस स्वभाव वाला था, कुछ रोज के लिये घर बार को छोड़ कर विचरने लगा। अनेक देश देशावरों में अनेक प्रकार के मनुष्य मिलते रहे। कुछ समय के बाद घूमता २ वह गंगा किनारे एक सत के पास पहुंचा। वे सन्त परोपकार वृत्ति वाले, पात्र की योग्यता देख कर उपदेश दे कर हित करने वाले, सौम्यतायुक्त पूर्ण ज्ञानी थे। सुजनसिंह ने जा कर प्रणाम किया, प्रणाम करते ही एक अनिर्वचनीय आह्लाद उसके हृदय में प्रवेश करता हुआ मालूम हुआ! यह सन्त की कृपा दृष्टि का प्रभाव था! ऐसा उसने जाना। वह अनेक स्थानों पर घूम आया था, अनेक सन्तों से मिल चुका था, परन्तु ऐसा अनुभव उसे किसी स्थान पर नहीं हुआ था! जैसे लोहा चुम्बक के समीप जाते ही आकर्षित हो, चुम्बक से मिलता है इसी प्रकार सुजनसिंह की चित्त वृत्ति पूर्ण श्रद्धा सहित सन्त की वृत्ति से मिल गई! दोनों वृत्तियों का अदृश्य में मिलान हुआ था! जिस प्रकार सुजनसिंह का निर्मल प्रेम सन्त के ऊपर उफन गया था इसी प्रकार सन्त का करुणा भाव सुजनसिंह के ऊपर स्वाभाविकता से ही भीग रहा था! जब किसी का कार्य किसी से होने वाला होता है तो उस कार्य के होने की सूचना इसी प्रकार हुआ करती है, इस बात को मलिन अन्तःकरण वाला समझ नहीं सका।

सुजनसिंह प्रणाम करके बैठा ही था कि तुरंत संत ने ही प्रथम कहा "हे श्रद्धालु! तू किस प्रकार मेरी कृपा चाहता है? तेरी सूरत कहती है कि तू दृढ निश्चय वाला और शुद्ध बुद्धि वाला है, तुझे जो पूछना हो सो पूछ!" सुजनसिंह बोला "हे कृपालु! हे करुणा सिंधु! आप सर्वज्ञ हो, मेरे मन का हाल आप को विदित ही है तो भी आप की आज्ञानुसार मैं कहता हूं:—मैं संसार में अनेक स्थानों पर घूम चुका हूं परन्तु अभी तक मेरे चित्त की शांति नहीं हुई

इस लिये मैं आपके पास आया हूं, मुझे ईश्वर प्राप्ति की चाहना लगरही है और मैं उसका उपाय रूप ईश्वर भजन करता हूं परंतु शास्त्र में जिस प्रकार की एकाग्रता से भजन करने को कहा है मेरे चित्त की उस प्रकार की एकाग्रता नहीं होती। कई गृहस्थों से मैं पूछ चुका हूं कि भजन में तुम्हारी एकाग्रता होती है या नहीं तो किसी ने भी एकाग्रता होने को नहीं कहा। यह ही बात त्यागियों से भी पूछ चुका हूं। किसीने एकाग्रता होने को कहा तो उस के आचरण देख कर मुझे उस की बात का निश्चय नहीं हुआ, किसी ने मजाक में उड़ा दिया और किसी ने ऐसा भी कहा कि मुझे एकाग्रता की आवश्यकता ही नहीं है। अब मेरा पूछना यह है कि ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार हो, यदि भजन से होती हो तो भजन में एकाग्रता की आवश्यकता है या नहीं? यदि आवश्यकता है तो एकाग्रता किस प्रकार हो? महाराज! मैं अज्ञानी हूं, मुझ अज्ञानी के अयुक्त प्रश्न पर आप ख्याल न कीजिये, मुझे कल्याण के मार्ग की इच्छा है, उस मार्ग को ही मुझे बताइये।" संतने सुजनसिंह के बोलने से ही उसकी परीक्षा करली थी, वे समझ गये थे कि यह शुद्ध अंतःकरण वाला है, सीधा है और ईश्वर प्राप्ति की सच्ची चाहना वाला है, कहने लगे "हे श्रद्धालु! यह सब संसार क्या है? शास्त्रों और संतों के कहने से तू जानता है कि मिथ्या है परंतु बर्ताव में यह संसार मिथ्या हो जाय ऐसा नहीं होता, यह ही चंचलता का कारण है जो मन को ईश्वर की तरफ एकाग्र होने नहीं देता। यह सब संसार अविद्या रूप नटनी का तमाशा है, जो अविद्या की दृष्टि में दब जाता है, वह ही उस का खिलौना हो कर नाचने लगता है, ईश्वर की तरफ से विमुख होता है, अपने होश हवास भूल जाता है और अनेक प्रकार के कष्ट पाता रहता है। तमाशा करने वाली नर्तकी अनेक प्रकार के हाव भाव से नाचती है, अपनी दृष्टि सब पर डालती है, जिस पर उसकी दृष्टि पड़ती है, वह उसके मोह में फस जाता है। नर्तकी चाहे जितना नाच किया करे जो उसकी आंख से आंख नहीं मिलाता, वह उस के मोह में फँस कर दुःखी नहीं होता। नाच देखने वाले अनेक मनुष्यों में कोई एक बालक भी हो, जिसे नर्तकी और नर्तकी के हाव भाव का बोध न हो तो वह नर्तकी के मोह में नहीं फँसता और जिसको नर्तकी प्रिय लगती है और नर्तकी का हाव भाव अच्छा मालूम होता है, वह मोह में फँस जाता है। जैसी नर्तकी है इसी प्रकार अविद्या है, उस लांग महा बलिष्ठ भी कहते हैं परन्तु उस का बल उसी पर चलता है जिसकी दृष्टि प्रियता से उसकी तरफ लगती है। अविद्या में दब कर जो ईश्वर का भजन करना चाहता है, वह कभी भी ईश्वर का भजन नहीं कर सका क्योंकि जहां अविद्या है, वहां ईश्वर नहीं है और ईश्वर के सामने अविद्या नहीं है। अनेक मनुष्य संसार की वृद्धि के लिये, अनेक प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये और जगत् में अपने को जो न्यूनता दीखे उसकी पूर्ति के लिये ईश्वर भजन करते हैं, वे ईश्वर को केवल निमित्त ही रखते हैं। उनका भजन ईश्वर का भजन नहीं है, प्रपंच के पदार्थों का ही भजन है। ऐसा भजन पूर्ण एकाग्रता से होना असंभव है। चलित ऐसा प्रपंच जिसका ध्येय है, उसका ध्याता चंचलता रहित किस प्रकार हो सक्ता है? नहीं हो सक्ता। ऐसा भजन करने वाले ईश्वर को भी ठगना चाहते हैं! भला! ईश्वर ठगाई में कब आने वाला है'! ऐसा भजन करने वालों के दुःखों की निवृत्ति नहीं होती किन्तु दुःख पर दुःख बढ़ता ही जाता है। अविद्या ने जिसको मोहित कर रक्खा है ऐसे प्राणी को अविद्या सच्चा बोध होने नहीं देती। मैं समझता हूं कि तेरा ईश्वर भजन तो लौकिक कामना वाला न होगा! मन की चंचलता जगत् के पदार्थों के राग से है इसलिये जब तक वैराग्य नहीं होता तब तक चंचलता नहीं जाती। इसलिये मनको वश करने के निमित्त-एकाग्र करने के निमित्त जहां २ राग हो वहां २ वैराग्य करने की आवश्यकता है। राग का बहुत दृढ़ अभ्यास होनेसे एक समय का किया हुआ वैराग्य टिक नहीं सकता इसलिये बारंबार करना चाहिये। वैराग्य के ऐसे बारंबार के अभ्यास से मन निर्मल होकर स्वाधीन हो जाता है। भजन का सच्चा अधिकारी [illegible] समग्र ऐश्वर्य

से सब प्रकार से निराश हुआ होता है। जब तक ऐश्वर्य—भोग की इच्छा रहती है, चाहे वह इच्छा स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो तब तक सच्चा भजन नहीं होता। बहुतसी कामनायें ऐसे गुप्त भाव से पड़ी हुई होती हैं कि अभ्यासियों को मालूम ही नहीं पड़तीं, वे अपने दिल में ऐसा समझते हैं कि हम में कोई कामना नहीं है। पूर्ण वैराग्य धारण करके श्रद्धा सहित बारंबार अभ्यास में लगना पड़ता है और दीर्घ कालतक उस अभ्यास में लगा रहना पड़ता है। ज्यों २ अभ्यास दृढ़ होता जाता है त्यों २ वैराग्य स्थिर होता जाता है। जब वैराग्य स्थिर होता है तब ही मन काबू में आता है और समझे हुये ईश्वर स्वरूप में लग सक्ता है। अविद्या नटनी अभ्यास करने वालों को भी अनेक प्रकार से छल कर के अभ्यास में लगने नहीं देती। कभी शब्द झंकार से, कभी टेढ़ी कटाक्ष से अभ्यास में से चलित कर देती है, इस प्रकार पांचों प्रकार के विषयों में लुभाती है। जो उस की किसी भी चालाकी के स्वाधीन नहीं होता, उसकी तरफ दृष्टि ही नहीं करता, वह अभ्यास में आगे बढ़ कर अभीष्ट प्राप्त कर लेता है। कितनेक समय अविद्या नटनी झूठी २ बातों को ऐसी सफाई के साथ सौन्दर्य वाली दिखाती है कि अभ्यासी सहज में ही भूल में पड़ जाते हैं। जब वह अभ्यासी को दृढ़ देखती है तब अभ्यास और ईश्वर प्राप्ति का लालच दे कर प्रपंच में पटक देती है, यह अविद्या बहु रूपिनी है, क्षण २ में स्वरूप को बदलती है और कच्चे अभ्यासी को अपने जाल में से निकलने नहीं देती।"

सुजानसिंह ने कहा "महाराज! अविद्या ऐसी होने से मुझे क्या? मैं तो परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे को नहीं चाहता, किसी पदार्थ में मेरा राग ही नहीं है, तब मेरा चित्त क्यों चंचल होता है?" सन्त ने कहा "तू ऊपर से ही किसी को नहीं चाहता परन्तु पूर्व के दृढ़ हुये संस्कार तेरे हृदय में सजीव हैं, ये ही तेरे चित्त को चंचल कर देते हैं। जब जब चित्त चंचल होता है तब कहीं न कहीं जाकर ही चंचल होता है, जहां मन जाता है वहां तेरा राग अवश्य है। उस राग को तू समूल काट दे। अविद्या से राग की उत्पत्ति है इस लिये अविद्या को ही काटना चाहिये। यदि तू कहे कि द्वेष में भी तो मेरा चित्त जाता है तो तेरा कहना ठीक नहीं है क्योंकि द्वेष के विषय में भी किसी न किसी प्रकार तेरा राग ही होता है इसी लिये चित्त जाता है, बिना राग चित्त जा नहीं सक्ता। चित्त एकाग्र अवश्य होता है। तू देखता है कि व्यवहार में जहां प्रिय का लाभ होता दीखता है, वहां चित्त कैसा एकाग्र हो जाता है। एकाग्र होने का गुण चित्त में है परन्तु जिस में चित्त एकाग्र किया जाय, उस में पूर्ण प्रेम होना चाहिये। अन्य अनेक प्रकार के रागों में से जब कोई भी राग उस प्रेम को हटा न सके, उस काल में ही चित्त एकाग्र होता है। चाहे गृहस्थी में रहता हो चाहे त्यागी हो, जिसके अंतर में ब्रह्मांड और ब्रह्मांड के ऐश्वर्य में सम्पूर्ण वैराग्य होता है, सब प्रकार की कामनायें मर जाती हैं और परब्रह्म में पूर्ण प्रेम होता है वहही मनुष्य ईश्वर को ध्येय बनाकर चित्तको एकाग्र कर सक्ता है, जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वास्तविकता से परब्रह्म अथवा ईश्वर भाव में चित्त नहीं लगता। तू प्रथम वैराग्य को प्राप्त कर और सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो जा, इस प्रकार शुद्ध हो कर शास्त्रानुसार और ज्ञानियों के अनुभव का जो कथन सुना है, उसके अनुसार चित्त को शुद्ध स्वरूप में लगा। ऐसा करते २ शुद्ध हो कर तुझे स्वस्वरूप की अवश्य प्राप्ति होगी। जब चित्त किसी प्रकार मोह, मद, काम, ईर्षा, अज्ञान, ऐश्वर्य के भाव आदिक में जाय उसी समय उसे तिरस्कार कर के हटाता जा। ऐसा करते रहने से जितना दोष निवृत्त होता चला जायगा उतना ही चित्त शुद्ध स्वरूप में स्थिर होता चला जायगा। अविद्या नटनी से हमेशा चेतन रहना चाहिये। यदि किंचित् भी तेरी दृष्टि अविद्या की तरफ जायगी तो तुझ को सब शुभ—शुद्ध कार्य से भुला कर अपने स्वाधीन कर लेगी। जो अविद्या की तरफ से मुख फेर लेने में समर्थ होता है, वह ही प्रयत्न

से कृत कृत्य होता है।" सुजनसिंह बोला "महाराज! आप के उपदेश से मेरा कार्य अवश्य सिद्ध होगा, आपके अमृत रूप उपदेश का शब्द शब्द मेरे अन्तःकरण में चोट लगाता हुआ स्थिर हुआ है। मैं आप से प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे अविद्या का स्वरूप दृष्टान्त दे कर समझाइये जिस से अविद्या का स्वरूप भली प्रकार मेरी समझ में आ जाय और मैं उसकी तरफ से अपनी दृष्टि हटा लेने में समर्थ होऊं।" सन्त ने कहा "तब तू इस आख्यान को चित्त लगा कर श्रवण कर:—

एक सिद्ध पुरुष विचरता हुआ एक राज नगर में पहुंचा। सायंकाल का समय होने आया था। शहर बहुत रमणीक और विशाल था। सिद्ध पुरुष को बाजार में चलते २ दो घंटे व्यतीत हो गये, बाजार का अन्त न आया। एक दिव्य प्रकाश अंधेरे को भगा कर शहर को प्रकाशित कर रहा था। यह प्रकाश चन्द्र के प्रकाश से विलक्षण था, बिजली, गैस और अनेक प्रकार के लौकिक प्रकाशों से हजारों गुणा विशेष, शीतल और आह्लाद जनक था। सिद्ध ने मार्ग में जाते हुये एक मनुष्य को पुछा "भाई! यहां किसी प्रकार के बिजली या गैस के खम्बे अथवा हंडे तो दिखाई नहीं देते और प्रकाश निर्मल है, यह किस का प्रकाश है?" उस मनुष्य ने हंसते हुये कहा "मित्र! तू कोई परदेशी दीखता है, यह किसी बत्ती का प्रकाश नहीं है, इस शहर में बत्तियां नहीं जलतीं, इस नगर की महारानी है, उसमें इतना प्रकाश है कि उससे सारा शहर प्रकाशित होता है। रात्रि के समय महारानी झरोखे में आ कर बैठ जाती है, सामने राज महल की तरफ देख, झरोखे में वह ही बैठी हुई है, उस के चेहरे के चारों तरफ जो प्रकाश है, उस से सब शहर में उजाला हो रहा है, केवल मार्गों के ऊपर ही प्रकाश नहीं है, प्रत्येक घर में, प्रत्येक स्थान में फैला हुआ है। यहां कोई भी दीपक नहीं जलाता, सब को उसका प्रकाश पहुंचता है, रात्रि में सब लोगों का व्यवहार इसी से चलता है!" सिद्ध ने आंख उठा कर राजमहल की तरफ देखा तो एक ऐसी सुन्दरी झरोखे में बैठी हुई दिखाई दी कि कभी किसी की कल्पना में भी न आसके। सुन्दरी का स्वरूप स्पष्ट दीख रहा था, प्रकाश से ढपा नहीं था। ज्यों ही सिद्ध ने सुन्दरी की तरफ दृष्टि की, सुन्दरी ने भी अपनी नेत्र वृत्ति को सिद्ध की तरफ फेंका। सुन्दरी के कटाक्ष रूप बाण से सिद्ध घायल हो गया, सुन्दरी के मोह में उसकी सब सिद्धताई जाती रही! जहां खड़ा था वहीं चुप चाप खड़ा रह गया! मार्ग में आने जाने वाले उस से हटने को कहते थे परन्तु वह सुनता ही कहां था! कोई कोई ठोकरें मार कर भी चला जाता था, सिद्ध को कुछ होश ही न था। थोड़ी देर बाद उसे होश आया परन्तु उस स्थान से हटने को इस का दिल न हुआ, मन में विचार करने लगा कि इस सुन्दरी के साथ अवश्य शादी करनी चाहिये। सिद्ध में इतना सामर्थ्य था कि यदि वह चाहता तो उस सुन्दरी को अपने पास बुला सकता था परंतु वह तो उसके मोह से उसके दबाव में आ गया था, बुलाता कौन? सुबह होते ही लोगों से पूछा कि उसकी शादी हुई है या नहीं? लोगों ने कहा कि अभी उसकी शादी नहीं हुई है, शादी करना चाहती है, जो मनुष्य इस की प्रतिज्ञा को पूर्ण करेगा, उसके साथ ही वह अपनी शादी करेगी। सिद्ध ने पुछा कि उसकी प्रतिज्ञा क्या है? लोगों ने कहा कि जो मनुष्य एक मास पर्यन्त राजकुमारी की इच्छानुसार जो वस्तु चाहिये, तुरन्त ही देता रहेगा, उसको वह अपना पति बना लेगी, इस प्रतिज्ञा को कबूल करके जो वस्तुयें ला न सकें, उसे वह बंदीवान् करेगी, उससे स्नान करने को पानी भरवावेगी और अन्य क्षुद्र सेवा भी करावेगी। सिद्ध ने पुछा कि आज तक कितने बंदीवान् हो चुके हैं? लोगों ने कहा कि इस की कोई गिनती ही नहीं है। दूसरी रीति से कहा जाय तो सारा शहर ही उसका बंदीवान् है। यहां के किसी मनुष्य को उसका दर्शन किये बिना चैन ही नहीं पड़ता। सब उसकी सूरत देखने को व्याकुल रहते हैं। सिद्ध के पास एक सर्व-सिद्धिकारिणि गुटका थी, उसमें यह गुण था कि जो वस्तु मांगी जाय तुरंत ही आ जाती थी। इस

गुटका के भरोसे पर सिद्धने कुमारी से शादी करने का करार किया और बाद में एक मालिन के यहां मुकाम किया। दूसरे दिन प्रभात में राजकुमारी की दो दासियां सिद्ध के पास आई और कहने लगीं "हे राजन्! हमारी राजकुमारी ने दो रत्न जटित सुवर्णालंकार मंगाये हैं।" थोड़ी देर ठहरने को कह कर सिद्ध भीतर गया और वहां से दो रत्न जटित सुवर्णालंकार गुटका से मांग कर ले आया और दासियों को देदिये। दासियां उन अलंकारों की सुन्दरता को देख कर चकित होती हुई राजकुमारी के पास पहुंचीं और दोनों अलंकार उसे दे दिये। उनको देख कर राजकुमारी भी आश्चर्य को प्राप्त हुई। तीसरे दिन उसने ऐसे ही चार अलंकार मंगवाये, पांचवें दिन आठ, छःठे दिन सोलह मंगवाये, इस प्रकार पच्चीस दिन तक मंगवाती रही, सिद्ध देता रहा। ऐसा देख कर राजकुमारी सोचने लगी कि यों तो मास पूरा हो जायगा, मुझे शादी करनी पड़ेगी इसलिये कोई और युक्ति निकालनी चाहिये। ऐसा सोच कर जिस मालिन के यहां सिद्ध रहता था, उसको राजकुमारी ने अपने पास बुलाया और कहा कि जो सिद्ध तेरे यहां रहता है, वह सब वस्तुयें कहां से मंगाता है? मालिन बोली कि मुझे इसकी कुछ भी खबर नहीं है, उसके पास कुछ सामान है नहीं, कोठरी में जाता है और मांगे अनुसार वस्तुयें निकाल लाता है। राजकुमारी ने कहा कि तू इस बात का भेद लेआ, मैं तुझे मुंह मांगा सिरोपा दूंगी। मालिन एकांत में सिद्ध से पूछने लगी कि आपके पास कोई वस्तु है नहीं, आपने कुमारी को इतने अलंकार कहां से दिये? सिद्ध की सिद्धताई तो कुमारी को देखते ही नष्ट हो गई थी, वह उसके मोह में बुद्धि हीन हो गया था, कहने लगा कि यह एक गुप्त भेद है। मालिन ने कहा कि गुप्त है तो क्या हुआ, मैं किसी से कहने वाली नहीं हूं। कदाचित् मुझ पर आपका विश्वास न हो तो मैं शपथ खाकर कहती हूं कि मैं यह बात किसी से नहीं कहूंगी। सिद्ध ने कह दिया कि मेरे पास एक सर्व सिद्धिकारिणि गुटका है, वह ही सब वस्तुयें देती है। मालिन कुमारी के पास पहुंची और सारा हाल कह दिया। दूसरे दिन दासियां आईं और कहा कि कुमारी ने सर्वसिद्धिकारिणि गुटका मंगाई है। सिद्ध चौंका परन्तु करे क्या, गुटका देनी पड़ी। दूसरे दिन कुमारी ने फिर अलंकार मंगवाये और साथ में बंदी करने के लिये सिपाही भी भेज दिये और कह दिया कि यदि अलंकार न दे तो बंदी कर लाओ। सिद्ध के पास अब धरा ही क्या था कि अलंकार देवे। विचारे को बंदीवान् होकर सिपाहियों के साथ जाना पड़ा।

इस प्रकार सिद्ध अनन्तकाल तक बन्दीवान् रहा। एक दिन राजकुमारी का पानी लाने के समय एक सन्त उसे मिला। उसने एक बूटी देकर कहा "तू इस को घोंट कर जल में मिला दीजो, जब कुमारी उस जल से स्नान करेगी तब स्नान करते ही मूर्छित हो जायगी, तू निर्भय होकर अपनी सर्वसिद्धिकारिणि गुटका को उस के हाथ से लेलीजो!" सिद्ध ने सद्गुरु के वचन अनुसार ऐसा ही किया। कुमारी स्नान करते ही मूर्छित हो गई। सिद्ध ने उस के हाथ में बंधी हुई गुटका उसी क्षण छीनली। कुमारी ऐसी बेहोश हुई कि अनेक यत्न करने पर भी होश में न आई। लोगोंने उसे होश में लाने के लिये सिद्ध से प्रार्थना की। सिद्ध ने कहा "मैं उसे होश में ला सकता हूं परन्तु मुझसे उस की शादी करने का इकरार कर लो तब ही मैं ऐसा कर सकता हूं।" सब ने कबूल कर लिया। सर्वसिद्धिकारिणि गुटका के प्रभाव से कुमारी होश में आई और उस की इच्छा न होते हुये भी उसे सिद्ध के स्वाधीन होना पड़ा। उस की दासी होकर रही। अज भी वह सिद्ध आनन्द में है!

अब इस दृष्टान्त का सारांश श्रवण कर:—सिद्ध पुरुष आत्मा ही है। सर्वज्ञता रूप सर्वसिद्धिकारिणि गुटका उस के पास है। 'सब कुछ एक अद्वैत तत्व रूप है' यह ही गुटका है। राज कुमारी अविद्या है, संसार के सब मनुष्यों का सब व्यवहार अविद्या के प्रकाश में होता है, राजकुमारी रात्रि को प्रकाशित होती थी कारण कि अविद्या अंधेरा रूप है। आत्म

प्रकाश दिन रूप है। जब सिद्ध अंधेरे में आया तब अंधेरे में प्रकाशित होती हुई सुन्दरी से मोहित हुआ। अविद्या अनेक प्रकार के छल छिद्र वाली है। प्रथम अनेक प्रकार के अलंकार ग्रहण करके गुटका के सामर्थ्य को न्यून किया। जो योगी सिद्धियों में अपने सामर्थ्य का व्यय करते हैं वे अपने को सामर्थ्यहीन करते हैं और सामर्थ्यहीन होकर सिद्ध के समान बंदी होकर संसार चक्र में घूमते हैं। जब सिद्ध का सद्गुरु से संग हुआ तब उसने ज्ञान रूप बूटी दी। उस बूटी से अविद्या रूप राज कुमारी बेहोश गई और सिद्ध ने गुटका छीनली और अविद्या को अपनी दासी बनाया। यह हालत जीवन्मुक्त अवस्था की है। हे श्रद्धालु! जो अविद्या की दृष्टि से बचता है, ज्ञान बूटी से अविद्या को मूर्छित करता है, वह ही परमानन्द को प्राप्त होता है। सामान्य नटनियों से यह अविद्या रूप नटनी महान् बलिष्ठ है, उस को वश कर। उस को दासी बनाना बलिष्ठ का ही काम है। जा, तू प्रयत्न में लग, और अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर!"

विदेहमुक्ति।

जिस को मोक्ष, परमपद, परमधाम, कैवल्य, निर्वाण, परमानन्द स्वरूप इत्यादि कहते हैं, वह ही विदेहमुक्ति है। ये सब शब्द परम कल्याण के पर्याय रूप हैं। जैसे बन्ध और मोक्ष का कथन मायिक है इसी प्रकार विदेहमुक्ति शब्द भी मायिक ही है। विदेहमुक्ति का स्वरूप कथन से बाहर है। जिस प्रकार बन्धन की अपेक्षा से मोक्ष का कथन है इसी प्रकार जीवन्मुक्ति की अपेक्षा से विदेहमुक्ति का कथन है। जीवन्मुक्ति से अन्य प्रकार की मुक्ति समझने को विदेहमुक्ति शब्द की प्रवृत्ति है। जैसे बंधन और मोक्ष एक दूसरे के समझने में अपेक्षायुक्त होते हुये भी मोक्ष स्वरूप में दोनों में से किसी का भी अनुसन्धान नहीं है वैसे ही परम तत्व में जीवन्मुक्ति अथवा विदेहमुक्ति कोई भी नहीं है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति स्वरूप से परम तत्व ही है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का भेद और दोनों के लक्षण व्यवहारिक सत्ता में उपयोगी हैं और पारमार्थिक में तो दोनों स्वरूप से एक ही हैं। व्यवहारिक शरीर का भान रहते हुये परम तत्व के निश्चय में टिकाव होना जीवन्मुक्ति कहलाती है और स्थूल शरीर होते हुये शरीर के भान रहित अथवा स्थूल शरीर न होते हुये परमतत्व में टिकाव होने को विदेहमुक्ति कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य थोड़े समय में मृत्यु को प्राप्त होने वाला हो, वह स्वयं भी जानता हो कि वह आधे या पाव घण्टे जगत् में रहने वाला है, फिर भी उसे शरीर का भान हो, उस को इस अंश में जीवन्मुक्ति के समान समझो और जो कोई घण्टे आध घण्टे में मरने वाला हो, शरीर में प्राण चलते हुये भी जिसे अपने शरीर का भान न हो, शरीर के भान न होने के अंश में उसे विदेहमुक्ति के समान समझो अथवा शरीरान्त होने के बाद शरीर रहते हुये भी ऐसा जो कहा जाता है कि अमुक मनुष्य मर गया उस का शरीर नहीं रहा, क्योंकि शरीर वाले की प्रतीति नहीं होती, इस अंश में वह विदेहमुक्ति के समान है। जो मर गया, उस का शरीर-शव से सम्बन्ध नहीं है तो भी लौकिक में पूर्व के सम्बन्ध की स्मृति लेकर ऐसा कहा जाता है कि यह अमुक का शरीर है वह मरगया है। इस प्रकार अब सम्बन्ध रहित भी सम्बन्ध के अनुसन्धान से कहा हुआ विदेहमुक्ति के समान है। वस्तुतः तो विदेहमुक्ति मरने के समान नहीं है क्योंकि मरने वाले का व्यक्तित्व नहीं टूटता और विदेहमुक्त के व्यक्तित्व का परमतत्व में लय हो जाता है। जब रूपान्तर वाले एक से दूसरे रूप को प्राप्त होते हैं तब ऐसा कहा जाता है कि उन का रूपान्तर हुआ। जहां रूपान्तर न होते हुये मूल सहित समग्र अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और परमतत्व ही शेष रहता है वहां ऐसा कहा जाता है कि अमुक पुरुष विदेह कैवल्य को प्राप्त हुआ—परमतत्व में लय हुआ। यह कहना मायिक यानी मिथ्या है क्योंकि परमतत्व में व्यक्तित्व अथवा किसी प्रकार का मायिक लेप नहीं हुआ है, मात्र अज्ञानियोंके

अज्ञान से प्रतीत होता है, वह न होना—व्यक्तित्व का लय विदेहमुक्ति कहलाता है परन्तु तत्व में न तो बन्धन है, और न जीवन्मुक्ति है तब विदेहमुक्ति कहां से हो। समझाने को कहा जाता है। विदेहमुक्ति में न तो व्यक्तित्व है, न व्यक्तित्व का अहंकार है, न व्यक्ति है, न इनका अनुसन्धान है। विदेहमुक्ति परमतत्व है, उसे त्रिकाल में भी किसी प्रकार का स्पर्श नहीं है।

सामान्य मनुष्य जो विशेष अहंभाव को ही अपन मान रहे हैं, यह स्थिति ज्ञान स्वरूप होने से उन के समझने का विषय नहीं है। उसका कुछ लक्ष ज्ञानी कर सकता है, अज्ञानी किंचित् भी नहीं कर सकता। मुमुक्षुओं के यथार्थ समझने का भी विषय नहीं है। जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्ति को समझने में समर्थ होता है क्योंकि जीवन्मुक्त व्यवहार में होता हुआ और भाव से मुक्त होता हुआ भी विदेहमुक्त ही होता है इसलिये विदेहमुक्ति के स्वरूप को समझ सकता है। त्रिपुटी से परे अहंभाव से रहितता में जिसे शून्य भासता हो, आनन्द न भासता हो, उस के समझने का भी यह विषय नहीं है। सदेह मिथ्या है और विदेह सत्य है। जिसे सदेह मिथ्या होने का किंचित् भी ख्याल नहीं है, वह विदेह को पसन्द नहीं करता। कई ज्ञानी भी विदेह को नापसन्द करने वाले हैं, वे कार्य ब्रह्म को ही परमतत्व समझते हैं। यदि शुद्ध और दृढ़ बोध हो तो वे ब्रह्मलोक में स्थिति करते हैं और कुछ समय बाद अन्त में उन्हें कारण ब्रह्म रूप विदेह कैवल्य को प्राप्त होना ही पड़ता है।

विदेहमुक्ति शरीर रहते हुये और शरीर न रहते हुये दोनों प्रकार की होती है, प्रारब्ध का किंचित् भोग रहते हुये शरीर का भान न हो और पूर्ण ज्ञान का लक्ष हो जाय, यह शरीर सहित विदेहमुक्ति है, इस में मुक्त पुरुष अपने को नहीं जानता, दूसरे को नहीं जानता, उसे अपने शरीर का, दूसरे के शरीर का और पदार्थों का व्यवहारिक बोध नहीं होता, वह स्वेच्छा से शरीर की कोई क्रिया नहीं करता, अपने पराये को नहीं जानता, सब इन्द्रियां भी भाव रहित हो जाती हैं। इस अवस्था में शरीर की जो चेष्टा होती है, वह दूसरे द्वारा होती है। पूर्व के अभ्यास मात्र से शरीर चेष्टा करता है। इस चेष्टा में चेष्टा, चेष्टा करने वाले के बोध आदि का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब कोई मनुष्य मुख के सामने ग्रास लेजाकर धरता है तब मुख खुल जाता है, खाने लगता है, जब खा चुकता है, मुख बन्द हो जाता है, मुख खोलना, ग्रास लेना, खालेना, अब खाचुका हूं, अब नहीं खाता, इत्यादि क्रिया विशेष बोध से रहित होती है, कर्तापने का लेश भाव भी नहीं होता तब क्रिया का भाव किस प्रकार हो? टट्टी, पेशाब, सोना, बैठना, चलना आदिक सब क्रिया व्यवहारिक बोध रहित स्वाभाविक हुआ करती है। ऐसे को आज कल अवधूत या परमहंस कहते हैं। विदेहमुक्ति वाला ही स्वरूप से परमहंस है। ऐसे सन्त का शरीर पृथ्वी पर अधिक समय तक नहीं रहता क्योंकि किंचित् प्रारब्ध शेष होने में ही ऐसी अवस्था प्राप्त होती है। ऐसे पुरुष से अधिकारी ही कुछ लाभ उठा सकता है। सामान्य मुमुक्षु अपने कल्याण के निमित्त पूर्ण लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि विदेही सन्त उपदेश देने के योग्य नहीं होता। लौकिक शुद्धि आदिक फल तो उस के दर्शन, स्पर्श, रज और परमाणु लगने से ही हो जाता है। पवित्र ही दूसरे को पवित्र कर सकता है। ऐसे शरीर के दर्शन होना, उस पर भाव होना, महान् पुण्य का देने वाला होता है। जो परमतत्व में स्थित होते हुये भी बोध सहित व्यवहारिक चेष्टा करता है, वह जीवन्मुक्त कहलता है। जीवन्मुक्त भाव से विदेहमुक्त ही होता है। जिसे शरीर मिथ्या होजाने पर भी शरीर का बोध है, वह ज्ञानी पुरुष भाव विदेह है और जिसे अपने शरीर का बोध नहीं है किंतु शरीर है, वह स्वरूप से विदेहमुक्त है तो भी शरीर प्राणसंयुक्त होने से शरीर रहित की अपेक्षा से न्यून स्वरूप विदेही है। जीवन्मुक्त जो भाव विदेह है, वह भी विदेह ही है क्योंकि सब स्थूल की रचना भाव से है इस लिये भाव न होने से विदेह

ही है यानी अवश्य होने वाला है। जो कार्य ब्रह्म में विदेहमुक्ति मानते हैं वे भी शरीर सहित ही विदेह हैं परन्तु उन के विदेह में अन्तर है। वे शरीर होने की भावना से शरीरी और भावना के अभाव में इसी प्रकार अशरीरी हैं इस लिये शरीर न होते हुये भी उन में शरीर होने का बीज अवश्य है इसलिये वे शरीर सहित विदेही हैं।

स्थूल शरीर को छोड़ कर निर्वाण को प्राप्त होने वाले जीवन्मुक्त तीनों शरीरों के अंत सहित विदेहमुक्त होते हैं, ये एक प्रकारके हैं, जीवन्मुक्ति बिना, तीनों देह सहित कोई विदेहमुक्त नहीं हो सकता। जितने अधिकारी वर्ग हैं, उनका प्रारब्ध एक ही साथ कई जन्म का होता है, जब वे सब प्रारब्ध को समाप्त कर लेते हैं तब तीनों शरीरों को त्याग कर शरीर रहित विदेह कैवल्य को प्राप्त होते हैं, ये दूसरे प्रकार के हैं। सामान्य मनुष्यों से अधिकारी वर्ग में यह विशेषता है कि वे जीवन्मुक्त होते हुये भी प्रारब्धानुसार जन्म को धारण करते हैं। सामान्य मनुष्य तो जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेने के बाद अन्य शरीर धारण नहीं करता। जो बोध सहित ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, उनको उपदेश बिना ही ब्रह्मलोक में दृढ़ तत्व बोध हो जाता है और ब्रह्मा के साथ वे भी विदेह कैवल्य को प्राप्त होते हैं, ये शरीर रहित तीसरे प्रकार के हैं। इनके स्थूल और सूक्ष्म शरीर यहां के समान नहीं होते और कारण शरीर भी विलक्षण होता है, शुद्ध और तत्व बोध की विशेषता वाला होता है। विदेह मुक्ति तीनों शरीर छोड़ने से ही होती है। जब कोई भी शरीर शेष न रहे तबही शरीर रहित विदेह कैवल्य होता है। ब्रह्मलोक वाले का कारण शरीर ही होता है सो भी कारण के अंतर्गत तीनों शरीर होते हैं। वे तीनो शरीरों को त्याग करही निर्वाण को प्राप्त होतेहैं। शरीर सहित विदेहमुक्ति और शरीर रहित विदेहमुक्ति दोनों अंतिम फलमें एकही हैं क्योंकि शरीर सहित को भी भाव से विदेहमुक्ति प्राप्त ही है। सूक्ष्म से ही स्थूल होता है इसलिये भाव विदेह वाला भी शरीर रहित विदेहमुक्ति को अवश्य ही प्राप्त करेगा, भाव विदेहमुक्ति और स्वरूप विदेह मुक्ति में इतना अंतर है कि भाव वाले को कुछ विलम्ब है और स्वरूप वाला प्राप्त हो चुका है। जिसे दृढ अपरोक्ष ज्ञान हो चुका है किंतु जीवन्मुक्ति का अवर्णीय आनंद प्राप्त नहीं हुआ है, शरीरान्त में उसे विदेह कैवल्य की प्राप्ति अवश्य होती है, ऐसा शास्त्र का कथन है, इस का भाव यह है कि शरीरान्त के कुछ समय प्रथम जीवन्मुक्ति अवश्य होती है इसलिये कोई विरोध नहीं है। जीवन्मुक्ति चाहे विशेष समय रहे, चाहे थोड़े समय रहे, इस में किसी प्रकार की हानि नहीं है। जीवन्मुक्ति से ही विदेहमुक्ति होती है, मृतमुक्ति से विदेहमुक्ति नहीं होती। जो विदेहमुक्ति शरीर रहित होती है, उसमें और परमतत्व में किंचित् भी अन्तर नहीं है। विदेह कैवल्य में परमतत्व ही शेष रहता है। प्रकृति से लेकर विकृति तक की जितनी उपाधियां हैं उन में से कोई भी नहीं रहती, प्रकृति और विकृति की सब प्रकार की भिन्नता का लोप हो जाता है, यानी जो २ भासमान और तत्व से विलक्षण विकारी है, कोई भी नहीं रहता। जब तक इन में से कोई भी शेष रहे तब तक शरीर रहित कोई भी विदेह कैवल्य को प्राप्त नहीं हो सकता।

जो स्थिति परब्रह्म की है, वह ही स्थिति विदेहमुक्त की है। व्यक्तित्व के कारण सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व को छोड़ कर अपने अनादि अनन्त तत्व में विदेहमुक्त स्थित होता है। लोग जिस प्रकार देश काल और अवस्था समझते हैं, वह स्थिति ऐसे देश कालादि से रहित है, वहां न एकता है, न भिन्नता है, न प्रकाश है, न अंधेरा है, लौकिक प्रकाश और अंधेरा दोनों से रहित है, नाम रूप से रहित है, द्वैत अद्वैत से रहित है, द्वैत अद्वैत दोनों में से किसी की भी वहां गम नहीं है, है या नहीं है, कुछ भी कह नहीं सके। जीव, ईश्वर, परब्रह्म और सृष्टि का वहां भेद नहीं है, न कोई स्वभाव है, न कोई क्रिया है, न अक्रिया है, न नीचा है, न ऊंचा है, न शुद्धाशुद्ध है! न जड़ है न चेतन है! न कोई इन्द्रिय है, न विषय है, न भोक्ता है न भोग्य है। वहां का लक्ष होना ही कठिन है। लौकिक ... वैसा ही हो

जाता है, वह ही उसका अनुभव कर सकता है इसलिये ज्ञानी जीवन्मुक्त ही उसको किंचित् जानने में समर्थ होता है।

तत्व जानने वाले सब ही देह रहित विदेहमुक्ति को मानते हैं। कोई कोई जीवन्मुक्ति को नहीं मानते किन्तु विदेहमुक्ति को वे भी स्वीकार करते हैं। इन लोगों का यह आशय है कि व्यक्तित्व सहित मुक्ति का कहना ठीक नहीं है इसलिये ये लोग भाव मुक्तिरूप जीवन्मुक्ति को मुक्ति नहीं मानते, स्वरूप मुक्ति को ही मुक्ति कहते हैं परन्तु श्रुतियों में अनेक स्थानों पर ऐसे भाव वाले वचन कहे हैं कि मुक्त होकर मुक्त होता है इसलिये अपूर्ण होते हुये भी जीवन्मुक्ति मुक्ति ही है। जीवन्मुक्ति न मानने में यह दोष है:-यदि जीवन्मुक्ति स्वीकार न करें तो सब अज्ञानी ही ठहरें, अज्ञानी ज्ञानका उपदेश दे नहीं सकता, तब वेदान्त के आचार्य का लोप मानना पड़े, वेदान्ताचार्य का लोप होने से ब्रह्म विद्या का जानने वाला और मुक्त कोई न रहेगा। यह दोष होने से जीवन्मुक्ति मानना ही ठीक है। जीवन्मुक्ति ही में विवाद है, विदेहमुक्ति में किसी का विवाद नहीं है। विचार दृष्टि से देखा जाय तो जब तक शरीर है, जब तक व्यक्तित्व का भाव है तब तक संपूर्ण भय की निवृत्ति होना अशक्य है। शरीर ही दुःख का स्थान है, अनेक प्रकार के रोगों का घर है, उसके रहते हुये परमानंद हो नहीं सकता। शरीर चाहे दिव्य हो, चाहे अदिव्य हो, दुःख रहित नहीं है इसलिये परब्रह्म के बोध सहित शरीर की निवृत्ति अंतिम है और वह ही विदेह कैवल्य है। परब्रह्म ही सब का उत्पत्ति स्थान है, सब को चैतन्यता और स्फूर्ति यहां से ही प्राप्त होती है इसलिये सब का अंतिम भी वह ही हो सकता है। यद्यपि लय स्थान और उत्पत्ति स्थान मध्यम से ही प्रतीत होते हैं तो भी जिसे उत्पत्ति मालूम हो रही है, उसको परम शांति के लिये लय रूप विदेह कैवल्य भी आवश्यक है। जैसे पक्षी और मनुष्य अनेक स्थानों पर घूम फिर कर अपने ही घर में शांति को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार प्रत्येक का आदि घर परब्रह्म है। संसार में चौदह लोकों में अनेक योनियों में भटकते भटकते जब तक अपने आद्य स्थान को प्राप्त नहीं होते तब तक हमेशा के लिये अशांति की निवृत्ति नहीं होती और परम शांति की प्राप्ति नहीं होती। वह ही आद्य स्थान यथार्थ में विदेहमुक्ति के बाद है।

पृथिवी पर जितने जल के स्थान हैं, उन सबका जल समुद्र का ही है, समुद्र के सिवाय अन्य किसी स्थान का जल नहीं है। संपूर्ण विविध जल का खजाना समुद्र ही है। समुद्र का जल ही भाप हो कर आकाश में उड़ कर योग्य समय में वायु आदि से प्रेरित होकर स्थूल होकर वर्षा रूप से पृथिवी के सब स्थानों में जा कर गिरता है। नदी, नाले, पहाड़, जमीन सब में वह ही जल आता है। जिस २ के साथ में जल का संबंध होता है, उस २ का गुण और रंग-विकार जल में प्रतीत होता है। इसी प्रकार जीव का हाल है। जैसे जल विकार को प्राप्त होने पर भी जल अंश में शुद्ध जल ही है इसी प्रकार जीव कैसा भी विकारी क्यों न हो जाय तो भी जीवतत्व-आत्म अंश में शुद्ध ही है। जीव में जिस २ विकार की प्रतीति होती है, उपाधि से होती है। शुद्ध तत्व के बोध सहित उपाधि को निवृत्त करना विदेहमुक्ति कहलाता है।

ऊपर बताई हुई विदेहमुक्ति को समझने के निमित्त नदी और समुद्र का दृष्टान्त लेकर समझाते हैं:-नदी में जल है और समुद्र में भी जल है। जल के रूप से दोनों एक ही हैं, स्थान भेद से और स्थान के संग के भेद से दोनों में भेद प्रतीत होता है। नदी किसी पहाड़ से चालू होती है, पहाड़ के नीचे के भाग में होती हुई अनेक पाषाण, बूटियों आदि का संग करती हुई उन के भाव से विकारी होती हुई, भूमि पर आपहुंचती है, वहां, भी जो २ नीची जमीन आती जाती है, उसी पर नदी को चलना पड़ता है, चलने में नदी अच्छी बुरी जमीन अथवा पूर्व पश्चिम आदि दिशा का ध्यान नहीं रख सकती, कोई भी दिशा हो जहां नीची जमीन मिलती है, वहां ही

चलने लगती है इसी से कभी सीधी कभी टेढ़ी कभी सर्प के समान चाल वाली होती हुई आगे चलती है, बहुत सा जल जमीन के गड्ढे लेलेते हैं। सीधी चाल के बदले उलटी चाल चलने लगती है। कई स्थानों पर कितनी दुर तक बहुत सी शाखायें भी हो जाती हैं। आगे ऊंचाई मिलने से वहां ही रुकना पड़ता है। मुख्य प्रवाह प्रबल होने से ऊंचाई को काटता हुआ, अपना मार्ग करता हुआ, बीच में आने वाले पत्थरों को हटाता हुआ अथवा स्वयं हटता हुआ आगे चलता है। बड़ी नदी में बहुत सी छोटी ५ नदियां भी मिलती चली जाती हैं। जो जो थोड़े जल वाली नदियां पहाड़ में से चालू होती हैं, वे बीच में ही रुक जाती हैं, विशेष जल और प्रवाह न होने से आगे नहीं जा सकतीं। कोई २ नदी तालाब में जाकर बन्द हो जाती है। किसी का जल जमीन में ही समाप्त हो जाता है। किसी का जल किसी रेतीले स्थान में समाप्त हो जाता है, अपने आद्य स्थान समुद्र को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्यों का हाल है। जो विशेष मलिन अन्तःकरण वाले, प्रपंच में ही आसक्ति वाले हैं, उन्हें अपने आद्य स्थान परमपद का भाव ही नहीं होता। कभी किसी को भाव होता भी है तो जैसे बड़ी नदी में सामर्थ्य और वेग होता है वैसा न होने से उस का आत्म प्राप्ति का सामर्थ्य और मुमुक्षुता की तेजी प्रपंच में ही नष्ट होती रहती है। तीव्र वेग वाली और विशेष जल समूह वाली बड़ी नदी के समान शुद्ध अन्तःकरण वाला अधिकारी के लक्षणों से युक्त जो तीव्र मुमुक्षुता वाला होता है, वह संसारिक अनेक बाधा करने वाली आपत्ति रूप पहाड़ों पत्थरों को तोड़ता हुआ, हटाता हुआ आगे बढ़ता ही चला जाता है। जैसे बड़ी नदी सब मार्ग को तै करके समुद्र की तरफ ही चली जाती है इसी प्रकार तीव्र मुमुक्षु परब्रह्म की तरफ ही जाता है। जब नदी समुद्र में मिलती है तब मिलने में थोड़ा २ भेद है। नदी का समुद्र में मिलना विदेहमुक्ति के समान है। नदी प्राणी है, समुद्र परमात्मा है। जहां नदी समुद्र में मिलती है वहां समुद्र से चार पांच मील की दुरी पर नदी का प्रवाह होते हुये भी नदी समुद्र के जल से मेल युक्त होती है। जब समुद्र में ज्वार आता है तब समुद्र का जल नदी के जल के ऊपर आजाता है। वहां नदी का जल नीचे होता है और समुद्र का जल ऊपर होता है। यदि नदी की तलेहटी में से जल लिया जाय तो वह नदी का होता है, खारी नहीं होता। उस स्थान की नदी समुद्र से भिन्न व्यक्ति रूप है इसलिये शरीर के समान है और थोड़े समय में व्यक्ति भाव को छोड़ देने वाली होने से विदेह रूप है। जीवन्मुक्त ज्ञानी इसी के समान होता है। जैसे उस नदी का शरीर है वैसे ही जीवन्मुक्त का शरीर है। जैसे समुद्र के जल से नदी का जल दबा हुआ है वैसे ही जीवन्मुक्त भाव से विदेहमुक्त है। देह सहित भाव से विदेह होना स्वरूप से नदी के समान नहीं है। उस से थोड़ी दुर समुद्र की तरफ का जल जो समुद्र के विशेष भाव वाला है, वह ब्रह्म लोक में गये हुये भाव विदेह के समान है। इस से भी एकाद मील आगे जो जल है, उसको उस विदेह-मुक्त परम हंस के समान समझना चाहिये। जिसे शरीर होते हुये भी शरीर का भान नहीं है। उस स्थान की नदी का जल खारी और मीठा दोनों जल मिला हुआ होता है। ऊपर, नीचे अथवा मध्य कहीं से भी जल लिया जाय तो नदी का सा मीठा जल नहीं होता, खारी ही होता है और समुद्र के समान विशेष खारी भी नहीं होता। जैसे नदी की आकृति दीखती है ऐसे ही विदेही का शरीर दुसरों को दीखता है। जैसे नदी में नदी का जल नहीं है ऐसे ही विदेही को भी अपने व्यक्तिपने का बोध नहीं है, यह स्थिति नदी और समुद्र के समीप के संयम पर ही होती है। जैसे समुद्र में कितनेक दुर बहने के बाद नदी का सम्पूर्ण भाव जाता रहता है, वहां सम्पूर्ण समुद्र का ही जल होजाता है, इसी प्रकार देहरहित विदेह को समझना चाहिये क्योंकि वहां जैसे नदी और नदी का जल दोनों नहीं रहते, इसी प्रकार विदेही का देह और भाव दोनों ही नहीं रहते। ब्रह्म के साथ विदेह को प्राप्त होने

वाला अथवा जीवन्मुक्त हो कर विदेहमुक्त होने वाला अथवा ब्रह्मा के साथ अधिकार समाप्त करके निर्वाण होने वाला अधिकारी समुद्र में सम्पूर्ण रीति से मिली हुई नदी के समान समझना चाहिये।

इसका क्रम इस प्रकार है:— समुद्र से तीन चार मील पर मिलने वाली नदी के समान जीवन्मुक्त है, समुद्र से एकाद मील पर मिलने वाली नदी के समान सदेह किन्तु देह के बोध रहित विदेहमुक्त है और बीच समुद्र में मिलने वाली नदी के समान देह रहित विदेहमुक्त है। जैसे नदी का कल्याण समुद्र में ही है ऐसे ही प्रत्येक प्राणी का कल्याण परब्रह्म में ही है। समुद्र जैसे सब प्रकार की भिन्न नदियों को अपने में मिला कर अपना स्वरूप बना लेता है, इसी प्रकार परब्रह्म में मिलने वाला भी अपने नाम, रूप, गुण, क्रिया आदि भिन्न भाव—व्यक्तिपने को निवृत्त कर के परब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है, यह विदेह कैवल्य है।

अपूर्ण।

पश्चात्ताप।

(गताङ्क से आगे)

सब के भरण पोषण के लिये रात्रि दिन परिश्रम करता हूं तब भी पूरा नहीं पड़ता ? सगे, संबंधी, कारज, व्यवहार वारंवार आकर सताते हैं! यह और पीडा! ऐसी पीडा में भी मुझे न सूझी कि यह ...य झूठे प्रेम की झंझट है ? मैं क्षण भर भी सुखी न था परंतु उस में ही आनन्द मानता था ? दूसरे अपुत्रवान् को देख कर मैं अपने को धन्य मानता था, ऐसा भूला कि न पूछो बात ! तन, मन, धन सब को ही इस प्रेम में गुमाया तब भी होश न आया ! सद्गुरु की कृपा न होती, सद्गुरु का सदुपदेश सुनने में न आता तो चिंता के मारे हैरान होता हुआ योंही मरजाता ! अमूल्य मनुष्य जन्म को तुच्छ प्राणियों के समान मिट्टी में मिला देता ! इतनी देर में अब चेता हूं तो अवश्य कुछ करही लूंगा ! जगत् दुःखमय है, अच्छा नहीं लगता, छोडना चाहता हूं परंतु जाऊं कहां ? जगत् का शरीर जगत् में ही रहेगा ! जगत के सिवाय उसके रहने को अन्य स्थान कहां है ? जंगल में जाऊं तो क्या वहां जगत् नहीं है ? तब करूं क्या ! गुरु देव से पूछूंगा ! वे क्या कहेंगे ! वे भी तो जगत् में ही हैं ! शायद वे कुछ और ही रहस्य बतादें ! किसी प्रकार हो, जगत् के भाव से जगत् के पदार्थों से और जगत् के भोगों से अब मैं विरक्त हुआ हूं ! पक्का विरक्त हुआ हूं ! अब कभी भी इनमें लोलुप नहीं होऊंगा ! मुझे क्या करना चाहिये ? किस प्रकार करना चाहिये ? अब जाकर गुरु के शरण हो जाऊंगा और उनके उपदेश के अनुसार वर्तूंगा ! चाहे कितना ही कष्ट क्यों न हो, चाहे जगत् में कितनी ही निन्दा क्यों न हो, चाहे शरीर का नाश हो जाय, शिर धड़ से अलग हो जाय, अपने निश्चय से नहीं चलूंगा ! अब एक क्षण भी व्यर्थ जाने नहीं दूंगा ! पापियों का भी उद्धार सुना है ! नीच जाति वाले भी ईश्वर के शरण जाने से संसार से पार हो गये हैं। अजामिल जैसे पापी गणिका और व्याध आदि का भी उद्धार हुआ है, तब मेरा उद्धार होने में संशय ही क्या है ? मैं सच्चे दिल से अडिग निश्चय और पूरी श्रद्धा से प्रयत्न करूंगा। दयालु ईश्वर का क्यों कहना है ! जब सच्चे दिलसे लग जाते हैं तो बहुत वर्षों का काम थोड़े दिनों में ही निपट जाता है। ईश्वर के भावसे ही मैं पूर्ण हो जाऊंगा ! अच्छा हुआ कि अब मैं चेता हूं ! मेरे पूर्व पुण्य ने ही मुझे जाग्रत् किया है ! अब तो शेष अवस्था का सदुपयोग करना ही मेरा काम है ! समय थोड़ा ही रहा है तो भी कुछ चिन्ता नहीं है ! राजा प रीक्षित् को बहुत ही थोड़ा समय था, उसने थोड़े समय में ही अपना कार्य कर लिया था ! उसको ऋषि का शाप था कि सात दिन में ही मर जायगा ! ऋषि का शाप होने पर भी दिल में कुछ भी मलिनता—ग्लानि न रख कर सात दिन में ही

अपने परम पुरुषार्थ से परमहंस संहिता यानी श्रीमद्भागवत् का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके उसने अपना श्रेय को सिद्ध किया! मेरा आयु तो उससे कुछ विशेष ही होगा! आप के समान कोई मलिनता भी मुझ में नहीं लगी है! हां! जगत् में मूढ़ता के साथ किये हुये बर्ताव का पश्चात्ताप अवश्य होता है। जब आत्म श्रेय में प्रवर्त होऊंगा तब पश्चात्ताप का भी अवसर कहां है? यह पश्चात्ताप मलिनता को पैदा करने वाला नहीं है किन्तु अंतःकरण की शुद्धि का हेतु है! यदि मेरा आयु कम हो तो भी क्या चिंता है? सर्व का त्यागरूप महायज्ञ और ज्ञानयज्ञ में एक साथ ही करूंगा! सुना है कि खट्वांग राजा ने दो घड़ी में ही अपना कल्याण कर लिया था! खट्वांग नाम का महा प्रतापी और धर्मिष्ट राजा था, भली प्रकार प्रजा का पालन करता था, और दैत्यों के साथ लड़ने में देवताओं की मदद किया करता था। इस प्रकार वह आयुष्य भर व्यवहार में ही लगा रहा था। उसने अपना कल्याण कुछ भी नहीं किया था। एक समय देवताओं की तरफ से दैत्यों के साथ लड़ते हुये राजा ने दैत्यों का पराजय किया। देवता प्रसन्न हो कर बोले "हे राजन्! तेरा मदद् कार्य देख कर हम प्रसन्न हुये हैं, तुझे जो चाहिये सो वरदान हम से मांग ले!" राजा को आत्म कल्याण करने का ध्यान आया, उसने कहा "हे देवताओ! आप प्रसन्न हुये हो तो मुझे यह बतला दीजिये कि मेरा आयु कितना शेष है!" देवता बोले "हे राजा! तू पूछता है तब हम कहते हैं कि तेरा आयु दो घड़ी शेष है!" यह सुनते ही राजा स्वर्ग लोक को परम पुरुषार्थ साध्य करने का स्थान न समझ कर पृथिवी पर उतर आया और एकाग्र चित्त होकर सूक्ष्म संस्कार सहित तन, मन, और धन ईश्वरार्पण कर ब्रह्मधारणा में स्थिर हुआ! इस प्रकार उसने दो घड़ी में अपना कल्याण किया! मैं भी इसी उत्साह से कार्य करूं तो मेरा कल्याण होने में विलम्ब नहीं है! यदि विलम्ब हो तो भी कुछ हर्ज नहीं है! मैं ईश्वरार्पण हो कर अपने कार्य को समाप्त करके ही छोड़ूंगा! फिर ईश्वर का कार्य रहा, ईश्वर जाने और ईश्वर का कार्य जाने! अरे! ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग समझ में आ जाय तो बहुत ही सुगम है! जनक राजा को तो कुछ भी देर नहीं लगी थी! अष्टावक्र गुरु के उपदेश से एक पैर रकाब में रख कर दूसरा पैर दूसरी रकाब में रक्खे, उस से पहिले ही ब्रह्म उपदेश हो गया था! मेरा सद्गुरु भी ऐसा ही है और मैं भी उपदेश ग्रहण करने और स्थिति करने में अपना पूरा जोर लगाऊंगा! अब तो गुरु का शरण, गुरु का शरण और गुरु का शरण ही है!!!

जब तक मुमुक्षु को आज तक प्रपंच के फेर में पड़े रहने का पश्चात्ताप नहीं होता, वैराग्य पूर्ण दर्जे पर नहीं आता, परब्रह्म को प्राप्त करलेने की तलावेली (चटपटी) नहीं लगती, पूर्ण त्याग से शुद्ध हो कर पूर्ण भाव से कार्य नहीं करता, तब तक ज्ञान मार्ग में आगे बढ़ नहीं सकता। इतनी योग्यता न होने के कारण और मंद वैराग्य से सद्गुरु की प्राप्ति होते हुये भी, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुये भी परब्रह्म और संसार को समझते हुये भी अडिग ब्रह्म निष्ठा में स्थिति को प्राप्त नहीं होता! जो प्रपंच का भाव रखते हुये परमपद को चाहते हैं, उन्हें कभी भी परमपद प्राप्त नहीं हो सकता! प्रपंच पर पूर्ण तिरस्कार होना चाहिये, आन्तर से प्रपंच का राग अवश्य निकल जाना चाहिये! प्रारब्ध वश जो कुछ प्राप्ताप्राप्त हो, उस में राग और उद्वेग वाला न होना चाहिये! यह अवश्य समझना चाहिये कि पक्की भूख लगे बिना ब्रह्म ज्ञान जैसा गरिष्ट पदार्थ हजम न हो कर अजीर्ण ही पैदा करेगा! प्रथम वैराग्य रूप औषधि से क्षुधा को जाग्रत करो तब ही ब्रह्मांड भर को हजम करके विजय प्राप्त कर सकोगे!

चर्पट पञ्जरिका ।

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः ।
संसारोऽयमतीव विचित्रः ॥
कस्यत्वं वा कुत आयात-
स्तत्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः ॥१५॥ भज०

अर्थः—तेरी स्त्री कौन है, तेरा पुत्र कौन है, यह संसार अत्यन्त विचित्र है, तू किस का है और कहां से आया है, हे भाई ! तू मन में इस तत्व का विचार कर । गोविन्द का भजन कर ।

भाषा पद्य ।

को तव पत्नी को तव सुत है ।
यह संसार महा अद्भुत है ॥
कँह से आया, है तू किस का ।
भाई तत्व विचारो इस का ॥

विवेचन ।

संसार की अत्यंत अद्भुतता का विचार करने से अपने आत्म स्वरूप का बोध होता है इस लिये संसार का और अपना विचार करने को कहा है । व्यवहार में देखते हैं तो स्त्री पुत्र से ही लोक में संसार माना जाता है । जिसके स्त्री पुत्रादि न हों, उसे संसारी नहीं मानते । संसार में-अज्ञान में अपने से दूसरे दर्जे पर लोक में स्त्री पुत्र ही प्रिय होते हैं इस लिये स्त्री पुत्र आदिक को ही संसार मानते हैं । इस बात के विचार करने को कहते हैं कि तेरी स्त्री कौन है? यदि तू कहे कि अमुक मेरी स्त्री है तो विचार कि तेरा यह सम्बन्ध कहां का है ? यह तेरी स्त्री कब हुई और कब तक रहेगी ? जब तू ने अथवा तेरे माता पिता ने अमुक की लड़की से तेरा संबंध किया तब से तू उसे अपनी स्त्री कहने लगा । तू देखता है कि ऐसे सम्बन्ध से की हुई-बनाई हुई स्त्री कभी दूसरे की भी हो जाती है, आज जो तेरी कहलाती है,कल दूसरे की कहलाने लगती है अथवा तू बना रहता है और तेरी मानी हुई स्त्री का नाश हो जाता है अथवा तू नहीं रहता और तेरी बनाई हुई बनी रहती है । तब निश्चय पूर्वक यह तेरी स्त्री कहां है ? तेरा माना हुआ स्त्री का सम्बन्ध सच्चा है या झूठा ? सच्चा तो कह नहीं सके क्योंकि हमेशा बना नहीं रहता, झूठा तू कह नहीं सक्ता क्योंकि तू उस से संस्कार का व्यवहार चलाता है, तब सिद्ध होता है कि माने हुये सम्बन्ध से ही वह तेरी स्त्री है क्योंकि यदि तू अशक्त हो जाय अथवा स्त्री वृद्ध हो जाय अथवा दोनों में से कोई अथवा दोनों व्यवहार के योग्य न रहें तब स्त्री का सम्बन्ध कहां रहता है ? और भी विचार कि जिसको तू ने स्त्री मान रक्खा है, उस में पूर्ण स्त्रीपना भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि जो तेरी स्त्री है, वह ही अपने माता पिता की लड़की है, पुत्र की माता है, सास शुशुर की बधू है, मामा की भानजी है, और ताऊ चाँचा की भतीजी है, प्रत्येक की दृष्टि और मानता के अनुसार प्रत्येक की है । तेरी मानता ही स्त्री में स्त्री रूप होकर प्रतीत होती है,ऐसी स्त्री और स्त्री का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है । तू अन्य भी अनेक स्त्रियां रख सक्ता है । जैसे इस स्त्री का भाव तुझमें मानने मात्र ही है इसी प्रकार स्त्री कर के समझी हुई गृहस्थी और संसार भी मानने मात्र झूठा ही है, न तो स्त्री को साथ ले कर आता है और न हमेशा साथ रख सकता है, न साथ ले जा-सक्ता है, मानने मात्र ही है, इस प्रकार पुत्रादि सब कुटुम्बियों को समझ । यदि कहे कि स्त्री से तो बाहर का सम्बन्ध है किन्तु पुत्र में तो शारीरिक-आंशिक सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक है परन्तु यह सम्बन्ध सच्चा नहीं है, प्रकट होने वाले जीव ने शरीर और अंश से तेरा सहारा लिया है, वह अंश तू अथवा तेरा नहीं है, अंश मानने से भी विशेषता ही क्या है ? तेरे मलिन तत्व के अंश से उसके शरीर की उत्पत्ति हुई है, देख ! तेरे ही अंश से—तेरे ही शरीर के अंश से दूसरे के अंश बिना जुयें आदि उस पुत्र से विशेष हैं, पुत्र के शरीर में तो स्त्री पुरुष दोनों का अंश होता है और जुयें में तो केवल तेरा ही अंश है । पुत्र पर तो विशेष प्रेम करता है और जुयें को फैंक देता है ।

अथवा मार डालता है ! इस से सिद्ध होता है कि स्त्री के समान पुत्र में पुत्रपना भी माना हुआ ही है। जो तू यह कहे कि जुआं तो काटने वाला-दुःख देने वाला है इसलिये अंश होते हुये भी मैं उसे अपना अंश नहीं मानता तो तेरा अंश पुत्रभी तो ऐसा ही है, तुझे काटता और दुःख देता ही है फिर भी तू अज्ञान से अन्ध हो कर पुत्र के मोह में फंसा रहता है। जिसे तू अपना पुत्र कहता है वह कितने वार तेरा पिता हुआ होगा, ऐसा तूने शास्त्र में सुना होगा। कर्म के अनुसार सम्बन्ध होना और टूट जाना हुआ करता है, कभी तू बड़ा, कभी वह बड़ा, कभी वह तुझ पर सवार और कभी इस पर तू सवार, यह सब संसार की विचित्रता ही है। संसार का कोई भी एक नियम निश्चत नहीं है क्योंकि संसार कल्पना रूप है। अज्ञान से कल्पना में दृष्ट हुआ स्थूल दृश्य है। जो आज तेरी स्त्री है, अन्य समय में वह ही तेरी माता और पुत्री है। इस प्रकार इस विचित्र संसार में कोई पक्का नियम नहीं है। इस एक जिन्दगी में भी देखते हैं कि नौकर मालिक हो जाता है और मालिक नौकर हो जाता है, पुत्र पिता का आज्ञाकारी होता है और पिता भी पुत्र का आज्ञाकारी होता है, पुत्र पिता का नौकर होता है और पिता पुत्र का नौकर होता है।

विचार करने से संसार का अर्थ इस प्रकार होता है:—सुख दुःख, हर्ष शोक, राग द्वेष, जन्म मरण आदि द्वन्द्वों को प्राप्त होने का नाम ही संसार है। अथवा मन का संसरना—चलना ही संसार है। संसार की विचित्रता किसी से जानी नहीं जाती, नाम रूपात्मक दृश्य जो संसार रूप है, उस की यह विचित्रता है कि सब पदार्थों की उत्पत्ति नाश हुआ करता है तो भी कब उत्पन्न होता है, कब विकार को प्राप्त होता है और कब नाश को प्राप्त होता है, यह जाना नहीं जाता। संसार की स्थिति निरन्तर और निश्चल देखने में नहीं आती। आकाश के रंगों के समान क्षण २ में उठ २ कर बैठ जाता है और फिर उत्पन्न होता है। इस का विचार करने से मन थक जाता है। ईश्वर के स्वरूप का पार हो तो इस संसार की विचित्रता का पार हो, ऐसा उस का गम्भीर स्वरूप है, जो कुछ हम कानसे सुनते हैं और आंख से देखते हैं, उस में सब प्रकार की विचित्रता संसार के अंगों में समा जाती है। जैसे गन्धर्व नगर के विचित्र दृश्य से अनेक प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न होती है ऐसे ही संसार के दृश्य से भी भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जो कुछ कहते, सुनते, देखते, समझते हैं, सब संसार में ही करते हैं, संसार से भिन्न नहीं कर सकते। जैसे व्यापक ईश्वर में सब का समन्वय होता है इसी प्रकार सब नाम रूपादि दृश्य का भी संसार में ही समन्वय होता है। विचार से दो प्रकार का संसार दीखता है, ईश्वरी प्रपंच—संसार और जीवकृत प्रपंच—संसार, जीव के प्रपंच से ही जन्म मरण आदि अनेक प्रकार का कष्ट प्राप्त होता है इसलिये जीव के लिये जीव का प्रपंच ही संसार है। अथवा जन्म मरणादि दो दो भाव जिस में हैं, वह ही संसार है। यदि दो भाव न हों तो संसार कहां है। जैसे आंख बन्द करने से कुछ भी नहीं है ऐसे ही जन्म मरण रूप द्वन्द्व बन्द हो जाने से संसार नहीं है परन्तु इस प्रकार के द्वन्द्व-द्वैत का मिटना, यह ही कठिन है क्योंकि सुख दुःख दोनों में से एक को ग्रहण करने से दूसरा उसके साथ आये बिना नहीं रहता, एक आया, एक गया, एक गया, दूसरा आया, इस प्रकार चक्र की निवृत्ति नहीं होती। संसारिक सुख को ग्रहण करते रहना और दुःख निवृत्ति का उपाय करना, यह धुयें को पकड़ने के समान है। ऐसे प्रयत्न से जीव के संसार की निवृत्ति नहीं हो सकी। ईश्वर सृष्टि दृश्य रूप और जीव सृष्टि भावाभाव रूप है। किसी २ का ऐसा कहना है कि जीव का संसार भी ईश्वर के संसार से भिन्न नहीं है, यदि जीव का संसार ईश्वर के संसार से भिन्न हो तो उसका होना ही संभव नहीं है क्यों कि अधिष्ठान के बिना अध्यस्त हो नहीं सकता। लकड़ी का ठूंठ खड़ा हो तब ही अंधेरे में यह भूत है ऐसा भास होता है, जो लकड़ी का ठूंठ न हो तो भास न हो, ऐसे ही ईश्वर संसार

का अधिष्ठान रूप है तब ही जीव का संसार है। ऐसा होते हुए भी ईश्वर की सृष्टि ईश्वर अथवा जीव किसी को दुःखदायी नहीं है, जीव का संसार ही जीव को दुःख का हेतु है। ईश्वर सृष्टि के सहारे जीव सृष्टि होते हुए भी ईश्वर सृष्टि दोष रहित और जीव सृष्टि दोष वाली है, यह कितनी विचित्रता है!

जिस प्रकार एक धागे में अनेक छोटे बड़े मणके पोये हुये हों इसी प्रकार विचार से देखते हैं तो इस संसार में छोटे से बड़े तक, तृण से लेकर ब्रह्मा तक एक ही वस्तु के नाम रूप और ममत्व भिन्न २ प्रकार के देखने में आते हैं। प्रारब्ध और अंतःकरण से ही संसार का होना मान लेने से ईश्वरी संसार को बीच में गिन नहीं सके। वासना के नाश से संसार का नाश हो जाता है और ईश्वरी संसार का नाश नहीं होता। जिस जीव की वासना निवृत्त होती है उसके संसार का ही नाश होता है इसलिए जीव को स्वस्वरूप का अबोध-अज्ञान—भ्रांति—वासना—व्यक्तिभाव-अहंभाव ही जीव का संसार है। श्री रामचन्द्र ने ऐसा कहा है:—"विषयों की रचना से वन के मृग के समान मोह युक्त हम देव आदि के हाथ बिक चुके हों, ऐसे हो रहे हैं। नीच काम करने वाला और अपना ही पेट भरने में कुशल काल नाम का धूर्त जगत् में सब लोगों को हमेशा आपत्ति के समुद्र में पटका करता है। जैसे अग्नि उष्ण प्रकाश वाली लौ से भीतर और बाहर जलाता है ऐसे ही काल भी उग्र चेष्टा से लोगों को दुष्ट आशा से भीतर और बाहर जलाया करता है। इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति रूप नीति जो काल की स्त्री है, वह स्त्री होने से चंचल स्वभाव वाली है और जितेन्द्रिय पुरुषों को भ्रमाने वाली है। वह धीरज को रहने नहीं देती। कठोर कार्य करने वाला काल युवा शरीर को वृद्ध बना देता है। जैसे सर्प वायु को खाता है वैसे ही काल प्राणियों को खाता है। यमराज दया रहित पुरुष के समान दंड देने वालों में शिरोमणि है। वह किसी पर दया नहीं करता। सब प्राणियों पर उदारता से बर्तने वाला मनुष्य दुर्लभ है। प्राणियों की सब जाति तुच्छ शक्ति वाली हैं, विषयों के स्थान भयंकर हैं, आयुष्य अत्यंत चंचल है, मृत्यु बहुत क्रूर है, युवावस्था अति वेग से चली जाती है, बाल्यावस्था मोह में व्यतीत होती है। लोग विषयों की चिंता से घिरे हुये हैं। संसार के संबंधी बंधन रूप हैं। भोग संसार में रोग के समान हैं, तृष्णा मरुजल के समान है। इन्द्रियां शत्रुता करती हैं, परमार्थ नहीं के समान हो गया है। जिस का मन ही शत्रु है, ऐसा आत्मा मन के अभिमान से मन रूप होकर आप ही अपने को दुखी करता है, अहंकार स्वस्वरूप को दुखी करता है, बुद्धि स्वरूप की निष्ठा रूप दृढता से रहित है, क्रियायें दुष्ट फल को दिया करती हैं, मन की दौड स्त्रियों की तरफ ही हुआ करती है, विषयों की इच्छायें हुआ करती हैं। आत्मा का प्रकाश जानने में नहीं आता, स्त्री दीप की लौ के समान है। शास्त्र पर प्रेम नहीं रहा, सत् को असत् समझते हैं, चित्त अहंकार में लगा हुआ है, पदार्थ विनाशी और परिणाम वाले हैं, आत्म स्वरूप जानने में नहीं आता, व्याकुलता को प्राप्त हुई बुद्धि तपा करती है, विषयों के ऊपर राग रूप रोग बढता रहता है, वैराग्य प्राप्त नहीं होता, सद् विचार रजोगुण से मारा गया है, मोह बढ़ता जाता है, सत्य वस्तु अत्यंत दूर हो रही है, जीवन अस्थिर है, मृत्यु सामने खड़ा है, बुद्धि मंद और मलिन हो गई है, शरीर का अवश्य नाश होने वाला है, देह में जरावस्था जबरन घुसी जाती है, पाप कर्म में चित्त लगा रहता है, सज्जनों का समागम नहीं होता, किसी लोक का सुख भी अधिचल देखने में नहीं आता, परमानंद प्राप्त नहीं होता, भीतर ही भीतर मन घबराया करता है, दूसरे का भला होता हुआ देख कर खुशी होना तो दूर रहा, निर्मल करुणा उदय नहीं होती, नीचता समीप चली आती है, धीरज चला जा रहा है, दुर्जनों का समागम हुआ करता है, सब पदार्थ जाने आने वाले हैं, वासना संसार में बांधती है, सच्चा उपदेश देखने में नहीं आता, सच्ची बातों का स्थान ही

नहीं है, पर्वत भी टूट जाता है, आकाश का भी लय होता है, भुवनों का नाश हो जाता है, पृथिवी का जल में लय होता है, समुद्र सुख जाते हैं, तारे टूटते हैं, सिद्ध लोगों का भी नाश होता है, दानव नष्ट हो जाते हैं, ध्रुव का जीवन भी अध्रुव है, देवता भी मारे जाते हैं, इन्द्र भी काल के मुख का ग्रास बन जाता है, यम काल के झपेटे में आ जाता है, वायु सत्ता रहित हो जाता है, चन्द्र शून्य हो जाता है, सूर्य भी खंडित हो जाता है, अग्नि का अभाव होता है, ब्रह्मा भी समाप्त होता है, अजन्मा ऐसा विष्णु भी हरा जाता है, रुद्र की रौद्रता नहीं रहती, काल का भी लय होता है, फूल की आब चली जाती है, अनन्त ऐसा आकाश भी क्षय को प्राप्त होता है, जिस का स्थूल रूप जानने में नहीं आता, और सूक्ष्म रूप भी सुन कर, बोल कर कोई जान नहीं सक्ता, ऐसा कोई पुरुष अपने स्वरूप में ही माया से ब्रह्मांड को दिखाता है, अभिमान के अंश को प्राप्त होकर रहे हुये सब भूतों के भीतर रहने वाले इस पुरुष से जो बाध को प्राप्त नहीं होता हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। रथ में बैठे हुये पुरुष से प्रेरित हो कर जैसे रथ चलता है इसी तरह यह पुरुष ही सूर्य को शिला, पर्वत, शिखरादिक प्रदेशों में, जंगल के गोल पत्थर के समान हमेशा, लुढ़काया करता है। जिस में देव और दैत्यों का समूह रहा हुआ है, ऐसे भूगोल को उस पुरुष ने ही पके हुये अखरोट के छिलके के समान ज्योतिष चक्र से चारों तरफ से लपेट लिया है। स्वर्ग में कल्पित देवताओं को, पृथिवी में कल्पित मनुष्यों को और पाताल में कल्पित सर्पों को यह पुरुष एक संकल्प से ही जर्जरित कर देता है।"

इस प्रकार संसार की दुर्दशा पर विचार करने से और उस की उत्पत्ति स्थिति का विचार करने से संसार की विचित्रता प्रत्यक्ष जानने में आती है, मोह को प्राप्त हुये लोग जान नहीं सके कि संसार अमृतमय है या विषमय है, बहुत से बुद्धिमान् मनुष्य भी निश्चय से कह नहीं सके कि यह संसार सच्चा है या झूठा! स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति, उन के शरीरों की रचना, उन का भिन्न २ स्वभाव, उपयोग, वृद्धि आदिक देखकर विचारते हैं तो पैर २ पर विचित्रता मालूम होती है। जहां जल है, वहां स्थल हो जाता है, जहां स्थल है वहां जल हो जाता है। तेज और वायु के परस्पर योग से अथवा अन्य तत्वों के परस्पर मिलने से भारी रसायन का प्रयोग जल पृथिवी और आकाश में हुआ करता है। जिस स्थान पर जो न चाहिये वह होता है और जहां चाहिये वहां नहीं होता। कहीं २ पहाड़, पानी, वनस्पति, ग्रह आदि की व्यवस्था ठीक ठीक हो रही हो, ऐसा दीखता है। आदि स्वरूप को लेकर सब पदार्थों का वर्णन किया जाय तो आयुष्य पूर्ण होने पर पूर्ण वर्णन न हो सके। खसखस के समान वट वृक्ष के बीज में से हजारों मनुष्य विश्रांति ले सकें इतना बड़ा वट का वृक्ष हो जाता है। इसी प्रकार स्थावर जंगम की उत्पत्ति आदि अद्‌भुत रीति से हुआ करती है, जो मन और बुद्धि की कल्पना से बाहर है।

एक समय एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से कुछ बात चीत कर रहा था। तीसरा मनुष्य उनकी बातें सुन रहा था। प्रथम मनुष्य ने दूसरे मनुष्य से कहा "मित्र! तू अपने मन से ही बुद्धिमान् बनता है परन्तु तुझे अपना होश भी तो है नहीं, बोल, तू कौन है? कहां से आया है? तेरा लौकिक उत्तर यहां नहीं चल सक्ता! बुद्धिशाली वह ही पुरुष हो सक्ता है, जो सूक्ष्म विचार पूर्वक अपने और अपने आने का निश्चय कर लेता है। 'मैं अमुक नाम वाला हूं, मैं अमुक स्थान से आया हूं' यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है!" दूसरे मनुष्य ने उलट सुलट कर इस प्रश्न के कई उत्तर दिये परन्तु प्रथम मनुष्य ने उन सब उत्तरों को प्रमाण पूर्वक झूठा सिद्ध कर दिया। तीसरा मनुष्य जो किसी जरूरी कार्य के लिये जा रहा था, इस स्थान पर अधिक न टिक सका, मार्ग चलते हुये वह इन दोनों प्रश्नों को अपने आप से पूछता जाता था और जैसा सूझता था वैसा उत्तर भी देता जाता था परन्तु उन उत्तरों से उस का समाधान नहीं होता था।

एक उत्तर को मिथ्या कह कर वह दूसरा उत्तर देता था, फिर उसे भी मिथ्या मान कर तीसरा उत्तर देता था, इस प्रकार वह घंटे भर चलते २ प्रश्नोत्तर करने पर भी कुछ निर्णय न कर सका। तब उसने निश्चय किया कि अमुक महात्मा निपुण हैं, उनके पास जाकर मैं इन प्रश्नों का सच्चा उत्तर प्राप्त करूंगा। दो दिन तक वह सन्त के पास जाने न पाया! उसके चित्त में प्रश्नों ने खलबली मचा रक्खी थी, तीसरे दिन वह दोपहर पीछे सन्त के पास पहुंचा, प्रणाम करके बैठ गया और नम्रता पूर्वक बोला "महाराज! मेरी एक प्रार्थना है, मुझे आप से पूछने में लज्जा लगती है, परन्तु शंका रूप सर्प से डसा हुआ मैं आप से पूछे बिना नहीं रह सका। तीन दिन हुये मैं ने एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से पूछते हुये सुना था कि तू कौन है और कहां से आया है। उसने कई उत्तर दिये परन्तु प्रश्न करने वाले ने सब को काट दिया। मैं भी अपने दिल में 'मैं कौन हूं, कहां से आया हूं' इस बारे में बहुत प्रश्नोत्तर कर चुका हूं परन्तु मेरा समाधान नहीं हुआ, मैं आप से पूछता हूं कि मैं कौन हूं, और कहां से आया हूं" सन्त हँसते हुये बोले "प्रश्न खूब लाया है, तू कौन है और कहां से आया है, इसकी तुझे खबर हो या मुझे? जगत् में तू बहुत स्याना बनता है, जगत् का सब व्यवहार करता है, वह सब करते हुये तुझे खबर नहीं है कि तू कौन है? बड़ा आश्चर्य है! अपना तो पता नहीं, खबर ही नहीं और संसार का सब व्यवहार तो करता ही है!" मनुष्य बोला "महाराज! आप का कहना सत्य है, व्यवहारिक नाम ठाम, शरीर का आना जाना, यह सब जानता हूं, जब बारीकी से विचार करता हूं, तो उन में से किसी में भी 'मैं' होना सिद्ध नहीं होता! मेरी बुद्धि जगत् भर का विचार कर डालती है परन्तु 'मैं कौन हूं' इस विचार में कुंठित हो जाती है इसी लिये मैं आप से पूछने आया हूं, जो मैं ऐसा कहूं कि रामचन्द्र हूं तो मुझमें रामचन्द्रपना सिद्ध नहीं होता क्योंकि रामचन्द्र शरीर का नाम है, जो मैं कहूं, कि यह शरीर ही मैं हूं तो भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि शरीर को तो मैं अपना कहता हूं, इसी प्रकार इंद्रिय मैं हूं, प्राण मैं हूं, मन मैं हूं, बुद्धि मैं हूं, इत्यादि जिस २ में मैंपना सिद्ध करने जाता हूं, किसी में मैंपना सिद्ध नहीं होता। बड़ा आश्चर्य है कि मैं अपने को नहीं जानता! इसी प्रकार यह भी सिद्ध नहीं होता कि मैं कहां से आया हूं। शरीर माता पिता का अंश है, माता पिता, के सम्बन्ध से शरीर की उत्पत्ति है, न कि मेरी, तब मेरा आना कहां से हुआ? 'मैं कौन हूं' यह सिद्ध हो तो मेरा आना भी सिद्ध हो। सब प्रकार से विचारते हुये जब कुछ नहीं सूझता तब यह भी विचार होता है कि मैं होऊंगा ही नहीं, होता तो मालूम हो जाता, मेरी बुद्धि इस बात को भी स्वीकार नहीं करती क्योंकि मैं स्वयं तो कह ही रहा हूं, फिर मैं नहीं हूं, ऐसा कहना कैसे बन सका है? इस शंका ने मुझे दीन किया है, बड़ा अन्धेर है कि मैं सब का जानने वाला हूं परन्तु अपने को नहीं जानता, यह क्या आश्चर्य है? क्या मैं ही इस प्रकार नहीं जानता या सब का यह ही हाल है। क्या यह सब संसार अन्धेरे में ही एक दूसरे से ठोकरें खाया करता है? सब व्यवहार की क्रिया और शास्त्र की क्रिया की सिद्धि करने वाला मैं कौन हूं? आप मुझ पर दया कीजिये!"

सन्त ने कहा "भाविक! तू बुद्धि वाला है, इसमें संदेह नहीं है परन्तु तेरी बुद्धि भोथरी है, मुझे मेरी खबर है, तेरी तू जाने, इतना ही तेरे प्रश्न का उत्तर है परंतु जब तू प्रार्थना करता है तो कहे बिना चल नहीं सकता, कहना ही पड़ता है, तेरा यह प्रश्न बड़े महत्व का है, यदि तुझे संसार और संसार के भोग—ऐश्वर्य की लालसा बनी हो तो मुझ से मत पूछ क्योंकि इस प्रश्न के उत्तर के साथ तेरी मानी हुई संसार की रमणीकता चली जायगी! संसार की रमणीकता भोगों की विशेष इच्छा, तब तक ही टिकती है जब तक यह जाना नहीं जाता कि मैं कौन हूं, जादू के रुपये पर तब तक ही प्रेम रहता है जब तक यह जाना नहीं जाता कि यह झूठा है, जादू का है। बोल! क्या तू जगत् से दुखी हुआ है? क्या जगत् के भोग हमेशा

के लिये तुझे अप्रिय हुये हैं?" मनुष्य ने हाथ जोड़ कर कहा "महाराज! आप जिस प्रकार जगत् के प्रेम को छूट जाने को कहते हो ऐसा जगत् की तरफ से मेरा प्रेम छूटा नहीं है तो भी मुझे निश्चय है कि जगत् विचित्र है और दुःख दायक है। यदि ऐसे जगत् की प्रियता टूट जाय तो हानि ही क्या है? कुछ भी हो, मैं सब सहन कर लूंगा, मुझे अपना पता लगना चाहिये!" संतने कहा "तब सावधान हो कर सुन और इस प्रश्नोत्तर को हृदय में धारण करके संसार समुद्र से पार होजा! यह सब संसार अज्ञान का कार्य है, तूने अज्ञान के साथ अपनी एकता कर रक्खी है इसलिये अज्ञान ही तेरा स्वरूप हो रहा है। अज्ञान अज्ञान के पदार्थों को ही जानने को समर्थ होता है। तेरा वास्तविक स्वरूप ज्ञान स्वरूप है। अज्ञान से युक्त हुआ तू अपनी अज्ञान युक्त बुद्धि से उस ज्ञान स्वरूप को किस प्रकार जाने? बुद्धि उसे जानने को असमर्थ है, सब संसार अज्ञान का है और अज्ञान से भरा हुआ है। इस सब प्रतीति का अधिष्ठान तेरा मेरा और ब्रह्मांड भर का वास्तविक स्वरूप परब्रह्म है। मैं, तू और वह आदिक जितना व्यक्तत्व तुझे दृष्टिगोचर हो रहा है, सब माया का है, सब का वास्तविक आत्म स्वरूप व्यापक है, विकार से रहित है, मेरा तेरा आदिक से रहित है, आने जाने से रहित है, ऐसा होते हुये भी माया के प्रभाव से उलट गया है, उलटा प्रतीत होता है, तू अजर अमर और व्यापक है। तूने अपने को एक छोटे से शरीर में जो मान रक्खा है, ऐसा तू नहीं है। तू एक आत्म रूप से सब शरीरों में विराजमान है। एक शरीर तू नहीं है, एक शरीर तेरा नहीं है, तू सब शरीरों का प्रकाशक है, सब शरीर तेरी सत्ता से ही प्रकाशित होते हैं। एक शरीर की हद में वृत्ति रोक रखने से व्यक्तित्व की प्रतीति होती है। इस सब माया के कार्य—माया के परदे में से तू अपने स्वरूप का जानना चाहे तो किस प्रकार जाना जाय? तेरा जन्म मरण नहीं है, शरीर नहीं है, कर्म, धर्म, और अल्पज्ञतादि गुण भी तुझ में नहीं है, इस प्रकार का साक्षी जो श्रुति आदि से परब्रह्म स्वरूप है, वह ही वास्तविक तू है। मैं और तू शब्दों का भी मैं तेरे समझाने के निमित्त उपयोग करता हूं। अनिर्वचनीय माया के फंदे में फंसा हुआ प्रत्येक प्राणी अज्ञान से अपने व्यक्तित्व के निश्चय में टिक कर और बन्धन में पड़ कर सुखी दुखी होता है। तेरा स्वरूप मन बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं है इस लिये मन बुद्धि और इन्द्रियां उसको जान नहीं सकीं। जब तू माया के दबाव से हटे तब आत्म भाव वाली बुद्धि से ही कुछ जान सका है। तेरे प्रश्न का उत्तर यह है कि तू सच्चिदानंद स्वरूप, अनंत, अविकारी, अक्रिय, सब से परम, सत्य और व्यापक है। तू सब स्थानों में परिपूर्ण है। इसलिये कहीं से आ नहीं सका और न कहीं जा सका है। अज्ञान ही आता जाता रहता है। अज्ञान ने तुझे दीन किया है। अज्ञान के परदे को छोड़ कर अपने स्वरूप में अपने भाव को स्थिर कर, अब भी तुझ में विकार नहीं है, तू अपने को माया में मानता है इसलिये माया के सब विकार तुझे अपने में प्रतीत होते हैं। माया में भी विकार नहीं है, माया में तेरी दृष्टि माया के विकारों की उत्पत्ति का कारण है। जैसे घोड़ा अपने सब रूओं को झाड़ कर स्वस्थ होता है इसी प्रकार माया की धूल को झाड़ कर अपनी स्वरूप निष्ठा में आ। केवल तू ही नहीं, जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता, कोई भी अपने स्वरूप को जान नहीं सकता और अनादि अज्ञान और अज्ञान के किये हुये कष्टों से निवृत्त नहीं हो सकता। जो तुझे अपने को जानने की इच्छा हो तो अपने स्वरूप का वारम्बार चिंतवन कर, 'तू कौन है और कहां से आया है' इस प्रश्न का उत्तर तुझको संसार रूप समुद्र में से पार करने के लिये नौका रूप होगा। वह वारम्बार विचार, सत्संग कर और सत् शास्त्रों का पठन करके अपने निश्चय को दृढ़ कर।"

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका ।

(गताङ्क से आगे ।)

इसलिये जो प्रसिद्ध रीति से विभक्त है, वह कभी एकत्र न हो सके इसलिये जब प्रसिद्ध ऐसे भोक्ता तथा भोग्य के विभाग का अभाव है तब ऐसा मानना योग्य नहीं है कि ब्रह्म सब का कारण रूप है।

सिद्धान्तीः—तेरी इस प्रकार की शंका का मैं निवारण करता हूं, उस को सुनः— लौकिक रीति से जिस प्रकार विकार की स्थिति है उसी प्रकार यहां पर भी है। जैसे समुद्र के जल के विकार रूप फेन, छोटी बड़ी लहरें और बुद्बुदे आदि अनेक होते हैं। ये सब समुद्र के जल से यद्यपि भिन्न नहीं होते तो भी एक दूसरे से भिन्न हैं और ऐसे ही एक दूसरे का एकत्र होना रूप व्यवहार भी देखने में आता है। जैसे समुद्र के विकार रूप फेन, तरंग आदि भिन्न रूप न होने पर भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं परंतु जब वे विकार अभिन्न स्वरूप होते हैं तब भी समुद्र से भिन्न नहीं होते इसी प्रकार भोक्ता तथा भोग्य एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं और परब्रह्म से भी भिन्न नहीं हैं। भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तैत्ति० २।६] (उस को उत्पन्न करके उस में ही अनुप्रवेश किया) इस प्रकार विकार को न प्राप्त हुये स्रष्टा के कार्य रूप से भोक्ता में प्रवेश है। जैसे आकाश का विभाग घटादि उपाधि को लेकर है ऐसे ही उपाधि को लेकर प्रवेश हुये ब्रह्म का कार्य स्वरूप से विभाग है इस लिये परम कारण रूप ब्रह्म का भोक्ता तथा भोग्य लक्षण वाला विभाग एकता को प्राप्त होता है। जैसे समुद्र के तरंग पीछे जल मात्र में एक रूप हो जाते हैं ऐसे ही विकार ब्रह्म में एक रूप हो जाते हैं ॥१३॥

(६) आरंभणाधिकरण।

तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः ॥१४॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ :—आरम्भण शब्दादिभ्यः आरम्भण शब्द आदि से तदनन्यत्वम् उनका (कार्य कारण का) अनन्यपना [है]।

टीका :—व्यवहारिक रीति से भोक्ता और भोग्य के लक्षण रूप विभाग को स्वीकार करके लौकिक दृष्टांत से उसका परिहार किया परन्तु यह विभाग परमार्थ रूप नहीं है क्योंकि कारण और कार्य की अभिन्नता मानी गई है। आकाशादि अत्यंत विस्तार वाला जगत् कार्य रूप है और परब्रह्म कारण स्वरूप है। परमार्थ स्वरूप कारण से कार्य का अभिन्नपनां है। कारण के बिना कार्य का अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि श्रुति में विकार को वाणी का आरम्भण रूप कहा है और यह भी कहा है कि एक यानी कारण का ज्ञान होने से सर्व यानी कार्य का ज्ञान होता है। इसमें यह दृष्टांत भी दिया है:—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छान्दो० ६।१।४] (हे सोम्य! जैसे एक मिट्टी के डेले से मिटी के सब विकार जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी के सहारे और नाम मात्र है, मिटी ही सच्ची है) मतलब यह है कि एक मिट्टी का ढेला परमार्थ स्वरूप से मिट्टी रूप है, इस प्रकार का ज्ञान होने से घट, सकोरा, गोल आदि मिट्टी के विकार रूप हैं और मिट्टी से अभिन्न रूप हैं, ऐसा जानने में आ जाता है क्योंकि वे वाणी के सहारे से हैं यानी अमुक वस्तु है, इस प्रकार वाणी से कहने में आता है इसलिये वे नाम मात्र हैं। घट सकोरा गोल आदि होते हुये भी परमार्थ स्वरूप से कोई विकार नहीं होता, केवल नाम मात्र होने से विकार मिथ्या है, सत्य रूप से तो मिट्टी ही है, श्रुति में ब्रह्म के सम्बन्ध में भी यह ही दृष्टान्त लिया है, जैसे श्रुति में वाचारम्भण दृष्टांत दिया है इसी प्रकार उसके दार्ष्टांतिक में भी ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म के कार्य समूह का अभाव है, ऐसा जाना जाता है। जहां तेज, जल और अन्न को ब्रह्म का कार्य कहा है, वहां कहा है कि कार्य रूप तेज, जल तथा अन्न की कारण रूप तेज जल तथा अन्न से भिन्न स्थिति नहीं होती। कहा है:—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' [छान्दो० ६।४।१]

(अग्नि में से अग्निपना गया क्योंकि वह वाणी से ही आरम्भ होता है, विकार नाम मात्र है, तीनों रूप ही सत्य हैं) आरंभण शब्द के साथ जो आदि शब्द है, उससे नीचे कहे अनुसार अर्थ जानना चाहिये :—'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' [छान्दो० ६।८।७] (यह सब यह आत्म स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृह० २।४।६] (यह सब जो कुछ है, वह आत्मा रूप है) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृह २।२।११] (यह सब ब्रह्म ही है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' [छान्दो० ७।२५।२] (यह सब आत्मा ही है) 'नेह नानास्ति किञ्चन' [बृह० ४।४।१६] (यहां कुछ भिन्न नहीं है) इत्यादि आत्मा की एकता प्रतिपादन करने वाले अनेक वचन श्रुति में हैं। यदि ऐसा न हो तो एक का ज्ञान होने से सब का ज्ञान होना बन न सके। इस लिये जैसे घट सकोरे आदि के आकाश की महाकाश के साथ एकता है, जैसे मृग तृष्णा का जल रेतीली जमीन से भिन्न नहीं है, क्यों कि उन का स्वरूप देखने में आता है और पीछे नाश हो जाता है। जैसे उनके स्वरूप का निरूपण नहीं हो सका इसी प्रकार जानना चाहिये कि भोक्ता तथा भोग्य आदि प्रपंच का ब्रह्म से भिन्न अभाव है क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप अनेक रूप वाला है। जिस प्रकार वृक्ष अनेक शाखाओं से युक्त है इसी प्रकार ब्रह्म भी अनेक शक्ति वाला कहलाता है। जिस प्रकार ब्रह्म एक रूप वाला है इसी प्रकार अनेक रूप वाला है, एक रूप और अनेक रूप दोनों प्रकार से ठीक ही है। जैसे वृक्ष एक है तो भी शाखाओं रूप से अनेक है, जैसे समुद्र एक है तो भी फेन तरंग आदि रूप से अनेक है, जैसे मिट्टी एक है तो भी घट सकोरे आदि रूप से अनेक है इस प्रकार सर्व एक रूप है, ऐसे ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है और अनेक अंश रूप मानने से कर्म काण्ड के आश्रय वाले लौकिक तथा वैदिक व्यवहार की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मिट्टी आदि का दृष्टान्त युक्त है।

शंका—जैसे आप कहते हो वैसा बन नहीं सकता क्योंकि 'मृत्तिकेत्येवसत्यम्' इस दृष्टान्त में ऐसा कहा है कि प्रकृतिमात्र ही सत्य स्वरूप वाली है और वाचारंभण शब्द से ऐसा कहा है कि विकार समूह मिथ्या है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में भी 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यम्' इस प्रकार परम कारण स्वरूप एक को ही सत्य रूप माना है और कहा है कि 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' (हे श्वेतकेतु! वह आत्मा रूप है, वह तू है) इस प्रकार जीव को ब्रह्म स्वरूप कहा है। इस प्रकार प्रसिद्ध रीति से ब्रह्मवाचक स्वरूप से जीव का उपदेश किया है क्योंकि अन्य यत्न करने से जीव भाव ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं होता इस लिये जैसे रज्जु आदि की बुद्धि प्राप्त होने से सर्पादि की बुद्धि का नाश हो जाता है इसी प्रकार शास्त्रीय रीति से ब्रह्मात्मभाव के ज्ञान हो जाने के बाद स्वाभाविक यानी ब्रह्म से भिन्न जीव भाव का नाश हो जाता है और जीव भाव का नाश होने से जीव भाव के आश्रय रहे हुये सम्पूर्ण स्वाभाविक व्यवहार का भी नाश हो जाता है इस प्रकार की प्रसिद्धि के बल से ब्रह्म से भिन्न अनेक प्रकार के अंशों की कल्पना की है। श्रुति में कहा है कि 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' [बृह० ४।५।१५] (जहां इस को सब आत्मा ही हो जाता है, वहां किस से किस को देखे) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म साक्षात्कार होने के बाद क्रिया, कारक तथा फल लक्षण वाले सर्व व्यवहार का अभाव दिखलाया है इस प्रकार के व्यवहार का अभाव किसी भिन्न अवस्था को लेकर कहा हो, ऐसा नहीं है क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति से ब्रह्मात्म भाव का निरूपण किसी विशेष अवस्था रूप से नहीं हो सकता। छान्दोग्य में चोर का दृष्टांत दिया है और उस में कहा है कि असत्य के मानने वाले को बन्धन होता है और सत्य के मानने वाले को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस ही प्रकार से पारमार्थिक स्वरूप की एकता प्रतिपादन की है। मिथ्या ज्ञान के कारण से भिन्नता देखने में आती है। यदि ऐक्यता और भिन्नता दोनों सत्य रूप हों तो यह किस प्रकार कह सकते हैं कि व्यवहार के विषय वाला प्राणी मिथ्या वस्तु का मानने वाला है। श्रुति में कहा है कि 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव

पश्यति' [बृह० ४।४।१९] (जो यहां अनेक भावों को देखता है, वह एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु को प्राप्त होता है) यह श्रुति ऐसा दिखलाती है कि ब्रह्म में भेद दृष्टि त्यागनी चाहिये। इस श्रुति में ऐसा नहीं कहा कि ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है क्योंकि सम्यक् ज्ञान की निवृत्ति करने वाले मिथ्या ज्ञान को संसार का कारण रूप कहा है। यदि दोनों प्रकार के ज्ञान सत्य हों तो एकपने के ज्ञान से विविध ज्ञान का जो निषेध किया है वह ठीक न हो और ऐक्यता को स्वीकार करने से विविधता का अभाव हो जाय, ऐसा होने से प्रत्यक्ष स्वरूप से होते हुये लौकिक प्रमाणों की निवृत्ति हो जायगी क्योंकि लौकिक प्रमाणों का विषय रहेगा नहीं। जैसे कि स्थाणु आदि में पुरुष आदि का ज्ञान मिथ्या है, इस प्रकार के लौकिक प्रमाण मिथ्या हो जायगे। उसी प्रकार विधि निषेध वाले शास्त्र भी भेद वाले होने से भेद का अभाव हो जाने से मिथ्या हो जायगे। और अभेद भाव मानने से मोक्ष शास्त्र भी अप्रमाण रूप हो जायगा क्योंकि उसमें गुरु शिष्य आदि भेद भाव रहा हुआ है। तब मिथ्या ऐसे मोक्ष शास्त्र से प्रतिपादन करने में आई हुई आत्मैक्यता का सत्यपना किस प्रकार हो सकेगा?

समाधानः—यह तेरी शंका ठीक नहीं है। जिस प्रकार जाग्रतावस्था के पूर्व में स्वप्न का सब व्यवहार सत्यरूप भासता है इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के पूर्व में ही सब व्यवहार सत्य रूप प्रतीत होता है। जब तक सत्यस्वरूप आत्मा की ऐक्यता का प्रतिपादन करने में नहीं आता तब तक प्रमाण तथा प्रमेय के फल लक्षण वाले विकारों में किसी को भी मिथ्या बुद्धि नहीं होती। स्वाभाविक रीति से सब प्राणी ब्रह्मात्मा का त्याग करके 'यह मैं हूं' और 'यह मेरा है' इस प्रकार के अविद्या वाचक भाव से विकार को प्राप्त होते हैं। इसलिये ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति होने से पहिले समस्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहार युक्त है। जिस प्रकार सोता हुआ प्राकृत पुरुष स्वप्न में अपने को उच्च अथवा अधम भाव को प्राप्त हुआ देखता है और जाग्रतावस्था होने तक उसका ही ज्ञान उसे प्रत्यक्ष स्वरूप तथा निश्चित रूप प्रतीत होता है। इस स्वप्न के समय में प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से देखने में आया हुआ सब व्यवहार उसको आभास रूप प्रतीत नहीं होता किन्तु सत्य रूप ही भासता है।

शंकाः—किंतु असत्य वेदान्त वाक्य से सत्य ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? रज्जु रूपी सर्प से काटा हुआ मनुष्य मरण को नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार मृग तृष्णा के जल से स्नान पानादि कार्य सिद्ध नहीं होता। और आप ऐसा कहते हो कि यह दोष नहीं है। शंकायुक्त विष आदि से मरण आदि कार्य की प्राप्ति होती है और स्वप्न दर्शन की अवस्था वाले को सर्प का काटना तथा जल का स्नान आदि कार्य देखने में आता है।

समाधानः—इसके संबन्ध में मैं जो कहता हूं, उसको सुनः—यद्यपि स्वप्नावस्था वाले पुरुष को सर्प का काटना तथा जल का स्नान आदि कार्य मिथ्या रूप है तो भी सोते हुये पुरुष का वृत्ति ज्ञान सत्य फल रूप है क्योंकि जाग्रतावस्था प्राप्त होने पर भी उसका बाध नहीं होता। स्वप्न में से उठा हुआ पुरुष सर्प के काटने और जल के स्नानादि को मिथ्या मानता है तो भी स्वरूप चैतन्य यानी वृत्ति ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इस प्रकार स्वप्न दृष्टा के वृत्ति ज्ञान का नाश न होने से ऐसा समझना चाहिये कि देहात्मवाद दोषयुक्त है। श्रुति में कहा है—'यदाकर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्न निदर्शने' [छान्दो० ५।२।९] (जब काम्य कर्म करने के प्रसंग में कोई स्वप्न में स्त्री को देखे तो उसे समझ लेना चाहिये कि मेरी क्रिया फल देने वाली हुई है) इस प्रकार स्वप्न में असत्य वस्तु के देखने से सत्य वस्तु की प्राप्ति का निरूपण किया है। इसी प्रकार स्वप्न में देखी हुई कई वस्तुयें प्रत्यक्ष रूप से अनिष्ट हो जाती हैं, जैसे स्वप्न में जो कोई काले दांत वाले पुरुष को देखता है, उसका नाश हो जाता है यानी बहुत दिनों तक नहीं जीता, ऐसा कहा है।

इस प्रकार अमुक स्वप्न के दर्शन से इष्ट होता है, और अमुक से अनिष्ट होता है, ऐसा कहा है। इस प्रकार मनुष्य के संबंध में कुशलता अथवा अकुशलता का सूचन किया है। इसी प्रकार रेखा रूप मिथ्या अक्षर के देखने से अकारादि सत्य अक्षर की प्राप्ति होती है। इस सब का अंतिम सारांश यह है कि आत्मा की एकता का जो प्रतिपादन है, वह ही प्रमाण रूप है। इसके सिवाय अन्य कोई प्रमाण रूप नहीं है। जैसे कि लोक व्यवहार में कोई ऐसा कहे कि पूजन करना चाहिये तो उस में इस प्रकार की शंका रहती है कि किसका किससे पूजन करना चाहिये, परंतु 'तत्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' (वह तू है, मैं ब्रह्म हूं, ऐसा कहने से अन्य किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं रहती क्योंकि चैतन्य स्वरूप सर्वात्मकपने का विषय रूप है। किसी अविशेष रहे हुये विषय में आकांक्षा हो सक्ती है। आत्मा से भिन्न अन्य कोई भी शेष नहीं है इसलिये आत्मा के संबंध में कोई विषय नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा की जाय, इसी प्रकार ऐसा कहना भी योग्य नहीं है कि ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव है क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तद्धास्य विजिज्ञौ' [छान्दो० ६।१६।३] (तू भी ब्रह्म रूप है, इस प्रकार के पिता के उपदेश से श्वेतकेतु को ब्रह्म ज्ञान हुआ) और श्रवणादि ज्ञान के साधन रूप हैं, इसलिये वेद का अध्ययन करना चाहिये, ऐसा विधान है। ऐसा कोई नहीं कह सक्ता कि यह ज्ञान अनर्थकारी अथवा भ्रांति रूप है क्योंकि ज्ञान का फल यह है कि अविद्या का नाश होता है क्योंकि आत्मज्ञान के बाध करने वाले सर्व ज्ञान का अभाव बतलाया है। आत्म साक्षात्कार होने से पूर्व सत्य तथा मिथ्या रूप व्यवहार का और ऐसे ही लौकिक तथा वैदिक व्यवहार का नाश नहीं होता, अंतिम प्रमाण द्वारा आत्मा की एकता का प्रतिपादन होता है और ऐसा होने से पूर्व के सब भेद व्यवहार का नाश हो जाता है और व्यवहार का नाश होने से एक आत्मा में अनेक आत्मा स्वरूप ब्रह्म की कल्पना करने का अवकाश ही नहीं रहता।

शंका:—जैसे मृत्तिका आदि के दृष्टांत में मृत्तिका परिणामी रूप है इसी प्रकार ब्रह्म भी सर्व व्यवहार का परिणाम रूप है, ऐसा शास्त्र का मानना होना चाहिये क्योंकि घट सकोरे आदि के परिणाम रूप मृत्तिका आदि पदार्थ देखने में आते हैं।

समाधान :—सब का परिणाम रूप ब्रह्म हो, ऐसा नहीं है। श्रुति में कहा है कि 'सवा एव महानज आत्माऽजरोमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृह० ३। ४।२५] (यह आत्मा उत्पत्ति भाव से रहित, जरा भाव से रहित, मरण भाव से रहित, भय से रहित तथा ब्रह्म स्वरूप है) 'स एष नेति नेत्यात्मा' [बृह० ३।९। २७] (इस आत्मा का स्वरूप ऐसा २ नहीं, यह अनिर्वचनीय है) 'अस्थूलमनणु' [बृह० ३।८।८] (वह स्थूल तथा अणु भाव से रहित है,) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म में सब प्रकार की विक्रिया का निषेध किया है। ब्रह्म को कूटस्थ स्वरूप कहा है। एक ही ब्रह्म परिणाम धर्म वाला हो तथा परिणाम भाव से रहित हो, ऐसा नहीं हो सक्ता।

शंका :—यद्यपि ब्रह्म परिणाम धर्म वाला नहीं है तो भी स्थिति और गति प्रत्यक्ष देखने में आती हैं इससे ऐसा भास होता है कि परिणाम धर्म वाला है।

समाधान:—नहीं! आत्मा का विशेषण कूटस्थ दिया है। कूटस्थ ब्रह्म स्थिति तथा गति के समान अनेक धर्मों का आश्रय हो नहीं सक्ता। मैं कहता हूं कि ब्रह्म कूटस्थ रूप तथा नित्य रूप है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। जैसे ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है, वह ही मोक्ष का साधन है इसी प्रकार जगत् के आकार का परिणाम दर्शन स्वतंत्र रीति से किसी फल को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि जगत् के आकार के परिणामी दर्शन के फल का प्रमाण कहीं भी नहीं दिखाया। शास्त्र में कहा है कि कूटस्थ ब्रह्मात्मा के ज्ञान से मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है। सम्पूर्ण।

त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद्।

(गताङ्क से आगे)

पूर्वोक्त ज्ञान से युक्त होकर नाड़ियों को शुद्ध करने का यत्न करे। सर्व संबंध से रहित एकांत देश में लाकर ॥८८॥ योग के अंगों की सामग्री से संपूर्ण वहां लकड़ी के बने हुये शुभस्थान में दर्भ, कुश और काले मृग चर्म का आसन बनावे ॥८९॥ जब तक दोनों अंग समान न हो जांय तब तक आसन की साधना करे। आसन पर बैठ कर यथा रुचि स्वस्तिक आदि आसन भली प्रकार लगावे ॥९०॥ ब्राह्मण सीधा शरीर रख कर समाहित चित्त होकर प्रथम आसन लगा कर नासा के अग्र भाग में दृष्टि करके दांतों से दांतों को दबा कर ॥९१॥ जिह्वा को तालू में रख कर उपद्रव रहित स्वस्थ चित्त होकर सकोड़े हुये शिर को योग मुद्रा से कुछ २ हाथों को बांध कर कही हुई विधि से प्राणायाम करे। रेचन, पूरण, वायु का शोधन तथा रेचन ॥९२, ९३॥ चार प्रकार से वायु का खेंचना प्राणायाम कहा जाता है। दहिने हाथ से नासिका के पुट को दबा कर ॥९४॥ फिर धीरे २ पिंगला के वायु को बाहर फेंके। हे ब्राह्मण ! इड़ासे सोलह मात्रा से वायु को भर कर ॥९५॥ भरे हुये को चौंसठ मात्रासे रोके। पिंगला वायु को बत्तीस मात्रा से भली प्रकार रेचन करे ॥९६॥ क्रम से और विपरीत क्रम से इस प्रकार बारंबार करे। कुंभ के समान देह में भरे हुये वायु को रोके ॥९७॥ नाड़ियों के पूर्ण करने से सब वायु से भर जाता है। हे ब्राह्मण! ऐसा करने से दश वायु चलते हैं ॥९८॥ हृदय कमल भी प्रत्यक्ष फैल जाता है। वहां पाप रहित वासुदेव परात्मा को देखता है ॥९९॥ सवेरे, दो पहर, सांझ और आधीरात को धीरे २ अस्सी तक बारबार कुंभक करे ॥१००॥ एक दिन मात्र करने से ही सब पापों से छूट जाता है। प्राणायाम परायण मनुष्य तीन साल के बाद ॥१०१॥ योगी योग सिद्ध हो जाता है, वायु का जीतने वाला जितेन्द्रिय, थोड़ा भोजन करने वाला, थोड़ा सोने वाला, तेजस्वी और बलवान् हो जाता है ॥१०२॥ अकाल मृत्यु को उलंघन करके दीर्घ आयु को प्राप्त होता है। जिसका प्राणायाम पसीना उत्पन्न करने वाला हो, वह अधम है ॥१०३॥ प्राणायाम में जिसका शरीर कांपता है वह मध्यम है। जिसका शरीर उठ जाता है, वह उत्तम कहा गया है ॥१०४॥ अधम प्राणायाम में व्याधि और पापों का नाश होता है, मध्यम में पाप, रोग और महा व्याधि का नाश होता है और उत्तम में ॥१०५॥ अल्पमूत्र, अल्पविष्ठा, हलका देह, थोड़ा भोजन, इन्द्रियों की चतुराई, बुद्धि की चतुराई और तीनों कालका जानने वाला हो जाता है ॥१०६॥ रेचक और पूरक को छोड़ कर जो कुंभक ही करता है, उसको तीनों काल में कुछ दुर्लभ नहीं है ॥१०७॥ यत्न करने वाला नाभिकंद में, नासिका के अग्रभाग में और पैर के अंगूठे में सदा अथवा संध्याकाल में मन से प्राण को धारण करे ॥१०८॥ वह योगी सब रोगों से मुक्त हो कर अशांति रहित होकर जीता है। नाभि कंद में प्राण धारण करने से कुक्षि के रोग नाश होते हैं ॥१०९॥ नासा के अग्र में धारण करने से दीर्घायु होता है, देह हलका होता है। ब्राह्म मुहूर्त में वायु को जिह्वा से खेंच कर ॥११०॥ तीन मास तक पिये तो महान् वाक् सिद्धि होती है। छः मास के अभ्यास से महा रोग का नाश होता है ॥१११॥ रोगादि से दूषित जिस २ अंग में वायु धारण किया जाता है। वायु के धारण करने से वह अंग आरोग्य हो जाता है ॥ ११२ ॥ मन के धारण करने से पवन धारण किया हुआ हो जाता है। हे उत्तम ब्राह्मण! मनके धारण करने का हेतु प्राण कहा जाता है ॥११३॥ समाहित होकर इन्द्रियों को विषयों से रोक कर अपान को ऊपर खेंचे और ऊपर २ धारण करे ॥ ११४ ॥ श्रोत्रादि इन्द्रियों को हाथों से बंद करके कहे हुए योग करने वाले का मन वश हो जाता है ॥११५॥ मन के वश हो जाने से प्राण वायु सदा स्वाधीन रहता है। नासिका के छिद्रों में सूर्य आदि नाड़ी में प्राण क्रम से वर्तता है ॥ ११६ ॥ उन में से तीन नाड़ियों में जितनी देर तक श्रेष्ठ प्राणधारियों के शंखिनी

शिखर में प्राण चलता है ॥११७॥ उतनी देर तक फिर चंद्र नाड़ी में चलता है इस प्रकार क्रम से चलते हुए वायु को जीतने वाला मनुष्य ॥११८॥ दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयनादिक काल भेद को समाहित और अंतर्मुख होकर जानता है ॥११९॥ अंगुष्ठादि अपने अवयव और दांतों के फड़कने से अरिष्ट से जीते हुए आत्मा का भी क्षय जाने ॥१२०॥ ऐसा ज्ञान कर श्रेष्ठ योगी कैवल्य का प्रयत्न करे। जिसके पैर के अंगूठे और हाथ के अंगूठे में स्फुरण सुनाई न दे ॥१२१॥ तो उस जीते हुए का साल भरके बाद क्षय होता है। जिसके कलाई और एड़ी का स्फुरण बंद हो जावे ॥१२२॥ तो उस जीते हुए की छः मास तक स्थिति रहे। जिसकी कुहनी में स्फुरण न हो, उसकी तीन मास की स्थिति है ॥१२३॥ कोख, शिश्न और पांसू में स्फुरण न रहने से एक मास तक जीवे और दृष्टि में स्फुरण न होने से आधे मास जीवे ॥१२४॥ जठर द्वार पर स्फुरण न होने से दश दिन जीवन होता है। जिसकी ज्योति जुगनू के समान हो जाती है उसका जीवन पांच दिन होता है ॥१२५॥ जिह्वा का अग्र न दीखने पर तीन दिन आत्मा की स्थिति रहती है। ज्वाला के न दीखने पर दो दिन में निश्चय मृत्यु हो जाता है ॥१२६॥ इत्यादि अरिष्ट दृश्य आयु के क्षय के कारण है इसलिये जप ध्यान परायण होकर अपने कल्याण का यत्न करे ॥१२७॥ मन से परमात्मा का ध्यान करके उसकी रूपता को प्राप्त करे। मर्म स्थानों में धारणा अठारह भेद वाली है ॥१२८॥ स्थान से स्थान का जो खींचना है, वह प्रत्याहार कहलाता है। पैर का अंगूठा, एड़ी, जंघा का मध्य ॥१२९॥ उरका मध्य, गुदा का मूल, हृदय, शिश्न, देह का मध्य, नाभि, कंठ, कुहनी, ॥१३०॥ तालु का मूल, घ्राण का मूल और आंखों का मंडल, भौंओं का मध्य, मस्तक का मूल और ऊर्ध्व, घोंटू ॥१३१॥ का मूल, हाथों का मूल, हे ब्राह्मण! पांचों भूतों के इस पंचभौतिक देह में, ये महान् हैं ॥१३२॥ मन का जो धारण है वह यमादि से कहा जाता है। और संसार से तारने का कारण धारण है ॥१३३॥ घोंटू से पैर तक पृथ्वी का स्थान कहलाता है। पीली, चारकोण वाली पृथ्वी वज्र से लांछित कठिन है ॥१३४॥ पांच घड़ी तक वायु को रोक कर पृथ्वी को जानना चाहिये। घोंटू से कमर तक जल का स्थान कहा है ॥१३५॥ आधे चन्द्र के समान आकार वाला, श्वेत और तृण से लांछित है। दश घड़ी तक श्वास को रोक कर जल को जानना चाहिये ॥१३६॥ देह के मध्य से कटि पर्यन्त अग्नि का स्थान कहा है। वहां सिन्दूर के रंग वाले प्रज्वलित अग्नि को पंद्रह घड़ी ॥१३७॥ प्राण को नाड़ियों में रोक कर जानना चाहिये, इस प्रकार कहा है। नाभि के ऊपर नासिका पर्यन्त वायु का स्थान है, वहां ॥१३८॥ वेदी के आकार वाला, धुआं वाला, बलवान् रूप पवन है। कुंभक करके पवन को प्राण में बीस घड़ी तक रोक कर जानना चाहिये, घ्राण से ब्रह्मरंध्र तक आकाश का स्थान है, वहां नीले रंग के समान प्रभा है ॥१३९,१४०॥ यत्न करने वाला कुम्भक से आकाश में वायु को रोक कर देह के पृथ्वी अंश में चार भुजा वाले, किरीट वाले ॥१४१॥ अनिरुद्ध हरि का योगी संसार से मुक्त होने के लिये जानने का यत्न करे। सूक्ष्म बुद्धि वाला योगी जल के अंश में नारायण को पूर्ण करे ॥१४२॥ अग्नि में प्रद्युम्न को, वायु के अंश में संकर्षण को, पीछे आकाश अंश में परमात्मा वासुदेव का सदा स्मरण करे ॥१४३॥ योगी को इस परमात्मा की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है, इसमें संशय नहीं है। प्रथम योगासन को बांधकर हृदय देश में हृदय को रोक कर ॥१४४॥ नासा के अग्रभाग में दृष्टि लगा कर जिह्वा को तालू में करके दांतों से दांतों को दबा कर, ऊंचा शरीर करके समाहित होकर ॥१४५॥ शुद्ध आत्मबुद्धि से इन्द्रियों के समूह को रोक कर वासुदेव परमात्मा का चिंतवन करे ॥१४६॥ व्याप्त रूप का ध्यान कैवल्य सिद्धि को देने वाला है। जो एक पहर कुंभक द्वारा वासुदेव का चिंतवन करे ॥१४७॥ अपूर्ण।

Registered No. A 860



ॐ

वेदान्त केसरी।

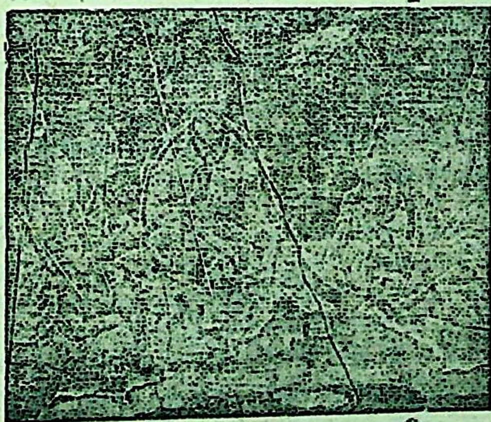


मासिक पत्र।

पुस्तक ६ } आश्विन सं० १९८१। अक्टूबर १९२४ { अंक १२

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जंति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज आगरा।

एक प्रति का मूल्य ।-)

वार्षिक मूल्य २)

दामोदर यन्त्रालय रावतपाड़ा आगरा में गौरीशंकर अग्रवाल के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका ।

ग्राहकों को सूचना ।

"वेदान्तकेसरी" के प्रेमी ग्राहकों को सूचना दी जाती है कि यह पत्र अब से आगे प्रकट नहीं होगा । इसलिये सज्जनो को आगामी मूल्य भेजने की आवश्यकता नहीं है ।

यदि आगे अनुकूल प्रसंग होगा तो वेदान्तकेसरी फिर चालू किया जायगा और चालू सब ग्राहकों को प्रथम से सूचना देदी जायगी ।

आरम्भ से आज तक ६ साल की जिल्द बंधी हुई पुस्तकें तैयार हैं जो सज्जन चाहें, मंगा सकते है । पिछले सब अंक भी मिल सकते हैं ।

प्रकाशक ।

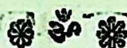
सूचना ।

वेदान्त केसरी के ६ वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३।-), प्रत्येक वर्ष के खुले १२ अङ्कों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी के तीन साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्यगीतावली" प्रथम भाग मूल्य ।=) दूसरा भाग मूल्य ।=) "वेदान्तस्तोत्रसंग्रह" भापा सहित मूल्य ।।) श्री गुरु गीता भापा सहित मूल्य =)

उपरोक्त सब पुस्तकों का डाक खर्च खरीदार को देना होगा ।

प्रकाशक ।



॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक ६ | आश्विन सं० १९८१ । अक्टूबर १९२४ | अङ्क १२

पूर्ण आहुति ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

जप तप क्रिया व्रत यम नियम यज्ञादि जो कुछ हैं किये ।
ज्ञानाग्नि में सब ही जला कर भस्म अब कर डालिये ॥
कर्ता नहीं भोक्ता नहीं सम्पूर्ण भोक्ता के लिये ।
व्यक्तित्व को जड़ से मिटा कर पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(२)

बहु जानने से क्या हुआ, यक जानकर सब जानिये ।
निजतत्व को पहिचान कर सब में वही पहिचानिये ॥
निर्मूल है यह दृश्य क्षण में हाय सब को दीजिये ।
साम्राज्य होवे प्राप्त ऐसी पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(३)

वैराग्य रूपी म्यान में से खड्ग खींचो ज्ञान की ।
षट्शत्रुओं की सैन्य झट हो जायगी बेजान की ॥
परिश्रम तुम्हें यथा होय थोड़ा कार्य यह कर लीजिये ।
निश्चल विजय की प्राप्ति कारण पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(४)

जो हो नपुंसक रोग से पुरुषत्व नहिं मिट जाय है ।
जब होय चंगा रोग से पुरुषत्व त्योंही पाय है ॥
अज्ञान से रोगी हुये तुम ज्ञान औषधि पीजिये ।
पुरुषार्थ अंतिम साधने को पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(५)

लघु दृष्टि दीजे छोड़ प्यारे! दीर्घ दृष्टि बनाइये ।
मेरा दिया यह तत्व अंजन नेत्र मांहि लगाइये ॥
दृग्दोष होवें दूर सब में एक ही लख लीजिये ।
अपरोक्ष होय परोक्ष कासो पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(६)

यज्ञादि तुम करते रहे फल शुभ अशुभ पाते रहे ।
ऊंचे चढ़े नीचे गिरे जाते रहे आते रहे ॥
आना न जाना हो कहीं अब देव आत्मा पूजिये ।
होवे अखंडित तृप्ति ऐसी पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(७)

निज आत्म को नहिं जानने से कष्ट सारे पाय हैं ।
देवी तथा देवादि भी अज्ञान में हि समाय हैं ॥
हुंकार दुर्धर तोड़कर अज्ञान भूत भजाइये ।
निःशंक निर्भय होउ ऐसी पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(८)

त्रय वासना त्रय देह चिज्जड़ ग्रंथि सब ध्याकवय हो ।
ज्ञानाग्नि में व्यक्तित्व का नर मेध अंतिम यज्ञ हो ॥
निरुपाधि नित कैवल्य सुख में नित निरंतर भीजिये ।
करना न हो फिर यज्ञ ऐसी पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(९)

त्रयलोक देवी देव आदिक दृश्य जो कुछ है जगत् ।
हो स्थूल अथवा सूक्ष्म जड़ चैतन्य सबही है असत् ॥
ब्रह्मांड भर को त्याग अपने आप ही पर रीझिये ।
करके नमन अंतिम सभों को पूर्ण आहुति कीजिये ॥

(१०)

कौशल्य ! सोही धन्य जिसने यज्ञ ऐसा करलिया ।
निज तत्व कोही शेष रक्खा सर्व कोही तजदिया ॥
उपदेश सत् यह है अमृत नित स्वस्थ मन हो पीजिये ।
हो [illegible] परमानंद ऐसी पूर्ण आहुति कीजिये ॥

श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य ।

श्री मद्भगवद्गीता का मुख्य विषय क्या है? इस बारे में लोग भिन्न २ प्रकार से कथन करते हैं। जो द्वैत को मानने वाले हैं, वे इसे द्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ कहते हैं और अद्वैत वादी अद्वैत सिद्धान्त कहते हैं। कोई कर्म का ही उपदेश बताते हैं, कोई भक्ति और उपासना का ग्रन्थ कहते हैं और कोई ज्ञान का ग्रन्थ कहते हैं। सब अपने २ भाव के अनुकूल अपना २ भाव सिद्ध करने के लिये गीता को उसी भाव वाला बताते हैं। वास्तविक गीता का रहस्य क्या है, ग्रन्थकार का आशय क्या है, इसका यथार्थ निर्णय तब ही हो सक्ता है जब कि पूर्वा पूर्व का सम्बन्ध, अधिकारी, उपदेश आदिक का लक्ष रख कर निर्णय किया जाये।

जो गीता को द्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ कहते हैं, यह उन लोगों का दुराग्रह ही है, अद्वैत प्रतिपादन करने वाले कई वाक्य गीता में आये हैं, उन्हें न मानते हुये, शब्दार्थ फिराते हुये दुराग्रह करने वालों को कौन रोक सक्ता है? जिस महाभारत का एक अंश रूप श्रीमद्भगवद्गीता है, उस में भक्ति आदिक का भाव रखते हुये अद्वैत सिद्धान्त को ग्रहण किया है तब गीता द्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ कैसे हो सक्ता है? नहीं हो सक्ता। भोले मनुष्यों को छल कर के ठगने वालों ने गीता के तेरहवें अध्याय का बिलकुल उलट दिया है क्योंकि उलटे बिना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध अद्वैत सिद्ध हो जाता है। जो गीता को अद्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं वे भी अन्तःकरण की शुद्धि रूप कर्म योग, भक्ति—उपासना योग के सहित मानें तब ही ठीक होता है। गीता में ज्ञान है, अद्वैत सिद्धान्त है तोभी गीता का सुनने वाला ज्ञान का अधिकारी न होने से कर्म सहित उपदेश है। ज्ञान के उपदेश के अधिकारी में वैराग्य आदिक सहित तीव्र मुमुक्षुता होनी चाहिये, गीता के श्रोता अर्जुन में वैराग्य आदिक सहित तीव्र मुमुक्षुता न थी इस लिये उसे निर्मल ज्ञान का उपदेश नहीं दिया गया किन्तु कर्म तथा भक्ति सहित ज्ञान का भाव देने के लिये ज्ञान का कथन किया गया है। जो गीता को केवल ज्ञान का ग्रन्थ मानते हैं वे भी गीता के यथार्थ रहस्य को नहीं जानते।

गीता को कर्म ग्रन्थ कहा जाय तो केवल कर्म ग्रन्थ भी नहीं है। मीमांसकों का जिस प्रकार का कर्म है, इस प्रकार का कर्म गीता में नहीं है। कर्म वादियों का सिद्धान्त यह है कि कर्म कर के ऐश्वर्य प्राप्त किया जाता है, कर्म ही ईश्वर है, कर्म को छोड़ कर अन्य कोई ईश्वर नहीं है। गीता में ईश्वर का प्रतिपादन है और ऐश्वर्य की लालसा करने वालों को भली प्रकार ताड़ना दी गई है और कहा है कि ऐश्वर्य तुच्छ है, परम पद की प्राप्ति में रोक करने वाला है तब गीता केवल कर्म ग्रन्थ किस प्रकार हो सक्ता है? नहीं हो सक्ता। ऐसा भी नहीं कह सके कि केवल भक्ति का ग्रन्थ है क्यों कि अनेक स्थानों पर अनन्य भक्ति का कथन है। अनन्य भक्ति और ज्ञान में विशेष अन्तर नहीं है, जिस में ज्ञान युक्त शुद्ध भक्ति हो, ऐसी भक्ति गीता में कही है। भक्ति का दूसरा स्वरूप जो उपासना है, वह भी कई स्थानों पर कही है। नवधा भक्ति आदिक का विवेचन नहीं है। सांख्य योग का विवेचन होने से केवल भक्ति का ग्रन्थ भी नहीं है। निस्सन्देह भक्ति के भाव युक्त है और यह भाव योगादिक से विशेष अवश्य है। गीता को ज्ञान का ग्रन्थ कहना भी अयुक्त है क्योंकि गीता में जो ज्ञान है, वह कर्म की शुद्धि सहित होने वाला ज्ञान है। कर्म और उपासना जो कर्म स्वरूप ही हैं, उन को समाप्त करके, ज्ञान का अधिकारी हो कर ज्ञानोपदेश ग्रहण करता है, ऐसा न होने से ज्ञान के उपदेश का ग्रन्थ नहीं है। ज्ञानियों का यहां तक निर्णय है कि शास्त्रोक्त कर्म अहंकार सहित होता है और आत्म-ज्ञान अहंकार रहित को होता है इस लिये कर्म और ज्ञान एक साथ नहीं हो सके। जो एक साथ दोनों का होना मानते हैं, सम समुच्चय कहते हैं, यह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानी सम समुच्चय को नहीं मानते किन्तु ऐसा मानते हैं कि कर्म शुद्धि का हेतु है और पश्चात् ज्ञान प्राप्ति का हेतु है, इस प्रकार

क्रम समुच्चय मानते हैं। गीता में न सम समुच्चय है, न क्रम समुच्चय है और समुच्चय तो है ही। ज्ञान सहित काम्य कर्म सम समुच्चय है। गीता में काम्य कर्म का उपदेश नहीं है किन्तु निष्काम कर्म सहित ज्ञान का उपदेश है इस लिये गीता में सम समुच्चय नहीं है। क्रम समुच्चय में एक के बाद दूसरा करना होता है यानी कर्म के बाद ज्ञान प्राप्त करना होता है। गीता में ऐसा नहीं है किन्तु कर्म और ज्ञान साथ २ ही हैं इस लिये क्रम समुच्चय भी नहीं है। निष्काम कर्म सहित ज्ञान का उपदेश है इस लिये सम समुच्चय और क्रम समुच्चय से विलक्षण समुच्चय है। गीता में क्रिया में कर्म है और भाव में ज्ञान है। कर्म करना शुद्धि का हेतु है और ज्ञान के भाव से निष्काम करने का सामर्थ्य बढ़ता है। यह ही गीता की अन्य शास्त्रों से विशेषता है। गीता में कर्म और ज्ञान दोनों का उपदेश होने पर भी कर्म के ऊपर विशेष जोर दिया है। इस प्रकार गीता ग्रन्थ की पद्धति ही विलक्षण है, गीता की रचना ही इस प्रकार की गई है कि सामान्य कर्म से ले कर भक्ति, ज्ञान और योग वालों को उपयोगी होकर अंतिम सिद्धान्त तक पहुंचा दिया जाय।

जब तक सकाम और निष्काम का भेद नहीं किया गया था तब तक वर्णाश्रम के शास्त्रोक्त सब कर्म सकाम ही होते थे और उन का फल ऐश्वर्य आदि होता था। श्रीकृष्ण भगवान् ने सकाम कर्मों को तुच्छ कहा है और अर्जुन को इस प्रकार के कर्मों में से हटाया है और ऐश्वर्य के निमित्त तुच्छ कर्म करने से आगे बढ़ाया है। कर्म के और ज्ञान के दो प्रकार के अधिकारी होते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् का सम्मत नहीं है कि अर्जुन कर्म का अधिकारी ही बना रहे और अर्जुन ज्ञान का अधिकारी नहीं समझा गया था इस लिये उन दोनों अधिकारियों के मध्य में अर्जुन को मान कर ज्ञान के भाव सहित निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

संसार में कर्म कर के ऐश्वर्य आदि प्राप्त करने पर भी सुख, शांति और परमपद प्राप्त नहीं होता तब जिस में अखंडित सुख न हो, ऐसे ऐश्वर्य से क्या? जिस से परमपद न हो, जो परमपद का मार्ग न हो, ऐसी प्रवृत्ति क्या? पूर्व से ऐसा भाव चला आया है कि त्याग बिना ज्ञान नहीं होता, चतुर्थ आश्रम में ही ज्ञान होता है, यदि ऐसा हो तो गृहस्थ ज्ञान से वंचित रहें जांय। यह ठीक नहीं है। ऐसा समझ कर दयालु श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता का उपदेश इस लिये दिया है कि किसी भी आश्रम में रह कर परमपद के मार्ग में चल सकें। गीता से ही विदित होता है कि गीता के उपदेश के समय में गीता में कहा हुआ उपदेश प्रचलित नहीं था। कहा है कि पूर्व का उपदेश जो लुप्त हो गया था वह ही मैंने तुझे सुनाया है। जो ज्ञान का पूरा अधिकारी नहीं है, उस को अधिकारी बनाते हुये, शुद्ध करते हुये ज्ञान मार्ग में ले जाने का उपदेश है।

अर्जुन ने यह नहीं कहा कि मैं संसार से दुखी हुआ हूं, संसार में बारम्बार जन्म मरण का कष्ट भोगना पड़ता है, मैं संसार में से मुक्त होना चाहता हूं, परम पद प्राप्त करना चाहता हूं, ऐसा कथन ज्ञान के अधिकारी का होता है। युद्ध में खड़े हो कर ज्ञान का प्रश्न नहीं किया जाता। अर्जुन को कुटुम्ब का मोह हुआ था, मोह के कारण युद्ध करना नहीं चाहता था। हिंसादि कर्मों से मुझे नरक होगा, ऐसा समझ कर युद्ध से रुकता था। कुटुम्ब का मोह इतना दृढ़ था कि हिंसा के सामने समृद्धि वाले तीनों लोकों के राज्य को तुच्छ समझता था। कोई कहे कि तीनों लोकों को तुच्छ समझना ही वैराग्य है तो ऐसा नहीं है। अर्जुन ने तीनों लोकों की इच्छा छोड़ी थी परन्तु किस अवलम्बन से छोड़ी थी? परमपद की प्राप्ति के लिये तीनों लोकों को तुच्छ नहीं समझा था किन्तु कुटुम्ब और पूज्यों के वध के सामने तीनों लोकों के ऐश्वर्य को तुच्छ समझा था। इस प्रकार अर्जुन और ज्ञान के अधिकारी के ध्येय में महान अन्तर है। परम पद ध्येय न हो तो वैराग्य भी ज्ञान का अधिकारी बनाने में समर्थ नहीं होता।

चतुर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एक महान् युक्ति की है। मिथ्या ध्येय से किये हुये अर्जुन के वैराग्य को भी कायम रख कर ध्येय को बदलवा दिया है और ज्ञान भाव का कथन किया है। अर्जुन का पाप लगना रूप ध्येय मुख्य था और उसी ध्येय को दृढ़ करने के निमित्त तीनों लोकों के ऐश्वर्य का त्याग था। यदि अर्जुन के ध्येय में हानि न हो तो अर्जुन तीनों लोकों के समृद्धि वाले राज्य को न चाहता हो, ऐसा नहीं था। उपदेश करने वाले श्रीकृष्ण की चतुराई से गौण त्याग दृढ़ कर दिया गया और ध्येय बदल दिया गया।

ज्ञानोपदेश उसे किया जाता है, जो किसी विषय में फंसा हुआ हो। जो जिस विषय में फंसा हुआ होता है, उसे उस विषय की फंसावट में से निकाल कर ज्ञान में डाल दिया जाता है। जो किसी विषय में अति लुब्ध नहीं है, सब से ही विरक्त—प्रीति रहित है, वह उपदेश का अधिकारी नहीं है, उसे दिया हुआ उपदेश लग नहीं सकता। अर्जुन कुटुम्ब के मोह में फंसा हुआ था, उस मोह की निवृत्ति करना ही श्रीकृष्ण का कार्य था। कुटुम्ब की हिंसा और नरक में जाने का अर्जुन का प्रबल मोह किसी प्रकार के व्यवहारिक उपदेश से अथवा नीति और धर्म शास्त्र से निवृत्त होना असम्भव देख कर श्रीकृष्ण ने मोह के सामने एक साथ आत्म-ज्ञान को ही रख दिया है और इस चतुराई से रक्खा है कि अर्जुन कर्म करने से विमुख न हो और उस का मोह निवृत्त हो जाय यानी कर्म में प्रवृत्त हो और ज्ञान का भाव रक्खे। ज्ञानोपदेश में कर्म कराने की आवश्यकता नहीं है परन्तु अर्जुन कर्म की आवश्यकता रहित ज्ञानोपदेश का अधिकारी नहीं समझा गया था।

कई मूढ़ मनुष्य गीता को गृहस्थी छुड़ा देने वाली और साधु—त्यागी बना देने वाली कहते हैं। वे लोग बुद्धि रहित हैं। गीता का आशय इस से विरुद्ध है। अर्जुन युद्ध न करते हुये मांग खाने को तैयार हो गया था। भगवान् ने उपदेश देकर त्याग न कराते हुये इस से युद्ध का कर्म कराया है।

गीता में भक्ति का विवेचन है। निर्गुण की भक्ति बताते हुये अर्जुन को सगुण ब्रह्म में प्रेरित किया है। उपदेश की चतुराई यह है कि निर्गुण ब्रह्म को समझाते हुये अर्जुन के करने के योग्य सगुण ब्रह्म की विशेषता अर्जुन के सामने रक्खी गई है और निर्गुण ब्रह्म में कठिनाई समझा कर अर्जुन की रुचि सगुण की तरफ उत्पन्न की है। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के भाव को हटाते हुये भी निर्गुण को दूषित नहीं किया है। शास्त्र में उत्तम अधिकारी के प्रति निर्गुण की जो विशेषता है, उस को कायम रक्खा है। उपदेश में युक्ति लगाई है और शास्त्र से विरोध आने नहीं दिया है। ऐसे ही दृष्टान्त में भी युक्ति भरी हुई है। अर्जुन से कर्म कराने के निमित्त अपना और जनक का दृष्टान्त दिया है। ये दोनों दृष्टान्त ठीक नहीं हैं क्योंकि श्रीकृष्ण और जनक राजा का जो वर्ताव था, वह कर्म योग का नहीं था किन्तु जीवन्मुक्तों का आचार था क्योंकि दोनों ही वर्ताव से पूर्व में जीवन्मुक्त हो चुके थे। अर्जुन जीवन्मुक्त नहीं था। उस को तो श्रीकृष्ण अभी कर्म में प्रवर्त्त करते थे। कर्म करना हमारा कर्तव्य है, ऐसा समझ कर कर्म करना और फल की इच्छा न करना—फल की इच्छा न होने देना कर्म योगी का आचार है और प्रवाह रूप से कर्म होने देना, प्राप्त हो अथवा न हो, हो तो करने में हर्ज न हो, न होय तो न करने में भी आपत्ति न हो, जिस में यह भाव न हो कि मेरा कर्तव्य है, फल की इच्छा अनिच्छा दोनों से रहित हो, यह जीवन्मुक्त का आचार है क्योंकि जीवन्मुक्त का अज्ञान निवृत्त हो कर अहंभाव मरण शैया में विराजमान होता है, यह दृष्टांत अर्जुन पर यथार्थ नहीं लगता। अर्जुन को कार्य में लगाने को अयोग्य दृष्टान्त देकर समझाना भी युक्त ही है क्योंकि इस प्रकार कार्य को सिद्ध करने वाली युक्ति उपदेशक की कुशलता है।

आत्मा को अविनाशी और शरीर को नाश वाला बताया है। शरीर और वस्त्र के सम्बन्ध के समान आत्मा और शरीर का विभाग—पृथक् सम्बन्ध दिखलाते हुये

शरीरासक्ति हटाई गई है। बहुत स्थानों पर आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। स्थित प्रज्ञ—ज्ञानी के लक्षण समझाने के लिये ऊपर—बाहर के लक्षणों को विवेचन करके समझाया है। शोक का हेतु अज्ञान है और आत्मस्थिति वाला शोक से रहित होता है, यह भी दिखलाया है। शास्त्र द्वारा, युक्ति द्वारा और प्रतिष्ठा आदिक के भाव से भी समझाया है। उलटे सुलटे भाव से आत्म ज्ञान समझाते हुये भी अर्जुन से ममत्व रहित कर्म कराया है। अर्जुन ने युद्ध करने में जितने दोषों का वर्णन किया था, उन में से एक २ को इस प्रकार की युक्ति से उलट दिया है कि वे सब दोष युद्ध न करने से अर्जुन को लगते थे और यहां तक बताया है कि युद्ध करने से मरजाने और जीतने दोनों ही में श्रेय है और युद्ध न करने से लोक और परलोक दोनों में हानि ही होगी।

संपूर्ण गीता का सारांश रूप यह है कि हे अर्जुन कर्म करने में तेरा अधिकार है, फल के विषय में कदापि अधिकार नहीं है इसलिये तू फल की इच्छा वाला मत हो और कर्म न करने में भी तेरी प्रवृत्ति न हो। यह ही निष्काम कर्म का सूत्र है। इतना समझाने के लिये ही सातसौ श्लोक की गीता बनी है। जो इस रहस्य को समझ कर बुद्धि के हेतु निष्काम कर्म में प्रवर्त्त होता है वह बहुत जल्दी शुद्ध होकर ज्ञान को प्राप्त करलेता है। निष्काम कर्म में प्रवर्त्त करने के निमित्त जिस २ उपासना की आवश्यकता है, वह भी कई स्थानों पर बताई गई है और यह भी बतलाया है कि मरने के समय में ध्यान करते हुये प्राण को छोड़ना भी उपासक को उपयोगी है। सारांश यह है कि कर्मयोग के आरंभ से ज्ञान प्राप्ति तक जिस २ की आवश्यकता है, उस सब काही कथन किया है। जो जैसा मनुष्य हो, जिसका अधिकारी हो, वह उस अंश को गीता में से ग्रहण कर सकता है, गीता का पूर्ण अधिकारी गीता के संपूर्ण भाग को ग्रहण कर सक्ता है और उससे उच्च अधिकारी अपने योग्य अंश को ग्रहण करके कृतार्थ हो सकता है। गीता के पढ़ने वाले को कम से कम इतनी योग्यता तो अवश्य प्राप्त करनी होगी जितनी गीता के अंत में बताई है, नहीं तो गीता से होने वाला किंचित् बोध भी न होगा। अंत में कहा है कि जिसने तप करके अपने शरीर को शुद्ध नहीं किया है, जो ईश्वर और गुरु का भक्त नहीं है, जो उपदेश ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखता, और मेरी निन्दा करता है, उसको यह ज्ञान कभी भी देना न चाहिये क्योंकि वह उसका सदुपयोग नहीं कर सक्ता। कर्मयोग के अधिकारी का मन भी उसके आधीन होना चाहिये। जिसका मन स्वाधीन नहीं होता, वह कर्मयोग करने में भी समर्थ नहीं होता, यह मेरा मत है, ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा है। इसी लिये वैराग्य, अभ्यास और योग को दिखलाया है कि जिससे विक्षेप निवृत्त होकर, दृढ़ चित्त से फल की इच्छा छोड़ कर निष्काम कर्मयोग में प्रवर्त्त हो जाय। कर्मयोग को बहुत स्थानों पर बुद्धियोग और योग भी कहा है। कर्मयोग की योग्यता प्राप्त करने के लिये तीनों गुणों का विस्तार से विवेचन किया है। तमोगुण और रजोगुण को दबाते हुये सतोगुण को शुद्ध करने के लिये कहा है और अंत में तीनों गुणों से भावातीत होने को कहा है।

अज्ञानी कर्म करते हुये किस प्रकार के भाव वाले होते हैं और ज्ञानी कर्म करते हुये किस प्रकार के भाव वाला होता है, अज्ञानी को अज्ञान से क्या फल होता है और ज्ञानी को क्या फल होता है, यह सब बताया है। दुःख से बचने के निमित्त इन्द्रियों से किस प्रकार कार्य करना चाहिये, सुख दुःख का असर किसको होता है और कैसे होता है, यह भी युक्ति सहित समझाया है। कामना वाला चाहे कितने भी सामर्थ्य वाला हो, शांति को नहीं प्राप्त होता, कामना रहित ही शांति को प्राप्त होता है, यह काम कहां रहता है, काम को किस प्रकार पकड़ना चाहिये और किस औज़ार से और किस के सामर्थ्य से मारना चाहिये, यह बतलाते हुये दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन किया है। दोनों निष्ठायें अधिकारी भेद से हैं और अंतिम फल में दोनों एक ही हैं। कई प्रकार के यज्ञ बताये हैं।

उनमें कई स्थूल—कायिक हैं, कई सूक्ष्म—मानसिक हैं और कई योग की क्रिया रूप हैं परंतु ये सब कर्म स्वरूप हैं, ऐसा जानने के बाद उनमें से भी हटने को कहा है। उनमें से हटने से ही ज्ञान में स्थिति होती है। ज्ञान होने में जाति, वर्ण, ऊंच, नीच और पापी पुण्यात्मा का भेद नहीं है। जो ज्ञान नौका में बैठ जाता है, अवश्य पार हो जाता है। चार प्रकार के भक्त बताये हैं, उन में ज्ञानी को भी एक प्रकार का भक्त बता कर ज्ञानी को अपना आत्मा कहा है। ज्ञानी ही सर्व श्रेष्ठ है। ज्ञान रूपी अग्नि सब प्रकार के कर्मों को जला देता है। ज्ञान होने से कर्म करते हुये भी किसी प्रकार का दोष नहीं होता, किसी को मार भी डाले तो भी हिंसा नहीं लगती, यह ज्ञान का प्राबल्य दिखलाया है। जब मन की चंचलता का अर्जुन ने प्रश्न किया तब मन की चंचलता कबूल करते हुये, वैराग्य और अभ्यास से मन वश होता है, ऐसा सिद्ध किया है। योग भ्रष्ट की शंका कर के योग में प्रवर्त्त होने वाले योग भ्रष्ट को जो फल होता है, वह बताया है। प्रसंग के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति भी दिखलाई है। प्रकृति में फंसा हुआ जीव ही प्रकृति के गुणों का भोग करता है। इस प्रकार जीव का अशुद्ध स्वरूप कहा है और सब क्षेत्रों—शरीरों में तू मुझे क्षेत्रज्ञ समझ, इस प्रकार के कथन से जीव का शुद्ध स्वरूप दिखलाया है। मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है, उत्पत्ति, स्थिति और लय मुझ से होता है, इस प्रकार अद्वैत सिद्धान्त का ही कथन किया है।

ये सब भूत प्राणी मुझ में हैं, मैं उन में नहीं हूं, इस कथन से अपने को अधिष्ठान रूप और सब को अध्यस्त रूप बतलाया है और आगे के श्लोक में ऐसा कहा है कि ये भूत प्राणी मुझ में भी नहीं हैं, यह मेरे योग का ऐश्वर्य है इसलिये वास्तविक स्वरूप में कुछ नहीं है, इस कथन से यह सिद्ध किया है कि एक अद्वितीय तत्त्व ही है। इसी रीति से अपनी पारमार्थिक और जगत् की व्यवहारिक सत्ता दिखलाई है। उपासना के लिये अनेक विभूतियों का वर्णन है और वैराट स्वरूप में अपनी सब विभूतियों का एक रूप में अर्जुन को दर्शन कराया है। सगुण होते हुये भी सब एक में होने से निर्गुण दर्शाया है, इसी में अधिष्ठान और अध्यस्त भी समझाया है। जिन प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण ने अपने मुख से देना उचित नहीं समझा है, उन प्रश्नों का उत्तर वैराट के मुख से दिलवाया है जिस से अर्जुन की श्रद्धा दृढ़ हो जाय और यह भी निश्चय हो जाय कि दिव्य दर्शन जो कराया गया है, वह कोई जादू का तमाशा नहीं है। वैराट और श्रीकृष्ण दोनों ने अपने मुख से वैराट दर्शन की श्रेष्ठता वर्णन की है। दोनों ने अपने मुख से वैराट दर्शन की दुर्लभ्यता दिखा कर एकता की है, जिस से अर्जुन ऐसा न समझ ले कि वैराट और कृष्ण भिन्न भिन्न हैं। ऐसा भी कहा है कि ऐसा दर्शन अनन्य भक्त को होता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कह दिया है कि हे अर्जुन! तू मेरे योग के ऐश्वर्य को देख कि यह कौन सा योग है? यह वह ही योग है, जो अक्रिय हो कर भी क्रियाओं का हेतु है, न होते हुये भी माया से सब दीखता है, ऐसा योग का ऐश्वर्य है। ईश्वर का जीवों से, सृष्टि से, प्रकृति से, भूत, भविष्य और वर्तमान आदिक के भेद से जो सम्बन्ध है, वह ही योग का ऐश्वर्य है। तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन है और क्षेत्र के भाव में से क्षेत्रज्ञ के भाव में आने के निमित्त ज्ञान को दिखलाया है और ज्ञान से विरुद्ध अज्ञान को कहा है। जो ज्ञेय है, वह ब्रह्म है, परम अनादि है, उसे जानने से परमपद की प्राप्ति होती है, वह सत् अथवा असत् कहा नहीं जाता क्योंकि सत् असत् दोनों व्यवहारिक हैं, वह दोनों का प्रकाशक और सत्ता स्फूर्ति दाता है। जहां २ सत् कहा है, वहां २ व्यवहारिक सत् से विलक्षण सत् समझना चाहिये। व्यवहारिक जितने सत् हैं, वे गुण हैं, और परब्रह्म का सत् गुण नहीं है किन्तु स्वरूप है, परब्रह्म इन्द्रियों से रहित होते हुये भी इन्द्रियों में आभास दाता है इस लिये सब इन्द्रियों से रहित अनन्त इन्द्रिय वाला कहा जाता है। वह स्वयं निर्गुण है, गुण प्रकृति के हैं, गुणों का भोग

परब्रह्म से होता है। परब्रह्म बाहर भीतर भरा हुआ है, चर अचर सब में समान है, अत्यन्त सूक्ष्म होने से जाना न जाय, ऐसा है दूर से दूर और समीप से समीप है। टुकड़ा न होते हुये टुकड़ा हुआ हो, ऐसा है, ज्योतियों का ज्योति है, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान द्वारा जानने के योग्य सब के हृदय में टिका हुआ है। इस सब विवेचन से अद्वैत ही सिद्ध होता है, द्वैत वादी ऐसे विवेचन से किसी प्रकार द्वैत सिद्ध नहीं कर सके। द्वैत में पड़े हुओं को द्वैत से ही उठाया जाता है और उपदेश भी द्वैत में ही दिया जाता है। अंतिम लक्ष में ही अद्वैत होता है। इस प्रकार अद्वैत को सिद्ध किया है।

पुरुष प्रकृति का विवेचन करके ऐसा कहा है कि प्रकृति के गुणों का भोक्ता जो जीव है वह प्रकृति में टिक कर ही प्रकृति के गुणों का भोग करता है, पुरुष जो असंग है, वह असंग ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति ही प्रकृति के गुणों को—भोग को ग्रहण करती है, प्रकृति स्वयं जड़ होने से भोग करने को समर्थ नहीं है तो भी पुरुष के प्रकाश से सामर्थ्य वाली हो कर भोग करती है और यह ही भोग अज्ञान से पुरुष के शिर पर मढा जाता है, इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म ज्ञान का उपदेश है, गीता का रहस्य समझना अत्यन्त कठिन होने से बारम्बार युक्ति प्रयुक्ति से समझाते हुये चौथवें अध्याय में कहा है कि ज्ञान से मेरी स्वरूपता को प्राप्त हुये को सृष्टि काल में उत्पन्न होना नहीं पड़ता और प्रलय में पीड़ा नहीं होती यानी मेरी स्वरूपता को प्राप्त हुआ पुरुष जन्म मरण आदि कष्टों से रहित होता है। परमपद को प्राप्त हुआ कभी भी सृष्टि को प्राप्त नहीं होता। जो कल्प के अन्त तक परम पद मान कर फिर सृष्टि में आना मानते हैं यानी ऐसा मानते हैं कि परम पद कुछ समय का है, हमेशा का नहीं है, वे गीता के सिद्धान्त से विरुद्ध हैं। द्वैत वादियों को कभी भी इस प्रकार का परम पद नहीं हो सक्ता। ज्ञान बहुत सूक्ष्म होने से सहज में प्राप्त नहीं होता। कई जन्मों तक उपासना, शुभ कर्म आदि करते करते जब पूर्ण शुद्ध होता है तब ही परिपूर्ण ज्ञान होता है और अंतिम जन्म में सब कुछ वासुदेवमय है, ऐसा दृढ़ बोध होता है, ऐसा जो अर्जुन को समझाया है, उस से ऐसा मालूम पड़ता है कि अर्जुन का भाव श्रीकृष्ण को विदित था क्योंकि जहां शुद्ध बुद्धि वाला, पूर्ण श्रद्धा वाला, उपदेश को ग्रहण करने का पात्र ऐसा अर्जुन हो और योगेश्वर ऐसे श्रीकृष्ण उपदेश देने वाले हों, वहां परमपद की प्राप्ति अवश्य होनी चाहिये परन्तु अर्जुन को तुरन्त ही परमपद की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा महाभारत से दीखता है। अर्जुन की मुक्ति अवश्य हुई है, परन्तु क्रम से हुई है। इसका कारण यह ही प्रतीत होता है कि परिपूर्ण ज्ञान होने में जितनी शुद्धि की आवश्यकता है उतनी शुद्धि अर्जुन में न थी और अर्जुन सद्योमुक्ति के योग्य पूर्ण शुद्धि इस जन्म में करने के योग्य भी नहीं था, ऐसा समझ कर ही अर्जुन को क्रम मुक्ति के मार्ग में चलने का ही उपदेश है, यद्यपि गीता में सद्योमुक्ति के योग्य भी उपदेश है, वह उपदेश अर्जुन को सद्योमुक्ति के योग्य समझ कर नहीं है किन्तु क्रम मुक्ति में मदद रूप है। जो कोई शुद्ध पात्र हो तो वह सद्योमुक्ति के मार्ग को भी ग्रहण कर सका है। केवल उपदेश ही सफल नहीं होता किन्तु पात्र की जितनी शुद्धता हो, उसके अनुसार उपदेश काम देता है।

अर्जुन को व्यवहार में उत्पन्न हुये मोह को निवर्त्त करने के लिये ज्ञान के भाव सहित उपदेश दिया गया है। इस उपदेश ने कार्य यह किया कि व्यवहारिक मोह को हटा कर युद्ध में प्रवर्त किया परन्तु इस मोह के साथ सम्पूर्ण मोह—अज्ञान निवर्त्त हो गया हो, ऐसा न समझना चाहिये। अर्जुन को उत्पन्न हुआ ज्ञान आभास रूप था। उस आभास रूप ज्ञान ने आभास रूप मोह को हटा दिया और व्यवहार में निर्भय बना दिया। यदि कोई ऐसा कहे कि अर्जुन को पूर्ण आत्म ज्ञान हो गया था तो यह ठीक नहीं है क्योंकि महाभारत से प्रतीत होता है कि अर्जुन ने आत्म ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा

प्रकट की है और गीता का उपदेश फिर दिया गया है। उस उपदेश से भी अर्जुन को दृढ आत्मज्ञान नहीं हुआ और अंत में हिमालय में गल कर कार्य ब्रह्म को प्राप्त हुआ, विदेह मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ, यह मोह की विलक्षणता है। जैसा व्यावहारिक मोह अर्जुन को युद्ध के आरंभ में हुआ था वैसा ही मोह युधिष्ठिर को युद्ध के अंत में हुआ था, जिसको निवर्त्त करने के निमित्त भीष्मपितामह ने उपदेश दिया था। अर्जुन को गीता सुनने से सद्योमुक्ति प्राप्त नहीं हुई इसलिये गीता पढ़ने वालों में से किसी को भी सद्योमुक्ति प्राप्त न होगी, ऐसा नहीं है। गीता के अधिकारी से उच्च योग्य अधिकारी को गीता पढ़ने से सद्योमुक्ति हो सकती है। गीता में युक्ति पूर्वक उपनिषदों का उपदेश है। उपनिषद् ज्ञान के दर्शाने वाले हैं। उन्हीं उपनिषदों का सारांश गीता में भरा हुआ है। तब जो फल उपनिषदों के पढ़ने से होता है, वह ही फल श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ने से हो, इसमें शंका ही क्या है?

संसार को पीपल के वृक्ष की उपमा देकर समझाते हुये, उस वृक्ष को काटने का उपदेश दिया है। असंगरूप तलवार ही उसको काट सकती है क्योंकि जो संग से बना है, वह असंग सिवाय दूसरे हथियार से काटा नहीं जाता और उसके काटे बिना समग्र दुःखों की निवृत्ति नहीं होती। उसको काटना और परमात्मा को ढूंढना जगत् की अत्यन्त निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति है।

जहां जीव लोक में भगवान् ने जीव को अपना सनातन अंश कहा है, वहां अंश का कथन वास्तविक न समझना चाहिये किन्तु उपाधिकृत अंश ही समझना चाहिये। वास्तविक अंश समझने से 'सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे जान' 'मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है' 'दीखते हुये टुकड़ों में भी टुकड़ा रहित' इत्यादि वाक्यों से विरोध होता है। प्रकृति में टिका हुआ जीव प्रकृति के गुणों का भोग करता है। अंश की प्रतीति प्रकृति के टिकाव से ही है, टिकाव रहित नहीं है क्योंकि व्यापक परमतत्व का वास्तविक अंश करने वाला अन्य कोई नहीं है और मिथ्या ऐसी प्रकृति से वास्तविक अंश भी नहीं होता। यदि जीव का व्यक्तित्व सनातन—सत्य ही हो तो उसे कभी भी परमपद न हो। गीता उपनिषद् रूप है तब उपनिषदों के अनुसार उपाधिकृत अज्ञान से ही जीव भाव है। जीवतत्व में अंशपने की सिद्धि नहीं होती।

लोक में क्षर और अक्षर दो चीजें बताई हैं। नाश वाले सब को क्षर कहा है और कूटस्थ को अक्षर कहा है और तीसरा पुरुषोत्तम कहा है, जो उत्तम पुरुष है। 'क्षर यानी नाश वालों से मैं अतीत हूं और अक्षर से उत्तम हूं' इससे कूटस्थ और पुरुषोत्तम को भिन्न न समझना चाहिये। कूटस्थ और पुरुषोत्तम में एक ही तत्व है। शरीर के साथ समझने के लिये शुद्ध साक्षी को कूटस्थ कहा है और शरीर से रहित पूर्ण तत्व को पुरुषोत्तम कहा है। वह ही कूटस्थ प्रकृति से एकमेक भाव वाला होने से जीव भाव में प्रवर्त्त हुआ है। 'जो मुझे जानता है, मेरे भाव को प्राप्त होता है—बोध स्वरूप होता है, कृतकृत्य होता है' इत्यादि से कूटस्थ और पुरुषोत्तम का एक होना दिखलाया है।

आसुरी सम्पत्ति में से हटकर दैवी सम्पत्ति में आने के निमित्त दोनों सम्पत्तियों का वर्णन किया है। आसुरी सम्पत्ति वाले स्वाभाविकता से श्रेय के मार्ग में प्रवर्त्त नहीं होते, दैवी सम्पत्ति वाला ही प्रवर्त्त होता है परन्तु दैवी सम्पत्ति के भरोसे पुरुषार्थ करने में शिथिल न होना चाहिये किन्तु पुरुषार्थ में अवश्य लगना चाहिये। पुरुषार्थ करने से ही नरक के द्वार रूप काम क्रोध लोभ को जीत कर परम गति को प्राप्त होते हैं, जो कामना में रत है, वह स्वेच्छाचारी होने से नरक गामी होता है इस लिये शास्त्र को प्रमाण मान कर कल्याण करना चाहिये। जहां प्रत्यक्ष प्रमाण काम नहीं देता वहां शास्त्र ही प्रमाण माना जाता है।

जब जीव तत्त्व से शुद्ध ही है तो अनेक प्रकार के भेद क्यों हैं? इस के उत्तर में कहा है कि श्रद्धा के अनुसार प्रत्येक का भिन्न २ अन्तःकरण होता है। पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह पुरुष होता है। श्रद्धा तीन गुण वाली है, सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। इसी प्रकार आहार, यज्ञ, तप और दान को गुणों के भाव से समझाया है और साथ में ॐ तत्सत् में भी गुणों की छाया है जिस से सिद्ध होता है कि ॐ युक्त ज्ञानी, तत् युक्त मुमुक्षु और सत् युक्त कर्मी है। अन्त में कहा है कि श्रद्धा ही मुख्य है। श्रद्धा हो तो श्रद्धानुसार फल होता है नहीं तो कुछ भी नहीं होता।

संन्यास और त्याग के भिन्न २ लक्षण अर्जुन ने पूछे हैं। थोड़ा अन्तर करते हुये दोनों का अन्तिम फल एक ही बताया है। अन्य कर्मों का संन्यास कराते हुये 'यज्ञ तप और दान विद्वानों को भी पवित्र करने वाले हैं इस लिये करने चाहियें' ऐसा जोर दिया है। जो लोग ज्ञानियों को भी इच्छा पूर्वक कर्म करने का आग्रह करते हैं, वे नितान्त मूर्ख हैं क्योंकि गीता का ऐसा भाव नहीं है। ज्ञान और कर्म को न समझने वाले ही ऐसा आग्रह करते हैं। उन लोगों में अर्जुन के निमित्त भगवान् के युक्तिपूर्वक दिये हुये उपदेश को समझने का सामर्थ्य नहीं है, ज्ञानी को कर्म करने अथवा न करने में किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं है। प्रत्यवाय न हो इतना ही नहीं किंतु ज्ञानी किसी को मार भी डाले तो उसे दोष नहीं लगता। जो शास्त्र मर्यादा से बाहर है, उसे शास्त्र उपदेश नहीं करता। सात्विकी बुद्धि बिना प्रवृत्ति निवृत्ति, भय अभय, बन्ध मोक्ष समझने में नहीं आती।

गीता में कर्म योग का ज्ञान सहित उपदेश करते हुये अन्त में अध्याय १८ श्लोक ४४ में ऐसा कहा है कि संन्यास—सब के त्याग से परम नैष्कर्म सिद्धि को प्राप्त होता है और यह भी दिखलाया है कि नैष्कर्म सिद्धि वाला किस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है। यहां से आगे पूर्ण ज्ञान का अभ्यास है और उस के निमित्त ही ध्यान—उपासना है। अन्त में अधिकारी श्रोता वक्ता को समझाया है। गीता को यथार्थ समझना सहज नहीं है। जब स्वयं गीता का स्वरूप ही बन जाता है तब गीता समझ में आती है। अत्यन्त गहन होने से ही अनेक प्रकार के स्वार्थवश अज्ञानता से अर्थ का अनर्थ करते हैं। गीता के आंतर रहस्य को जाने बिना बाहर की खट पट जैसे गीता कब बनी, किसने बनाई, इत्यादि में पड़ना व्यर्थ है। अर्जुन जैसे बाण से लक्ष को वेधन करता था, ऐसा ॐकार के लक्ष को वेधन करने वाला पात्र ही गीता का पूर्ण अधिकारी है, वह ही कृतार्थ हो कर परमपद को प्राप्त होता है।

विदेहमुक्ति।

(गताङ्क से आगे)

"जिस प्रकार नमक की डेली समुद्र में मिल कर समुद्र रूप हो जाती है इसी प्रकार मनुष्यादिक का नाम, रूप, गुण आदि वाला पृथक् व्यक्तित्व परमब्रह्म में एक भाव को प्राप्त हो जाय, यह विदेहमुक्ति है। नमक की डेली समुद्र के जल से बनती है, उस का नाम और आकार जल का ही घन भाव है। नमक की डेली समुद्र के जल से भिन्न प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः वह समुद्र का जल ही है इसलिये समुद्र में मिलने से समुद्र का जल ही हो जाती है, कुछ भी नमक की भिन्नता नहीं रहती है। जब डेली थी तब नाम रूपादि से भिन्नता प्रतीत होती थी। यह भिन्नता प्रतीति मात्र मिथ्या थी। इसी प्रकार प्राणी को समझना चाहिये। सब में रहा हुआ चैतन्य एक अखण्डित है। अविद्या से व्यक्ति और व्यक्ति का नाम रूप है। जैसे समुद्र में मिलने पर नमक की डेली की भिन्नता नहीं रहती इसी प्रकार जब अविद्या की समूल निवृत्ति हो जाती है तब प्राणी की परब्रह्म से किंचित् भी भिन्नता नहीं रहती!"

एक सन्त ने कितनेक अधिकारी पुरुषों के सामने जब इस प्रकार विदेहमुक्ति का विवेचन किया तो वहां बैठे हुये पुरुषों में से एक पुरुष शंका

करता हुआ बोल उठा "महाराज! आपने जीवन्मुक्ति से परे विदेहमुक्ति का वर्णन किया, उस में अनेक शंकायें होती हैं, यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं आपके सामने उन शंकाओं को प्रकट करूं।" सन्त ने कहा "तू मेरे पास कभी २ आता है, मैं तेरी योग्यता को जानता हूं। मैंने जिस विदेहमुक्ति का वर्णन किया है, उस का समझना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानी पुरुष ही ज्ञान के प्रभाव से उस का किंचित् लक्ष कर सकता है। मैंने जिन लोगों के लिये कथन किया है, वे दीर्घ काल के सत्संगी हैं। इन में से कई ज्ञान वाले हैं और कई ज्ञान भूमिका के समीप तक पहुंचे हुये हैं, तेरी बुद्धि तीव्र अवश्य है परन्तु जितनी शुद्ध होनी चाहिये उतनी शुद्ध नहीं है। प्रथम तो तुझ में असंभावना, विपरीत भावना और विक्षेपादि इतने घनिष्ठ हैं कि तू यथार्थ रीति से समझ नहीं सकता और कहीं कुछ थोड़ा बहुत समझ भी ले तो निश्चय रहित होने से धारण नहीं कर सकता। इसलिये तुझे समझाने का परिश्रम करना ही व्यर्थ है। जिन के लिये मैंने कथन किया है, उन में से कोई इस के सम्बन्ध में पूछना चाहे तो मैं उसे समझा सकता हूं।" तब बैठे हुये श्रोताओं में से एक भाविक जो ज्ञान भूमिका के अत्यन्त निकट था, कहने लगा "महाराज! आप का कहना यथार्थ है, सामान्य मनुष्यों को तत्त्व ज्ञान समझना ही कठिन है तो आज का विषय जो तत्त्व ज्ञान स्वरूप है, कैसे समझ में आवे? फिर भी आप सामर्थ्य वाले हो, जिन को आप समझाने का प्रयत्न कर रहे हो, उन में से कोई कुछ भी नहीं पूछता तो न समझने वाला जो पूछ रहा है, उसे ही पूछने दीजिये। यह बात अवश्य है कि आप के युक्ति पूर्वक समझाने पर भी वह समझने वाला नहीं है तो भी हम लोगों में से कोई न कोई बात समझ कर दृढ़ निश्चय पर अवश्य आवेगा। वर्षा का कुछ प्रयोजन न होते भी जिस प्रकार ऊंच नीच न देखते हुये सब पर वर्षा होती है। वर्षा यह नहीं देखती कि जिस को जल की आवश्यकता है, उसी पर बर्षे, इसी प्रकार सन्तों का स्वभाव होता है इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि आप शंका करने वाले को शंका करने दीजिये, शंकाओं का समाधान होने से किसी न किसी का अवश्य भला होगा।" मुमुक्षु के इस प्रकार के वचन सुन कर सन्त ने उस मनुष्य को शंका करने की आज्ञा दी।

शंका:—एक शरीर का मरण होने पर दूसरा शरीर धारण किया जाता है, ऐसा सब जानते हैं तो भी स्थूल शरीर का नाश होना कोई नहीं चाहता। स्थूल शरीर के नाश में व्यक्तिपना नहीं जाता और आप तो ऐसा कहते हो कि विदेह मुक्ति में हमेशा के लिये व्यक्तित्व का नाश हो जाता है। ऐसी विदेह मुक्ति कौन चाहेगा? आपके कहने के अनुसार तो विदेह मुक्ति वह वस्तु है कि जिसमें हमेशा के लिये अपना नाश हो जाय। शरीर से भोगों की प्राप्ति होती है, शरीर न रहेगा तब सुख वाले भोग किस प्रकार मिलेंगे? परमात्मा ज्योतिस्वरूप कहा जाता है, उसमें मिल जाना तो इस प्रकार है जैसे अग्नि में गिर कर अपना नाश करना। विदेह मुक्ति में भोक्तापना नहीं है, किसी प्रकार की क्रिया नहीं है, दूसरा नहीं है तब दूसरे से होने वाला आनन्द किस प्रकार होगा? आनंद स्वरूप कहोगे तो उसका अनुभव करने वाला कौन होगा? क्योंकि जीव तो है ही नहीं। आप तो शरीर सहित हो, आपने इस स्थिति का कभी अनुभव किया नहीं है, न आप कर सकते हो और जिसने अनुभव किया है, वह यहां आकर वर्णन कर नहीं सका तब विदेह मुक्ति का वर्णन हो नहीं सकता, और आप करते हो इसलिए आपका कथन झूठ ही है।

समाधान:—कोई शरीर का नाश होना नहीं चाहता, ऐसा तेरा कथन व्यवहारिक दृष्टि से ठीक दीखता है। मैं यह पूछता हूं कि सृष्टि के आरम्भ काल से आज तक मरना न चाहने वालों में से कौन नहीं मरा? सिद्ध, योगी, यती, ऋषि, मुनि, तपस्वी, ज्ञानी और अवतारादिक किसी का भी स्थूल शरीर नहीं रहा, तब स्थूल शरीर का नाश न चाहने वाले को क्या फल? दुःखादि के सिवाय

और कोई फल नहीं है। आर्य शास्त्र वाले भिन्न २ रीति से मोक्ष में जाने की इच्छा करने वाले सब का यह निर्णय है कि शरीर दुःखों का घर है, जब तक शरीर रहता है तब तक दुःख रहता है इसलिये जिससे दुःख होता है, उस अज्ञान–अविवेक के नाश सहित शरीर का नाश होने से ही दुःख रहित स्थिति प्राप्त होती है। शास्त्र की दृष्टि से शरीर दुःख रहित नहीं हो सका। व्यवहारिक दृष्टि से भी विचार कर देखा जाय तो स्पष्ट मालूम होता कि शरीरधारी कोई भी दुःख रहित नहीं होता। सृष्टि के आदि से अब तक सब मनुष्यों में से एक भी ऐसा नहीं हुआ, जो दुःख रहित हो! देश, काल, अवस्था, तत्व, धातु आदिक अनेकों के नियमितपने में ही जिसका जीवन है, ऐसा शरीर उनमें से किसी एक के न्यूनाधिक होने में, स्वस्थ नहीं रहता, और विशेष विक्रिया से नाश को प्राप्त हो जाता है। शरीर में जन्म, प्रकटता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, और नाश ये छः विकार स्वाभाविक हैं इसलिए वह एक हालत में कभी नहीं रह सका इससे सिद्ध होता है कि उसमें दुःख ही है। कोई कहे कि दुःख भले हो, साथ में सुख भी तो है, सुख की लालसा से हम थोड़ा सा दुःख भी सहन कर लेना चाहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि वाला हमारे उपदेश का अधिकारी नहीं है क्योंकि उसकी बुद्धि इतनी दूषित है कि वह यथार्थ देख नहीं सकता। जिसको लौकिक में सुख कहते हैं, वास्तविक में वह भी सुख नहीं है। थोड़े समय के लिए उसे सुख मान भी लिया जाय तो भी सुख की अपेक्षा से दुःख अत्यन्त अधिक हैं इसलिए लौकिक सुख की चाहना वालों को भी शरीर ही दुःख देने वाला है, ऐसा भान होना चाहिए। देखते, सुनते, समझते भी जिसको ऐसा बोध न हो वह अत्यंत मूढ है। शरीर में का लौकिक सुख वास्तविक सुख क्यों नहीं है, इसका उत्तर सुनः—जिसमें—जिसके सहारे से सुख की प्रतीति होती है वह विकारी और नाशवंत है इसलिये उस से उत्पन्न हुआ सुख भी विकारी और नाशवंत है और लौकिक सुख ही लौकिक दुःख की विशेष प्रतीति कराने वाला है इस लिये विद्वान् उस सुख को दुःख मानते हैं, जो सुख दुःख की प्रतीति का हेतु हो वह वास्तविक सुख कैसे हो सका है? नहीं हो सका। जिस सुख में चले जाने का भय रहे, वह वास्तविक सुख नहीं है। इन सब कारणों से विषयों द्वारा शरीर में होने वाले सुख और दुःख दोनों को ही विद्वान् दुःख रूप मान कर शरीर न हो और परमानन्द की प्राप्ति हो इस निमित्त शुद्ध अंतःकरण से परम पुरुषार्थ में लग जाते हैं।

सुख की चाहना सब करते हैं, यह ठीक है परंतु शरीर से होने वाले सुख की चाहना करना अज्ञान है। ऊपर जैसे दुःख रहित सुख का कथन किया है वैसा सुख शरीर और शरीर के कारण व्यक्ति अहंकार के रहते हुये कभी भी होना संभव नहीं है और हमेशा के लिये संपूर्ण दुःख की निवृत्ति भी शरीर और शरीर के कारण रूप व्यक्ति अज्ञान—अहंकार के रहते हुये बन नहीं सकती। संपूर्ण दुःख की निवृत्ति और अखंड सुख की प्राप्ति, ये दोनों विदेह कैवल्य में सिद्ध होते हैं, दुःख की निवृत्ति शरीर रहते हुए नहीं हो सकी, यह तो थोड़े विचार से सब की समझ में आसका है परन्तु शरीर रहित जो परम सुख—परमानंद बताया जाता है, वह सब के समझने का विषय नहीं है क्योंकि देहाभिमानी ऐसा नहीं समझ सका कि देहरहित में परम सुख है। विदेह परमानंद रूप है, यह देहाभिमानियों के समझने का विषय नहीं है। जिसका अंतःकरण शुद्ध हुआ है, जो ज्ञानवान् है और विदेह के भाव युक्त है, वह ही कुछ समझ सकता है। विदेह में और सुषुप्ति में महान् अन्तर है तो भी एक बात से साम्यता है। विदेह में द्वैतता नहीं रहती और सुषुप्ति में भी द्वैतता का भान नहीं होता। यदि व्यक्ति भाव रहित सुख न हो तो जहां व्यक्ति भाव का भान नहीं है, ऐसी सुषुप्ति होने की सब क्यों इच्छा करते हैं? सुख रहित में प्राणियों की इच्छा होना असंभव है।

थोड़े समय की सुषुप्ति अवस्था से स्वप्न और जाग्रत् के सब व्यवहार करने का सामर्थ्य होता है। जिस को नींद नहीं आती, वह अपने को दुखी और रोगी समझता है इसलिये सुषुप्ति में सुख का बोध न होते हुये भी सुख अवश्य है। जब सुषुप्ति, जहां अज्ञान गया नहीं है और व्यक्ति अभिमान भी टूटा नहीं है, ऐसी अवस्था भी सुख दायिनी लगती है तब विदेह कैवल्य, जहां अज्ञान नहीं है, व्यक्ति अभिमान भी संपूर्ण टूट गया है और द्वैतता भी नहीं है वहां परम सुख क्यों न होगा? अवश्य होना चाहिये। यदि कोई कहे कि सुषुप्ति में दुःख का अभाव है, सुख नहीं है, सुषुप्ति जो अच्छी लगती है, वह तो दुःख के अभाव के कारण अच्छी लगती है, सुख होने से अच्छी नहीं लगती तो इसका उत्तर यह है कि जब दुःख नहीं है तब जो रहा वह क्या है? सुख ही है। दुःख का विरुद्ध भाव ही लौकिक सुख है। यदि जिसमें विषय प्रसन्नता—प्रियता है, उसे ही सुख कहते हो तो सुषुप्ति में भी प्रिय, मोद और प्रमोद वृत्तियां हैं, ये वृत्तियां इतनी सूक्ष्म हैं कि सामान्य मनुष्य उन्हें समझ नहीं सके। इसी लिये सुषुप्ति में सुख नहीं मानते। यह ही अज्ञान है।

जो अपने स्वरूप को नहीं जानते, वे ही ऐसा कहते हैं कि विदेह कैवल्य में हमेशा के लिये अपना नाश करना है, शरीर और शरीर का अभिमानी जीव अपना वास्तविक स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप तो इस प्रकार का शुद्ध और विकार रहित है कि उस का नाश कभी होता ही नहीं, कोई उसका नाश करने को समर्थ नहीं है, जो विकारी और नाश होने वाला है, उसका ही नाश होता है।

परब्रह्म को ज्योति स्वरूप जो कहा है, वह अज्ञान की अपेक्षा से है। परब्रह्म अग्नि के समान उष्ण और जलाने वाला नहीं है। जैसे अग्नि अग्नि को नहीं जलाता, जल जल को नहीं भिगोता, इसी प्रकार ज्योति स्वरूप आत्मा को ज्योति स्वरूप परब्रह्म नहीं जलाता। आत्मा विकारी न होते हुये भी विकार वाली अविद्या के साथ अज्ञान से उसका एकमेक भाव होने से वह अपने को मरने जीने वाला और सुखी दुखी विकारी समझता है, इस अज्ञान की निवृत्ति ही विदेह कैवल्य है, वस्तुतः तो आत्मा का विदेह कैवल्य अखंडित ही है, व्यवहार दशा में व्यक्ति भाव वाले को समझाने के निमित्त विदेह शब्द की योजना है, सदेह न होना समझाने को विदेह कहा है, तत्व में तो कोई प्रतिपक्षी ही नहीं है इस लिये सदेह अथवा विदेह की वहां कल्पना ही नहीं हो सकी। जिसको ऐसा भाव है कि मेरा नाश होता है, उसे ही नाश होने की कल्पना होती है। जीवन्मुक्त विदेहमुक्ति को समझता है इस लिये जीवन्मुक्त को नाश होने का भाव कभी भी नहीं होता। जीवन्मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप को परब्रह्म रूप ही मानता है, सम्पूर्ण अज्ञान सहित उपाधियों का स्वरूप से निवृत्त होना विदेह कैवल्य कहलाता है। भोग की प्राप्ति भोक्ता को होती है? जो महा भोक्ता है, उसे पृथक् भोग की प्राप्ति कहां? चाहे ऊंचे हों, चाहे नीचे हों, जितने भोग हैं सब रोग, दुःख और कष्ट दायक हैं, सब भोग और भोक्ता की सिद्धि अज्ञान में है, अज्ञान न रहने से नहीं रहती। परम तत्व में भोग और भोक्ता कोई नहीं है, ऐसा किंचित् बोध भी जिस को है, वह भोक्ता बने रहने और भोग करने की लालसा में पड़ रह कर अपने स्वरूप के भाव को नष्ट करना नहीं चाहता। जिसे लौकिक ऐश्वर्य अति प्रिय है, वह परम तत्व का अधिकारी ही नहीं है। ऐसा मनुष्य भोग की लालसा से बारम्बार दूसरे का भोग बन कर अपने को कुचल देना ही चाहता है। धिक्कार है उसे! विदेहमुक्ति में पृथक् भोक्तापना न होते हुये भी महा भोक्ता होने से भोग के आनन्द से अनन्त गुणा आनन्द स्वरूप में है, वह अज्ञानियों के समझने तक का विषय नहीं है, जीवन्मुक्त स्वानुभव से ही उस परमानन्द का समाधि में अनुभव कर सका है।

जैसे किसी जंगल में रहने वाले मनुष्य ने कभी मिष्टान्न नहीं खाया है, वह गुड़ को ही सर्व श्रेष्ठ समझता है इसी प्रकार अज्ञानी लौकिक आनन्द को

आनन्द मानते हैं, परमानन्द को नहीं समतझे। यथार्थता से ज्ञानी ही उसे समझ सक्ता है, जैसे कुयें का मेंढक कुयें को ही महान् समुद्र मानता है इसी प्रकार अविद्या कूप में गिरे हुये भोग की लालसा वाले अज्ञानियों का बोध कूप के मेंढक के समान ही होता है, जैसे मेंढक कुयें के गड्ढे में दीवार के भीतर रहना ही पसन्द करता है इसी प्रकार अज्ञानी अविद्या के बाहर निकलना नहीं चाहते। मल का कीट मल में रहना ही पसन्द करता है, यह ही उनकी गति है। अनुभव में विषय और अनुभव करने वाले की आवश्यकता है। आत्म अनुभव में सूक्ष्म वृत्ति होती है। विदेह कैवल्य अनुभव स्वरूप है, वहां वृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

आनन्द दूसरे में है, ऐसा कहने वाले भले कहें। हम विदेह कैवल्य में आनन्द नहीं बताते, परमानन्द स्वरूप कहते हैं। परमानन्द स्वरूप होने से अन्य अनुभव करने वाले की आवश्यकता नहीं है। विदेह मुक्ति का बोध विदेहमुक्त ही को होता है तो भी जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति के समीप होने से जीवन्मुक्त को समाधि में विदेहमुक्ति का बोध होता है इसलिये जीवन्मुक्त अनुभव कर के अधिकारियों के प्रति विदेहमुक्ति का कथन कर सक्ता है। विदेही विदेह का बोध कर के फिर जन्मता नहीं है इस लिये विदेह का कथन व्यर्थ है, यह कहना ठीक नहीं है। शब्द कह कर लक्ष करने वालों को लक्ष करा सक्ते हैं, वास्तविक अनुभव स्वयं अनुभव से ही होता है।

जो अधिकारी हैं, वे मेरे कथन को समझ सक्ते हैं, यदि अन्य न समझें तो उन्हीं का दोष है, यह बात मैं प्रथम कह चुका हूं, जीवन्मुक्ति के बाद विदेहमुक्ति स्वयं होती है, विदेहमुक्ति के लिये कोई विशेष कर्तव्य नहीं है क्योंकि जीवन्मुक्ति में कर्तव्य की समाप्ति हो जाती है, जीवन्मुक्ति लेशाविद्या वाली होती है और जिसमें लेशाविद्या की भी समाप्ति हो जाय, वह विदेह कैवल्य है, ज्ञान होने के बाद जो कुछ प्रारब्ध शेष रहता है, वह ही जीवन्मुक्ति कहलाती है। प्रारब्ध समाप्त होने के बाद जीवन्मुक्त स्वयं विदेह मुक्त है। स्थूल शरीर का नाश होना ही विदेहमुक्ति नहीं है। स्थूल शरीर का नाश होने पर भी अविद्या का नाश न होने से वारम्वार स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है, अज्ञानियों के स्थूल शरीर के नाश के साथ उनके सूक्ष्म और कारण शरीर का नाश नहीं होता। स्थूल शरीर होते हुये आत्म बोध से अविद्या के निवृत्त होने पर और दृढ़ आत्म भाव में स्थित होने पर पश्चात् जब स्थूल शरीर का नाश होता है तब सूक्ष्म और कारण शरीर जो अविद्या के ऊपर टिके हुये हैं, अविद्या का अभाव होने से इन तीनों शरीरों का अविद्या स्वरूप में अन्त होता है, यह विदेह कैवल्य है।

चर्पट पंजरिका।

सुरतटिनी तरु मूल निवासः
शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रह भोग त्यागः
कस्य सुखं न करोति विरागः॥ १६ ॥ भज०

अर्थः—गंगा किनारे के वृक्ष की मूल में निवास करना, भूमि का बिस्तर, मृग चर्म वस्त्र, सब परिग्रह और भोग का त्याग, ऐसा वैराग्य किस को सुख नहीं देता यानी सब को सुख देता है इस लिये गोविन्द का भजन कर।

भाषा पद्य।

सुरसरि तरु की जड़ में पड़ना।
शय्या भू मृग चर्म पहरना॥
भोग तजे कुछ भी नहिं लेवे।
किसे विराग नहीं सुख देवे॥१६॥ भज०

विवेचन।

जिस प्रकार खुली हुई हथेली स्पष्ट प्रतीत होती है इसी प्रकार यह चर्पट पंजरिका स्पष्ट उपदेश

देती है। इस का अंतिम पद यह है कि वैराग्य किस को सुख नहीं देता यानी सब को सुख देता है। सब दुनिया सुख की खोज में प्रवृत्त हो रही है, खोजने वाले को अकरत कान व्यतीत हो गया है तो भी संसार में सुख नहीं मिला! जिस को सच्चे सुख की इच्छा है, उस को बताया जाता है कि यदि कोई सुख करने वाला है तो वह वैराग्य ही है, सिवाय वैराग्य के सुख किसी में नहीं है, वैराग्य से ही सुख मिलता है। वैराग्य रहित सुख की चाहना और प्रयत्न मरु जल से प्यास बुझाने का यत्न है। ग्रहण में दुःख है और त्याग में सुख है। व्यवहार में भी शुद्ध बुद्धि से विचार कर देखा जाय तो ग्रहण में कष्ट ही मालूम होगा और त्याग में सुख अवश्य प्रतीत होगा। जो कामनाओं से अन्ध और बुद्धि से भ्रष्ट हुये हैं, ऐसों से त्याग नहीं हो सकता। वे त्याग के रहस्य को भी समझ नहीं सकते। उन लोगों को पापों का बहुत सा फल भोगना शेष होने से त्याग की तरफ उन की वृत्ति नहीं आती परन्तु वास्तविक सुख तो त्याग से और त्याग में ही है। अन्तःकरण शुद्ध हुये बिना त्याग नहीं हो सकता, इसलिये त्याग में मदद रूप और निर्मलता को देने वाली गंगाजी के किनारे के वास को कहते हैं।

सब नदियों में श्रेष्ठ विभूति रूप गंगा नदी है। जिस निर्मल पवित्र देश में से उस का वहन हुआ है, वह कैलाश कहा जाता है। ऐसे पवित्र स्थल में से जिस की उत्पत्ति है, वह गंगा भी पवित्र है और दूसरों को भी पवित्र करने वाली है। पुराणों में गंगाजी की उत्पत्ति विष्णु के चरण कमल और शंकर की जटा में से कही है। विष्णु के चरण का जल विष्णु का चरणोदक है। विष्णु का भाव— सामर्थ्य विष्णु के चरणोदक में है और शंकर की जटा जो पवित्र है उस के संग से पवित्र हुई गंगा लोगों को पावन करने के लिये भूमि पर बहती है। भगीरथ राजा की महान् तपश्चर्या का प्रभाव भी गंगा में मिला हुआ है इसलिये गंगा असंख्य गुण वाली है। इस का माहात्म्य पुराणादिकों में बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है। ऐसी देव गंगा बहती हुई अपने दोनों किनारों की भूमि को पवित्र करती रहती है। जैसी गंगाजी पवित्र है ऐसे ही गंगा का तट भी पवित्र है इसी से बहुत से तीर्थ गंगा तट पर आये हुये हैं। पवित्र ऐसी गंगाजी के किनारे आये हुये वृक्ष भी पवित्र होते हैं क्योंकि पवित्र किनारे पर उन की उत्पत्ति है और गंगा जल से ही उन का पोषण और उन की वृद्धि होती है। ऐसे पवित्र वृक्ष की जड़ विशेष पवित्र है क्योंकि गंगा जल का सीधा ही पान करती है। वे वृक्ष गंगा जल के पान से पवित्र महात्माओं के समान अमर समान ही हैं बहुत प्राचीन हो जाने से उनकी जड़ों में कोतर पड़ जाते हैं, और पेड़ के मध्य में कुदरती गुफा बन जाती है, वहाँ वृक्ष के मूल भी होते हैं, ऐसी मूलों में जिसका वास है, वह त्यागी मनुष्य भी पवित्र वृक्ष, मूल, किनारा और गंगा जल आदि के संग से पवित्र हो जाता है, वहां रहने से तपस्वी, ऋषि और ज्ञानी बन जाता है। यह सत्संग का प्रभाव है। वहां एकांत में रह कर भजन करने वाले की भूमि ही शय्या होती है। वहां का निवास संत समागम के समान है। ऐसे स्थान पर वस्त्रों के बदले निर्दोष शाकाहारी ऐसे मृग का चर्म ही उसका वस्त्र होता है। मृग चर्म में सामान्य वस्त्र से विशेष प्रभाव है इसलिए उसको पवित्र समझ कर भजन पूजा आदिक में आसन के स्थान में उससे काम लिया जाता है। ऐसे सब अनुकूल प्रसंगों में वैराग्य दृढ़ होता है। वहां भोग का अभाव होने से शेष रही हुई भोग की इच्छा भी निवृत्त हो जाती है। ऊपर बताई हुई वैराग्य की बाह्य सामग्री के साथ भोग की इच्छा भी न हो और किसी भौतिक पदार्थ का ग्रहण भी न करे, यह सूक्ष्म वैराग्य की सामग्री है। दोनों प्रकार की वैराग्य की सामग्री से जो वैराग्यवान् है, उसे वहां स्वाभाविक ही सुख है। ऐसे वैराग्य वाला मनुष्य चाहे जैसा भी हो सुखी ही रहता है। वहां के स्वाभाविक सुख के साथ ईश्वर चिंतवन, प्रभु प्रेम और आत्म ज्ञान सुलभता से प्राप्त होता है। जो स्वाभाविक सुख ... वैराग्य में

अन्तःकरण निर्मल कर लेता है, वह स्वरूप का बोध प्राप्त कर के अखण्ड स्वरूप ही बन जाता है। वैराग्य की जितनी महिमा कथन की जाय उतनी थोड़ी है।

बिना वैराग्य बुद्धि की तीव्रता से अथवा तर्क करके जो आत्म ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है, उसके समान अन्य कोई मूर्ख नहीं है। बिना वैराग्य घर बैठे २, भोग भोगते हुये, आसक्ति को न छोड़ते हुये आत्म बोध हो जाता होता तो अनेक ऋषि मुनि और राजा लोग, सब वैभव में लात मार कर जंगल का कष्ट क्यों भोगते? क्या ऐसा भोग तुमको ही प्रिय है? क्या उन को प्रिय न था? क्या ऐसा तुम को ही अच्छा लगता है? क्या उन को बुरा लगता था? क्या तुम्हारे समान भी वे बुद्धिमान् और सामर्थ्यवान् न थे? तुम घर में बैठ कर ही ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ होना चाहते हो, उन्होंने घर बार छोड़ कर एकान्त वन में जा वास किया, क्या वे मूर्ख थे? सब जीवों को भोग प्रिय ही लगता है। तुम को प्रिय लगता हो और उन को प्रिय न लगता हो, ऐसा नहीं है। उन लोगों की दृष्टि परिणाम के ऊपर थी, तुम्हारी केवल भोग के ऊपर है! भोग प्रिय होते हुये भी दुःखदायक है। भोग करके दुःख की निवृत्ति नहीं होती और न कभी कल्याण की प्राप्ति होती है। प्रिय होने पर भी छोड़े बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती, ऐसा देख कर ही वे लोग सब भोगों को त्याग कर आत्म चिन्तवन में लगे थे। आज कल यदि किसी को वैराग्य के लिये कहा जाय तो तुरत ही उत्तर मिलता है:—"वाह! क्या घर में बैठे भजन नहीं होता? क्या गृहस्थी में रहते हुये कल्याण नहीं होगा? जनकादि कितने ही राजा, ऋषि, गृहस्थी में रहते हुये ही परमपद को प्राप्त हुये हैं। गृहस्थी ही सब से बड़ा आश्रम है।" इस प्रकार अपने को जनक के साथ बैठाने को तैयार हो जाते हैं। कहां जनक और कहां तुम! कहां राजा भोज और कहां गांगा तेली! यदि सब को ऐसा ही ज्ञान हो जाता हो तो शास्त्रकारों का तीसरा चौथा आश्रम बनाना ही व्यर्थ था! पुराने जमाने में एक जनक ही हुआ है, आज कल तो घर २ में ही जनक हैं सब घर बैठे ही ज्ञान चाहते हैं, बाहर निकलना कोई नहीं चाहता, कोई एक संस्कारी निकल आवे तो वह अपवाद रूप है। कुछ भी करो, बिना वैराग्य कल्याण किसी प्रकार नहीं हो सकता। राग से जगत् है, वैराग्य से जगत् निवृत्त होता है। राग में दुःख है, वैराग्य में दुःख का अभाव है। वैराग्य दो प्रकार का है, आंतर और बाह्य। आंतर रहित बाहर का वैराग्य फल दाता नहीं होता। फल का दाता आंतर वैराग्य ही है इससे ऐसा न समझना चाहिये कि बाहर का वैराग्य व्यर्थ है। आंतर वैराग्य कठिन है, सबको बाह्य वैराग्य बिना आंतर वैराग्य नहीं हो सकता और युक्ति पूर्वक किया हुआ बाह्य वैराग्य तो आंतर त्याग में मदद रूप होता है। ऊपर के पद में बाह्य और आंतर दोनों वैराग्य समझने चाहियें, यदि बाहर का वैराग्य शुद्ध हो और आंतर वैराग्य न हो तो दूसरे जन्मों में बाहर का वैराग्य आंतर वैराग्य को उत्पन्न करने वाला होता है। बाहर का वैराग्य भी न होते हुए केवल ढोंग ही हो तब तो ऐहिक और पारलौकिक हानि ही होती है। छल कपट से अशुभ फल की ही प्राप्ति होती है, शुभ फल होना संभव ही नहीं है।

परिग्रह त्याग और भोग त्याग ये दो वैराग्य के अंग हैं। परिग्रह त्याग स्थूल है, और भोग—लालसा सूक्ष्म है। परिग्रह पदार्थों का होने से स्थूल है और भोग का भान—सुख मानसिक होने से सूक्ष्म है! देश, काल, वय और योग्यता के साथ उपयोग के लिये जिन २ वस्तुओं का ग्रहण करना है, वह परिग्रह कहलाता है और चारों तरफ से पकड़ना परिग्रह है। चाहे बदला देकर ले, चाहे बदला न देकर ले वह परिग्रह है। पदार्थों की सूक्ष्म इच्छा भोग है। दान लेना भी परिग्रह कहलाता है परन्तु परिग्रह का यह अर्थ संकुचित है। परिग्रह ग्रहण रूप होने से दुःख और बंधन का हेतु है। ग्रहण त्याग का विरुद्ध शब्द है इसलिए सब परिग्रह का त्याग ही वैराग्य होता है, परिग्रह

सिवाय और कोई बंधन नहीं है। दान देना सुलभ है, लेना कठिन है, लोग इसका उलटा अर्थ करते हैं, यानी दान लेना सुलभ समझते हैं और देना कठिन समझते हैं। दान देने वाला देकर अपना हित करता है, देकर प्रसन्न होता है इसके विरुद्ध योग्यता रहित दान लेने वाला अपना अहित करता है, अपने शिर बोझा चढ़ाता है। योग्यता सहित दान लेने वाला हो तो भी परिग्रह की निवृत्ति के अर्थ उस का अवश्य कार्य करना पड़ता है और दान का मांगना तो बहुत बुरा है। 'दान दो' ऐसा कहने के साथ कहने वाले के शरीर में से लज्जा, शोभा, बुद्धि, कान्ति और लक्ष्मी निकल जाती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये जो पांच विषय हैं, इन पांचों के भोग—पदार्थों का ही परिग्रह होता है।

सुख के उत्पन्न करने वाले वैराग्य, आत्म बोध और उपरति तीनों का आपस में मेल है, उन तीनों में आत्म बोध मुख्य है, वैराग्य और उपरति बोध के सहायक हैं, मेरा तेरा राग द्वेष और आसक्ति का वैराग्य से नाश होता है और इसी से दुःख का अभाव—सुख होता है, आत्म बोध वैराग्य का सहायक है। जब बोध होता है तब बोध जन्य सुख होता है, वैराग्य से बोध और बोध से उपरति होती है, उपरति शांति स्वरूप है, ऊपर जो गंगा तट पर वास बताया है उसमें स्वभाव से ही वैराग्य है क्यों कि राग करने योग्य वस्तुओं का वहां अभाव है, ऐसे ही वस्तु और भोग जो संग दोष को पैदा करने वाले हैं, उन का भी वहां अभाव है इसी लिये कहा है कि वैराग्य किस को सुख देने वाला नहीं है यानी सब को सुख देने वाला है। जिस के चित्त में वैराग्य का अंकुर निकलता है, उसे सब पदार्थों पर दोष दृष्टि होती है, विवेक से युक्त चित्त में भोग की आशायें नहीं उठतीं, विवेक से वैराग्य की उत्पत्ति होती है, विवेक न हो तो वैराग्य की उत्पत्ति ही असंभव है, शुद्ध अन्तःकरण में विवेक होता है, सत् कर्म और सत्संग से अन्तःकरण शुद्ध होता है, इस प्रकार वैराग्य की उत्पत्ति है, वैराग्य उत्पन्न होने में अनेक निमित्त होते हैं, भौतिकनिमित्त न होते हुये जिसके अन्तःकरण में स्वाभाविक वैराग्य की उत्पत्ति हो, वह श्रेष्ठ मुमुक्षु कहा जाता है, मोक्ष के अधिकारी के चार लक्षणों में वैराग्य दूसरा है तो भी वैराग्य की महत्वता सब से अधिक है, संसार में सब प्रकार के भोग उपस्थित होते हुये जिस के अन्तःकरण में वैराग्य होता है, वह महान् भाग्यशाली है, बिना निमित्त वैराग्य होने से उसका पूर्व का बहुत पुण्य प्रतीत होता है, ऐसा पुरुष मोक्ष मार्ग में बहुत जल्दी प्रवेश करता है, निमित्त सहित भी जिसको सच्चा वैराग्य हो जाय, अंत तक शिथिल न पड़े और आगे प्रयत्न किये जाय तो मनुष्य देह का सार्थक रूप जो आत्म बोध है, उसे वह अवश्य प्राप्त कर लेता है, उसके वैराग्य को धन्य है, जिस वैराग्य से इस शरीर में यथार्थ आत्म बोध की प्राप्ति और शांति हो।

नारद जी ने व्यास जी से अपने पूर्व जन्म की कथा कही है, जिसमें भक्ति किस प्रकार हुई, वैराग्य किस प्रकार हुआ, एकांत में जाकर तपश्चर्या करके परम शांति किस प्रकार प्राप्त की, यह सब इस प्रकार दिखलाया है:—पूर्व जन्म में मैं एक दासी का पुत्र था, मेरी मा लोगों की टहल करके अपना गुजारा करती थी, जिस ग्राम में हम रहते थे, वहां एक समय जब मेरी उमर सात वर्ष की थी तब चतुर मास में बहुत सन्त लोग आकर टिके थे, मेरी माता को देव दर्शन और साधु सन्तों पर प्रेम था, जहां कोई संत महात्मा आता वहां मुझे दर्शन कराने को लेजाती थी। इसी नियमानुसार वह मुझे उन त्यागियों के पास ले गई। फिर तो मैं माता के बिना भी सन्तों के पास जाने लगा। वहां मुझे कुछ प्रसाद खाने को मिल जाया करता था। कुछ प्रेम से और कुछ बाल्यावस्था की खाने की चाट से मैं नित्य प्रति उनके पास जाने लगा। मेरी ऐसी रुचि देख कर मेरी माता ने भी मुझे उन महात्माओं की टहल करने की आज्ञा देदी। जब मुझे वहां आनंद मालूम हुआ तब मैं वहां ही रहने लगा।

जब कई दिन तक घर न जाता तब तो मेरी मा साधुओं के पास आकर मुझ से मिल जाती और घर पर चलने का आग्रह करती। मेरा लड़कपन था तो भी मैं चंचल नहीं था, सब खेल कूद छोड़ कर शांत हो कर साधुओं के सामने बैठा रहता था, थोड़े वचन बोलता था। जिस कार्य के लिये संत मुझ से कहा करते थे, उसको मैं अपनी शक्ति अनुसार प्रेम पूर्वक कर दिया करता था। वे मुनिलोग समदर्शी थे तो भी मेरी शांत प्रकृति देख कर मुझ पर विशेष प्रेम करते थे। महात्माओं को बचा हुई प्रसादी उनकी आज्ञा से मैं खा लिया करता था। इस प्रकार झूंठन खाते २ मेरे सब पाप नष्ट हो गये और कुछ दिन में मेरा चित्त शुद्ध हो गया। साधु धर्म में मेरी रुचि बढ़ती गई और देखा देखी मैं भी जैसा मेरी समझ में आया ऐसा ईश्वर भजन करने लगा। वे महात्मा लोग परब्रह्म के गुणों का कीर्तन और ध्यान किया करते थे, कहीं परब्रह्म का निरूपण और शंका समाधान भी हुआ करता था। उसे मैं विशेष नहीं समझता था तो भी बारंबार वह ही चर्चा होने से कुछ शब्दों का भाव मैं जानने लगा था। इस प्रकार मेरी ईश्वर भक्ति दृढ़ हुई और मैं देखने लगा कि मुझ परब्रह्म में यह सब सत् असत् प्रपंच माया कर के कल्पित है। चातुर मास व्यतीत होने पर मुझ में सात्विकी बुद्धि उत्पन्न हुई देख कर दीनों पर दया करने वाले महात्माओं ने कृपा करके परम गुप्त ज्ञान मुझ से कहा जो भगवान् ने कहा है। उस से भगवान् वासुदेव की माया का प्रभाव मुझे ज्ञात हुआ। चातुर मास पूर्ण होने पर वह संत मंडली वहां से चली गई। उस समय मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं सत्संग में लगा हुआ था इसी से बारंबार आने वाले साधुओं के पास चला जाता था और ईश्वर की तरफ मेरा अधिक प्रेम होता जाता था। अपनी माता का मैं एक ही पुत्र था, वह कम बुद्धि वाली स्त्री और मूर्ख दासी जाति थी। उसका मुझ पर अनन्य प्रेम था। वह चाहती थी कि मेरे शुभ के लिये मुझे एक क्षण भी अपनी नजर से दूर न होने दे परन्तु पराधीन होने से वह ऐसा करने में असमर्थ थी। एक दिन दूध दुहने को मेरी माता घर से बाहर निकली। मार्ग में एक सर्प पड़ा हुआ था। इसके ऊपर मेरी माता का पैर पड़ गया और उसने उसको काट खाया और वह मर गई। भक्त के कल्याण करने वाले हरि का अपने ऊपर अनुग्रह हुआ मान कर माता की दाह क्रिया समाप्त करके मैं उत्तर की दिशा की तरफ चल दिया। मार्ग में कई बड़े २ और छोटे छोटे ग्राम आये, कई वन, उपवन आये। जंगल में हाथियों के तोड़े हुये वृक्ष देखे। गहन वन में प्रवेश करते ही सर्प, उल्लू, पक्षी और श्यालों का घोर शब्द सुनाई दिया, जिस से जंगल महा भयानक दीख पड़ता था। चलते २ मैं थक कर शिथिल हो गया था, भूख लग रही थी, प्यास से मुख सूखा जाता था, वहां मुझे एक नदी दिखाई दी, उस में मैंने स्नान किया, जल पान किया और शोभा वाली निर्मल जल वाली नदी के किनारे आये हुये एक पीपल के वृक्ष की जड़ में मैं बैठ गया और जैसा मैंने सुना था, वैसे आत्मा—भगवान् का चिन्तवन करने लगा। भक्तिभाव से चित्त को एकाग्र कर के भगवान् के चरण कमलों का ध्यान करने लगा। उस समय प्रेम की उमंग से मेरे नेत्रों में आनन्द के अश्रु भर आये और कुछ समय के बाद धीरे २, हृदय में हरि प्रकट हुये, प्रेमावेश से मेरे रोंगटे खड़े हो गये और इतना परमानन्द प्राप्त हुआ कि मैं आनन्द के अथाह सागर में डूब गया। अपने देह और संसार की मुझे कुछ भी सुध न रही। क्षण भर में ही अचानक भगवान् का मनमोहन, शोक नाशक, रमणीक स्वरूप मेरे हृदय से अन्तर्हित हो गया तब मैं उस स्वरूप को न देख कर बहुत ही उदास हुआ। फिर २ मन को एकाग्र करके ध्यान करने लगा परन्तु फिर से भगवान् का दर्शन न हुआ। उस एकान्त, निर्जन स्थान में मैं कई रोज तक रहा और उस स्वरूप के देखने की इच्छा से बारम्बार ध्यान करता रहा परन्तु दर्शन न होने से अत्यन्त दुःखी था। एक दिन कहीं से आवाज आई "हे बालक! अब इस जन्म में तुझे मेरा दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि तेरा अन्तःकरण काम क्रोध आदि से रहित भली प्रकार निर्मल नहीं हुआ है। ऐसे

अन्तःकरण से योगी मेरा दर्शन नहीं पाते। और एक बार जो तुझे मेरा दर्शन हुआ है, वह मुझ में प्रेम बढ़ाने के निमित्त हुआ है क्योंकि मेरा प्रेमी भक्त धीरे २ सम्पूर्ण काम क्रोध आदि से शून्य हो जाता है। थोड़े काल के सत्संग से मुझ में तेरी भक्ति हुई है, तू इस निन्दनीय शरीर को त्याग कर मेरा पार्षद बन जायगा। तेरी बुद्धि मुझ में अचल होगी और कालान्तर में मेरी कृपा से इस जन्म का ज्ञान रहेगा!" वाणी बन्द हुई, मैंने अपने को अनुग्रहीत देख कर उस देवेश्वर को शिर झुका कर प्रणाम किया। पश्चात् मैं उसी स्थान पर रह कर लज्जा को त्याग कर ईश्वर के परम गुप्त, कल्याण रूप नाम और लीलाओं का कीर्तन, स्मरण करता रहा। फलाहार से अथवा ब्रीहि आदि से निर्वाह करता हुआ सन्तोष के साथ अहंकार और ईर्षा को त्याग कर काल की राह देखने लगा। समय पाकर मेरा दूषित स्थूल शरीर गिर गया और मुझे दिव्य शरीर की प्राप्ति हुई। ईश्वर का मुझ पर पूर्ण अनुग्रह हुआ, मैं अपने स्वरूप में स्थित हुआ! हे व्यासजी! तुम स्वयं जानते हो कि किस वैराग्यवान् को एकान्त स्थान सुख दायक नहीं होता, सब को ही सुख दाता होता है। वैराग्य ही अचल सुख का साधन है। एकान्त से मिला हुआ वैराग्य ईश्वर स्मरण में चित्त को जल्दी से प्रवेश कराने वाला होता है। पूर्ण त्यागी ही योगी होता है। ईश्वर की प्रसन्नता भी वैराग्य वाले पर ही होती है, ऐसी प्रसन्नता ही अखण्ड सुख को देने वाली है।" यह ही ऊपर के पद में कहा गया है। जिस का कल्याण होने का समय निकट आता है, उसे ही वैराग्य की सिद्धि प्राप्त होती है, उस की ही एकांत स्थान और ईश्वर स्मरण में रुचि होती है। वह ही प्रयत्न पूर्वक परमपद को प्राप्त कर सका है।

कुछ नहीं तुमने किया !

हरिगीत छन्द ।

(१)

मोटर फिटन पर की सवारी अश्व गज पर चढ़ चुके।
देशों दिसावर में फिरे आकाश में भी उड़ चुके॥
छाना किये हो खाक अब तक जन्म निष्फल ही गया।
पहुंचे नहीं यदि आत्मपुर तो कुछ नहीं तुमने किया॥

(२)

ऊंचे चुनाये महल सुन्दर बाग बागीचे लगा।
हथियार लेकर हाथ में रण से दिये शत्रु भगा॥
दे दान या करि यज्ञ यश चारों तरफ फैला दिया।
नहिं प्राप्त कीन्हा आत्म यश तो कुछ नहीं तुमने किया॥

(३)

षट् शास्त्र का कीन्हा पठन भाषा बहुत सी जानते।
संगीत विद्या राग रागिनि ताल स्वर पहिचानते॥
करिके सभा में वाद लाखों पर विजय भी पा लिया।
कीर्तन किया नहिं आत्म का तो कुछ नहीं तुमने किया॥

(४)

क्रीडा करी वर्षों तलक नव युवतियों के साथ में।
ज्यों इन्द्र भोगे भोग क्या आया तुम्हारे हाथ में॥
जन्मे हजारों योनियों में काल फिर फिर खा लिया।
क्रीडा करी नहिं आत्म से तो कुछ नहीं तुमने किया॥

(५)

आसक्त होकर गन्ध में बागों बगीचों में फिरे।
सुन्दर लगाई वाटिका जो इन्द्र का भी मन हरे॥
अतरादि वस्त्रों में लगा घर बाहर सब महका दिया।
नहिं गंध सूंघी आत्म की तो कुछ नहीं तुमने किया॥

(६)

अति लुब्ध होकर स्वाद में व्यंजन अनेकों खा लिये।
खाते रहे मिष्टान्न तीखे चटपटे भोजन किये॥
जितने पदारथ हैं जगत में स्वाद सब का ले लिया।
चक्खा नहीं यदि आत्मरस तो कुछ नहीं तुमने किया॥

(७)

जा देश देशों वस्तुयें देखीं हजारों रंग की।
सुर देखि जिन को मोहते ऐसे निराले ढंग की॥

यदि पद्मिनी या अप्सरा भी देखलीं तो क्या भया।
देखी नहीं छवि आत्म की तो कुछ नहीं तुमने किया॥
(८)
आराम तकिये को लगा सोये मुलायम सेज पर।
तरुणी सदा करती रही सेवा तुम्हारी जन्मभर॥
नंगे पदों नहिं भूमि ऊपर एक क्षण भी पग दिया।
नहिं स्पर्श आत्मा का किया तो कुछ नहीं तुमने किया॥
(९)
मीठे सुरीले राग कानों में सदा पड़ते रहे।
इतिहास कविता संहिता सारी उमर सुनते रहे॥
किस्से कहानी रात दिन सुन व्यर्थ आयु गँवा दिया।
चर्चा सुनी नहिं आत्म की तो कुछ नहीं तुमने किया॥
(१०)
कीर्तन करो तो आत्म का चर्चा सुनो तो आत्म की।
पूजा करो नित आत्म की नहिं अन्य पूजा काम की॥
कौशल्य! मन को जीतकर मुख मोड़ यदि जगसे लिया
पहिचान लीन्हा आत्म को तो कार्य सब तुमने किया॥

एकदंतस्तोत्रम्।

उपजाति वृत्तम्।

सदात्मरूपं सकलादिभूत-
ममायिनं सोहमचिंत्य बोधम्।
अनादि मध्यांत विहीनमेकं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१॥

अर्थः—सत्, आत्म रूप, सबके आदि स्वरूप, माया रहित, सोहं रूप, अचिंत्य बोध वाले, आदि, मध्य और अन्त से रहित, एक, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

अनन्तचिद्रूपमयं गणेशं
ह्यभेदभेदादिविहीनमाद्यम्।
हृदि प्रकाशस्यधरं स्वधीस्थं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥२॥

अर्थः—अन्त रहित, चेतन रूपमय, गणों के ईश, अभेद और भेद आदि से रहित, आद्य स्वरूप, हृदय में प्रकाश करने वाले, अपनी-हमारी बुद्धि में स्थित उस एक दन्त के शरण में हम जाते हैं।

विश्वादिभूतं हृदि योगिनां वै
प्रत्यक्ष रूपेण विभांतमेकम्।
सदानिरालम्ब समाधि गम्यं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥३॥

अर्थः—विश्व के आदि स्वरूप, योगियों के हृदय में प्रत्यक्ष रूप से निश्चय प्रकाश करने वाले, एक, सदा आलंबन रहित, समाधि से प्राप्त होने योग्य उस एकदन्त के शरण में हम जाते हैं।

स्वबिम्बभावेन विलासयुक्तं
बिन्दु स्वरूपा रचिता स्वमाया।
तस्यां स्ववीर्यं प्रददाति यो वै
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥४॥

अर्थः—जो अपने बिम्ब भाव से विलास—क्रीड़ा युक्त है, जिसने बिन्दु—शून्य स्वरूप वाली अपनी माया रची है, उस (माया) को जो निश्चय अपना वीर्य—सामर्थ्य देता है, उस एक दन्त के हम शरण में जाते हैं।

त्वदीय वीर्येण समर्थ भूता
माया तया संरचितं च विश्वम्।
नादात्मकं ह्यात्मतया प्रतीतं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥५॥

अर्थः—आप के वीर्य से माया समर्थ हुई है, उसने विश्व को रचा है, नाद स्वरूप आत्म रूप से

प्रनीत होने वाले उस एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

त्वदीय सत्ताधरमेकदंतं
गणेशमेकं त्रय बोधितारम्।
सेवंत आपुस्तमजं त्रिसंस्था-
स्तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥६॥

अर्थः—आप एकदंत की सत्ता धारण कर के एक गणेश तीनों वेद के जताने वाले हैं, तीनों संस्था वाले सेवा करने से जिस अज को प्राप्त होते हैं, उस एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

ततस्त्वया प्रेरित एवनाद-
स्तेनेदमेवं रचितं जगद्वै।
आनंद रूपं समभाव संस्थं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥७॥

अर्थः—तब आप से ही नाद प्रेरित किया गया। उस नाद ने इस जगत् की रचना की, आनंद रूप सम भाव में स्थित उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

तदेव विश्वं कृपया तवैव
संभूतमाद्यं तमसा विभातम्।
अनेक रूपं ह्यजमेकभूतं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥८॥

अर्थः—आपकी ही कृपा से वह ही विश्व आदि में तम-अंधेरे से आच्छादित हुआ, अनेक रूप, अजन्मा, एकस्वरूप उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

ततस्त्वया प्रेरितमेव तेन
सृष्टं सुसूक्ष्मं जगदेक संस्थम्।
सत्वात्मकं श्वेतमनंतमाद्यं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥९॥

अर्थः—तब आप से ही प्रेरित हुए उस (अंधेरे) से सृष्टि हुई, अत्यंत सूक्ष्म, जगत् में एक ही स्थित, सत्व स्वरूप, श्वेतरूप, आदि अंत रहित, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

तदेव स्वप्नं तपसा गणेश
संसिद्धि रूपं विविधं बभूव।
सदेक रूपं कृपया तवापि
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१०॥

अर्थः—सत्य, एक रूप आप की कृपा से ही यह गणेश तप करके स्वप्न संसिद्धिरूप अनेक प्रकार का हुआ, उ॰ एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

संप्रेरितं तच्च त्वया हृदस्थं
तथा सुसृष्टं जगदंश रूपम्।
तेनैव जाग्रन्मयमप्रमेयं
तमेकदंतं शरणं व्रजा-ः ॥११॥

अर्थ—वह ही हृदय में स्थित होकर आपसे प्रेरणा किया गया और उस करके ही जाग्रत्मय अंश रूप जगत उत्पन्न किया गया, माप से रहित उस एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

जाग्रत्स्वरूपं रजसाविभातं
विलोकितं तत्कृपया यदैव।
तदाविभिन्नं भवत्येकरूपं
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१२॥

अर्थ—जब रजोगुण से भासित् जाग्रत् स्वरूप, उसकी कृपादृष्टि से देखा जाता है तब भिन्न २ रूप एक रूप हो जाता है, उस एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

एवंच सृष्ट्वाप्रकृतिस्वभावा-
त्तदंतरे त्वं च विभासि नित्यम्।
बुद्धिप्रदाता गणनाथ एक-
स्तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१३॥

अर्थ—इस प्रकार प्रकृति को स्वभाव से उत्पन्न करके उसके पीछे आप ही नित्य प्रकाशित होते हो। बुद्धि के देने वाले, गणों के नाथ, एक, उस एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

त्वदाज्ञया भानि ग्रहाश्च सर्वे
नक्षत्र रूपाणिविभांति खे वै ।
आधार हीनानि त्वयाधृतानि
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१४॥

अर्थः—आपकी आज्ञा से ही तारे और ग्रह नक्षत्र रूप से आकाश में प्रकाश करते हैं, आपने उनको आधार रहित धारण कर रक्खा है, उस एक दंत के शरण में हम जाते हैं।

त्वदाज्ञया सृष्टिकरो विधाता
त्वदाज्ञया पालक एव विष्णुः ।
त्वदाज्ञया संहरको हरोऽपि
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१५॥

अर्थः—आपकी आज्ञा से ब्रह्मा सृष्टि करने वाले हैं, आपकी आज्ञा से ही विष्णु पालन करने वाले हैं, आपकी आज्ञा से ही शिव संहार करने वाले हैं, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

यदाज्ञया भूर्जल मध्य संस्था
यदाज्ञयाऽपः प्रवहंति नद्यः ।
सीमां सदा रक्षति वै समुद्र-
स्तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१६॥

अर्थः—जिसकी आज्ञा से पृथ्वी जल में स्थित है, जिसकी आज्ञा से नदियां जल को बहा ले जाती हैं, समुद्र सीमा में रहता है, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

यदाज्ञया देवगणो दिविस्थो
ददाति वै कर्म फलानि नित्यम् ।
यदाज्ञया शैलगणोऽचलो वै
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१७॥

अर्थः—जिसकी आज्ञा से स्वर्ग में स्थित देव गण नित्य कर्म फल को देते हैं, जिसकी आज्ञा से पर्वत अचल रहते हैं, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

यदाज्ञया शेष इलाधरो वै
यदाज्ञया मोह प्रदश्चकामः ।
यदाज्ञया काल धरोर्यमाच
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१८॥

अर्थः—जिसकी आज्ञा से शेष पृथ्वी को धारण करते हैं, जिसकी आज्ञा से काम मोह को उत्पन्न करता है, जिसकी आज्ञा से यम काल को धारण करता है, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

यदाज्ञया वाति विभाति वायु-
र्यदाज्ञयाऽग्निर्जठरादि संस्थः ।
यदाज्ञया वै सचराचरं च
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥१९॥

अर्थः—जिसकी आज्ञा से वायु चलता है, जिसकी आज्ञा से अग्नि जठरादि में स्थित है, जिसकी आज्ञा से चर और अचर हैं, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

सर्वांतरे संस्थितमेक गूढं
यदाज्ञया सर्वमिदं विभाति ।
अनंतरूपं हृदि बोधिकं वै
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥२०॥

अर्थः—सबके भीतर एक गुप्त स्थित, जिसकी आज्ञा से यह सब प्रकाशित होता है, अनंत रूप हृदय में बोध करने वाले उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

गं योगिनो योग बलेन साध्यं
कुर्वंति तंकःस्तवनेन स्तौति ।

अतः प्रणामेन सुसिद्धि दोऽस्तु
तमेकदंतं शरणं व्रजामः ॥२१॥

अर्थ—जिसको योगी योग बल से साध्य करते हैं, दुखी स्तोत्रों से स्तुति करते हैं, क्योंकि प्रणाम से सिद्धि के देने वाले हो, उस एकदंत के शरण में हम जाते हैं।

ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका।

(गताङ्क से आगे)

'स एष नेति नेत्यात्मा' (यह आत्मा नेति नेति रूप है) इस प्रकार आरम्भ कर के 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' [बृह० ४।२।४] (हे जनक! अब तू अभय रूप ज्ञान को प्राप्त हुआ है) इस प्रकार ज्ञान का मोक्ष रूप फल है। इस से ऐसा सिद्ध होता है कि ब्रह्म के निरूपण में फल की सिद्धि सर्व धर्म विशेष से रहित ब्रह्मज्ञान से ही होती है। जगत् के आकार रूप से ब्रह्म का परिणामीपना है, इस का ब्रह्म ज्ञान के उपाय में ही प्रयोजन है। इस प्रकार के ज्ञान को श्रुति मिथ्या कहती है। फल वाले यानी ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी वचन के समीप जो वचन हैं उस के समीप अफल यानी जगदनित्य आदि जो वचन हैं वे उन के अधिरूप अर्थात् ब्रह्मज्ञान के साधन रूप हैं क्योंकि साधन विना स्वतन्त्र रीति से फल की कल्पना नहीं हो सकती। ब्रह्म परिणाम रूप है, ऐसे ज्ञान से आत्मा का भी परिणामीपना है, यह फल है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मोक्ष का फल कूटस्थ तथा नित्य रूप है।

शंकाः—कूटस्थ ब्रह्म केवल एक ही स्वरूप है इसलिये शासन करने वाला तथा शासन करने की वस्तु इन दोनों का अभाव हो जायगा और ईश्वर सब का कारण रूप है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा से विरोध आवेगा। इस का क्या?

समाधानः—इस प्रकार की प्रतिज्ञा से किसी प्रकार का विरोध नहीं आवेगा क्योंकि सर्वज्ञ स्वरूप को अपने ही अविद्या वाचक नाम, रूप तथा बीज रूप से विस्तार को प्राप्त होने की इच्छा होती है। श्रुति में कहा है कि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तैत्ति० २।१] (उस परब्रह्म परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई) इत्यादि वचनों से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप, सर्वज्ञ स्वरूप तथा सर्व शक्ति वाले ईश्वर में से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है, अचेतन स्वरूप प्रधान अथवा अन्य किसी में से नहीं है। इस विषय का सूचन 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में किया गया है। यह सूचन ब्रह्म की अवस्था रूप से है किन्तु यहां किसी विरुद्ध अर्थ का निरूपण नहीं किया है।

शंका—निरतिशय रूप से आत्मा का एकपना तथा अद्वितीयपना कहने वाली जो श्रुतियां हैं वे विरुद्ध अर्थ का सूचन नहीं करतीं, यह किस प्रकार कहा जाय?

समाधानः—श्रुति किसी प्रकार विरुद्ध अर्थ का सूचन नहीं करतीं, इसके संबंध में मैं जो कहता हूं, उसको सुनः—सर्वज्ञ ईश्वर वाचक हो, ऐसे नाम और रूप अविद्या से कल्पे हुये हैं। ये नाम तथा रूप तत्त्व से भिन्न होने के कारण अर्थात् कल्पित होने के कारण अनिर्वचनीय रूप हैं और सर्वज्ञ ईश्वर की माया शक्ति रूप तथा प्रकृति रूप श्रुति और स्मृति निरूपण की गई हैं। सर्वज्ञ ईश्वर इस नाम तथा रूप से भिन्न है। श्रुति में कहा है कि 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' [छान्दो० ८।१४।१] (वस्तुतः आकाश श्रुतियों में प्रसिद्ध आत्मा है, वह नाम और रूप का स्पष्टीकरण करने वाला है, यह दो जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है) 'नामरूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६।३।२] (मैं नाम और रूप को प्रकट करूं) 'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' [तैत्ति० आ० ३।१२।७] (धीर—परमात्मा ही सब रूपों का चिन्तन करके—उत्पन्न करके नाम

रख कर, उन में व्यापक होकर वर्तता है) 'एकं बीजं बहुधा यः करोति [श्वे० ६ । १२] (एक बीज को जो अनेक रूप वाला करता है) इत्यादि श्रुतियां हैं। इस प्रकार अविद्या से हुई नाम रूपात्मक उपाधिवाला ईश्वर होता है। जैसे घट तथा करवा आदि में आकाश व्यापक हो कर रहा हुआ है इसी प्रकार परमात्मा नाम तथा रूप कर के व्यापक है। यह परमात्मा घटाकाश के समान अपने से ही हुये जीव वाचक विज्ञानात्मा के ऊपर व्यवहार के सम्बन्ध में अधिष्ठातापना भोगता है। ये विज्ञानात्मा अविद्या से कल्पे हुये नाम तथा रूप को ले कर कार्य तथा कारण का संघात रूप है, इस प्रकार अविद्या युक्त उपाधि से भिन्नता है और उसी से ईश्वर का ईश्वरपना, सर्वज्ञपना तथा सर्व शक्तिमान्‌पना है, जब विद्या से उपाधि स्वरूप की निवृत्ति हो जाती है तब आत्मा में नियामक, नियंतव्य तथा सर्वज्ञत्व आदि व्यवहार की पारमार्थिक रूप से प्राप्ति नहीं होती। श्रुति में कहा है:—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सभूमाः' [छान्दो० ७। २४।१] (जहां दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता, वह भूमा है; 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' [बृह० ४ । ५ । १५] (जिसको सब आत्म रूप हुआ, वह किससे किस को देखे) इस प्रकार सब वेदान्त वाक्य परमार्थ अवस्था में सब व्यवहार का अभाव दिखलाते हैं इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है:— 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' [गी० ५ । १४, १५] (प्रभु लोकों के कर्तापने, कर्म अथवा कर्म फल के संयोग को उत्पन्न नहीं करता, स्वभाव ही वर्तता है, विभु किसी के पाप अथवा पुण्य को नहीं लेता, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है इस लिये जन्तु मोह को प्राप्त होते हैं) इस प्रकार परमार्थ दशा में ईशिता अथवा ईशितव्य आदि व्यवहार का अभाव दिखलाया है, व्यवहार दशा में ईश्वरादि का व्यवहार श्रुति में कहा है:—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' [बृह० ४ । ४ । २२] (यह सब का ईश्वर है, यह भूतों का अधिपति है, यह भूतों का पालक है, लोकों की मर्यादा टूट न जाय इस लिये व्यवस्था धारण करने वाला सेतु रूप है) इसी प्रकार गीता में कहा है:—'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया' [गी० १८ ।६१] (हे अर्जुन ! ईश्वर सब भूतों के हृदय देश में स्थित है, माया के यन्त्र पर चढ़े हुये सब प्राणियों को अपनी माया से नचाता है । सूत्रकार भगवान् व्यास भी परमार्थ से परमात्मा का अभेद भाव ही जताते हैं और व्यवहार में लोक के समान विभाग दिखाते हैं और ब्रह्म को महा समुद्र के समान बताते हैं, कार्य प्रपंच और परिणाम प्रक्रिया का निषेध नहीं किया है किन्तु सगुण उपासना में उपयोगी होने से प्रपंच और प्रक्रिया का आश्रय किया है ॥ १४ ॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और भावे [कारण के] सद्भावमें उपलब्धेः [कार्य के]ज्ञान से [कारण से कार्य का अनन्यपना है]

टीकाः—कारण से कार्य का भिन्नपना नहीं है क्योंकि जब कारण का सद्भाव होता है तब ही कारण का कार्य देखने में आता है, यदि कारण का सद्भाव नहीं होता तो कार्य का भी अभाव होता है। जैसे मिट्टी होती है तो घट की प्राप्ति होती है, तंतु होता है तो पट की प्राप्ति होती है, यदि एक से भिन्न वस्तु का भाव हो तो दूसरे की प्राप्ति देखने में नहीं आती। जैसे कि घोड़ा गाय से भिन्न है इसलिये गाय से घोड़े की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे ही मिट्टी बिना कुम्हार से घट की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि निमित्त-कारण से नैमित्तक-कार्य भिन्न है।

शंका:—एक होने पर भी दूसरे की प्राप्ति देखने में आती है। जैसे कि अग्नि के होने पर भी धुयें का होना देखने में आता है।

समाधान:—ऐसा नहीं है क्योंकि अग्नि के बुझाने के बाद भी घटों में धुआं देखने में आता है।

शंका:—यदि अग्नि न हो तो धुआं न हो, इस प्रकार किसी भी अवस्था वाले धुयें का विशेषण होना चाहिये।

समाधान:—ऐसा मानने में कोई भी दोष नहीं है क्योंकि हम कहते हैं कि कार्य कारण के अस्तित्व में आसक बुद्धि ही कार्य के कारण से अभिन्नपने में हेतु रूप है। इस प्रकार की कार्य कारण में आसक्ति वाली बुद्धि अग्नि तथा धूम में नहीं होती। इस सूत्र का भी यह ही भाव है। केवल शब्द से ही कार्य कारण का अभिन्नपना नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष रीति से प्राप्ति होने से कार्य कारण की अभिन्नता है। कार्य कारण के अभिन्नपने में प्रत्यक्ष प्रमाण है। तंतु होता है तब ही पट होता है, यदि तंतु न हो तो पट न हो। प्रत्यक्ष रीति से तो तंतु के ताने बाने से ही पट रूप कार्य की सिद्धि होती है, तंतु में रूंये होते हैं, रूंओं में विभाग होते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है यानी तेज, जल तथा पृथ्वी के कारण से लाल सफेद और काला तीन रूप होते हैं। इन रूपों से ही वायु तथा आकाश की उत्पत्ति है, ऐसा अनुमान करना चाहिये। इन सब कारणों से हमको कहना चाहिये कि परब्रह्म एक अद्वितीय रूप है और सब प्रमाणों की समाप्ति रूप है॥१५॥

सत्वाच्चापरस्य ॥१६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ:—च और अपरस्य कार्य की सत्वात् [कारण रूप से] स्थिति होने से [कारण से कार्य का अभिन्नपना है]

टीका:—और कारण से कार्य का इसलिये अभिन्नपना है कि उत्पत्ति से पूर्व के कारण में पीछे से होने वाले कार्य का अस्तित्व कारण से ही होता है। श्रुति में कहा है:—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत' [छान्दो० ६।२।१] (हे सोम्य! प्रथम यह सब सद् रूप था), 'आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत' [वृ० आ० २।४।१।६], (प्रथम यह एक आत्मा ही था) इन सब में 'इदम्' शब्द से ग्रहण किये हुये कार्य का कारण के साथ समानपना है। जिस वस्तु का जिसमें अभाव होता है, वह वस्तु उसमें से कभी भी उत्पन्न नहीं होती। जैसे रेत में से कभी तेल नहीं निकलता, इससे ऐसा सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व में कार्य कारण से अभिन्न होने से उत्पत्ति से पीछे भी कारण से कार्य अभिन्न स्वरूप ही है, जैसे कारण स्वरूप ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप में तीनों कालों का फेर फार नहीं होता इसी प्रकार तीनों काल रूप कार्य जगत् में भी किसी प्रकार का कुछ भी फेर फार नहीं होता, और मूल प्रकृति एक ही रूप है इस लिये कारण से कार्य की अभिन्नता है॥ १६॥

अपूर्ण।

श्लोक।

अध्यात्म स्वर्द्रुम द्वेषि देहाराम मतङ्गजान्।
विद्रावयन् विजयतां श्रीमान् वेदान्त केसरी॥

अर्थ:—अध्यात्म रूपी कल्प वृक्ष के द्वेष करने वाले देहाराम रूपी हाथियों को चीर डालने वाले श्रीमान् वेदान्त केसरी का विजय हो!

पं० स्वा० रङ्गाचार्य विद्यारत्न
रतलाम।

त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

उस योगी का सात जन्म का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। नाभि कन्द से ले कर हृदय स्थान तक ॥ १४८ ॥ जाग्रत् वृत्ति को जाने, स्वप्न वाला कंठ में स्थित होता है, सुषुप्त तालू के मध्य स्थित होता है, तुर्य भौओं के मध्य में स्थित होता है ॥ १४९ ॥ और तुर्यातीत ब्रह्म रंध्र में परब्रह्म का लक्ष करता है। जब तक जाग्रत् वृत्ति से आरंभ कर के ब्रह्म रंध्र के भीतर है ॥ १५१ ॥ वहां तक यह तुरीय का आत्मा है, तुर्या के अन्त में विष्णु कहलाता है। ध्यान से युक्त होकर अत्यंत निर्मल आकाश में ॥१५१॥ करोड़ सूर्य की द्युति वाले रथवाले, हृदय कमल में बैठे हुए नित्य उदय रूप विष्णु का अथवा विश्व रूप वाले का ध्यान करे ॥१५२॥ अनेक आकारों से युक्त, अनेक मुखों से युक्त, अनेक भुजाओं से युक्त, अनेक आयुधों से मंडित ॥१५३॥ नाना वर्ण वाले, देव, शांत, उग्र, आयुध उठाये हुए, अनेक नेत्र वाले, कोटि सूर्य के समान प्रभा वाले का ॥१५४॥ ध्यान करने वाले योगी की सब मन की वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं। हृदय कमल के मध्य स्थित, चैतन्य, ज्योति, अव्यय ॥१५५॥ कदंब के समान गोल आकार वाले, तुर्यातीत, पर से पर, अनन्त, आनन्दमय, चिन्मय, प्रकाशमान, विभु ॥१५६॥ वायु रहित स्थान के दीपक समान अकृत्रिम मणि की प्रभा वाले का ॥१५८॥ ध्यान करने वाले योगी के हाथ में ही मुक्ति स्थित है ॥१५७॥ विश्व रूप देव का स्थूल सूक्ष्म अथवा अन्य जो कुछ रूप है उसको हृदय कमल में देख कर ॥१५८॥ जो योगी ध्यान करता है, उसको वह साक्षात् प्रकाशता है और अणिमा आदि का फल सुख से ही उत्पन्न होता है ॥१५९॥ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ही ज्ञान होता है। मैं ही परब्रह्म हूं इस प्रकार स्थिति ॥१६०॥ समाधि है, इसको सब वृत्तियों से रहित होकर जानना चाहिये। जो योगी ब्रह्म को संपादन करता है, वह फिर संसार में नहीं आता ॥१६१॥ इस प्रकार तत्वों का शोधन करके स्पृहा रहित चित्त वाला योगी, जिस प्रकार इन्धन रहित अग्नि इसी प्रकार स्वयं शांत होता है ॥ १६२ ॥ ग्रहण करने योग्य के अभाव होने पर मन और प्राण निश्चय ज्ञान युक्त होते हैं, शुद्ध अन्तःकरण के परमात्मा में लीन होने पर जीव नमक के गोले के समान ॥ १६३ ॥ मोह जाल के समूह रूप विश्व को स्वप्न के समान देखता है। जो सुषुप्ति के समान आचार करता है वह स्वभाव से ही पूर्ण निश्चल है ॥ १६४ ॥ निर्वाण पद का आश्रय कर के योगी कैवल्य को भोगता है, यह उपनिषद् है।

॥ इति त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् समाप्त ॥

जाबाल्युपनिषद् ।

भगवान् जाबालि से पैप्पलादि ने पूछा "हे भगवन्! परम तत्व के रहस्य को कहिये! तत्व क्या है? जीव कौन है? पशु कौन है? ईश कौन है? मोक्ष का उपाय क्या है?" उन्हों ने उस से कहा "अच्छा प्रश्न किया, जो कुछ मैं ने जाना है, सब कहता हूं" फिर उसने उनसे कहा "आप ने कहां से जाना है?" फिर उन्हों ने उससे कहा "षडानन से!" फिर उसने उनसे पूछा "उन्हों ने कहां से जाना था?" फिर उन्हों ने उससे कहा "ईशान से जाना था।" फिर उसने उन से पूछा "उन्हों ने उनसे किस प्रकार जाना था?" उन्हों ने उससे कहा "उन्हों ने उपासना कर के जाना था।" फिर उस ने उन से कहा "हे भगवन्! कृपा कर के वह सब रहस्य मुझ से कहिये!" उसके प्रश्न करने पर वे सम्पूर्ण तत्व का निवेदन करने लगे:— अहंकार से युक्त पशुपति संसारी जीव है, वह ही पशु है, सर्वज्ञ पांच कृत्य से युक्त सब का ईश्वर ईश पशुपति है।" "पशु कौन है?" फिर उन्हों ने

उससे कहा "जीव पशु कहलाते हैं, उनका पति होने से पशुपति है।" फिर उसने उनसे पूछा "जीव पशु किस प्रकार हैं? उनका पति किस प्रकार है?" उन्हों ने उस से कहा "जैसे घास खाने वाले, विवेक हीन, दूसरे के दास, खेती आदि कर्म में नियुक्त, सब दुःखों के सहने वाले अपने मालिक के बंधुआ गौ आदि पशु हैं, ऐसे उनके मालिक के समान सर्वज्ञ ईश पशुपति है।" "उसका ज्ञान किस उपाय से होता है?" फिर उन्होंने उससे कहा "विभूति धारण करने से" "उसकी विधि किस प्रकार है? कहां २ धारण की जाती है?" फिर उन्होंने उससे कहा 'सद्यो जातादि' पांच ब्रह्म मन्त्रों से भस्म ग्रहण कर के 'अग्निरितिभस्म' इस मंत्र से अभिमंत्रित कर के 'मानस्तोक' इस मंत्र से धारण करके, जल से गीला कर के 'त्र्यायुषं' इस मंत्र से शिर, ललाट, छाती कन्धों में 'त्र्यायुषं त्रियम्बकं' इन मन्त्रों से तीन रेखा करे। यह शुभ व्रत सब वेदों में वेद वादियों से कहा गया है, फिर उत्पन्न न होने के निमित्त मुमुक्षु उसको करे, फिर सनत्कुमार प्रमाण पूछता है। त्रिपुण्ड धारण की तीन प्रकार की रेखा मध्य से ललाट तक, नेत्रों तक और भौंओं तक है, जो उसकी प्रथम रेखा है, वह गार्हपत्य अग्नि है, अकार मात्रा है, रजोगुण है, भूलोक है, स्व आत्मा है, क्रिया शक्ति है, ऋग्वेद है, प्रात सवन है, प्रजापति देव देवता है, जो उसकी दूसरी रेखा है वह दक्षिण अग्नि है, उकार मात्रा है, सतोगुण है, अंतरिक्षलोक है, अन्तरात्मा है, इच्छा शक्ति है, यजुर्वेद है, मध्य दिन सवन है, विष्णु देव देवता है, जो उसकी तीसरी रेखा है, वह आहवनीय अग्नि है, मकार मात्रा है, तमोगुण है, स्वर्ग लोक है, परमात्मा है, ज्ञान शक्ति है, सामवेद है, तीसरा पहर सवन है, महादेव देवता है, जो विद्वान् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा यती भस्म से त्रिपुंड लगाता है, वह महा पातकों और उप-पातकों से पवित्र होता है। यह सब देवताओं का ध्यान करने वाला होता है, वह सब तीर्थों में स्नान किया हुआ होता है, वह सब रुद्र मन्त्रों का जप करने वाला होता है, वह फिर नहीं लौटता, वह फिर नहीं लौटता॥

॥ इति श्रीजाबाल्युपनिषद् समाप्ता ॥

कलि संतरणोपनिषद्।

द्वापर के अन्त में नारद ने ब्रह्मा के पास जाकर कहा "भगवन्! मार्ग में चलता हुआ मैं कलियुग को किस तरह तरूं?" ब्रह्मा ने कहा "तू ने मुझ से अच्छा प्रश्न किया, सब श्रुतियों का जो गुप्त रहस्य है, उसको सुन, जिससे तू कलियुग में संसार को तैर जायगा। भगवान् आदि पुरुष नारायण के नाम उच्चारण मात्र से पाप रहित होता है।" नारद ने फिर पूछा "वे नाम क्या हैं?" उन हिरण्य गर्भ (ब्रह्मा) ने कहा "हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ १॥ ये सोलह नाम कलियुग में पाप को नाश करने वाले हैं, सब वेदों में इस से बढ़ कर अन्य कोई उपाय दिखाई नहीं देता॥ २॥ ये नाम सोलह कला से ढके हुये जीव के आवरण को नाश करने वाले हैं। पीछे बादल के हट जाने से जैसे सूर्य किरण मण्डल प्रकाशता है ऐसे ही परब्रह्म प्रकाशता है।" फिर नारद ने पूछा "भगवन्! इसकी विधि क्या है?" ब्रह्मा ने कहा "इसकी विधि नहीं है। ब्राह्मण सर्व काल में पवित्र अथवा अप-वित्र पढ़ता हुआ सालोकता, सामीपता, सारूपता और सायुज्यता को प्राप्त होता है। जो इन सोलह को साढ़े तीन करोड़ बार जपता है, वह ब्रह्म हत्या से छूट जाता है, वीर हत्या से छूट जाता है। सुवर्ण की चोरी करने के पाप से पवित्र होता है, पितृ, देव और मनुष्यों के अपकार से पवित्र होता है, सब धर्मों के परित्याग के पाप से शीघ्र पवित्र हो जाता है, शीघ्र मुक्त होता है, शीघ्र मुक्त होता है॥ इति उपनिषद्॥

॥ इति श्री कलि संतरणोपनिषद्॥

